शिक्षण-विधियों की रूपरेखा

शिक्षण-विधियों

की

रूपरेखा

[इसमें शिक्षा-जगत् में होने वाले प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षण-विधियों एवं प्रयोगों का विस्तार से दिग्दर्शन कराया गया है]

लेखक
श्री रामखेलावन चौधरी एम. ए, एम. एड.

समर्पण

पूज्य माता जी तथा पिता जी

के

चरण कमलों में

सादर-सविनय
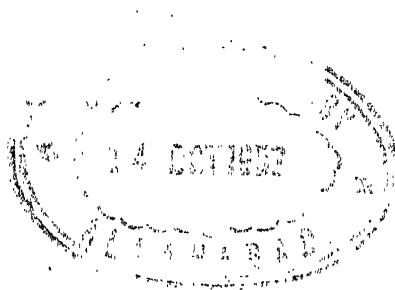
भूमिका

मनुष्य एक विचित्र प्राणी है। अन्य जीवों में तो परस्पर बहुत-कुछ समानताएँ हैं परन्तु मनुष्य उनमें बिल्कुल अलग है। मनुष्य की इस भिन्नता का क्या कारण है? जूलियन हक्सले (Julian Huxley) ने अपनी एक पुस्तक (Man Stands Alone) में एक स्थल पर लिखा है कि मानव की मुख्य विशेषता है – 'विचार-शक्ति'। मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से ज्ञात होता है कि अन्य जीवों में भी विचार-शक्ति मौजूद है; परन्तु उनकी यह विचार-शक्ति, इस विकास-चक्र के दौरान में, अभी उस पूर्णता तक नहीं पहुँच सकी है, जिस तक मनुष्य की बुद्धि या विचार-शक्ति पहुँच चुकी है। फिर भी अन्य जीवों में 'विचार-शक्ति' के मौजूद होने के प्रमाण मिले हैं; अतः इस दृष्टि से 'मनुष्य' और अन्य जीव एक ही कोटि के अंतर्गत आ जाते हैं। हाँ, एक विशेषता अवश्य ऐसी है जो मनुष्य को छोड़कर अन्य किसी जीव में नहीं पायी जाती है। वह विशेषता है—एक ऐसी परम्परा जिसके द्वारा मानव की एक पीढ़ी अपने समस्त अनुभवों के संचित कोष को अपनी संतानों की पीढ़ी को धरोहर के रूप में हस्तांतरित कर देती है। हजारों वर्षों से यह क्रम चलता आ रहा है। मनुष्य-जाति के अनुभवों की यह संचित राशि चक्रवृद्धि ब्याज की तरह बढ़ती जा रही है। एक मनुष्य को लगभग सत्तर वर्षों का जीवन मिलता है परन्तु इतने अल्प समय में वह सात हजार वर्षों की मानव-जाति के समस्त अनुभवों को प्राप्त कर लेता है। इतना कठिन कार्य कैसे हो पाता है? शिक्षा के द्वारा। स्पष्ट है कि शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव-जाति के समस्त अनुभवों के सार को एक मनुष्य अपने सीमित जीवनकाल

में ग्रहण कर लेता है। अतः शिक्षा की परंपरा का निर्माण करके, मनुष्य एक विशिष्ट और विचित्र प्राणी बन गया है। यह परंपरा न होती तो शायद आज मनुष्य 'मनुष्य' न होता।

शिक्षा की परम्परा का निर्माण होने से एक विचित्र परिणाम भी हुआ। अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य का जीवन, इस शिक्षा की बदौलत ही, कलात्मक, अधिकतर कलात्मक और अधिकतम कलात्मक होता जा रहा है। मानव-जीवन की असंख्य क्रियाओं में से प्रत्येक अधिक से अधिक सुधरती और परिष्कृत (Refined) होती जा रही है। उदाहरण के लिए शासन की क्रिया ही ले लीजिए। पहले मानव-समाज का शासन एक व्यक्ति निरंकुश प्रणाली द्वारा करता था परन्तु अब तक अनेक शासन प्रणालियों का प्रयोग हो चुका है। शासन-प्रणाली निरंतर सुधरती जा रही है और सुधार का यह कार्य अनादि काल तक चलता ही रहेगा। इसी प्रकार आदि मानव ने लकड़ी के एक बड़े टुकड़े को पकड़कर नदी में डूबने से अपनी प्राण-रक्षा की होगी; फिर लकड़ी के टुकड़े की सहायता से नदी पार की होगी और आज उसी प्रक्रिया का सुधार करते-करते मनुष्य ने लाखों मन भारी समुद्र-पोत आविष्कृत कर डाले, जो अनंत जल-राशि को रौंदते हुए चले जाते हैं। आदि मानव की क्रियाओं की तुलना, यदि वर्तमान मनुष्य की क्रियाओं से की जाय, तो स्पष्ट पता चल जायगा कि प्रत्येक क्रिया में सुधार और नवीनता लायी जा रही है। प्रत्येक क्रिया के परिष्कार में शिक्षा द्वारा सहायता मिलती है। आज तक दो सौ वर्षों में विद्युत-शक्ति के संबंध में जो कुछ ज्ञान संचित हुआ है, शिक्षा द्वारा उसे थोड़े समय में ही विद्यार्थी प्राप्त कर लेता है। और वही प्रतिभाशाली विद्यार्थी उस ज्ञान को अपने जीवन-काल में अधिक से अधिक विकसित भी करता है। अतः निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि शिक्षा ही आविष्कारों की जननी है।

परिष्कार की यह प्रक्रिया, स्वयं शिक्षा के क्षेत्र में भी चालू है। मनुष्य जाति के समस्त अनुभवों को हस्तांतरित कर देना ही पर्याप्त नहीं है। हमें

इस 'हस्तांतरण कला' का, जिसे सरल शब्दों में हम शिक्षण-विधि कहते हैं विकास और सुधार करना जरूरी है। इस आवश्यकता को मनुष्य ने प्रारंभ में ही समझ लिया था और शिक्षण-विधि में वह निरंतर सुधार करता रहा। संचित अनुभवों का कोष जब तक छोटा था, शिक्षण-विधि के सुधार में विशेष प्रगति नहीं हुई। ज्यों-ज्यों इस कोष की वृद्धि होती गयी, शिक्षण-विधि में अधिक से अधिक सुधार और परिष्कार करने की भावना भी प्रबल होती गयी। इस लम्बे प्रयास का सिंहावलोकन, प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम अध्याय–'शिक्षण-विधियों के विकास का संक्षिप्त इतिहास'—में किया गया है। इसको आद्योपांत पढ़ जाने पर, जिज्ञासुओं को हमारे उपर्युक्त कथन का प्रमाण मिल जायगा—वे समझ सकेंगे कि 'सुधार और परिष्कार की क्रिया का नियम' शिक्षण-विधि पर भी लागू होता है। समय-समय पर अनेक विद्वानों ने शिक्षण विधि को उन्नतशील बनाने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक के सभी अध्यायों में उन विशिष्ट विद्वानों के महान शैक्षिक प्रयत्नों का सांगोपांग वर्णन है। प्रत्येक विधि का विश्लेषण करने में दो—परिचयात्मक और आलोचनात्मक—शैलियों से काम लिया गया है। कुछ पृष्ठों में प्रत्येक विधि का संक्षिप्त परन्तु पूर्ण परिचय दिया गया है जिससे प्रशिक्षण के विद्यार्थी पूरा लाभ उठा सकेंगे परन्तु विशेष रूप से लेखक का दृष्टिकोण आलोचनात्मक और वैकासिक रहा है और पाठकों से अनुरोध है कि वे इन आलोचनात्मक अंशों पर ही अधिक ध्यान दें। इस अनुरोध विशेष का कारण निम्नांकित है:—

किसी समय शत्रु का विनाश करने के लिए मनुष्य लात-घूँसों से ही काम चला सकता था परन्तु आज उसी कार्य के लिए 'अणु-बम' का वह प्रयोग करता है। बात यह है कि किसी देश-काल के अनुरूप ही एक साधन का प्रयोग होना चाहिए। यही सिद्धांत शिक्षण-विधि पर भी लागू होता है। सौ वर्ष पूर्व जो शिक्षण विधियाँ प्रयुक्त होती थीं, वे आज व्यर्थ सिद्ध हो रही हैं। अतः अध्यापक को रूढ़िग्रस्त होकर अध्यापन-कार्य न करना चाहिए। इस दोष से बचाने के लिए, प्रत्येक विधि की रूपरेखा प्रस्तुत करने में उस युग, की

प्रवृत्तियों और उसके निर्माण-कर्ता के विचारों का भली-भाँति विश्लेषण किया गया है, जिनसे उस विधि का जन्म हुआ था। इन सब बातों से अवगत हो जाने पर अध्यापक-गण समझ-बूझ कर शिक्षण-विधियों का प्रयोग करेंगे। आलोचनात्मक अंशों पर ध्यान देने से एक लाभ और होगा। इससे 'प्रयोग-वाद' को प्रोत्साहन मिलेगा। सम्पूर्ण पुस्तक पढ़ने के पश्चात् पाठक स्वयं ही शिक्षण के कुछ आधारभूत तथा सार्वभौमिक सिद्धांतों को खोज कर निकाल सकेंगे और उत्साही शिक्षक वर्तमान शिक्षण-विधियों की त्रुटियों को दूर करने के लिए अधिक प्रयत्नशील होंगे। यदि शिक्षण को अधिक सक्षम और प्रभावोत्पादक बनाना है, तो 'सुधार और परिष्कार' के काम को चालू रखने की आवश्यकता है।

अंत में, पुस्तक की पूर्णता के संबंध में कुछ भी कहना अनुचित है— मनुष्य की कृति 'पूर्ण' हो ही नहीं सकती। विद्वान एवं कृपालु पाठकों से प्रार्थना है कि वे इस तुच्छ कृति को उदारभाव से अपनाकर अपने स्नेह का परिचय दें।

—लेखक

———

विषय-सूची

— ———

(१)

शिक्षण-विधियों के विकास का संक्षिप्त इतिहास

जीवन और शिक्षा—दोनों का संबंध अविच्छिन्न है। जीवन की सार्थकता शिक्षा पर अवलंबित है और शिक्षा का मूल स्रोत तो जीवन है ही। इसलिये, जब से मनुष्य का प्रादुर्भाव इस पृथ्वी पर हुआ तभी से शिक्षा-क्रम चल पड़ा होगा। वेदों का प्रसिद्ध सूत्र 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य अनादि काल से ही 'अंधकार' (अज्ञान) से 'प्रकाश' (ज्ञान) में आने के लिये उत्सुक रहा है। जीवन की सहायिका—शिक्षा—एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा ही वह अपने अभीष्ट तक पहुँच सकता है। बालक के अज्ञान को किस प्रकार ज्ञान में परिवर्तित कर दिया जाय—यही सबसे अधिक महत्वपूर्ण समस्या है और यह समस्या शिक्षा के इतिहास के इतने बड़े दीर्घ काल में शिक्षा-शास्त्रियों को परेशान करती रही होगी।[1] इसी समस्या के निराकरण करने में प्रयत्नशील विद्वानों ने आदिकाल से अब तक अनेक शिक्षण-विधियों को जन्म दिया है।

शिक्षा ग्रहण करना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। वह दूसरों को जो कुछ करते देखता है, उसका अनुकरण करने लगता है। यह मूल प्रवृत्ति शिक्षा का आधार है। प्रारंभिक-काल में मनुष्य की आवश्यकतायें सीमित थीं। उसका मुख्य उद्देश्य उदर-पोषण था। पशुओं को मार कर, उनके मांस से वह अपनी भूख मिटा

---

१. जॉन ब्रूबाशर—शिक्षा की समस्याओं का इतिहास, १९४७, अध्याय ७, पृष्ठ—१६५

लेता था। इसलिये जीवन को अक्षुण्ण रखने के लिये शिकार खेलने में पटुता प्राप्त करना अावश्यक था। मनुष्य इस कला को सीखता था और अपनी संतानों को भी इसी का अभ्यास कराता था। अनुकरण का कार्य बचपन से ही प्रारंभ हो जाता था। बच्चे वयस्क जीवन के कार्यों का खेल में अनुकरण करते थे, जैसे शिकार खेलना, तीर चलाना, एक बालक का दूसरे बालक पर घोड़े की भाँति चढ़ना आदि। युवावस्था में यह अनुकरण खेल न रह कर वास्तविक रूप धारण कर लेता था। उस युग में शिक्षा की रूप-रेखा केवल यही थी। इस प्रकार की शिक्षा अनुकरण द्वारा प्राप्त की जाती थी। बालक अपने पिता को शिकार खेलते देखता था और तदनुरूप वह भी कार्य करता था। अतः जीवन के प्रथम प्रहर में, शिक्षण में सर्वप्रथम अनुकरण-विधि का प्रयोग हुआ।

आगे चल कर मनुष्य ने धीरे-धीरे समाज में रहना सीखा। पशुपालन और कृषि-कर्म मनुष्य के जीवन-निर्वाह के साधन बन गये। आवश्यकताओं की वृद्धि और उनकी पूर्ति के लिये अनेक सामग्रियों की प्राप्ति, उनके उत्पादन तथा संग्रह का कार्य चल पड़ा। मानव-जीवन नियमबद्ध हो गया। सभ्यता और संस्कृति का उदय, उत्सवों और रीतियों के रूप में हुआ। अब इस बात की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी कि बालकों को इस प्रकार तैयार किया जाय कि वे उस छोटे से ग्राम-समाज के अनुकूल रह सकें, तथा उसकी नियमावली का पालन कर सकें। इसलिये उन्हें प्रचलित रीतियों, संस्कारों और उत्सवों आदि में दीक्षित करने की प्रथा चल पड़ी। एक विशेष आयु प्राप्त करने पर बालकों को दीक्षा देने का प्रचलन हुआ। उस दिन समारोह के साथ खूब नाच-रंग होता था। बालक के शरीर को गोदा जाता था और उस पुण्य स्मृति को स्थायी रखने के लिये उसका शरीर चिह्नांकित कर दिया जाता था। इस दिन से उसका विद्यार्थी जीवन आरंभ होता

था। पुरोहित उसे वे तमाम बातें बताता था जो आवश्यक समझी जाती थीं। यही पुरोहित आधुनिक शिक्षक का मूल रूप था। अभी तक बालक अनुकरण द्वारा जो कुछ सीख सकता था सीख लेता था; अब प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा देने की प्रथा चल पड़ी। शिक्षक बालक के सामने एक 'क्रिया' प्रयोग रूप से करके दिखाता था और बालक उसका अनुकरण करता था। इस प्रकार की शिक्षण-विधि का प्रयोग आस्ट्रेलिया की आदिम जातियाँ अब भी करती हैं।[1]

धीरे-धीरे मानव-जीवन में स्थिरता आने लगी। खाद्यान्नों की खोज, कृषि की उन्नति और बड़े बड़े गाँवों के बसने से स्थिति बदल गई। शिक्षा का महत्व और भी अधिक बढ़ गया। शिक्षा का उद्देश्य, बालक को भावी जीवन के लिये तैय्यार करना हो गया। शिक्षक का सम्मान भी बढ़ने लगा। यूनान के होमरिक युग में शिक्षक (Pedagogue) के द्वारा शिक्षा का प्रबंध होता था। विद्यार्थी उसके निकट सम्पर्क में रह कर शिक्षा प्राप्त करता था। भारतवर्ष में भी जंगलों में गुरुकुलों और आश्रमों में आचार्य के निकट रह कर विद्यार्थी शिक्षा पाता था। स्पष्ट है कि इस प्रकार की शिक्षा में भी अनुकरण-विधि का प्रयोग होता था परन्तु उसका रूप अपेक्षाकृत परिष्कृत तथा मँजा हुआ था। भारतवर्ष में शिक्षा का महत्व इतना बढ़ चुका था कि शिक्षा को समाज की स्थिरता के लिये अत्यंत आवश्यक समझा गया। जीवन को चार आश्रमों में विभक्त करके सबसे अधिक मूल्यवान समय—ब्रह्मचर्याश्रम—को शिक्षा के लिये सुरक्षित रख लिया गया। गुरुकुलों और आश्रमों में दी जाने वाली शिक्षा में अनुकरण विधि के साथ साथ कथन-विधि

---

१ मुनरो पॉल : शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास, (१९४७) प्रथम अध्याय, पृष्ठ २, ३

(Telling Method) का भी प्रयोग होता था। विशेषरूप से संध्या के समय आचार्य अपने शिष्यों को एक स्थान पर एकत्रित करके उपदेश देता था, किसी भी दार्शनिक समस्या पर प्रकाश डालता था।

कथन-विधि आविष्कृत हो चुकी थी और यह अधिक उपयोगी भी सिद्ध हुई—कारण यह था कि अब मानव-जीवन इतना जटिल हो चुका कि अनुकरण द्वारा सरलता से तथा थोड़े समय में सब कुछ विद्यार्थी को बताना संभव न था। इसके विपरीत कथन-विधि द्वारा शिक्षा का कार्य सरल हो गया। केवल कुछ समय में मौखिक कथन द्वारा सब कुछ बता देने की विधि अधिक जन-प्रिय हो गई और अनुकरण-विधि का ह्रास होने लगा।

कथन-विधि के साथ-साथ कंथस्थ कराने की प्रणाली Memoriter) का प्रयोग करना आवश्यक समझा जाने लगा। उस समय तक लिपि का विकास नहीं हुआ था। अत: कंठस्थ कराने की विधि का प्रयोग स्वाभाविक था। बालकों को नाना प्रकार की कहानियाँ सुनाई जाती थीं और उनसे उन्हें याद करने की आशा की जाती थी। समय पड़ने पर बालक उन कहानियों को ज्यों का त्यों दुहरा कर सुनाते थे। यह कहानियाँ उपदेशात्मक होती थी। भारतवर्ष में 'पंच-तंत्र' और 'हितोपदेश' जैसे कहानी-संग्रह, शिक्षा की दृष्टि से अत्यंत बहुमूल्य समझे जाते थे। कहानियों को स्मरण रखने में सुविधा होती थी तथा अनेक लाभ होते थे।* व्याकरण तथा दर्शन के गूढ़ तत्वों को कंठस्थ कराने के लिये 'सूत्रों' और 'श्लोकों' का प्रयोग होता था। कंठस्थ करने से ज्ञान पर अधिकार हो जाता है और समय पर उसका उपयोग भी हो सकता है। पुस्तकों

* विजय नारायण चौबे : संस्कृत शिक्षण में कहानी पद्धति का स्थान—'शिक्षा' जनवरी १९५५।

में लिखी विद्या काम नहीं आती ।[1] अतः कंठस्थ करने के लिये पाठ्य-सामग्री को बार-बार दुहराया जाता था । भारतवर्ष में वेदों की ऋचाओं को इसी प्रकार कंठस्थ कराने की प्रथा थी । उस समय चीन में अध्यापक पुस्तकों की कुछ पंक्तियाँ पढ़ कर विद्यार्थियों को सुनाते थे और उनसे बार-बार पुनरावृत्ति (Repitition) करने के लिये कहा जाता था । यहूदी लोग भी इसी विधि का प्रयोग करते थे और उनके यहाँ इसे ही शिक्षण कहते थे । उनका विश्वास था कि धर्मग्रन्थों की बातों को दुहराने से विद्यार्थी न केवल याद करते हैं वरन् उनका प्रयोग भी करने लगते हैं । मिश्र-देशवासी भी कंठस्थ करने पर जोर देते थे और उसे सफल बनाने के लिये कठोर दंड भी देते थे ।

यह समझ लेना भूल होगी कि अनुकरण विधि लुप्त हो गई । कहीं कहीं पर तो अनुकरण विधि का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ किया गया । यूनान में स्पार्टा (Sparta) नगर में फौजी शिक्षा अनुकरण विधि द्वारा दी जाती थी । जन्म से लेकर कुछ समय तक बालक परिवार में रहकर अपने पिता का अनुकरण करता था । फिर उसे सरकार अपने संरक्षण में ले लेती थी । सरकारी शिक्षालय में वह अपने से उच्च कक्षा के विद्यार्थियों का अनुकरण करता था और अन्त में वह पूरा सैनिक बन जाता था । एथेंस नगर में भी विद्यार्थियों की शिक्षा अनुकरण द्वारा पूर्ण होती थी । रामायण तथा महाभारतकाल में भारतीय विद्यार्थी इसी विधि द्वारा शिक्षा प्राप्त करते थे । शस्त्रास्त्रों के प्रयोग परशुराम, विश्वामित्र और द्रोणाचार्य आदि द्वारा राजकुमारों को इसी विद्या द्वारा सिखाये जाते थे । प्रत्येक

---

१ पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम् ।
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम् ।

सुभाषितरत्नभंडार ।

विद्यार्थी की एक मात्र कामना यही थी कि वह अपने गुरु के तुल्य सिद्धहस्त हो जाय।

प्राचीन भारत में शिक्षण-कला का पर्याप्त विकास हुआ।[1] वेदाध्ययन के लिये कुछ निश्चित नियम थे जिनका उल्लेख मनुस्मृति में है। वेदों की पढ़ाई में प्रश्नोत्तर (Question-and-Answer) तथा व्याख्यान (Lecture) प्रणाली का आम तौर से प्रयोग किया जाता था। भाषा की शिक्षा देने में शब्द का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। भतृहरि ने शब्द ज्ञान कराने के लिये अपने 'काव्य प्रकाश' में संयोग, विप्रयोग, प्रसिद्ध संबंध, विभाग साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, सन्निधि, सामर्थ्य आदि अनेक बातों की आवश्यकता बताई है। इसी प्रकार माधवाचार्य ने किसी विषय को पूर्णरूप से समझने के लिये विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और संगति—इन पाँच बातों को आवश्यक बताया। इसी प्रकार कामन्दकी[2] आदि आचार्यों ने शिक्षण के कई सोपान बताये हैं, जो हजारों वर्ष बाद यूरोप में उत्पन्न होने वाले विशारदों, जैसे हरबार्ट आदि के पंच सोपान से मिलते-जुलते हैं। उस काल में अगमन (Induction) और निगमन (Deduction) आदि शैक्षिक सूत्रों का प्रयोग भी होता था। तर्कसंग्रहकार ने इनका विशद विवेचन किया है। स्पष्ट है कि भारत में शिक्षण विधियाँ उसी प्रकार 'टेकनिकल' थीं, और उनमें दक्षता प्राप्त करने के लिये प्रशिक्षण आवश्यक था, जैसा कि आज देखने में आता है। प्राचीन आचार्य आवश्यकतानुकूल शिक्षण विधियों का प्रयोग करते थे, जैसे टीका प्रणाली[3] या

---

१. वि० ना० चौबे : 'प्राचीन तथा नवीन शिक्षण पद्धतियों का एक तुलनात्मक अध्ययन', 'शिक्षा' जुलाई १९५५

२. एस० के० दास : प्राचीन हिंदुओं की शिक्षण प्रणालियाँ पृष्ठ १२८

३. डा० अल्तेकर : प्राचीन भारत में शिक्षा, पृष्ठ १६३-१६४

शास्त्रार्थ प्रणाली।[1] दुर्भाग्य से आगे चल भारतीय शिक्षण की उस उच्च परंपरा का निर्वाह न कर सके।

पाश्चात्य देशों में शिक्षण-विधि अभी अपने मूल रूप में थी। प्रायः अनुकरण का ही शिक्षा में प्रयोग होता था। परन्तु अनुकरण-विधि का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसके द्वारा विद्यार्थियों के मानसिक विकास में बाधा पड़ती थी। उसके व्यक्तित्व में नवीनता और मौलिकता के स्थान पर रुढ़िवादिता उत्पन्न हो जाती थी। इस विधि द्वारा शिक्षा प्राप्त करने पर मनुष्य की विचारशक्ति लुप्त हो जाती है। यूनान में, इसीलिये, इस विधि का विरोध किया जाने लगा। वहाँ कुछ ऐसे शिक्षक उत्पन्न हुये, जिन्होंने आलोचना-विधि का प्रयोग आरंभ किया। वे लोग प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था के दोषों पर टीका-टिप्पणी करने लगे। पुराने कट्टरपंथी, इन नये शिक्षकों को सोफिस्ट (Sophists) कहने लगे। उनके विरुद्ध यह आरोप लगाया गया कि वे विद्यार्थी समुदाय को भ्रष्ट करते हैं। इन शिक्षकों का महत्व तो है ही। उन्होंने आलोचना-विधि द्वारा विद्यार्थी में विचारशक्ति जाग्रत की। आगे चलकर इस विधि में कुछ परिवर्तन करके साक्रेटीज और प्लैटो ने तर्क-विधि (Dialectic Method) की रचना की।

अभी तक प्रयोग में लायी जानेवाली कथन-विधि में भी कुछ दोष थे। शिक्षक विद्यार्थी के विचारों तथा उसके मनोभावों का तनिक भी ध्यान न रखता था। दूसरी ओर विद्यार्थी के शिक्षक द्वारा बतायी गयी बात पर पूर्ण विश्वास और श्रद्धा करना आवश्यक था। कुछ हद तक विश्वास और श्रद्धा को उचित बताया जा सकता है। परन्तु जब यह अंध-विश्वास और अंधश्रद्धा का रूप ले लेते हैं तो ज्ञान-प्राप्ति के लिये यह बड़े बाधक सिद्ध

---

[1] राधाकमल मुकर्जी : प्राचीन भारतीय शिक्षा—पृष्ठ ४५४

होते हैं। शिक्षा प्राप्त करने के लिये आये हुये विद्यार्थी के मन में कुछ पूर्वसंस्कार श्रद्धा और विश्वास के रूप में संचित रहते हैं। जब शिक्षक उसे कोई नयी बात बताता है तो वे पूर्वविचार नवीन विचारों के ग्रहण करने में बाधा डालते हैं। यदि विद्यार्थी केवल अपने शिक्षक के प्रति श्रद्धा और विश्वास के कारण शिक्षक के विचारों को मूल-रूप में अपने मन में स्थान दे देता है, तो संस्कारों और इन नवीन विचारों में होने वाले वैषम्य के कारण उसके व्यक्तित्व-विकास में बड़ी बाधा पहुँचती है। इन मनोदशाओं को ध्यान में रखकर सात्रेटीज ने तर्क-विधि आविष्कृत की। श्रद्धा की अपेक्षा उसने संदेह (Skeptic attitude) और जिज्ञासा (Curiosity, को शिक्षा की पृष्ठभूमि बताया। विद्यार्थी उत्सुकता और पूर्वसंस्कारों के प्रति संदेह की भावना को लेकर गुरू के पास आता है। शिक्षक प्रश्नों द्वारा संदेह की पुष्टि करता है और तर्कों द्वारा उसके पूर्व विचारों का खोखलापन उसके सामने प्रकट कर देता है। इसके बाद सही शिक्षा का प्रारंभ होता है। जिस प्रकार खेत में बिना झाड़-झंखाड़ साफ किये अन्न नहीं उगाया जा सकता, उसी प्रकार विद्यार्थी के हृदय में जमे हुए पूर्वविचारों को नष्ट किए बिना, नवीन ज्ञान का सूत्रपात हो ही नहीं सकता। तर्क-विधि द्वारा मानस-जगत् के सारे विकार नष्ट हो जाते हैं। इस शिक्षणं-विधि को जनप्रिय बनाने का श्रेय सात्रेटीज और प्लैटो को था। इन लोगों ने शिक्षा में इस विधि का प्रयोग इतनी सफलता से किया कि दूर-दूर से विद्यार्थी-समुदाय खिंच कर उनके चरणों में लोटने लगा।

तर्कपद्धति की सफलता पूर्ण रूप से हुई परन्तु कथन-विधि की जनप्रियता भी नष्ट न हुई। इसका कारण था, कथन-विधि द्वारा शिक्षण में सुगमता। दूसरे, यूनान का वह स्वर्णयुग, जिसमें सात्रेटीज, प्लैटो और ऑरिस्टाटल जैसे उद्भट् विद्वान अवतीर्ण

हुये थे, समाप्त हो गया। यूनानियों की पराजय और रोम-साम्राज्य की स्थापना के बाद, यूनानी साहित्य अंधकार में पड़कर सड़ने लगा। रोमन लोगों ने शिक्षण-विज्ञान के विकास में कोई ठोस सहायता नहीं दी। उन लोगों में यूनानियों की भाँति प्रतिभा भी न थी। साक्रेटीज़ की तर्क-विधि का भी वे सफलता पूर्वक उपयोग न कर सके। उन्होंने अपनी शिक्षा में अनुकरण और कंठस्थ करने की विधि को प्रधानता दी। रोम में विद्यार्थियों को कानून रटाये जाते थे। कानूनों का संग्रह 'Twelve Tables' के नाम से प्रसिद्ध था। नवयुवकों को आदर्श व्यक्तियों का अनुकरण करने की शिक्षा दी जाती थी। जिस प्रकार यूनान में शिक्षक (Pedagogne) के हाथों में युवकों की शिक्षा का प्रबंध होता था, उसी प्रकार रोम के विद्यार्थी युद्धों और दरबारों में अपने पिता का अनुकरण करते थे। साहस, बुद्धिमत्ता, इमानदारी और सच्चाई आदि के गुण वे उससे ही सीखते थे। शिष्टाचार तथा विनम्रता आदि गुण, वे अनुकरण द्वारा राजमहलों की सुसंस्कृत महिलाओं के सान्निध्य में रहकर सीखते थे। क्विनटीलियन (Quintilian, 30-100 A. D.) जो उस युग का सर्वश्रेष्ठ शिक्षाचार्य माना जाता है, कहा करता था कि कथन-विधि द्वारा दी गयी शिक्षा कठिन तथा लम्बी होती है और अनुकरण-विधि सरल तथा सुगम है। भाषण-कला (Oratory) के सिखाने में उसने अनुकरण तथा कंठस्थ करने की विधि का ही सहारा लिया।

इसी बीच में ईसाई धर्म का उदय हुआ। महात्मा ईसा द्वारा प्रचारित ईसाई धर्म की चकाचौंध में यूनान का जड़वाद तथा अनीश्वर-वाद फीका पड़ गया। तर्क के स्थान पर विश्वास फिर आसीन हो गया। वास्तव में तर्क द्वारा मनुष्य में संदेहात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न हो जाता है। इसके कारण वह प्रतिक्षण एक अनिश्चिय तथा एक अनिस्थिरता का अनुभव करता है—उसे अपना जीवन

और जान पड़ने लगता है। तर्क अशांति का बीज हृदय में बोता है। आनंद और शांति के लिये अटूट अंधविश्वास चाहियें। ईसाई धर्म ने यही अंधविश्वास मनुष्य को प्रदान किया। इसनें ईश्वर और उसकी शक्ति पर अनंत श्रद्धा और विश्वास के साथ साथ गुरू पर भी आस्था करना आवश्यक बताया। गुरू जो कुछ कहता है उस पर पूर्ण श्रद्धा के साथ आचरण करना विद्यार्थी का परम कर्तव्य बन गया। इस प्रकार के धर्म से अनुप्राणित शिक्षा में एक बार फिर कथन-विधि का बोलबाला हो गया। नगरों में दार्शनिकों के घरों से उठ कर शिक्षा के केन्द्र मठों और बिहारों में स्थापित हो गये। इन्हीं स्थानों में पादरी विद्यार्थियों को धर्मोपदेश देते थे। लगभग १५०० वर्षों तक शिक्षा में इस कथन-विधि की तूती बोलती रही।

ईसा मसीह प्रधानतः धर्मोपदेशक थे; उन्हें शिक्षण में विशेष रुचि न थी परन्तु परोक्ष-रूप से शिक्षण के क्षेत्र में, अपनी प्रतिभा के बल पर वे बहुत कुछ कर गये। वे साक्रेटीज की भाँति निर्भीक तथा सत्यप्रेमी थे और उसी की भाँति उनका भी दुखद अंत हुआ परन्तु जीवन में इतना साम्य होते हुये भी उनकी शिक्षण-विधियों में महान अन्तर है। वे अपने अनुयायियों को विशेषाधिकार (Authority) के बल पर शिक्षा देते थे और उनका यह अभूतपूर्व अधिकार उनके असीम ज्ञान के आधार पर टिका था। वे शिक्षा देने में प्रभावोत्पादक उपमाओं और कहानियों का प्रयोग करते थे। श्रोताओं के दैनिक जीवन से चुनकर दिये गये उदाहरण उपयुक्त और समयोचित होते थे। समय समय पर वे प्रश्न पूछते जाते थे परन्तु अपने शिष्यों के मन में होनेवाली शंकाओं को वे पहले से ही ताड़ लेते थे और उनका भली भाँति समाधान कर देते थे। इसलिये वे अपने अनुयायी वर्ग में अपने प्रति स्थायी विश्वास उत्पन्न कर सके। उन्होंने मुख्यतः कथन-विधि का प्रयोग किया।

आगोचर्ल कर उनके अनुयायी शिक्षक इस विशेषता को कायम न रख सके और इस विधि में अनेक दोष उत्पन्न हो गये, यथा शब्दाडंबर और निर्जीवता। सेंट आगस्टाइन (St Augustine, 350-430 A. D.) ने इन दोषों का परिहार करने के लिये प्रयत्न किया। उसने शिक्षण को व्यावहारिक बनाने तथा उसे कोरे शब्द-जाल से मुक्त करने पर अधिक ज़ोर दिया। उसने व्याकरण की पढ़ाई में नियमों का अध्ययन कराने की अपेक्षा, विद्वानों के सम्पर्क द्वारा भाषा का ज्ञान प्राप्त कराना आवश्यक बताया। उसका कहना था कि शिक्षण में ज़ोर-ज़बरदस्ती का प्रयोग हानिकारक ही होता है। "चाहे कितनी ही अच्छी बात हो, परन्तु कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा के विरुद्ध नहीं सीख सकता।"

मध्य युग में शिक्षण-विज्ञान में कोई नवीन परिवर्तन नहीं हुआ। शिक्षा के क्षेत्रों में बालक को पढ़ाने में उम्मीदवारी की प्रथा (System of Apprenticeship) का विशेष रूप से प्रयोग होने लगा। उच्चवर्गीय बालक राजदर्बारों में सामन्तों के साथ रहकर उनके जीवन का अनुकरण करते थे। उनके साथ युद्धों में जाकर अस्त्रों का प्रयोग सीखते थे और उनके घरों पर रहकर शिष्टाचार आदि की कला का ज्ञान प्राप्त करते थे। इसी प्रकार अंत में वे भी सामन्त पद प्राप्त कर लेते थे। दूसरी ओर मठों में भिक्षुओं के सम्पर्क में रहकर धर्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी संयमपूर्ण जीवन बिताते थे और पुस्तकों की हस्तलिपि करते थे। उनके परिणाम स्वरूप ही वे भिक्षु या मठाधीश बन सकते थे। दस्तकारी की शिक्षा में भी यही विधि प्रयुक्त होती थी। हस्तकलाओं के विशेषज्ञों के घरों पर अनेक विद्यार्थी रहकर उन कलाओं का ज्ञान प्राप्त करते थे।

इस युग के महत्वपूर्ण शिक्षाचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं—

---

१. Augustine : Confessions, Book I, Chap. 12

पियरे अबेलार्ड (Pierre Abelard, 1079—1142 A. D.) और सैंट थॉमस ऐक्वीनाज़ (St. Thomas Acquinas, 1223-1274)। शिक्षालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिये उपयुक्त शिक्षण-विधि का विकास करने में इन्होंने पर्याप्त सहायता दी। अबेलार्ड ने पढ़ाते समय कुछ प्रश्न पूछने के लिये तैयार किये, जिन्हें Sie et non कहते हैं। उसकी यह विधि बड़ी जटिल है। ऐक्वीनाज़ की शिक्षण-विधि भी आगे चलकर केवल दुरूह बनकर रह गयी। हाँ, उसने एक नयी बात यह बताई कि बालक को **अपने आप** सीखने देना चाहिये। अध्यापक का काम तो केवल पथ-प्रदर्शन करना है। बालकों में ज्ञान बाहर से भरा नहीं जा सकता। अध्यापक का काम यह है कि वह बालक की सहज योग्यताओं के सहारे उसके ज्ञान को विकसित कर दे और उसे अपने अनुरूप विद्वान बना दे। यह कार्य अनुमानशास्त्र (Syllogism) के तर्कपूर्ण तथा सफल प्रयोग द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। अनुमानशास्त्र बताता है कि मनुष्य का मस्तिष्क कैसे काम करता है; अतः इसी शास्त्र का प्रयोग शिक्षण में वांछनीय है। ऐक्वीनाज़ ने अपनी शिक्षण का विस्तृत विवरण अपनी पुस्तक (Summa theologica) में दिया है। उसके अनुसार शिक्षक को पाठ्य-सामग्री प्रश्नों द्वारा प्रस्तुत करना चाहिये। पाठ का अध्ययन विद्यार्थी के ऊपर ही नहीं छोड़ देना है। अध्यापक अनुमानशास्त्र के सहारे पाठ्य-विषय की आलोचना करे, सही हल बताये और सारी शंकाओं का समाधान करे। अंतिम हल निकाले बिना पाठ को छोड़ देना वैसे ही है जैसे विद्यार्थी के आगे एक खाई खोद देना। वास्तव में उसे पार जाने के लिये पुल बनाना भी सिखाना चाहिये। संक्षेप में ऐबेलार्ड की विधि—विचार-विमर्श (Discussion) तथा शास्त्रार्थ (Disputation) की विधि कहला सकती है। पढ़ाते समय अध्यापक और विद्यार्थी में एक प्रकार का वाग्युद्ध सा होता है। अनुमानशास्त्र की सहायता से वे एक दूसरे पर आक्रमण तथा बचाव करते हैं। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में—विश्वविद्यालयों में—नये सिद्धान्तों तथा

नयी खोजों के प्रतिपादन में भी इसी विधि का प्रयोग होता था। शिक्षण की यह विधि अत्यंत शाब्दिक एवं विचारात्मक थी।

हम पहले कह चुके हैं कि कथन-विधि का अविष्कार हो चुका था। मध्यकाल में इस विधि को पनपने का अच्छा अवसर मिला। इस युग में विश्वविद्यालयों का जन्म यूरोप में हुआ। पुस्तकों की कमी के कारण, शिक्षण में अध्यापक का महत्त्व बढ़ गया। अध्यापक के पास पुस्तक होती थी, वह कक्षा में पढ़ कर सुनाता था और विद्यार्थी उसे संक्षिप्त करके लिख लेते थे। कभी कभी अध्यापक एक विषय की विभिन्न विद्वानों की पुस्तकें पढ़ कर, एक भाषण सा तैयार कर लेता था और उसे कक्षा में पढ़ता था इस प्रकार भाषण-विधि (Lecture Method) का जन्म हुआ। हैले-विश्वविद्यालय (University of Halle) में जो सम्भवतः सर्वप्रथम विश्वविद्यालय था, भाषण-विधि का प्रयोग होता था और उसमें अध्यापकों ने कई सुधार किये। भाषण-विधि केवल पुस्तकों की टीका-टिप्पणी और व्याख्या तक सीमति न थी। निरंतर बढ़ते हुये ज्ञान-भंडार को सुचारु रूप से विद्यार्थियों के सन्मुख प्रस्तुत करना उसका उद्देश्य बन गया। भाषण के साथ साथ शास्त्रार्थ (Disputation) का भी प्रयोग होता था। अध्यापकों और विद्यार्थियों में, भाषण के बाद वाद-विवाद होता। था विद्यार्थी अपनी शंकायें अध्यापक के सामने उपस्थित करते थे और वह उनका समाधान करता था। उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी जो भी गवेषणात्मक (Research) कार्य करने के बाद आलेख (Thesis) प्रस्तुत करते थे, उनके संबंध में अध्यापक तथा विद्यार्थी एक सभा में अनेक प्रश्न करते थे, और खोज करने वाले विद्यार्थी को सबका उत्तर देना पड़ता था; तभी उसे डिग्री मिलती थी।

१४ वीं शताब्दी के प्रारंभ होते ही यूरोप एक संक्रांति-युग के बीच होकर गुज़रने लगा। इस का कारण है एक महत्वपूर्ण घटना जो

इतिहास में 'ज्ञान का पुनरोदय' (Renaissance) के नाम से विख्यात है। संक्षेप में इस का अर्थ यह है कि यूरोप के विद्वानों ने प्राचीन यूनानी साहित्य को फिर से पढ़ना आरंभ किया और उसमें संचित-ज्ञान, जिसका आधार प्लैटो और अरस्तू आदि की पुस्तकें थीं, को देखकर उनकी आँखें खुल गयीं। उसके परिणाम स्वरूप प्रचलित अंध-विश्वासों को गहरा धक्का लगा। शिक्षण के क्षेत्र में भी उथल-पुथल होने लगी। अभी तक पढने-लिखने वालों की संख्या बहुत कम थी, जन-साधारण प्रायः निरक्षर रहते थे। अब लोग यह समझने लगे कि बिना शिक्षा प्राप्त किये हुये हमारा उद्धार न होगा। अतः इसी समय से छोटे बालकों को पढ़ाने की प्रथा आरंभ हुई। पुरानी शिक्षण-विधियाँ, शास्त्रार्थ, भाषण आदि अब अनुपयुक्त सिद्ध होने लगीं क्योंकि वह केवल वयस्क लोगों के लिये ही काम दे सकती थीं। छोटे और किशोर बालकों के लिये नयी विधि की आवश्यकता थी।

जब धर्म के क्षेत्र में क्रांति प्रारम्भ हुई, अंधविश्वास और श्रद्धा का खंडन किया जाने लगा। सुधारवादियों ने शिक्षा में तर्क की उपादेयता पर जोर दिया। उधर रूढ़िवादियों ने भी अपना चोला बदला। साधारण जन समाज को आकर्षित करने के लिए उन्होंने अपनी शिक्षण-विधि में कुछ हेर-फेर किये। सुधारवादियों के बढ़ते हुये प्रभाव को रोकने के लिये उन्होंने एक नये संगठन की नींव डाली जिसे जेस्वीट आर्डर (Jesuit order) कहते हैं। तत्कालीन शिक्षा को इनके द्वारा बड़ा प्रोत्साहन मिला। रूढ़िवादी, प्राचीन धर्म को तर्क-सम्मत बताते हुये बड़े जोर-शोर के साथ शिक्षा-प्रचार में जुट गये। शिक्षण-विधि के इतिहास में इन लोगों का नाम सदैव अमर रहेगा। इस संगठन के प्रधान स्तंभ ल्वायला (Loyla) ने शिक्षण-विधि को सुचारु रूप देने में बड़ी सहायता पहुँचाई। उसने शिक्षण-विधि को वैज्ञानिक रूप देने की ओर

सर्वप्रथम संकेत किया। इस संबंध में उसके विचार उल्लेखनीय हैं।

ल्वायला का कहना था कि अध्यापक को चाहे वह छोटी कक्षा को पढ़ाता हो या बड़ी को, ट्रेनिंग देना अत्यावश्यक है। ऊँची कक्षाओं में पढ़ाई शास्त्रार्थ-पद्धति से होनी चाहिये। शास्त्रार्थ के अवसर पर अध्यापक स्वतः उपस्थित रहे। उसके आदेशानुसार विद्यार्थी शास्त्रार्थ प्रारंभ करे। प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी सम्मति प्रकट करने का अवसर दिया जाय। शिक्षक सदैव इस बात का ध्यान रक्खे कि विवादग्रस्त प्रश्न का उचित हल निकल आवे। ऊँचीं कक्षा के विद्यार्थियों के लिये भाषण-विधि (Lecturing method) का प्रयोग किया जाय। विद्यार्थी आवश्यक बातों को नोट करते जायँ। पाठ के अंत में अध्यापक विद्यार्थियों को प्रश्न करने का मौका दें और मास के अंत तक पाठ को कम से कम एक बार अवश्य दुहरा लिया जाय। छोटी कक्षाओं में अध्यापक पूरी पुस्तक आधे वर्ष में समाप्त कर ले और शेष समय में उसे दुहरा ले। दोहराने पर बहुत जोर देना चाहिये। ल्वायला ने पाठ पढ़ाने के विधि की एक साधारण रूपरेखा भी तैयार की। उसे देखकर हमें प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हरबार्ट (Herbart) की याद आ जाती है। पाठ के पढ़ाने में उसने चार सीढ़ियाँ नियत कर दीं। (१) पाठ को एक बार पढ़ा जाय। (२) पूर्व-ज्ञान के साथ तर्कों को स्पष्ट करते हुये नवीन विषय के साथ संबंध जोड़ा जाय। (३) प्रत्येक वाक्य का अनुवाद चालू भाषा में इस प्रकार किया जाय कि भाव स्पष्ट हो जाय। (४) अंत में एक बार पाठ को अवश्य दोहरा लिया जाय।

ल्वायला ने शिक्षण-विधि को सफल बनाने के लिये अध्यापक की ट्रेनिंग को बहुत आवश्यक बताया। उसने बताया कि "शिक्षा-

लयों के लिये यह बात बड़ी उपयोगी होगी कि भावी शिक्षकों को कोई अनुभवी व्यक्ति कम से कम दो या अधिक मास तक पढ़ने, पढ़ाने, पाठ को सही करने, लिखने तथा कक्षा का अनुशासन करने का अभ्यास करावे। यदि शिक्षक इन बातों का पहले से ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेते, तो उन्हें यह बातें विद्यार्थियों को हानि पहुँचा कर सीखनी पड़ती हैं। वे चतुर और निपुण शिक्षक उस समय बन पायेंगे, जब वे अपनी अज्ञानता के कारण बदनाम हो चुकेंगे। सम्भवतः तब उनकी बुरी आदतें छूटेंगी भी नहीं।" इसलिये शिक्षण-विधि की शिक्षा प्रारंभ में ही दे देना आवश्यक है।[१]

शिक्षणविधि के इतिहास में जेस्वीट लोगों का नाम अमर रहेगा। उन्होंने सर्वप्रथम शिक्षण-विधि का महत्व बताया और उसे वैज्ञानिक रूप देने की चेष्टा की। रस्क महोदय ने उन्हें शिक्षण-विधि का जनक बताया है। शिक्षा देने में नाटक का उपयोग करके उन्होंने इतिहास पढ़ाने के आधुनिक नाटकीय ढंग का पूर्वाभास कराया और भाषा की शिक्षा में डायरेक्ट विधि का प्रयोग किया। उनकी दोहराने की विधि का, आधुनिक समय में, शिक्षक बड़ी खूबी से प्रयोग करते हैं।

जेस्वीट मत के अध्यापक शिक्षण में एक अन्य प्रकार की विधि भी प्रायः प्रयोग में लाते थे। उसे टीका या व्याख्या-विधि कह सकते हैं। यह भाषण-विधि का रूपान्तर मात्र थी। भारत में टीका-विधि प्राचीन काल से ही प्रचलित थी। साहित्यिक और दार्शनिक विषयों की पढ़ाई में इसका प्रयोग होता था। किसी भी पद अथवा श्लोक की भाषा की व्याख्या करना, उसकी व्याकरण

---

१ Rusk : The Doctrines of the Great Educators, Chapter IV pages 79. 80

संबंधी गुत्थियाँ सुलझाना, अलंकार आदि का उल्लेख करना, इस टीका का उद्देश्य था। लगभग ऐसी विधि का प्रयोग जेस्वीट लोगों ने किया। व्याख्या-विधि (Prelection) के अन्तर्गत अध्यापक किसी भी खंड को पढ़ाने से पहले उसे अच्छी तरह तैयार करता था। फिर कक्षा में वह उसे पढ़ता और विद्यार्थी याद करने योग्य बातों को अंकित कर लेते। फिर अध्यापक क्रम से हर एक बात को दुहराते हुये, शब्दों और अर्थों की व्याख्या करते हुये, उसके लेखक की शैली का सौन्दर्य विद्यार्थियों को समझाता था।[1] जेस्वीट लोगों की पुस्तक (Ratio Studiorum) में शिक्षण-कला के सूत्रों का भली भाँति उल्लेख किया गया है।[2] जेस्वीट लोगों के समकालीन जैनसेनिस्ट (Jansenist) लोगों ने इस प्रचलित शिक्षण-विधि का विरोध किया। उन्होंने बच्चों की रुचि का ध्यान रखने का संकेत दिया। उनकी विधि में आधुनिक शिक्षण के कुछ तत्व दिखाई देते हैं।[3]

जेस्वीट संगठन के द्वारा शिक्षा-प्रचार में काफी योग मिला, परन्तु प्राचीन धर्म के विरुद्ध एक भीषण प्रतिक्रिया आरंभ हो चुकी थी। उसका परिणाम नवीन धर्म अर्थात् प्रोटेस्टैन्ट धर्म था। इस समय ज्ञान के क्षेत्र में बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी। ज्ञान के पुनरुद्धार के साथ साथ ग्रीक साहित्य का प्रचार होने लगा था। जन-साधारण प्रचलित साहित्य तथा सामाजिक संस्थाओं की आलोचना करने लगे। उन्हें इन पर संदेह होने लगा। बाइबिल

---

1. B. Herder. St. Louis : Jesuitical Education pp 468-474
2. Fitzpatrick. St. : Ignatius and the Ratio Studiorum.
3. Fenelon. F., Education of Girls.

में लिखी हुई कुछ बातें झूठी साबित हुई। ईसाइयों का विश्वास था कि लगभग १००० ईसवी के बाद इस सृष्टि का विनाश हो जायगा परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसी तरह पौराणिक आधार पर जन-साधारण यही विश्वास करते चले आये थे कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य पूर्व से निकलकर वृहदाकाश की परिक्रमा करता हुआ पश्चिम में अस्त होता है। विद्वान कोपरनिकस (Copernicus) ने इस विश्वास की नीव जड़ से हिला दी। उसने सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती हुई दिन रात घूमा करती है। इसी प्रकार गैलीलियों ने भी अनेक प्राचीन सिद्धान्तों का खंडन किया। इन सब खोजों का परिणाम यह हुआ कि अतीत के प्रति असीम श्रद्धा का अंत होने लगा। मनुष्य नवीन बातों की खोज में लग गया। फलतः भौतिक-विज्ञान का जन्म हुआ। इस भौतिक-विज्ञानरूपी वृक्ष के मूलाधार से अनेक शाखायें निकल कर भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर बढ़ने लगीं। इस वैज्ञानिक उन्नति ने मनुष्य की चिंतन-शैली पर बड़ा प्रभाव डाला। शिक्षा पर भी उसका प्रभाव पड़ना आवश्यक था।

वैज्ञानिक-विधि की विशेषताएँ हैं; जैसे (१) सुचारुरूपता (Systematisation) (२) प्रयोगात्मकता (Experimentation) (३) इंद्रिय-जनित ज्ञान पर विश्वास (Trust of S^nse Perception)। इन विशेषताओं के बल पर विज्ञान उन्नति के शिखर पर पहुँच सका हे। इसलिए विभिन्न शास्त्रों ने इस वैज्ञानिक विधि को अपनाना आरंभ कर दिया। शिक्षा-शास्त्र ने भी विज्ञान के चरण-चिन्हों पर चलना प्रारंभ किया।

विज्ञान में पहला कदम है पूर्वज्ञान को सुचारु रूप देना। शिक्षा के क्षेत्र में विद्वानों ने अब तक जो भी शिक्षा-संबंधी साहित्य सुलभ था, उसको एक सुव्यवस्थित रूप देना शुरू कर दिया। इस दिशा में सबसे पहले, कोमेनियस (Comenious) ने प्रयत्न किये।

उसने पहली बार शिक्षा-संगठन, शिक्षण-विधि, शिक्षा के उद्देश्यों और पाठ्यक्रम की पुस्तकों को सुचारु रूप देने का उपक्रम किया।

वैज्ञानिक प्रगति का सबसे अधिक प्रभाव शिक्षण-विधि पर पड़ा। कोमेनियस ने बड़े ही व्यवहारिक ढंग से पढ़ाने की एक ऐसी विधि तैयार करने का प्रयत्न किया जिससे पढ़ाई सुगम हो जाय। उसका कहना था कि शिक्षण-विधि के सम्बन्ध में हमें प्रकृति से सीखना चाहिए। यदि प्रकृति का अनुसरण किया जाय तो पढ़ाने में कभी भूल हो ही नहीं सकती।

एक अन्य प्रकार से भी शिक्षा पर विज्ञान का प्रभाव पढ़ा। विज्ञान में पर्यवेक्षण का बड़ा महत्व माना गया है। पर्यवेक्षण द्वारा किसी वस्तु का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है। पर्यवेक्षण का आधार ज्ञानेंद्रियाँ हैं। किसी भी वस्तु का ज्ञान मनुष्य को अपनी विभिन्न ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञानेंद्रियों को ज्ञान का द्वार कहा गया है। ज्ञानेंद्रियों को यह महत्व विज्ञान के प्रभाव से ही प्राप्त हुआ है। इसके पूर्व इन्द्रिय-जनित ज्ञान को हेय दृष्टि से देखा जाता था। यही नहीं, इस प्रकार के ज्ञान को 'ज्ञान' न कह कर 'माया' कहा जाता था और उसे भ्रमात्मक बताया जाता था। इसलिये प्राचीन काल में दार्शनिक इंद्रिय-दमन पर जोर देते थे। यूनानी दार्शनिक प्लेटो के मत में इन्द्रियाँ मनुष्य को धोखे में डालती हैं। अरस्तू का मत है कि ज्ञान सहज है, वह इंद्रित-जनित नहीं। शिक्षा केवल उस सहज परन्तु सुप्त ज्ञान को जाग्रत करती है। मन-रूपी दीप में यदि प्रकृति से ही ज्ञान-स्नेह मौजूद है तो शिक्षा की अग्निशिखा उसे प्रदीप्त कर सकती है, अन्यथा नहीं। तत्कालीन मनोवैज्ञानिकों का मत था कि मनुष्य का मनस्तल कई विभागों में बँटा है जिन्हें

'फैकल्टी' कहते हैं, जैसे स्मृति, तर्क-शक्ति, ध्यान, दृढ़ेच्छाशक्ति आदि। शिक्षा द्वारा उन शक्तियों को पुष्ट किया जा सकता है। शिक्षा में ऐसे विषय पाठ्यक्रम में रक्खे जाते थे, जिनसे इन शक्तियों को अभ्यास द्वारा सबल बनाया जा सके। ज्ञानेन्द्रियों के उपयोग की ओर ध्यान न दिया जाता था। भौतिक विज्ञान की सफलता ने दार्शनिकों का ध्यान इन्द्रियों के महत्व की ओर आकर्षित किया। लाके (Locke) ने इस विषय पर विचार-विमर्श करना प्रारंभ किया।

लाके का मत है कि ज्ञान सहज न होकर इन्द्रिय-जनित है। इसने (Essays on Human Undeistanding) में ज्ञान के संबंध में जो कुछ लिखा है, उसका आशय यह है कि ज्ञान अनुभव द्वारा उत्पन्न होता है। मनुष्य का मस्तिष्क एक कोरे कागज के समान है जिस पर जन्म के समय एक अक्षर नहीं लिखा होता। वाह्य पदार्थों और भौतिक जगत् से उसका संबंध इन्द्रियों द्वारा स्थापित होता है। वस्तुओं के सम्पर्क से हमारे मस्तिष्क में संवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं। संवेदनाएँ विचारों (Ideas) को जन्म देती हैं। प्रारंभ में यह विचार साधारण (Simple) होते हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य का अनुभव बढ़ता जाता है, यह विचार एक दूसरे से मिल कर जटिल होते जाते हैं। विचारों के बीच स्थापित होने वाले इस संबंध को ज्ञान कहते हैं। लाके के इस सिद्धांत के मनन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए मनुष्य पूर्णरूप से वाह्य-जगत् पर निर्भर है। इसमें मस्तिष्क की क्रियाशीलता (Activity) का कुछ भी महत्व नहीं है अर्थात् मस्तिष्क मानों एक निर्जीव मोम का टुकड़ा है जिस पर वाह्य वस्तुओं के निशान पड़ जाते हैं। यदि ऐसा है तो शिक्षा की आवश्यकता क्या ? लाके ने इसलिए Conduct of Human Understanding में यह बात स्पष्ट कर दी कि यद्यपि मनुष्य का मस्तिष्क वाह्य प्रभावों

को यथावत् ग्रहण करता है परन्तु शिक्षा इसलिए दी जानी चाहिए कि यदि वाह्य प्रभावों को बेढंगे तौर से मस्तिष्क पर पड़ने दिया जायगा तो मनुष्य का ज्ञान अधूरा रहेगा। शिक्षा कष्टसाध्य परिश्रम द्वारा ज्ञान को नियमित तथा सुव्यवस्थित बनाती है।

लाके द्वारा प्रतिपादित इन मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का शिक्षा-विधि पर बड़ा गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा। इस आधार पर प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हरबार्ट (Herbart) ने एक ऐसी शिक्षा-पद्धति निर्माण कर डाली जो अब भी प्रत्येक ट्रेनिंग कालेज में बताई जाती है। उसके मतानुसार शिक्षा का उद्देश्य चरित्रनिर्माण है। चरित्रनिर्माण में सफलता प्राप्त करने के लिए अध्यापक को क्रमशः विचारवृत्त् (Circle of Ideas) इच्छा (Desire) रुचि (Interest) और दृढ़ता (Will) की स्थितियों को पार करते हुए चरित्र-निर्माण तक पहुँचना होता है। यदि पहली सीढ़ी अर्थात् सद्विचारों का निर्माण भली भाँति हो गया तो चरित्र-निर्माण में सुगमता होती है। लाके के सिद्धांतों के आधार पर हरबार्ट ने निश्चय किया कि सद्विचार तभी बन सकते हैं जब वाह्य वस्तुओं की योजना विद्यार्थी के सामने सुचारु रूप में की जाय। अतः वस्तुओं को उपस्थित करने की वैज्ञानिक विधि हरबार्ट ने तैयार की। यही उसकी पाँच सीढ़ियों वाली शिक्षण-विधि (Famous Five Steps) कहलाती है।

लाके की विचारधारा के परिणामस्वरूप शिक्षा में पर्यवेक्षण और इन्द्रियों के अभ्यास पर विशेष जोर दिया जाने लगा। पर्यवेक्षण द्वारा अनुभव को अधिक से अधिक ठोस बनाने के लिए शिक्षालयों में सहायक उपकरणों (Material aids) को अधिक से अधिक मात्रा में जुटाया जाने लगा। रंगबिरंगे चित्र, चार्ट, माडेल

आदि का प्रयोग शिक्षक करने लगे। सबसे पहले इस काम को व्यावहारिक रूप देने वाला कोमिनियस ही था। उसने शब्द-ज्ञान कराने के लिए रंग-विरंगे चित्रों से सुसज्जित एक पुस्तक (Orbis pictus) तैयार की। ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से शिक्षण को सुगम बनाने का यह प्रथम प्रयत्न था। यही नहीं, कोमेनियस ने अपनी दूसरी महत्वपूर्ण कृति (Didactica) में पाठ्य-विषय को ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से पढ़ाने के सामान्य नियम तक लिख दिये हैं। पेस्तालाजी (Pestalozzi) ने वस्तु-पाठ (Object lesson की अनूठी विधि आविष्कृत की, जिसके द्वारा बालक के सामने एक वस्तु रख कर उससे सम्बंधित विचारों का बोध उसे कराया जाता है। लाके के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत का किसी न किसी रूप में सभी शिक्षा-शास्त्रियों ने उपयोग करना प्रारंभ कर दिया। फ्रोबेल (Froebel) ने किंडरगार्टेन विधि में उपहारों (gifts) को इसीलिए स्थान दिया कि बालक को बचपन से ही पर्यवेक्षण का अभ्यास पड़ जाय। मेरिया मॉँटेसरी की शिक्षणविधि में ज्ञानेंद्रियों को अभ्यास कराने का सबसे अधिक महत्व है। शिक्षणविधि में होने वाले इन चमत्कारी परिवर्तनों का कारण लाके की विचार-धारा है।

लाके आधुनिक मनोविज्ञान का जन्मदाता माना जाता है। भौतिक विज्ञान की भाँति मनोविज्ञान ने प्रयोगात्मक (Experimental) विधि अपना ली। अनेक नई नई खोजें होने लगीं। बालकों के स्वभाव का अध्ययन करके नवीन सिद्धांत प्रतिपादित किये जाने लगे। शिक्षा का संबंध बालकों से है, अतएव उन खोजों से शिक्षा में लाभ उठाना आवश्यक था। शिक्षामनोविज्ञान के नाम से एक विषय ही शिक्षाशास्त्र में स्वीकृत कर लिया गया। संवेदना, सविकल्पज्ञान और पर्यवेक्षण आदि पर जो खोजें हुई

उनसे लाभ उठाया गया । शिक्षण-विधि पर इन खोजों का बहुत प्रभाव पड़ा ।

वैकासिक मनोविज्ञान (Developmental Psychology) ने शिक्षणविधि को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया । इसके आधार पर बालकों में शारीरिक, मानसिक और भावसंबंधी विकास का अध्ययन किया गया । अब मनोवैज्ञानिक एक अनूठे निष्कर्ष पर पहुचे । अभी तक एक वयस्क (Adult) और एक बालक (Child) के मनस्तर में कोई अंतर नहीं समझा जाता था । अब यह सिद्ध हुआ कि एक बालक और एक वयस्क के मानसिक जगत् में आकाश-पाताल का अंतर है । प्राचीन शिक्षा में बालक को एक वयस्क का लघु रूप(Miniature man) समझ कर उन्हीं सिद्धातों का पाठ कराया जाता था जो एक प्रौढ़ व्यक्ति को सिखाये जाते हैं । मनोविज्ञान ने बाल्यावस्था के विकास-संबंधी नियम खोज निकाले । यही नहीं जन्म, से लेकर पूर्ण विकास काल तक बालक को कई विकास-स्थितियाँ पार करनी पड़ती हैं—ऐसा तथ्य खोज निकाला गया । शैशव, पूर्वबाल्यकाल, यौवनारम्भकाल—इन स्थितियों में बालक की शारीरिक, मानसिक और भावसंबंधी दशायें भिन्न भिन्न होती हैं । इसलिए शिक्षा देते समय मनोंदशाओं का ध्यान रखना आवश्यक है । शिक्षाशास्त्रियों ने इसलिए, शिक्षाविधि को इस नये आधार पर संगठित करने का प्रयत्न आरंभ किया । एक विशेष आयु के बालकों के लिए एक विशेष शिक्षण-विधि उपयुक्त होती है—जैसे किंडरगार्टेन लगभग तीन या चार वर्ष के बालकों के लिए, माँटेसरी विधि पाँच वर्ष से सात-आठ वर्ष के बालकों के लिए ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में मनोविज्ञान के क्षेत्र में व्यक्तिगत भिन्नता (Individual Differences) की खोज हुई । अभी तक यही समझा जाता था कि जन्म के समय एक बालक की

मानसिक शक्ति उतनी ही होती है जितनी एक दूसरे बालक की । आगे चल कर उनकी शक्तियों में जो कुछ अंतर दिखाई देता है, वह परिस्थितियों और शिक्षा के कारण । इस प्रचलित धारणा को मनोवैज्ञानिकों ने भ्रांतिमूलक सिद्ध कर दिया । १९ वीं शताब्दी का अंत हो रहा था । तभी पेरिस में शिक्षा के गिरते हुए स्तरों की जाँच के लिए सरकार द्वारा बिने (Binet) नामक मनोवैज्ञानिक की नियुक्ति हुई । उसने बुद्धि-परीक्षा के लिए कुछ टेस्ट (Tests) तैयार किये । उनकी सहायता से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बालकों की व्यक्तिगत भिन्नता सहज है । बुद्धिमाप के आधार पर उसने बालकों को श्रेणीबद्ध किया, जैसे जड़ (Idiot), मूढ़ (Imbecile) मूर्ख (Moron), साधारण, (Normal) प्रतिभावान (Genius । बाल-समाज में सभी श्रेणी के बालक घुले-मिले होते हैं । इस तरह एक कक्षा में कुछ मूढ़ होते हैं, कुछ साधारण और कुछ प्रतिभावान। अतः एक बात सिद्ध है कि कक्षा में एक प्रकार से दी जाने वाली शिक्षा से सभी बालक एक गति से लाभ नहीं उठा सकते । इस दृष्टिकोण से शिक्षणविधि में कुछ अंतर लाना आवश्यक समझा गया । संयुक्त राज्य अमेरिका के डाल्टन (Dalton) नगर में हेलेन पार्खर्स्ट नामक महिला ने कुछ प्रयोग किये जिसके प्रमाणस्वरूप डाल्टन-विधि का जन्म हुआ ।

मनोवैज्ञानिक खोजों के साथ साथ मध्यकाल में ही दार्शनिक-क्षेत्र में होने वाले क्रांतिकारी परिवर्तनों का शिक्षा पर प्रभाव पड़ रहा था । दर्शन पर से धर्म का प्रभुत्व धीरे धीरे हट रहा था । धार्मिक पुस्तकों में मनुष्य के जन्म का कारण उसका पूर्वपाप (Original sin) बताया गया था । आदिपुरुष आदम और उनकी पत्नी ईव पहले देवताओं की भाँति स्वर्ग के निवासी थे । ईव की प्रेरणा से आदम में दुष्प्रवृत्तियाँ जाग्रत हुईं, और उन्होंने स्वर्गोद्यान में लगे हुए फल को खा लिया । ईश्वर ने असंतुष्ट होकर आदम को

पृथ्वी पर ढकेल दिया। यही मनुष्य के जन्म की कथा है। इस दृष्टिकोण से मनुष्य इस लिए जन्म लेता है कि वह दुष्प्रवृत्तियों का दास है। जब तक इनका दमन नहीं होता, मनुष्य जीवनमुक्त नहीं हो सकता। प्रवृत्तियों का संस्कार करने के लिए शिक्षा की आवश्यकता बताई गई। शिक्षा का उद्देश्य इन प्रवृत्तियों का दमन द्वारा संस्कार करना है। इस मत से बालक स्वभावतः दुष्ट और पापी समझा जाता था, इसलिए उस पर कठोर अनुशासन तथा नियंत्रण रक्खा जाता था

तत्कालीन शिक्षण में अनुशासन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसके लिए मध्यकालीन यूरोप में कुछ नियम बने थे। वे नियम सेंटजीन (St Jean Baptiste de la Salle 1651-1719) की पुस्तक (Conduct of schools) में संग्रहीत हैं। इस अनुशासन प्रधान शिक्षण-विधि का प्रयोग करनेवाले ईसाई भाई (Christian Brothers) थे। इस विधि के अन्तर्गत मुख्य नियम यह था कि विद्यालय में गंभीरता का वातावरण बना रहे। अध्यापक को विद्यार्थियों से बात करने की मनाही थी। अनुशासन बनाये रखने के लिए, ताड़ना, शांति रखना, विभिन्न आसनों में खड़ा रखना या बैठाना, बेंत से मारना तथा ऐसी अनेक विधियों का प्रयोग किया जाता था।

इस विचारधारा का शिक्षा पर यह प्रभाव पड़ा कि शिक्षक विद्यार्थियों के साथ कैदियों का-सा व्यवहार करता था। बालकों के मनोंभावों को कठोरतापूर्वक कुचल दिया जाता था। प्रो० क्यूबरले ने शिक्षा के इतिहास में एक ऐसे प्रधानाध्यापक का वर्णन किया है जो बालकों का स्वागत, लात, घूँसों, डंडों, गालियों और ठोकरों से किया करते थे। डिकेंस के उपन्यासों में विद्यार्थी-जीवन के चित्रों को देखकर भय से रोमांच हो जाता है।

बालकों के प्रति यह नवीन दृटिकोण उपस्थित करने वाले लोग मानवतावादी (Humanists) कहलाए। यह विचार-धारा केवल थोड़े से समय में नहीं उत्पन्न हुई, वरन्, इसके पनपने में कई शताब्दियाँ लग गयी। इसका प्रादुर्भाव, ज्ञान के पुनरोदय के समय में ही, यूरोप में हुआ। इरास्मस (Erasmus, 1466-1536) ने सबसे पहले बालकों की 'सहज शक्तियों' के अनुकूल शिक्षा देने पर ज़ोर दिया। साहित्य की पढ़ाई में,उसने कवियों और लेखकों की ज़ीवनी, उसकी योग्यता तथा प्रतिभा, उनकी लेखनशैली, काव्य-सौन्दर्य तथा नैतिक महत्व आदि के बताने पर ज़ोर दिया। उसने पढ़ाने में जल्दबाज़ी को बुरा बताया। इरास्मस के सहयोगी माँटेग (Montaigne) ने भी पढ़ने में विद्यार्थियों की स्वतंत्रता तथा स्वप्रयत्न को आवश्यक बताया। विद्यार्थियों के साथ उदार तथा दयापूर्ण व्यवहार करने का मूलमंत्र मार्टिन ल्यूथर (Martin Luther, 1483-1536) ने दिया। कठोर दंड देने वाले अध्यापकों की उसने बुरी तरह भर्त्सना की। उसके विचार बहुत कुछ उसके परवर्ती कोमेनियस से मिलते हैं।[1]

बालकों की इस शोचनीय अवस्था के विरुद्ध आगे चलकर कोमेनियस ने आवाज उठाई थी। उसने शिक्षा-संस्थाओं को मानसिक बूचड़खाना कह कर इस दुर्दशा की ओर संकेत किया। उसने बालकों के प्रति उदार और स्नेहपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने पर जोर दिया है। वह कहता है :—

"जब वीणा के तारों से कभी कर्णकटु स्वर निकलते हैं, तो गायक उसे घूँसे या डंडे से तोड़ नहीं डालता या उसे दीवार या

---

1. Eby. F.: Early Protestant Educators. p. 32 Quoted in Brubacher : A History of the Problems of Education. p. 185-186

पृथ्वी पर पटक नहीं देता। परन्तु वह वैज्ञानिक तरीके से उसके स्वरों को सुधारते हुए, उसे ठीक कर लेता है। उसी तरह बालकों के हृदय में ज्ञान का प्रेम जाग्रत करने के लिये उनके साथ सहानुभूति और चतुरता से काम लेना चाहिए, किसी अन्य उपाय से तो उनकी अरुचि, बजाय घटने के उदासीनता, आलस्य और मूर्खता का रूप धारण कर सकती है।"[1]

आगे चलकर रूसो (Rousseau) ने इन्हीं विचारों को दार्शनिक स्तर पर प्रभावशाली तथा ओजपूर्ण भाषा में व्यक्त करके शिक्षण-विधि में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता बताई। उसके मतानुसार बालक में जन्म से ही स्वर्गीय गुण पाये जाते हैं और उसके स्वभाव में आनेवाले दोषों का कारण, समाज के कुप्रभाव हैं। मनुष्य का शिशु-स्वभाव कोमलता, निष्कपटता तथा स्नेह से परिपूर्ण होता है! मानव-समाज के सम्पर्क से उसका यह स्वभाव विकृत हो जाता हैं और उसमें स्वार्थ, लोभ, ईर्ष्या और हिंसा के दुर्भाव उत्पन्न हो जाते हैं। श्रीमती फ्रेड्रिक मैक्डॉनल्ड के शब्दों में मानव-स्वतंत्रता की घोषणा से कहीं अधिक प्रभावशाली रूसी के शब्द थे जो बालकों के अधिकारों का समर्थन करते हुए योरप में गूँजने लगे। दमन पर आधारित मध्यकालीन शिक्षण-विधि का अंत हो गया। 'इमाइल' के लेखक रूसों ने शिक्षा-सिद्धांत का प्रतिपादन किया और तत्कालीन सभ्य जगत को, बाल्यकाल के अरुणोदय को अंधकारमय बनाने पर पश्चात्ताप करने के लिए बाध्य किया। रूसो ने बालकों की अबाध स्वतंत्रता का समर्थन किया।

रूसों के इस प्रकृतिवाद (Naturalism) ने शिक्षण-विधियों का रूपान्तर कर दिया। उसने इस बात पर जोर दिया कि दंड और दमन-

---

1. Keatinge : The Great Didactic of Comenius. Chapter 26.

पूर्ण शिक्षण-विधि द्वारा बालकों का मन पढ़ने से हट जाता है। वास्तव में पढ़ने का ढंग इतना रोचक होना चाहिए कि बालकों को पढ़ते समय आनंद प्राप्त हो। उसका तर्क देखिये :—

"ऐसी कठोर शिक्षा के बारे में क्या कहा जाय जो अनिश्चित भविष्य के लिए मधुमय वर्तमान को नष्ट कर डालती है, जो बच्चों को कठोर बंधनों में बाँध रखती है और जिसके प्रारम्भ होते ही दूरागत या अप्राप्य सुख की आशा में, बालकों के जीवन में कष्टों और दुखों का समावेश हो जाता है।"

रूसो के इन शब्दों में वर्तमानकालीन शिक्षाशास्त्री प्रो० ड्यूवी (Dewey) के दर्शन-सिद्धांत बीजरूप में मिलते हैं। रूसो के मतानुसार शिक्षण-विधि ऐसी होनी चाहिए जो मनोरंजक हो और जिससे बच्चों की स्वतंत्रता में किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे। उसका कथन है कि शक्ति प्राप्त करने की अपेक्षा स्वतंत्रता प्राप्त करने में ही भलाई है। स्वतंत्र वही व्यक्ति है, जो अपने मन में उन्हीं इच्छाओं को स्थान देता है, जो पूरी की जा सकती हैं और जिन्हें पूरा करने में वह समर्थ है। इस आधारभूत सिद्धांत को बचपन पर लागू करके देखा जाय, तो शिक्षा के सारे नियम इसी से निकाले जा सकते हैं। बचपन से प्रेम करो, बच्चों को खेलों और मौजों का आनन्द लेने दो। बचपन के उन मधुमय दिनों की याद किसे नहीं आती, जब हम सबके अधरों पर उन्मुक्त हास खेला करता था और हृदय शक्ति से परिपूर्ण था। बच्चों को इन सुखों से क्यों वंचित किया जाय—उन क्षणों से जो लौट कर नहीं आ सकते? सम्पूर्ण पुस्तक 'इमाइल' पढ़ने के बाद रूसो की स्वतंत्रतायुक्त शिक्षणविधि का स्पष्ट परिचय मिल सकता है। यदि रूसो जैसे शिक्षक मिल जाँय तो इस विधि द्वारा महान आश्चर्यजनक कार्य पूरे किये जा सकते हैं। इस विधि द्वारा बालक जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने योग्य बन जाता है।

रूसों ने जिस स्वतंत्रता का समर्थन किया है उसमें उत्तरदायित्व का अंश प्रधान है। उसके समकालीन आदर्शवादी इमैनुएल काँट (Immanuel Kant) भी रूसो के विचारों का समर्थक था। उसका मत है कि शिक्षा की मुख्य समस्या यह है कि बालक को किस प्रकार अपनी स्वतंत्रता का ठीक से उपयोग करते हुए नियमों का पालन करना सिखाया जाय। उसके मुख्य शिक्षण-सूत्र हैं—(क) केवल उन्हीं बातों को छोड़ कर, जो बालक के लिए हानिकर हैं, उसे हर एक काम में पूरी आजादी देनी चाहिए। (ख) बालक को यह बताना चाहिए कि तुम तभी अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हो, जब तुम दूसरों को भी ऐसा ही करने दोगे। (ग) बालक को यह समझाया जाय कि तुम्हें बंधन में रह कर इस लिए काम करना है कि तुम आजादी का ठीक से प्रयोग करना सीखो।[1]

रूसो की इस विचारधारा का शिक्षण-विधि पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उसके सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षण का व्यवहार बेसडो (Basedow) ने अपने नये प्रकार के स्कूल (Plilanthropinum) में किया। यहाँ बालकों को पूरी स्वतंत्रता थी। चित्रों की सहायता से पढ़ाई होती थी। अभी तक खेल-कूद के लिए बालकों को डाँटा-फटकारा जाता था। बाल्यकाल के स्वातंत्र्य-आंदोलन ने खेल-कूद को स्वाभाविक बताकर, उसे शिक्षा का साधन बना दिया। हाल (Stanley Hall) तथा ग्रूस (Karl Groos) की खोजों ने 'खेल' के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया। अब यह प्रयत्न किया जाने लगा कि खेल के द्वारा बच्चों को पढ़ाने का आयोजन किया जाय। ऐसी विधियों को खेल-शिक्षणविधि (Play-way Methods) कहते हैं। कैल्डवेल कुक

---

1 Buchner, E F. : The Educational Theory of Immanuel Kant. pp. 131-132.

(Caldwell Cook) की एक दीर्घकाय पुस्तक में इन विधियों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

हम देख चुके हैं कि रूसो ने दमनपूर्ण शिक्षणविधि को बहुत बुरा बताया था परन्तु उसके तर्क काव्यप्रधान हैं। दमनपूर्ण विधि की बुराइयों की मनोवैज्ञानिक खोज फ्रायड (Freud) ने की। उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि बाल्यकाल में प्रवृत्तियों के दमन के परिणामस्वरूप मनुष्य का मानसिक-जीवन विकारग्रस्त हो जाता है। धार्मिक व्यक्तियों ने मानव-प्रवृत्तियों को पाशविक बताया था। उनका कहना था कि प्रवृत्ति के वश होकर मनुष्य अनेक पाप कर डालता है, इसलिए शिक्षा द्वारा इनका दमन कराना उचित है। फ्रायड ने पहलीबार प्रवृत्ति को पापसे अलग करके उसकी विशेषताएँ बताईं। उसने प्रवृत्तियों के संतुष्टीकरण (Gratification) तथा ऊर्जस्वीकरण (Sublimation) पर जोर दिया तथा दमन की बुराइयों का उल्लेख किया। दमन से प्रवृत्तियों का वेग नष्ट नहीं होता, वरन् यह सुप्तमन (Unconscious) की गहराई में जा छिपती हैं और नाना प्रकार की मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न करती हैं। अतः शिक्षा का उद्देश्य इनका दमन करना नहीं वरन् संस्कार (Re-education) है। बालकों को पूर्णरूप से स्वतंत्रता प्रदान करके ही यह कार्य पूरा किया जा सकता है। फ्रायड शिक्षा में उत्सुकता, प्रेम, सहवास, और प्रतियोगिता की प्रवृत्तियों को मुख्य स्थान देता है। यही कारण है कि आधुनिक शिक्षण विधि इन प्रवृत्तियों के संतुष्टीकरण का ध्यान रखती है। यहाँ पर स्काटलैंड के समरहिल पर स्थित एक बोर्डिंग स्कूल का जिक्र करना अप्रासांगिक न होगा। इसके संचालक श्री ओनील हैं। इस स्कूल की शिक्षणविधि का ब्योरा जान कर बहुतेरे रूढ़िवादी शिक्षा-शास्त्री क्रोधित होकर जमीन आसमान एक कर देंगे। वे यही कहेंगे कि इस विधि द्वारा बच्चे बनेंगे नहीं वरन् बिगड़ जायँगे। इस स्कूल में बच्चों को पूरी स्वतंत्रता है, उसका उद्देश्य केवल एक है— बच्चों का सुख

"स्कूल एक परिवार के समान है जहाँ पर उनकी समस्याओं को सुलझाया जाता । नैतिकता की आड़ में भ्रमपूर्ण ज्ञान के परिणामस्वरूप उत्पन्न मानसिक ग्रंथियों को पड़ने से रोका जाता है पूर्वग्रंथियों को नष्ट कर दिया जाता हैऔर फिर से दुबारा उन शुद्ध प्रवृत्तियों की शिक्षा होती है, ठीक उसी तरह जैसे सुखद मधु-ऋतु आने के पूर्व पतझाड़ द्वारा सारी वनस्पति को एक बार पुराना चोला बदलना होता है।"

उक्त प्रकार के स्कूलों में बच्चे स्वयं जीवन का अनुभव करते हैं। वहाँ रूसो की शिक्षण-विधि का मुखरित रूप हमें देखने को मिलता है। रूसो का कथन है कि विद्यार्थी को जबानी न पढ़ा कर अनुभव द्वारा शिक्षा दी जाय। इस पूर्ण स्वतंत्रता के आधार पर ह्यूरिस्टिक-विधि (HeuristicMethod) चलाई गई। इसके द्वारा बालक अन्वेषक के रूप में शिक्षा ग्रहण करता है। इसी प्रसंग में मैक मन (Mac-Munn) की एक प्रसिद्ध पुस्तक (Child's Path to Freedom) का उल्लेख करना आवश्यक है। उक्त विद्वान ने ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्ध किया है शिक्षणविधियाँ अब दमन को छोड़कर स्वतंत्रता का अनुगमन कर रही हैं।

वर्तमानकाल में प्रजातांत्रिक आन्दोलनों का शिक्षा पर काफी पड़ रहा है। प्रजातंत्र के सिद्धांतों के अनुसार भी दमन दोषपूर्ण है। इसके द्वारा विद्यार्थी की विचारशक्ति का हनन होता है। ।अविवेकी और मूर्ख विद्यार्थी भविष्य में राष्ट्र के प्रति कभी भी अपना कर्तव्य नहीं निभा सकता। अतः पुरानी शिक्षाविधि तो प्रजातंत्र के पूर्णतया विरुद्ध है। प्रसिद्ध दार्शनिक अडोलस हक्सले (Adolous Huxley) का कहना है कि "यदि आपका उद्देश्य स्वतंत्रता है तो जनता को स्वतंत्र बनने तथा स्वशासन की कला सिखायें। यदि आप, इसके बजाय, उन्हें दमन द्वारा भेंड़ बना देंगे तो आपकी अभीष्ट स्वतंत्रता

तथा प्रजातंत्र आपको न प्राप्त होगा। गलत ढंग से सदुद्देश्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।" ऐसी विचारधारा के प्रभाव से अब शिक्षण-विधि दर्जे के भीतर तक ही सीमित नहीं। पुस्तकों की पढ़ाई के साथ बालक अब स्वयं अपने लिए विधान तैयार करते हैं। इस विधि द्वारा बच्चों में प्रजातांत्रिक भावनायें उत्पन्न होती तथा परि-पुष्ट होती हैं।

बालकों के स्वतंत्रता-सम्बन्धी आँदोलन सफल हो रहे हैं। शिक्षण विधि पर सबसे गहरा प्रभाव यह पड़ा है कि शिक्षण का सूत्र अध्यापक के हाथों से निकल कर विद्यार्थी के हाथों में चला गया है। पढ़ाने में शिक्षक का स्थान गौण हो गया है। शिक्षक का कार्य केवल रंगमंच तैयार करना, सामग्री जुटाना और आवश्यकता के समय निर्देशक का काम करना है, परन्तु अभिनय करने वाले बालक ही होते हैं। आधुनिक शिक्षण-विधि द्वारा बालक अपनी पढ़ाई स्वयं करता है।

वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप दार्शनिक क्षेत्र में एक नवीन चिंतनशैली का आभिर्वाव हुआ जिसे प्रयोजनवाद (Pragmatism) कहते हैं। इस शैली का जन्म अमेरिका में हुआ। अमेरिका एक नया देश है और वहाँ की संस्कृति का आधार विज्ञान है। विज्ञान ने वहाँ के निवासियों के हाथ में अपरिमित शक्ति दे दी है। उनका विश्वास है कि मनुष्य ही सत्य को बना और बिगाड़ सकता है। इस नवीन चिंतन शैली के अनुसार सत्य परिवर्तनशील है। कल की परिस्थिति में जो कुछ सत्य था आज वही असत्य हो सकता है। हमारे चारों ओर द्रुतगति से परिवर्तन हो रहे हैं, इसलिए बार-बार सत्य की पुनः परीक्षा (Re-testing) परमावश्यक है। सत्य तभी तक सत्य है जब तक वह उपयोगी है। इसलिए अंधविश्वास विनाशकारी है। इस विचार के प्रतिपादक पियर्स और जेम्स है। इस चिंतन शैली के प्रभाव से शिक्षण विधि में परिवर्तन लाने वाले जॉन ड्यूवी (John Dewey)

और किलपैट्रिक (Kilpatrick) हैं। डिवी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (Democracy and Education) तथा किलपैट्रिक ने (The Changing Education) में प्राचीन शिक्षणविधि की जो विद्यार्थी के मन में पूर्वप्रतिपादित सिद्धांतों को ज्यों का त्यों अविवेकपूर्ण ढंग से ग्रहण करने के लिए बाध्य करती है कड़ी आलोचना की। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि विद्यार्थियों को शोधात्मक विधि से पढ़ाया जाय। विद्यार्थी किसी सिद्धांत को ग्रहण करने के पूर्व प्रयोगात्मक तौर पर स्वयं देख ले कि जो कुछ वह सीख रहा है सत्य है। इस आवश्यकता को ध्यान में रख कर इन अमरीकी शिक्षाशास्त्रियों ने प्रोजेक्ट-विधि का आविष्कार किया।

शिक्षणविधियों के ऐतिहासिक विकास में हमने जो परिवर्तन देखे हैं, उनमें बहुत कुछ देन पश्चिम की है। शैक्षिक उत्थान में पौर्वात्य देश पिछड़े रहे। लगभग पाँच सौ वर्षों से ज्ञान-विज्ञान का प्रवाह पूर्व में इतना मंद पड़ गया कि इस ओर शिक्षा के क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं हुई। फिर भी पूर्वी देशों में राजनैतिक चेतना सर्वप्रथम भारत में उदय हुई। गांधी की प्रतिभा के आलोक से पूर्व उसी प्रकार जगमगा उठा जैसे प्राची से उदित होकर रवि संसार को प्रतिभासित कर देता है। गाँधी ने शिक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तनों की ओर संकेत किया। देश की आर्थिक और सामाजिक कमजोरियों को दूर करने के लिए उन्होंने शिक्षा को साधन बनाया। नवीन मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर उन्होंने भारतीय शिक्षणविधि को जन्म दिया जिसे बेसिक शिक्षणविधि कहते हैं। इस विधि द्वारा उन्होंने देश की अनेक समस्याओं को जैसे बेकारी, गरीबी और सामाजिक असमानता आदि को हल करने की चेष्टा की। उसे उन्होंने राष्ट-निर्माण का आधार माना। इस विधि को यद्यपि अभी पूर्ण रूप से अपनाया नहीं गया है, तथापि भारतीय सरकाँर इसे

पूर्ण रूप से सफल बनाने में प्रयत्नशील है। इस विधि का प्रयोग अनेक स्थानों पर हो भी रहा है।

यह हर्ष का विषय है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद से शिक्षा का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। मनुष्य की संहारक प्रवृत्तियों का शोधन और परिष्कार शिक्षा द्वारा, हो तभी विश्वयुद्ध रुक सकता है, ऐसी भावना सभी राष्ट्रों में पायी जाती है। इसका प्रमाण विश्व संघ के अंतर्गत यूनेस्को (U N E S C O) नामक संस्था है। शिक्षा की प्रगति के साथ शिक्षण विधियाँ अधिकाधिक वैज्ञानिक रूप धारण करती जा रही हैं। विधियों को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए अलग-अलग देशों में प्रयोग हो रहे हैं। उक्त विश्वसंघ की संस्था द्वारा शिक्षकों की ट्रेनिंग के लिए संसार भर में नये नये केन्द्र खोले जाने की चर्चा है। यह सब शिक्षण-विधियों के विकास का आशाजनक संकेत है।

———

(२)

प्राचीन शिक्षा (TRADITIONAL EDUCATION) में शिक्षण-विधियाँ

प्राचीन काल में शिक्षा का उद्देश्य समाज में व्यवस्था स्थापित करना था। भारतवर्ष में ब्राह्मण गृहस्थ-जनों को ऐसे आचरणों की शिक्षा देते थे, जिनके सहारे वे समाज में शान्तिपूर्ण ढंग से काम करते हुए सम्मानित जीवन व्यतीत करते थे। शिक्षा में 'संयम की प्रधानता थी। यूरोप के यूनान देश में, जिसका शिक्षा-इतिहास प्राचीनतम है, शिक्षा का उद्देश्य करीब-करीब यही समझा जाता था। स्पार्टा में उच्च-वर्ग की शिक्षा में 'संयम' को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया था। प्लेटो (Plato) ने अपनी पुस्तक रिपब्लिक में शिक्षा को समाज-व्यवस्था कायम करने का साधन बताते हुए, शारीरिक मानसिक और बौद्धिक हर तरह की शिक्षा में 'संयम' को ही प्रधानता दी। मध्यकालीन यूरोप में यूनानी शिक्षा का वह रूप लुप्तप्राप्य हो गया परन्तु धार्मिक शिक्षा में गौणरूप से वही बातें शामिल थीं, जो यूनानी शिक्षा में थीं। इस प्रकार की शिक्षा के अनुकूल एक विशेष प्रकार की शिक्षणविधि काम में लाई जाती थी। इस शिक्षणविधि का खास रूप स्थिर नहीं था परन्तु उसकी कुछ विशेषतायें हैं, जिनके विषय में हम नीचे लिख रहे हैं। यह याद रखना आवश्यक है कि इस पुरातन शिक्षण-विधि (Traditional Method) के अनेक रूप हैं, जैसे कथन-विधि, भाषण-विधि, और

प्रश्नोत्तर-विधि आदि और इन सब में निम्नलिखित विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं :—

(१) ज़बानी शिक्षण—

प्राचीन शिक्षण में अध्यापक विद्यार्थी को हर एक बात ज़बानी बताता था। इसका कारण यह था कि उस युग में आज की तरह न पुस्तकें थी और न भाषा की निश्चित लिपि। वेद-कालीन सभ्यता का इतिहास हमें बताता है कि उस समय सारा ज्ञान अध्यापक को कंठस्थ रहता था। अध्यापकों के विभिन्न घराने (Schools) थे जैसे किसी कुल के अध्यापक केवल एक वेद पढ़ाते थे और दूसरे कुल के दो या तीन वेद। विद्यार्थी को सारे वेद-मंत्र कंठस्थ करने पड़ते थे। इसलिए रटने पर विशेष रूप से जोर दिया जाता था।

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को भवबंधन से मुक्त करना बताया गया था। पूर्वजन्म और पूर्नजन्म के बीच इस लोक का जीवन, मनुष्य के कर्मों का प्रमाण है। इन कर्मों के बंधन में पड़ा हुआ जीव जन्ममरण के चक्कर में घूमता रहता है। इस आवागमन के सिद्धान्त पर आर्यो का विश्वास था। इससे छुटकारा पाना 'मुक्ति' कहलाता था और मुक्ति के लिए शिक्षा द्वारा ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था। शिक्षा द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता था उसके दो पहलू थे। एक विचारात्मक और दूसरा क्रियात्मक। विचारात्मक ज्ञान का अर्थ मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार कराना है और क्रियात्मक का अर्थ है शुद्धाचरणयुक्त दैनिक जीवनचर्या का अभ्यास कराना। इसके अतिरिक्त धर्म, अर्थ और काम की व्याख्या करके इनका मर्म समझाना भी शिक्षा का अंग था। इसलिए प्रायः अध्यापक को शिक्षण में, यह सब सूत्र ज़बानी बताने पड़ते थे। यूनान में सोफिस्ट, सुकरात, प्लैटो और अरस्तू जैसे शिक्षकों को सत्य, न्याय और त्याग

जैसे सूक्ष्म तत्वों को जबानी समझाना पढ़ता था। इसलिए पुरानी शिक्षणविधि में इस मौखिक-शिक्षण का महत्व अभी तक है।

(२) *बालक के व्यक्तित्व की अवहेलना—*

प्राचीन शिक्षण-विधि में 'बालक' के व्यक्तित्व का सम्मान नहीं किया जाता था अर्थात बालक तिरस्कार तथा अनादर का पात्र समझा जाता था। उसे अज्ञानी, अबोध और असंस्कृत के रूप में देखते थे। हमारे देश में विद्यार्थी बनने के पूर्व, उपनयन संस्कार के पहले, बालक को 'शूद्र' समझा जाता था। उपनयन संस्कार सम्पन्न होने के बाद, विद्यार्थी का नया जन्म होता था। उस युग में ब्राह्मण ही ब्रह्मविद्या प्राप्त करते थे। उपनयन संस्कार के बाद वह 'द्विज' कहलाता था अर्थात् 'दोबार जन्म लेने वाला' कहते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि 'बाल्यकाल' को पापपूर्ण और पाशविक समझ कर इन दोषों को दूर करने के लिए ही शिक्षा दी जाती थी। यूरोप में इसाई धर्मप्रचारकों का बालकों के सम्बंध में यही मत था। शिक्षणविधि में दमन, संयम, शासन, कठोरता और दंड का उपयोग किया जाता था। वह शिक्षा ग्रहण करता था परन्तु उसके विचारों की मौलिकता और रचनात्मकशक्ति का आदर न होता था।

(३) *क्रियाशीलता का अभाव—*

प्राचीन शिक्षण-विधि में बालक एक जड़ पदार्थ के रूप में दिखाई देता था। 'आँख' और 'कान' का प्रयोग वह भले ही करता रहा हो परन्तु अन्य शारीरिक क्रियाओं को अधिक महत्व नहीं दिया जाता था। वर्णाश्रम धर्म के युग में, शिक्षणविधि में क्रियाशीलता का अभाव न था। उस समय अनेक विषय ऐसे भी पढ़ाये जाते थे जिनमें उसी प्रकार की क्रिया-शीलता (Self activity) दृष्टिगोचर होती थी, जैसे आज माँटेसरी, या किंडर-

गार्टेन के स्कूलों में दिखाई देती थी। गाना, बजाना, नृत्य, नाट्य चित्रकारी धनुर्वेद तथा अन्य दस्तकारी के काम सीखने में स्वयं अपनी ओर से बालकों को क्रियाशील बनकर सीखना पड़ता था। कालांतर में यह विषय लुप्त हो गये और केवल तर्क, मीमांसा, व्याकरण, साहित्य, दर्शन और धर्म आदि विषयों की प्रधानता हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि प्राचीन शिक्षण में केवल मानसिक कार्य ही रह गया।

(४) अध्यापक की प्रधानता -

पुस्तकों का अभाव, अध्यापक पूरा करता था। शिक्षा का पूरा सूत्र उसी के हाथ में था। विद्यार्थी की शिक्षा का समस्त भार उसी पर रहता था। वह जो कुछ बताता था, उसी पर विद्यार्थी को संतोष करना पड़ता था। छात्र मौन और मूक बनकर अध्यापक द्वारा प्रदत्त ज्ञान को नत मस्तक होकर ग्रहण कर लेता था। छात्र गुरु को पिता और देवता के तुल्य आदर का पात्र समझता था। 'आचार्य देवो भव' वाक्य से यही अर्थ निकलता है। गुरु के प्रति अनास्था और अश्रद्धा रखने वाले विद्यार्थी को आश्रम में रहने की आज्ञा न थी और ऐसे विद्यार्थी के लिए ज्ञान का द्वार सदैव बंद ही रहता था। गुरु के नाम से शिष्य का नाम होता था। उस समय यही विश्वास प्रचलित था कि—

पुस्तक-प्रत्याधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ
न शोभते सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियः।

अर्थात् जिसने किसी अध्यापक से विद्या प्राप्त नहीं की वह विद्वानों के बीच में मुँह दिखाने लायक नहीं है। विद्या-प्राप्ति के लिए विद्यार्थी गुरु की सेवा तथा आज्ञापालन में तत्पर रहते थे। दूसरी ओर गुरु भी अपने छात्रों को पुत्रवत् मानना था। उसका व्यवहार सदैव वात्सल्यपूर्ण होता था।

आधुनिक प्रगतिवादी शिक्षाशास्त्री 'अध्यापक' को इतना अधिक महत्व नहीं देते। वास्तव में आगे चल कर अध्यापक कर्तव्यच्युत हो गये, स्नेह के स्थान पर उनमें कठोरता आ गई। विद्यार्थियों से कठोरता पूर्वक सेवा लेना वे अपना अधिकार समझने लगे। साक्रेटीज, प्लैटो, अरस्तू, विश्वामित्र, याज्ञवालक्य और वशिष्ठ जैसे गुरू न रहे, जिनके कारण अध्यापक का पद इतना ऊँचा माना जाता था।

(५) सामाजिकता का अभाव--

प्राचीन विधि द्वारा पढ़ाई में बालक को अपने व्यक्तिगत लाभ का अधिक ध्यान रहता है। विद्यार्थी-जीवन में अच्छे नम्बर पाना, पारितोषिक प्राप्त करना और पढ़ने के बाद किसी अधिक लाभदायक व्यवसाय में लग कर धनार्जन करना आदि उद्देश्य छात्र के सामने रहते हैं। इनकी पूर्ति में उसे सहपाठियों के सहयोग की आवश्यकता नहीं अनुभव होती। अध्ययन करने के लिए उसे अपने ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। वर्तमान शिक्षाशास्त्रियों का विचार है कि अध्ययन में सामाजिकता पर जोर देना चाहिए। पठन-पाठन में, विद्यार्थी एक दूसरे से सलाह लें, परामर्श करें, पाठ्य-सामग्री इकट्ठा करें और विचार-विमर्श करें। वर्तमान शिक्षणविधियों में (प्रोजेक्ट विधि) ये विशेषताएँ देखने को मिलती हैं परन्तु प्राचीन विधियों में इन सामाजिक गुणों का अभाव है।

(६) प्राचीन मनोविज्ञान पर आधारित--

हम पहले कह चुके हैं कि प्राचीन शिक्षणविधि में दमन और संयम को प्रमुख स्थान दिया जाता था। इसका कारण तत्कालीन मनोविज्ञान का प्रभाव है। आजकल बालकों की प्रवृत्तियों और इंद्रियों को संतुष्ट कराना, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक बताया जाता है परन्तु प्राचीन मनोविज्ञान में प्रवृत्तियों और इंद्रियों

की संतुष्टि को केवल पाशविक बताया गया है। 'मनुष्यता' का प्रारंभ इनके दमन और संयम के साथ होता है। उनके स्थान पर लोक-कल्याण की भावना को प्रतिष्ठित करना शिक्षा का उद्देश्य माना जाता था। लोकेषणा ही 'पशु' से 'मनुष्य' तैयार करती है—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीना पशुभिः समानाः ॥

शिक्षा द्वारा बालक की पाशविक प्रवृत्तियों का परिष्कार करके, उसके व्यक्तित्व को एक विशेष साँचे में ढालना—यही शिक्षणविधि का मनोवैज्ञानिक आधार बन गया। इसलिए स्पष्ट है कि बालक की व्यक्तिगत रुचियों और वृत्तियों की अवहेलना होती थी।

(७) उद्देश्य, भावी जीवन की तैयारी—

प्राचीन शिक्षणविधि का उद्देश्य बालक को भावी जीवन के लिए तैय्यार करना है। प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री ड्यूवी (Dewey) इसके बड़े विरोधी हैं। बाल्यकाल के सुखी जीवन का आनन्द, बालकों को इस प्राचीन शिक्षण-विधि से मिलता ही नहीं। पुस्तकों के रटने, प्रश्नों को हल करने, परीक्षा में बैठने और कमरों में बंद रहने के अतिरिक्त उनके जीवन में कुछ नहीं रहता।

ऊपर बताई गई विशेषताओं के आधार पर यह तर्क दिया जाता है कि प्राचीन शिक्षणविधि बहुत कुछ दोषपूर्ण है परन्तु कुछ शिक्षा शास्त्रियों ने इसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। आदर्शवाद की दृष्टि से यह शिक्षणविधि सफल मानी जाती है। 'संयम' की प्रधानता के कारण, बालकों में नैतिक गुण उदय होते हैं और उनकी बुद्धि का विकास अच्छी तरह होता है। उनकी रुचियाँ परिष्कृत तथा आदतें अच्छी हो जाती हैं। 'विचार' और 'भाव' जैसे तत्व बालकों के स्वभाव का अंग बन जाते हैं। इसलिए कहा जाता है कि प्राचीन शिक्षणविधि

आलोचना बहुत कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण है। उदाहरण के लिए 'क्रियाशीलता' की बात लीजिये। हम यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि शिक्षण में 'बौद्धिकता' ही थी। प्राचीन आश्रमों में जिस प्रकार की बहुमुखी शिक्षा दी जाती थी, उसमें क्रियाशीलता (activity) पूर्ण रूप से वर्तमान थी। चौंसठ प्रकार की कलाओं को सीखने के अतिरिक्त छात्रों को यज्ञ के लिए कुश और समिधा लाना, आश्रम की सफाई, गौओं को दुहना, भिक्षा लाना, गौ चराना, व्यायाम करना और सेवा करना आदि में 'क्रियाशीलता' कितनी अधिक रही होगी, इसका अनुमान आसानी से किया जा सकता है। इन सबमें सामाजिकता का आ जाना स्वाभाविक था। भारतीय शिक्षण-विधि में बताया गया है—

आचार्यात्पादमाधत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया,
पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादं कालक्रमेणतु।

अर्थात् पूर्ण ज्ञान का एक चौथाई गुरु से, एक चौथाई अपने प्रयत्न से, एक चौथाई अपने सहपाठियों से और एक चौथाई समय बीतने पर (अनुभव से) छात्र प्राप्त करता है।

(१) कंठाग्र कराने (रटाने) की विधि
(Memoriter)

शिक्षण-कला के प्रारंभिक काल में रटने की विधि का प्रयोग सभी देशों में हुआ। भारतवर्ष में यह विधि बहुत अधिक प्रयोग में लाई गयी थी। पाठ्य-विषय को पूर्णरूप से याद करा देना आवश्यक समझा जाता था। कुछ लोगों का विचार है कि लिखित भाषा के अभाव के कारण इस विधि का प्रयोग किया जाता था परन्तु ऐसा समझना नितांत भ्रममूलक है। रटाने की विधि वस्तुतः इसलिए काम में लाई जाती थी कि पाठ्य-विषय पर विद्यार्थी का पूर्ण अधिकार हो जाय।

रटाने के लिए कई उपायों से काम लिया जाता था।[1] (१) विद्यार्थी पाठ्य-विषय को बार-बार पढ़ता तथा दुहराता था। यह उपाय पूर्णरूप से मनोवैज्ञानिक था। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों तथा जेम्स (James) और थार्मडाइक (Thorndike) आदि ने भी इसी पर ज़ोर दिया है। (२) पाठ्य-विषय को पद्यमय कर दिया जाता था। इससे स्मरण करने में सुविधा होती थी। गेय होने के कारण शिक्षण रुचिकर बन जाता था। (३) पाठ्य-विषय सूत्रों में, अत्यंत संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जाता था। इससे रटने में सुगमता होती थी और अध्यापक तथा विद्यार्थी दोनों की समस्या हल हो जाती थी। (४) रटने के साथ-साथ शुद्ध उच्चारण पर बड़ा जोर दिया जाता था। (५) रटने में असफल होने या रुचि न लेने पर विद्यार्थी को दंड दिया जाता था। दंड देने की प्रथा प्रायः सभी देशों में प्रचलित थी।[2]

जहाँ यह विधि मनोवैज्ञानिक थी, वहाँ इसमें सबसे बड़ा दोष यह था कि इससे नीरसता आ जाती थी। विद्यार्थी बिना समझे हुए पाठ्य-विषय को रट लेते थे और उनकी विचार शक्ति लुप्त हो जाती थी। कठोर दंड द्वारा ही विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए बाध्य करना पड़ता था। ऐसी आलोचना पूर्ण रूप से सत्य नहीं कही जा सकती। भारतवर्ष में रटाने के साथ-साथ, टीका प्रणाली और शास्त्रार्थ का प्रयोग किया जाता था। इससे न केवल विषय सुबोध होता था वरन् विद्यार्थियों की चिंतन शक्ति भी प्रस्फुटित होती थी।[3]

---

१. वि० जा० चौबे: प्राचीन तथा नवीन शिक्षण पद्धतियों का एक तुलनात्मक अध्ययन, 'शिक्षा'; जुलाई १९५५.

२. Brubacher: History of the problem of Education, chap. VII, page 167-168

३. डा० अल्टेकर : प्राचीन भारत में शिक्षा, पृष्ठ १६३-१६४

(२) मौखिक कथन-विधि
(Telling Method)

मौखिक कथन-विधि का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है। शिक्षा का प्रचार अधिक होने के कारण, अध्यापकों की कमी पड़ने लगी और एक अध्यापक के पास कई विद्यार्थी बैठ कर पढ़ने लगे। प्राचीन भारतीय आश्रमों में ऋषि-मुनि इसी का प्रयोग करते थे। संध्या के समय शिष्यगण गुरु को घेर कर बैठजाते थे और गुरु उस समय उन्हें ज्ञानोपदेश देता था। यूनान के प्राचीन दार्शनिक स्कूलों में इसी कथन-विधि का प्रयोग होता था। सोफिस्ट लोगों ने इसी विधि को अपने स्कूलों में स्थान दिया। बाद में ईसाई धर्मोपदेशकों ने इसी विधि द्वारा शिक्षण का कार्यक्रम जारी रक्खा। वर्तमान काल में भी इसका प्रयोग होता ही है। हरबार्ट की कक्षा विधि में इसका समन्वय हुआ है। यही नहीं, नवीनतम शिक्षण विधियों जैसे किंडरगार्टेन, डाल्टन और प्रोजेक्ट आदि में कुछ हेर-फेर के साथ इसका उपयोग किया जाता है।

सिद्धांत--

(१) **अध्यापक का महत्व**--ज्ञान के क्षेत्र में अध्यापक की श्रेष्ठता और विद्यार्थी की हीनता निश्चित रूप से मान ली जाती है। अध्यापक अपने विद्यार्थी को ज्ञानोपदेश द्वारा प्रकाश में लाता है। इसलिए शिक्षण तभी सफल हो सकता है, जब गुरु के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास छात्र के हृदय में हो। यही नहीं, वह गुरु की तन और मन से सेवा करता रहे। उसके आदर्शमय जीवन का अनुकरण करने की वह सदैव चेष्टा करे।

(२) **जिज्ञासु विद्यार्थी**—प्राचीन काल में केवल चुने हुए विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती थी। केवल स्वेच्छा से शिक्षा प्राप्त करने के लिए आने वाले विद्यार्थी सत्पात्र समझे जाते थे। गुरुकुल उसे ही विद्या प्राप्त

करने का अधिकारी समझता था, जो जिज्ञासु हो अर्थात् जिसे ज्ञान प्राप्त करने की प्यास हो। ऐसे लोगों के लिए ही शिक्षा का द्वार खुला होता था। जिज्ञासु विद्यार्थी स्वभाव से श्रद्धालु, विनम्र और आज्ञाकारी होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा विद्यार्थी शिक्षा कार्य में कोई अड़चन पैदा नहीं करता। इसलिए 'जिज्ञासा' की परीक्षा कर ली जाती थी। प्राचीन कथाओं में से 'सत्यकाम' की कथा इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। जब वह अपने गुरु के पास विद्या प्राप्त करने के लिए गया, तो उसकी स्थायी जिज्ञासा और सच्ची लगन (Carnestness की परीक्षा गुरू ने विचित्र ढंग से ली। पढ़ाने के स्थान पर उसे गौयें चराने का काम दिया गया। फिर भी वह अटूट लगन के साथ काम करता रहा और अंत में सफल विद्यार्थी सिद्ध हुआ। कथन विधि की सफलता विद्यार्थी की जिज्ञासा पर निर्भर है। ऐसे जिज्ञासु विद्यार्थियों को पढ़ाने में यह विधि उपयुक्त है। वास्तव में वर्तमान मनोविज्ञान से अनिभिज्ञ होने पर भी प्राचीन शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षण के लिए शुद्ध मनोवैज्ञानिक आधार चुना था।

(३) **ज्ञान की परिभाषा**—प्राचीन काल में ज्ञान को अनुभव से श्रेष्ठ माना जाता था। अनुभव का उपयोग केवल ज्ञान की सत्यता प्रतिपादित करने में किया जाता था। पहले विद्यार्थी को ज्ञान-सम्बंधी बातें बता दी जाती थीं और बाद में उसे अनुभव द्वारा यह देखने के लिए कहा जाता था कि वह ज्ञान जीवन में कहाँ तक सही है। भारतवर्ष के ऋषिगण आश्रमों में बैठकर पहले विद्यार्थियों को जो कुछ बताना होता था, बता देते थे और अंत में उन सत्यों का प्रत्यक्ष अनुभव भी कराते थे। प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए वे अपने छात्रों को यात्रा में, राज-सभाओं तथा नगरों में साथ-साथ ले जाते थे। बस, अनुभव का यही काम था। वैसे अनुभव पर विश्वास नहीं किया जाता था क्योंकि अनुभव ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है, जो निर्भरशील नहीं मानी

जाती थीं; दूसरे अनुभव का सम्बन्ध इस जीवन और इस संसार से है जो नश्वर है। अतः ज्ञान श्रेष्ठ है। यह ज्ञान क्या है? ज्ञान शुद्ध विचार-शक्ति द्वारा अनुभव को मथ कर निकाला हुआ नवनीत है, जो कभी खराब नहीं होता, सड़ता-गलता नहीं और हर देश तथा काल में परिवर्तन की सीमा से परे है। मनुष्य को यह ज्ञान केवल गुरू से सुनकर ही प्राप्त हो सकता है। यहाँ पर कथन-विधि का प्रयोग अवश्य हो जाता है।

(४) **भावी जीवन की तैयारी**—शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी को भावी जीवन के लिए तैयार करना है। अनुभव द्वारा सीखने में बड़ा समय लगता है। विद्यार्थी-जीवन का अल्प समय नष्ट करना अनुचित है। इन दस वर्षों में सभी बातें बता देना जरूरी है जिनकी सहायता से वह आगे भूलों से बच सके। यह कार्य कथन-विधि द्वारा ही आसानी से पूरा किया जा सकता है।

कथन-विधि द्वारा पढ़ाई कैसे होती है?—

कथन-विधि द्वारा पढ़ाई की कोई खास कला नहीं है। इसका सूत्र केवल यह है कि अध्यापक जो कुछ जानता है, वह बालकों को बताता है। अध्यापक ने अपने जीवन में जो महत् ज्ञानराशि संचित की है, उसे वह अल्प समय में बालकों को दे डालता है। यह ज्ञान-राशि, उसके जीवन के अनुभव होते हैं, जिन्हें वह सत्संगति, पर्यटन, और पुस्तकों से अनुभव द्वारा प्राप्त करता है। विषय का विधि पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्राचीन काल में धर्म, अध्यात्म और दर्शन जैसे गूढ़ और दुर्बोध विषय पढ़ाये जाते थे। इन्हें बढ़ाने के लिए अध्यापक को स्वानुभूति और चिंतन पर निर्भर रहना पड़ता था। वह प्रातःकाल, योग, प्राणायाम, समाधि और आत्म-चिंतन द्वारा, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा और परलोक जैसे गहन विषयों की जान-कारी प्राप्त करता था और सायंकाल अपने जिज्ञासु विद्यार्थियों के

बीच में बैठ कर अपने अनुभव बताता था। अब पाठ्य-विषय बहुत कुछ बदल गये हैं। अब आध्यात्मिक विषयों के स्थान पर लौकिक विषयों की प्रधानता है। इसलिए अध्यापक को आत्मचिंतन की अपेक्षा पुस्तकों के पढ़ने पर अधिक जोर देना पड़ता है। संध्या और रात्रि में वह घर पर या पुस्तकालय में बैठ कर अध्ययन करता है और दिन में स्कूल जाकर विद्यार्थियों को पढ़ाता है। पढ़ाते समय वह कभी-कभी कुछ बोलता जाता है और विद्यार्थी उसे लिखते जाते हैं। इसके लिए उसे एक ही बात कई बार दुहरानी भी पड़ती है।

कथन - विधि की सफलता बहुत-कुछ अध्यापक की वर्णन शैली पर निर्भर है। कुछ अध्यापकों में वर्णन करने की प्रकृतिप्रदत्त प्रतिभा होती है। जिस समय कक्षा में, वे पढ़ाने लगते हैं, विद्यार्थी मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। उनका रोचक वर्णन, स्पष्ट भाषा, मीठा स्वर और भावभंगिमा इन सबमें इतना अधिक बल होता है कि विद्यार्थी बड़ी लगन के साथ सुनते हैं। इस विधि द्वारा अध्यापक पढ़ाने में तभी सफलता प्राप्त कर सकता है, जब भाषा पर उसका पूर्ण अधिकार हो।

कथन-विधि को सफल बनाने के लिए कई बातों का ध्यान रखना चाहिए। पाठ्य विषय को समझाने में बालकों के अनुभवों का सहारा लेना उचित है। पढ़ाते समय श्यामपट का प्रयोग करते रहना आवश्यक है। कभी - कभी पाठ्य पुस्तक या पाठ से सम्बंधित कोई उद्धरण भी पढ़ सकते हैं। पाठ के समय विद्यार्थी शांत और एकाग्र-चित्त से सुनते जाते हैं और जो बातें आवश्यक जान पड़ती हैं, लिख लेते हैं, जहाँ समझ में न आवे पूछ भी सकते हैं।

आलोचना —

कथन - विधि द्वारा पढ़ाने में कई लाभ हैं। पुस्तक से स्वयं अध्ययन करने की अपेक्षा अध्यापक के मौखिक कथन से विद्यार्थी

कई गुना अधिक लाभ उठा सकता है। पुस्तक द्वारा पढ़ने से जो ज्ञान कई दिनों में प्राप्त होता है उतना अध्यापक से केवल एक या दो घंटे में मिल जाता है। प्लैटो[1] का कहना है कि पुस्तकों पर निर्भर रहने से विद्यार्थी की स्मरण-शक्ति निर्बल हो जाती है। पुस्तक पढ़ने में विद्यार्थी का मन ऊबने लगता है क्योंकि जहाँ कोई बात विद्यार्थी के समझ सें आई, उसे अटक जाना पड़ता है। इसके विपरीत अध्यापक कठिन प्रसंगों को कई बार, कई तरह से समझाता है, जिससे कठिनाई दूर हो जाती है। पुस्तक की दुरूहता या सरलता एक-सी रहती है, अध्यापक विद्यार्थियों की योग्यता के अनुकूल विषय को सरल या कठिन बना सकता है। कठिन प्रसंग पर वह देर तक ठहरता है, आवश्यक और सरल प्रसंग को केवल छू कर आगे बढ़ जाता है। इसोक्रेटीज (Isocrates 436-388 B. C.) ने पुस्तक को अध्यापक की अपेक्षा हीन सिद्ध किया है। उसके मत में पुस्तक निर्जीव होने के कारण पाठ्य-विषय को सुगम नहीं बना सकती।

अध्यापक जिस समय कक्षा में पढ़ाता है उस समय विद्यार्थियों और उसके बीच में एक रागात्मक संबंध स्थापित हो जाता है। अध्यापक की आँखों में अध्यापन के समय, एक चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न हो जाती है। पढ़ाने में उसे स्वयं आनन्द आता है। इसलिए उसके भावावेश द्वारा ऐसा वातावरण उत्पन्न हो जाता है कि बालकों की ग्राह्य-शक्ति (Receptivity) को उत्तेजन मिलता है। जिस प्रकार भोजन की मधुर सुगंधि से भूख बढ़ती है उसी तरह अध्यापक के पढ़ाने से विषय रोचक हो जाता है। अक्सर ऐसा देखा गया है कि अध्यापक की कथन-शैली से प्रभावित होकर विद्यार्थी उसके विषय में बड़ी रुचि लेने लगते हैं।

---

१. Frecman, K. : Schools of Hellas, pp 204-207.

एक विशेष बात यह है कि अध्यापक द्वारा पढ़ाये गये पाठ में एक प्रकार की ताजगी (Freshness) रहती है वह नई-नई पुस्तकों को पढ़कर अपने पाठ को नवीन रूप देता रहता है और उस पर अपने मौलिक विचारों का रंग देकर नयी जान डाल देता है। उसके पाठ में उसका निजी व्यक्तित्व उभर आता है। पुस्तक दो-चार साल बाद पुरानी पड़ जाती है; अध्यापक का पाठ सदैव नया रहता है।

कथन-विधि में कुछ दोष भी हैं। कथन-विधि से पढ़ाने में अध्यापक को विद्यार्थियों का कोई भी सहयोग नहीं मिलता। कक्षा में वे मूर्तिवत् बैठे रहते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि वे स्वतंत्र विचारक नहीं बन पाते और उनकी रचनात्कक शक्तियों का विकास नहीं हो पाता। कथन-विधि द्वारा प्राप्त ज्ञान टिकाऊ भी नहीं होता। ऐसा देखा गया है कि कक्षा में इस प्रकार की बताई हुई बातों को विद्यार्थी भूल जाते हैं। जो कुछ बालकों को बताया जाता है, उसे दुहराया नहीं जाता और उसी प्रकार अध्यापक अपने पाठ को दुहरा नही सकता। दुहराने में अध्यापक का जी नहीं लगता। पुस्तक द्वारा पढ़ने में कम से कम इतना लाभ अवश्य है कि पाठ को पढ़ कर दुहराना सम्भव है। इस तरह विद्यार्थी भूली हुई बात को फिर से याद कर सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कथन-विधि में एक और बहुत बड़ी कमी है। अध्यापक एक गति से पढ़ाता चलता है परन्तु विद्यार्थी का ध्यान एक-सा नहीं रहता। यह बात प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुकी है कि विद्यार्थी की एकाग्रता और ध्यान घटता-बढ़ता (Fluctuate) रहता है। इसलिए जिस समय विद्यार्थी कक्षा में बैठ कर अध्यापक का पाठ सुनता है, कुछ अंश उसके कानों में पड़ते ही नहीं।

(३) भाषण-विधि
(Lecture Method)

भाषण-विधि के संबंध में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

कथन और भाषण-विधियों के सिद्धांत और व्यवहार में कोई अंतर नहीं है। कथन-विधि का प्रयोग माध्यमिक शिक्षालयों में होता है। भाषण-विधि का प्रयोग विश्वविद्यालयों में किया जाता है। वहाँ की कक्षाओं में विद्यार्थियों की संख्या भी अधिक होती है। यहाँ के विद्यार्थी वयस्क होते हैं और उनकी मानसिक शक्ति का विकास पूरी तरह से चरम सीमा पर पहुँच जाता है। प्रत्येक विषय का प्रारंभिक ज्ञान उन्हें पहले से मिला होता है, अब उन्हें केवल आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ना होता है। भाषण-विधि का उद्देश्य विषय की व्याख्या या सूक्ष्म विचारों का विश्लेषण करना नही है वरन् विद्यार्थियों का स्वशिक्षा में पथप्रदर्शन करना है। भाषण-विधि में लगभग वही गुण और दोष मौजूद हैं जो कथन विधि में लिखे जा चुके हैं। भाषण-विधि को सफल बनाने के लिए कुछ सावधानी से काम लेना उचित है। उस संबंध में निम्न-लिखित बातों से सहायता मिलेगी :—

(१) कक्षा में भाषण देने के पूर्व प्राध्यापक को अच्छी तरह पाठ्य-विषय का मनन कर लेना चाहिए और संकेत वाक्यों के रूप में उसे व्यवस्थित रूप देकर कागज पर लिखलेना चाहिए ताकि भाषण के समय वह कुछ न भूले। नये पाठ के लिए इस तैयारी की बड़ी जरूरत है।

(२) भाषण विधि से पढ़ाने में समय का ध्यान रखना उचित है। लगातार धंटे या दो घंटे तक भाषण जारी रखने में विद्यार्थी ऊब जाते हे। जब मन नहीं लगता तो उनकी कुछ समझ में नहीं आता। पैंतालिस मिनट तक एक भाषण के लिए पर्याप्त होते हैं।

(३) प्राध्यापक को अपने भाषण की गति का विशेष ध्यान रखना चाहिए। न तो इतनी तेजी से पढ़ाना चाहिए कि विद्यार्थी कुछ अंकित न कर सकें, और न इतनी धीमे पढ़ाना चाहिए कि पाठ में अस्वाभाविकता उत्पन्न हो जाय।

(४) भाषण-विधि से पढ़ाई का लाभ विद्यार्थी तभी उठा सकता है जब वह आवश्यक बातें लिख ले। इसलिए प्राध्यापक को चाहिए कि सबसे पहले विद्यार्थियों का ध्यान इस ओर अवश्य दिलावे और उन्हें 'नोटस्' लेने की कला बतावे। पूरे भाषण को लिख सकना सम्भव नहीं और न आवश्यक ही है। केवल मुख्य सूत्र के रूप में कुछ वाक्य या शब्द लिख देना चाहिए ताकि दुहराने में आसानी हो।

(५) भाषण देते समय विद्यार्थियों को उन पुस्तकों और उनके पृष्ठों का हवाला (Reference) दे देना लाभदायक होता है, जहाँसे वे पाठ्य-सामग्री प्राप्त करलें या प्रस्तुत पाठ के संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त कर लें। भाषण का उद्देश्य विषय पर प्रकाश डालना है, जिसकी सहायता से विद्यार्थी अधिक गहराई में उतर सकें।

(३) प्रश्नोत्तर-विधि

(Catechetical or Dialectic Method)

सामान्य विशेषताएँ—

प्राचीन शिक्षण विधियों में प्रश्तोत्तर विधि का मुख्य स्थान है। जिस प्रकार स्वयं-क्रिया (Self-activity) और स्वानुभव के द्वारा आज कल बालकों को ज्ञान प्राप्त कराया जाता है, उसी प्रकार प्राचीन काल में अध्यापक प्रश्नों के सहारे छात्रों को अपने आप ज्ञान प्राप्त करने में सहायता देता था। भारतीय शिक्षा-पद्धति में इस विधि का प्रयोग होता था। प्राचीन ग्रंथों में इस विधि के प्रयोग का उल्लेख है। विशेषरूप से उपनिषदों में इसके प्रमाण उपलब्ध हैं। दार्शनिक विषय की पढ़ाई में इसका उपयोग किया जाता था। प्रश्नोत्तर विधि को सफल तथा आकर्षक बनाने के लिए अध्यापक उदाहरणों, कथाओं और कहानियों का उपयोग करते थे। कभी कभी अध्यापक प्रश्नों का उत्तर न देकर, केवल 'संकेत' कर देते थे। तैत्तरीय और

छान्दोग्य उपनिषद् में इसका उल्लेख है।[1] यहाँ संकेत का तात्पर्य है, विद्यार्थी को केवल यह बता देना कि वह अपने प्रश्नों का समाधान किन सूत्रों (Sources) से प्राप्त कर सकता है। सम्भवतः यह उसी प्रकार की प्रथा थी जैसी की विश्वविद्यालय में आज भी उन कक्षाओं में चालू है, जिनके अनुसार प्रोफेसर केवल ग्रंथों के पृष्ठ आदि बता कर कह देता है कि पुस्तकालय में जा कर पढ़िये।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक सुकरात (Socrates) ने कुछ रूपांतर के साथ इसका प्रयोग किया। आजकल शुद्ध प्रश्नोत्तर-विधि का प्रयोग नहीं होता है परन्तु 'कथन-विधि, और 'कक्षा-शिक्षण-विधि' के साथ इसका प्रयोग सफलतापूर्वक किया जाता है। प्रश्नोत्तर विधि के सिद्धातों का थोड़ा बहुत विवेचन सुकरात के वार्तालापों में मिलता है। उन्हीं के आधार पर हम नीचे लिख रहे हैं। यह याद रखना चाहिए कि दार्शनिक स्तर पर यह सिद्धांत बताये जाते हैं। सुकरात ने इस विधि की उपयोगिता दार्शनिक दृष्टि से बताई है।

ज्ञान की आवश्यकता—सुकरात से पूर्व तर्कवादी अध्यापकों (Sophist) ने शिक्षा के क्षेत्र में कुछ ऐसी भ्रमात्मक शिक्षायें देना शुरू किया कि छात्र वास्तविकता को समझ न पाता था। एक ओर, एक शिक्षक सत्य, न्याय, चरित्र आदि की एक परिभाषा बताता था और दूसरा उसकी उल्टी या विरोधी परिभाषा देता था। इससे छात्रों का असमंजस में पड़ जाना आवश्यक था। वे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर, अपना कर्तव्य पालन करने में असमर्थ हो जाते थे। इससे समाज में बड़ी अस्तव्यस्तता फैलने लगी। विरोधी परिभाषाओं के बीच वास्तविकता को खोज निकालना आवश्यक था। इसके लिए सुकरात ने 'ज्ञान' को आवश्यक बताया। यदि विद्यार्थी को ज्ञान

---

१. R. K. Mukerji : Ancient Indian Education. Page 112

प्राप्त हो जाय तो वह बड़ी सरलता से भ्रमात्मक और विरोधी बातों के जाल से बच सकता है। ज्ञान द्वारा मनुष्य का चरित्र और व्यवहार सुधरता है। सुकरात का विचार है कि मनुष्य का ज्ञान सुप्त है और प्रश्नों द्वारा उसे जगाया जा सकता है। इसलिए शिक्षण में 'प्रश्नों' का प्रयोग उसने किया।

विचार-शक्ति द्वारा ज्ञान की प्राप्ति—ज्ञान का महत्व कथन-विधि के अन्तर्गत बताया गया है परन्तु प्रश्नोत्तर-विधि एक नया मार्ग है, और वह कथन-विधि से बिल्कुल भिन्न है, जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। कथन-विधि द्वारा दिये गये ज्ञान को विद्यार्थी बिना समझे बूझे ग्रहण करता है। इससे उसकी विचार शक्ति का विकास नहीं होता। इसके विपरीत प्रश्न करने पर विद्यार्थी को सोचना पढ़ता है। उस समय उसे अपनी अज्ञानता का आभास मिलता है। उसके हृदय में विवेक जाग्रत होता है और अपना अज्ञान दूर करने के लिए उसे प्रयत्न करना पड़ता है इसके अतिरिक्त जिस सत्य या सिद्धांत को वह ग्रहण करता है, उसे समझ बूझ कर ग्रहण करता है। इन्हीं कारणों से सुकरात ने विचार शक्ति को साधन बनाने के लिए, प्रश्नोत्तर-विधि का प्रयोग किया।

गुरु और शिष्य में समानता का सम्बंध—कथन-विधि में गुरू की श्रेष्ठता और विद्यार्थी की हीनता, आरंभ से लेकर अंत तक बनी रहती है। अध्यापक पर अंधश्रद्धा करना तथा उनकी बात को बिना तर्क के मान लेना विद्यार्थी का कर्तव्य माना जाता है। श्रद्धा के कारण बिना समझे जो तथ्य ग्रहण किये जाते हैं, वे मन में अच्छी तरह नहीं जमते। इस दोष को दूर करने के लिये सुकरात ने अध्यापक और शिष्य के संबंध को एक नया रूप दे डाला। यहाँ विद्यार्थी अध्यापक के पास आते हैं। दोनों में मैत्री भाव स्थापित होता है। जिस विषय को विद्यार्थी पढ़ने आता है, उसके बारे में, अध्यापक दिखावे में अपनी अज्ञानता प्रकट करता है। यह स्पष्ट है कि अध्यापक का

ज्ञान कहीं अधिक है परन्तु वह विद्यार्थी के मन में एक ऐसा मनोवैज्ञानिक परिवर्तन ले आता है कि वह अपने को अध्यापक के समान या उससे बढ़कर समझने लगता है । उसका भय दूर हो जाता है और अपने झूठे ज्ञान पर उसे दंभ उत्पन्न हो जाता है । उसी समय अध्यापक चतुर प्रश्नों द्वारा उसके दंभ को दूर करते हुए, वास्तविक सत्य का बोध कराता है । इससे लाभ यह होता है कि विद्यार्थी के मन में अध्यापक के प्रति श्रद्धा पैदा हो जाती है । इस दशा में दोनों में एक आध्यात्मिक संबंध पैदा हो जाती है ।

उत्सुकता की जागृति—सुकरात नें एक स्थल पर कहा है कि अज्ञानता की जड़ संतोष है । दुश्चरित्र तथा मूर्ख लोग ही संतोषी होते हैं । न तो उन्हें कभी किसी कमी का अनुमान होता है और न उनके मन में किसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न होती है । मनुष्य को अपने वर्तमान ज्ञान से असंतुष्ट रहना चाहिए । यह असंतोष मनुष्य के मन में जिज्ञासा और उत्सुकता उत्पन्न करता है । प्रश्नों के द्वारा मनुष्य को अपनी कमी मालूम होती है । उसके मन में जब एक आध्यात्मिक असंतोष और बेचैनी पैदा होती है, तभी वह ज्ञान प्राप्ति के लिए उसी तरह व्याकुल होता है, जैसे जल के लिए मछली ।

अगमन (Induction) **का प्रयोग**—जिस प्रकार विज्ञान की खोजों में, पहले निरीक्षण, फिर समता और अंत में नियम निर्धारण किया जाता है, उसी प्रकार शिक्षा में, प्रश्नोत्तर-विधि द्वारा पहले विद्यार्थी को पाठ्य-विषय की छानबीन करना, फिर तुलना करके गुण-दोष देखना और अंत में 'परिभाषा' देना बताया जाता है । यही शिक्षा में अगमन विधि के नाम से प्रसिद्ध है । प्रश्नोत्तर-विधि में अगमन का समावेश है । उदाहरण के लिए जैसे विद्यार्थी को बताना है 'न्याय' किसे कहते हैं, पहले उसे न्याय के सम्बन्ध में जो कुछ विद्वानों ने कहा है, बताया जाता है, फिर प्रश्नों द्वारा उनकी आलोचना करते हुए, उसका दोष और कमी बताई जाती है और अंत में 'न्याय' की असली

परिभाषा दी जाती है । इस प्रकार प्रश्नोत्तर-विधि द्वारा छात्र को अपने आप ज्ञान प्राप्त करने में सहायता दी जाती है और सत्य की शोध करने और परखने की वृत्ति बालकों में उत्पन्नकी जाती है ।

प्रश्नोत्तर विधि द्वारा पढ़ाई कैसी होती है ?—

प्रश्नोत्तर विधि द्वारा जैसे सुकरात अपने विद्यार्थियों को पढ़ाता था, उसमें और वर्तमान विधि में अंतर था । सुकरात की विधि व्यक्तिगत (Individual) आधार पर बनी थी अर्थात उस विधि से अध्यापक केवल एक विद्यार्थी को, एक समय में पढ़ा सकता था । प्रश्नोत्तर-विधि को सामूहिक (Group) आधार पर भी प्रयोग में लाया जा सकता है, जैसे आजकल कक्षा-शिक्षण में प्रश्नों द्वारा पढ़ाई होती है । इसलिए सुकरात की विधि का अलग वर्णन देना उचित है ।

(क) सुकरात की विधि—

सुकरात (४६९-३९९) ई० पू० पहला व्यक्ति था जिसने शिक्षण में विचार को प्रधानता दी । उसके मत में सच्चा ज्ञान वही है, जिसे विद्यार्थी स्वयं खोज द्वारा प्राप्त करता है। इसलिए उसने एक ऐसी शिक्षण-विधि का प्रयोग किया जिसके सहारे विद्यार्थी को सत्य की परीक्षा करनी पड़ती थी । सुकरात की विधि द्वारा नैतिक सत्य (Moral Truths) बड़ी सफलता के साथ समझाये जा सकते हैं । इस विधि के कई अंग हैं ।[१]

---

१ जॉन ड्यूवी के मतानुसार सुकरात की विधि का मूल उद्देश्य प्रचलित मतों की छानबीन करके एक सर्वसम्मत सिद्धांत की खोज करना है। अतः इस विधि के तीन मुख्य तत्व हैं ।(१)ज्ञान का मुख्य उद्देश्य प्रत्यक्ष सत्य है ।(२) वह सत्य कहाँ तक विभिन्न बातों में निहित है । [३] बिभिन्न मतों की तुलना द्वारा उस सत्य की खोज कहाँ तक सम्भव है ।—Monroe. P., Cyclopedia of Education. Vol. 3. p. 373-374.

(१) **अध्यापक और शिष्य का मिलन**—शिष्य खोज कर ऐसे अध्यापक के पास जाता है, जो तत्वज्ञानी हो और जिसने सत्य की छानबीन और खोज कर ली हो। शिष्य जिज्ञासु भाव से उसके पास जाता है और अध्यापक भी ज्ञान को उस सत्पात्र को देने के लिए उत्सुक रहता है। इस स्थिति में दोनों में आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

(२) **वार्तालाप का आरंभ**—अध्यापक और छात्र के बीच स्थापित उपर्युक्त आध्यात्मिक सम्बंध (जिसे rapport कह सकते हैं) के द्वारा पाठ्य-विषय प्रस्तुत करने में आसानी होती है। उदाहरण के लिए एक किसी विषय पर वार्तालाप आरंभ हो जाता है। अध्यापक छात्र को बताना चाहता है 'न्याय किसे कहते हैं'। वह छात्र से ही पूछता है ' न्याय किसे कहते हैं ।' इस विषय को लेकर बातचीत प्रारंभ हो जाती है। वार्तालाप में अध्यापक कभी भी अपनी श्रेष्ठता नहीं प्रदर्शित करता है। स्वयं सुकरात भी ऐसा ही करता था। वह कभी भी यह आभास नहीं देता था कि मैं विद्वान हूँ। अपने वार्तालापों में वह अपती अज्ञानता ही प्रकट करता था। इससे विद्यार्थी अपने विचारों को निर्भीकता से प्रकट करने लगता था।

(३) **धारणा (Opinion) को दूर करना**—छात्र के मन में 'न्याय' के सम्बंध में पहले से वही धारणायें बनी होती हैं, जिन्हें उसने समाज में लोगों से कहते सुना है। अध्यापक के प्रश्न के उत्तर में वह कहता है, कि 'शक्तिशाली जो भी करता है, वही न्याय है।' अब अध्यापक एक उदाहरण देता है और चतुरतापूर्वक प्रश्न करता है—"दुर्योधन ने छल से पांडवों को जुये में जीत कर दास बना लिया। फिर द्रौपदी को सभा में बुलाकर उसे अपमानित किया। दुर्योधन शक्तिशाली था। क्या उसने जो कुछ किया न्याय कह-लायेगा ?" इस उदाहरण को सुन कर, छात्र उत्तर देने में हिचकि-

जायेगा। वह सोच में पड़ जायगा और उसे अपनी परिभाषा में कमी दिखाई देगी। इस तरह वह समझ लेगा कि 'न्याय' की यह परिभाषा अधूरी है। उसकी भ्रांत धारणा दूर हो जायगी।

(४) **ज्ञान प्राप्ति**—छात्र अब अपनी असमर्थता प्रकट करता है और तब अध्यापक अपनी परिभाषा देता है। उसे वह छात्र को अच्छी तरह समझायेगा। वह विचारपूर्वक उसे ग्रहण कर लेगा। यही सच्चा ज्ञान होगा।

आलोचना—

इसमें संदेह नहीं कि सुकरात की विधि से पढ़ाने पर जो भी ज्ञान विद्यार्थी को प्राप्त हो सकता है वह ठोस और पक्का होगा। यही नहीं विद्यार्थी की चिंतन-शक्ति प्रबल होती है और वह समझ बूझ कर ही दूसरों के विचार ग्रहण करता है। उसकी विधि प्लैटो के सीखने के मनोविज्ञान के अनुकूल है। प्रश्नों का उत्तर देने के लिए विद्यार्थी को अपनी स्मरण-शक्ति पर जोर देना पड़ता है। इससे उसकी सीखने की शक्ति बढ़ती है। इस विधि द्वारा ही सच्ची शिक्षा प्राप्त होती है क्योंकि विद्यार्थी को ज्ञान के मार्ग में ले जाया जाता है। (Education) शब्द लैटिन धातु (Educere) जिसका अर्थ है आगे ले जाना, से बना है। सुकरात की विधि से शिक्षा का यही अर्थ प्रमाणित होता है [१]

इस विधि की कुछ निश्चित सीमाएँ हैं। स्कूल के छोटे बच्चों के लिए यह सर्वथा अनुपयुक्त हैं। पेस्तालाज़ी ने इस विधि की कटु-आलोचना की है। इस विधि की सफलता दो बातों पर निर्भर है,

---

१. Brubacher : A History of the Problems of Education, Chap VII p. 171.

एक पाठ्य-विषय का प्रारंभिक ज्ञान और दूसरे भाषा का ज्ञान। बच्चों में इन दोनों की योग्यता नहीं होती।[1] रस्क महोदय का विचार है कि सुकरात की विधि का प्रयोग बच्चों पर भी हो सकता है, यदि अध्यापक कुशल हो।[2] ऐडम्स (Adams) ने इस विधि के बच्चों पर प्रयोग के व्यावहारिक उपाये बनाये हैं।[3]

(ख) कक्षा में प्रयुक्त प्रश्नोत्तर-विधि—

सुकरात की विधि केवल कुछ विषयों को पढ़ाने में उपयोगी हो सकती है परन्तु प्रश्नोत्तर-विधि का प्रयोग आजकल कक्षा में अनेक विषयों को पढ़ाने में, किया जाता है। कक्षा में पढ़ाने से पूर्व प्रश्नों को तैयार करना पड़ता है। यह प्रश्न कई प्रकार के होते हैं।

(१) **प्रारंभिक प्रश्न** (Motivating Questions)—इनका उद्देश्य बालकों के मन में विषय के प्रति उत्सुकता पैदा करना है। इनके द्वारा बालकों के मन को एकाग्र किया जाता है। इस प्रकार के प्रश्न, पाठ्य-विषय के सम्बंध में बालकों के पूर्व-ज्ञान की जानकारी प्राप्त करते में सहायक होते हैं। अध्यापक यह समझ लेता है कि उसे विषय के किस अंग पर अधिक प्रकाश डालना पड़ेगा।

(२) **बालकों की कठिनाई जानने के प्रश्न** (Thought-provoking Question—कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं जिनके द्वारा यह पता चल जाता है कि बालक विषय का कौन सा अंश नहीं समझ पाया।

---

१. Pestalozzi : Leonard and Gertrude. Eng. Trans. Page 57.

२. Rusk : Doctrines of Great Educators, p. 6

३. Adams : Primer of Teaching p. 101-108

(३) **बालकों का सहयोग दिलाने वाले प्रश्न** (Developmental Question)—कक्षा में कुछ बालक ऐसे होते हैं, जो अपने सहपाठियों से अधिक योग्य होते हैं और पाठ्य-विषय के बारे में अधिक जानकारी रखते हैं। इसलिए अध्यापक इन बातों को स्वयं न बता कर प्रश्नों के उत्तर में उन बालकों द्वारा कहला देता है। इससे दूसरे बालकों को प्रेरणा मिलती है और ज्ञान प्राप्त करने में वे स्वयं प्रयत्न करने लगते हैं।

(४) **विषय दुहराने वाले प्रश्न** (Recapitulatory Question)—पाठ पूरा हो जाने के बाद कुछ ऐसे प्रश्न किये जाते हैं, जिनके द्वारा अध्यापक को अपने पाठ की सफलता का अनुमान लग जाता है। उसे यह मालूम हो जाता है कि बालक पाठ्य विषय को कहाँ तक समझ सके हैं। साथ ही साथ एक बार पाठ कक्षा में दुहरा लिया जाता है और वह बालकों को अच्छीं तरह याद हो जाता है।

अच्छे प्रश्न तैयार करने की विधि—

(१) प्रश्न की भाषा सरल, स्पष्ट और सुबोध होना चाहिए और प्रश्न लंबा न होना चाहिए।

(२) प्रश्न ऐसा न चाहिए कि उसका उत्तर गोलमोल ढंग से दिया जा सके।

(३) ऐसे प्रश्न न पूछना चाहिए जिन का उत्तर केवल 'हाँ' या 'ना' में दिया जा सकता है।

(४) प्रश्न ऐसा भी होना चाहिए जिसका उत्तर केवल एक शब्द में दिया जा सके।

(५) ऐसे प्रश्न, जिनका उत्तर बड़ी सरलता से दिया जा सके, या जिनका उत्तर कोई न दे सके, नहीं पूछने चाहिए। प्रश्न ऐसा होना चाहिए जिसके द्वारा बालक की विचारशक्ति काम करने लगे और स्वतंत्र रूप से विचार करने का अभ्यास हो जाय।

(६) प्रश्न इस प्रकार के हों जिनसे बालकों को अनुमान करने का मौका न मिले और वे प्रश्न का उत्तर देने में, प्रश्न की भाषा दुहरा दें ।

प्रश्नों के पूछने में सावधानी—

(१) प्रश्न को बार बार कक्षा में दुहराना अनुचित है । दुहराने से बालक ध्यान देकर प्रश्न नहीं सुनते और उनके सोचने में बाधा पड़ती है ।

(२) कक्षा में पूछे गये प्रश्न की भाषा बार-बार बदलना ठीक नहीं । इससे विद्यार्थी भ्रम में पड़ जाते हैं । प्रश्न की भाषा सोच समझ कर पहले से निश्चित कर लेना अच्छा है ।

(३) प्रश्न इस प्रकार पूछे जाने चाहिए कि उत्तरों में एक तारतम्य (Sequence) पैदा हो जाय और सारा विषय सुलझ जाय ।

(४) प्रश्नों को पूछने में शीघ्रता नहीं करना चाहिए। बालकों को उत्तर सोचने का समय देना उचित है ।

(५) प्रश्न पूरी कक्षा से पूछना चाहिए। प्रश्न ऐसा न हो जिसें केवल एक बालक समझे और उत्तर दे। यह आभास न होने देना चाहिए कि प्रश्न किसी एक विशेष बालक से किया गया है। हर एक बालक यही समझे कि मुझे उत्तर देना होगा। प्रश्न कक्षा के सभी बालकों से पूछना उचित है। एक ही बालक से बार बार पूछने में, अन्य विद्यार्थी पाठ में रुचि नहीं लेते ।

(६) अधूरे वाक्य में दिये गये उत्तरों को मान लेना हानिकारक है, कम से कम भाषा के पाठ में यह बहुत ही हानिकारक है । जिस प्रश्न का उत्तर सारी कक्षा देने लगे उस पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। कभी कभी कमज़ोर विद्यार्थी उसे समझ नहीं पाते और अध्यापक उसे शीघ्रता पूर्वक छोड़ कर आगे बढ़ जाता है। प्रश्न का उत्तर एक ही बालक से निकलवाने में बहुत समय नष्ट होता है ।

यदि एक बालक उत्तर न दे सके तो फौरन दूसरे बालक से पूछ लेना चाहिए ।

प्रश्नों द्वारा कक्षा में पाठ का विस्तार—

जिस विषय को कक्षा में पढ़ाना हो, उसके सम्बंध में प्रारंभिक प्रश्न (Motivating Questions) पहले पूछने चाहिए जिससे बालकों के प्रस्तुत पाठ के विषय में पूर्वज्ञान का अनुमान लग जाय । इन प्रश्नों द्वारा बालकों की उत्सुकता जाग्रत की जा सकती है । उनकी कठिनाइयों का पता भी चल जाता है । पाठ की भूमिका समाप्त होने पर पाठ के विस्तार में बालकों का सहयोग प्राप्त करने के लिए प्रश्न पूछे जाते हैं । जब वे कुछ भी नहीं बता सकते या जो कुछ थोड़ा बहुत वे बताते भी हैं तब उनके उत्तरों की सहायता लेकर अध्यापक पाठ को अच्छी तरह समझाता है । पाठ-विस्तार के समय पूर्ण शांति और अनुशासन की आवश्यकता है । बालकों के उत्तर सुनाई देने के लिये ऐसा ही वातावरण अपेक्षित है । सही उत्तर को किसी बालक से जरा उच्च स्वरों में कक्षा के सामने दुहरवा देना चाहिए । इससे अन्य छात्रों को प्रेरणा मिलती है । दूसरे बालकों को अपने सहपाठियों की बात सुनने का अभ्यास हो जाता है । पूरा विषय समझा देने के बाद दुहरानेवाले प्रश्न करना आवश्यक है जिसमें पाठ की सफलता ज्ञात हो जाय ।

आलोचना—

प्रश्नोत्तर-विधि के प्रशंसकों का कथन है कि यह कथन-विधि के अनेक दोषों से मुक्त है । इसके द्वारा छात्रों की मानसिक क्रिया को उत्तेजन मिलता है । सबसे बड़ा लाभ यह है कि बालकों की कमजोरी का तुरंत पता चल जाता है । अध्यापक यह भी जान लेता है कि वह पाठ पढ़ाने में कहां तक सफल हुआ है और आवश्यकतानुसार वह अपनी शिक्षण-विधि में तुरंत परिवर्तन कर सकता है । इस विधि की सहायता से बालक अपने आप ज्ञान प्राप्त

करने का अभ्यास कर लेता है। विद्यार्थी की विवेक-शक्ति विकसित होती है और वह ज्ञान और अज्ञान का भेद मालूम कर सकता है। इस विधि में अगमन का प्रयोग होता है, इसलिए इसे पूर्णरूप से वैज्ञानिक विधि कहा जा सकता है। पाठ-विस्तार वार्तालाप द्वारा होता है, इस लिए यह विधि बालकों के लिए मनोरंजक भी है।

प्रश्नोत्तर विधि पूर्णरूप से दोषरहित नहीं है इसके द्वारा नवीन बातें, जिनका अनुभव स्वयं विद्यार्थियों ने नहीं किया है, नहीं बताई जा सकतीं। इसके द्वारा साहित्य, इतिहास और विज्ञान जैसे विषय, जिनमें बालकों को नई बातें बताना पड़ती हैं, नहीं पढ़ाये जा सकते। इस विधि द्वारा छोटे बालकों को पढ़ाना असंभव नहीं, तो अत्यंत कठिन अवश्य है। इसमें विचार-शक्ति पर पूरा जोर पड़ता है और छोटी आयु में विचार-शक्ति विकसित नहीं होती, इस लिए छोटे बालकों की पढ़ाई में इसका प्रयोग अनुचित भी है। इन दोषों को ध्यान में रखते हुए शिक्षाशास्त्रियों ने बताया है कि कथन-विधि के साथ प्रश्नोत्तर-विधि का संयोग करके शिक्षण में पूरा लाभ उठाया जा सकता है।

---

(३)

हरबार्ट की कक्षा-शिक्षण विधि

सोलहवीं शताब्दी में ज्ञान के पुनरुद्धार और जागृति के परिणाम स्वरूप योरप में शिक्षा का प्रचार तेजी से होने लगा। मानवतावादियों (Humanists) और उदार-विचार वाले व्यक्तियों ने शिक्षा को ही मनुष्य के उत्थान का साधन बताया। लोगों का ध्यान सार्वजनिक शिक्षा की ओर गया। प्राचीनकाल में जिस प्रकार शिक्षा-क्रम चला आ रहा था, उसके सुधार की ओर भी कुछ शिक्षाशास्त्रियों ने ध्यान देना आरंभ किया। कोमेनियस का स्वर इन सबमें, सबसे अधिक प्रबल था। इसके बाद पेस्तालाजी ने एक बार फिर इस आँदोलन को, नये सिरे से उठाया। उसके प्रयोगों में शिक्षणविधि का सुधार एक प्रमुख प्रयोग था। शिक्षाप्रसार के कारण अब समूह-शिक्षण की प्रथा चल पड़ी थी क्योंकि इसके द्वारा एक अध्यापक एक साथ कई विद्यार्थियों को पढ़ा सकता था। समूह-शिक्षण की जनप्रियता अवश्य बढ़ गई थी परन्तु इसका रूप व्यवस्थित न था। पेस्तालाजी ने शिक्षण सिद्धांतों का विवेचन अवश्य किया था परन्तु शिक्षण-विधि को व्यावहारिक रूप देने में वह असमर्थ रहा। इस गुरुतम कार्य को उस के शिष्य हरबार्ट ने अपने हाथ में लिया। और, इस कार्य में उसे पूरी सफलता मिली। उसने शिक्षण-कला (Podagogy) को एक वैज्ञानिक और सुचारुरूप देकर व्यावहारिक और सर्वग्राह्य बना दिया। उसकी कक्षा-शिक्षण विधि अब तक इतनी लोकप्रिय है कि ट्रेंनिग कालेजों में आज भी अध्यापकों को इसी विधि से पढ़ाने की ट्रेंनिग दी जाती है।

योहान फ्रेडरिक हरबार्ट, पेस्तालाजी के प्रमुख शिष्य थे। पेस्तालाजी ने शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान और प्रयोगों का द्वारा खोल दिया था। हरबार्ट ने अपने गुरु के पद चिन्हों का अनुसरण किया। यहां यह बात याद रखने योग्य है कि वे अपने गुरु के विचारों से पूर्णतया सहमत न थे। पेस्तालाजी ने बालक की शिक्षा की सफलता का आधार—— बालक के सहज गुणों (वंशानुक्रम Heredity) और बाहर के प्रभावों (परिस्थिति Environment) दोनों को माना है। (वास्तव में पेस्तालाजी की स्थिति ही ठीक है।) हरबार्ट ने वाह्य प्रभाव को प्रधानता दी। (यह हरबार्ट की चिंतनशैली का दोष है !) परिस्थिति को अधिक महत्वपूर्ण समझ कर उन्होंने 'पाठन' प्रणाली और अध्ययन शैली' को पूर्ण रूप से सुधारने का प्रयत्न किया।

हरबार्ट ने जिन आदर्श पारिवारिक परिस्थितियों में जन्म लेकर और बढ़कर शिक्षा प्राप्त की, उसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि वह एक प्रतिभाशाली शिक्षाशास्त्री बन गया। साथ ही वह प्रसिद्ध तत्वज्ञानी और दार्शनिक भी बन गया। विद्यार्थी-जीवन की समाप्ति के बाद हरबार्ट को अध्यापन कार्य के अनुभव प्राप्त होने लगे। वह स्विटजरलैंड के शासक के तीन पुत्रों का अध्यापक बनाया गया। यहाँ उसे पेस्तालाजी से मिलने का स्वर्ण-अवसर मिला। हरबार्ट ने पेस्तालाजी के शिक्षण सिद्धाँतो का समर्थन तथा उनकी समालोचना अपने लेखों में की। इसके बाद ही हरबार्ट को क्वेनिग्जबुर्ग के विश्वविद्यालय में दर्शन के आचार्य का पद मिला। यहाँ उसने दर्शन और मनोविज्ञान का गहरा अध्ययन करके, अपने शिक्षण-सिद्धांत निश्चित कर डाले और उन्हें व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रयोग-शाला बनाई। इस प्रयोगशाला में अध्यापन कला सिखाई जाती थी। इसी में हरबार्ट की कक्षा-शिक्षणविधि का जन्म हुआ।

हरबार्ट की कक्षा-शिक्षणविधि के सिद्धांतोंका विवेचन, हमें उसकी दो कृतियों 'शिक्षा का विज्ञान' तथा 'शिक्षा-सिद्धांत की रूप रेखा',

में मिलता है। उसके सिद्धांतो का मूल तत्व यह है कि, "प्रत्यक्ष इंद्रियानुभव से ज्ञान के प्रारंभिक तत्व अवश्य मिल जाते हैं किन्तु शिक्षा के व्यापक उद्देश्य की दृष्टि से विद्यालय की पाठ्य-योजना निश्चित रूप से क्रमबद्ध होनी चाहिए।" इस मुख्य सूत्र को अच्छी तरह समझने के लिए यह आवश्यक हैं कि हम हरबार्ट के शिक्षादर्शन तथा मनोविज्ञान का गहराई से अध्ययन करें। इसलिए हम क्रमशः इन्हीं के विषय में पहले लिखेंगे।

हरबार्ट के शिक्षण-सिद्धांत—

(१) **शिक्षा का उद्देश्य**—हरबार्ट ने अनेक स्थानों पर बार-बार कहा है कि शिक्षा का मूल उद्देश्य केवल एक है और एक शब्द में उसे हम 'नैतिकता' (Morality) कह सकते हैं। शुरु से लेकर अंत तक शिक्षा का केवल एक काम है—वह यह कि वह विद्यार्थी के चरित्र को शुद्ध दृढ़ और पवित्र बनावे। चारित्रिक विकास द्वारा इस जीवन में ही 'सत्यं शिवं सुंदरम्' की प्राप्ति हो सकती है। दूसरे शब्दों में मनुष्य इस योग्य बन जाता है कि वह समाज का भला कर सके, सत्य को पहचान सके और लोकोत्तार आनंद का अनुभव कर सके।

हरबार्ट की दृष्टि में नैतिकता का अर्थ है सद्गुणों की वृद्धि। सद्गुण (Virtue) एक प्रकार की "आंतरिक स्वतंत्रता है जो मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में धीरे-धीरे व्याप्त हो जाती है।" शिक्षा का कार्य यह है कि वह मनुष्यों को जीवन में इस सद्गुण का व्यवहार करना सिखा दे। इसी लिए एक अच्छी शिक्षण-विधि की आवश्यकता है, जो बालकों के चरित्र को विकसित करे। बालक स्वयं अपने चरित्र का विकास करने, और सद्गुणों को सीखने में असमर्थ है। (यहीं पर हमें हरबार्ट और वर्तमान प्रगतिवादी शिक्षाशास्त्रियों जैसे मॉटेसरी, फ्रोबेल और ड्यूवी के विचारों में बड़ा अन्तर ज्ञान पड़ता है। यह लोग बालक को स्वशिक्षण में समर्थ मानते हैं; अतः वे शिक्षा का सूत्र बालक के

हाथ में सौंपने के पक्षपाती हैं ।) शिक्षा का सूत्र, अध्यापक के हाथ में होना चाहिये और शिक्षण का सारा उत्तरदायित्व उसी पर रहना चाहिए । इसीलिये हरबार्ट की शिक्षण विधि में, पाठ-योजना, पूर्व तैय्यारी, उपकरणों का जुटाना, और फिर कक्षा में पढ़ाना आदि सारे काम अध्यापक को करने पड़ते हैं। उसे हर समय ध्यान रखना पड़ता है कि बालको में पवित्र विचार उत्पन्न हों ।

हरबार्ट ने नैतिकता के लिए आवश्यक सद्गुणों की वृद्धि पर जोर दिया है उनमें से आंतरिक स्वतंत्रता (Inner Freedom) का वर्णन हम पूर्व अनुच्छेद में कर चुके हैं । इसके अतिरिक्त उसने बताया है कि मनुष्य में, 'इच्छा', (Desire) और 'संकल्प' (will-power) तथा अंतर्दृष्टि (Insight) और 'विश्वास' (Conviction) में संतुलन स्थापित करने की शक्ति होनी चाहिए । सरल शब्दों में मनुष्य इच्छायें करे, पर दृढ़तापूर्वक एक इच्छा को पूरा करने में समर्थ हो; वह ज्ञान प्राप्त करे परन्तु विवेक के कारण विश्वास को नष्ट न होने दे । इन सदगुणों के अतिरिक्त कार्यक्षमता, उदारता और दृढ़ता आदि की आवश्यकता भी हरबार्ट ने बताई ।

इन सद्गुणों को पैदा करने के लिए यह आवश्यक है कि बालकों को उत्तम प्रकार के अनुभव कराये जायँ । उन अनुभवों को प्राप्त करके बालक के मन में एक 'विचारवृत्त' (Circle of thoughts) बन जाता है और यही उसे नैतिक जीवन बिताने की प्रेरणा देता है । शिक्षण का उद्देश्य इस विचार-वृत्त का निर्माण करना है और बालक को यह सिखाना है कि वह कैसे दैनिक जीवन में, इसके अनुरूप आचरण करे ।

हरबार्ट का मनोविज्ञान—

(क) 'आत्मा' (Soul) की प्राचीन उद्भावना की अमान्यता—

प्राचीन भारतीय तथा यूनानी तत्वज्ञों (Metaphysicians) का विचार था कि मनुष्य के मन में 'आत्मा' का निवास होता है। यह आत्मा अजर-अमर है और मनुष्य की मानसिक चेतना (Consciousness) का आधार है। शरीर को होने वाले दुख-सुख, भूख, नींद, प्यास तथा सारे अनुभव आत्मा के द्वारा मनुष्य को प्राप्त होते हैं। इस प्राचीन चिंतन-शैली का विरोध लाके (Locke) ने किया (देखो पृष्ठ २०)। उसका कथन है कि मनुष्य का मन सादे काग़ज के समान है और ज्ञानेंन्द्रियों द्वारा वाह्यसंसार के अनुभव चिन्हों के रूप में इस पर अंकित हो जाते हैं और धीरे धीरे यही चेतना-शक्ति का रूप धारण लेते हैं। प्राय: हरबार्ट का यही विचार है। मनुष्य का ज्ञान सहज नहीं है। और, न हरबार्ट आत्मा में विश्वास करता है। उसका विचार है कि ज्ञान को प्राप्ति मनुष्य को उन अनुभवो द्वारा होती है जो उसे वाह्य वस्तुओं के संपर्क से मिलते हैं। इस तरह मनुष्य के मन की रचना बाहरी संसार के अनुभवों से होती है।

हरबार्ट ने अनुभव को (Presentation) की संज्ञा दी है। बालक को क्या अनुभव कराया जाय, यह अध्यापक के हाथ की बात है। शिक्षक का यह कर्तभ्य है कि वह बालक और संसार का संबंध इस प्रकार कराये कि उसके मन में शुद्ध विचार (Ideas) उत्पन्न हों ताकि उसका चरित्र ऊँचा उठे। इस प्रकार मनुष्य में चेतना-शक्ति (Cosnciousness) को बाहर से उत्पन्न करने की बात मान लेने से दो परिणाम निकलते हैं।

(१) **शिक्षक का महत्व**—बालक के चरित्र निर्माण की कुंजी अध्यापक के हाथ में है। वह चाहे उसके चरित्र को बनाये और चाहे बिगाड़े। अध्यापक का कर्तव्य बालक को उत्तम प्रकार के अनुभव कराना है और सारे अनुभवों को संघटित रूप देना है। सामाजिक आदान-प्रदान, व्यक्तिगत सहानुभूति और वस्तुओं से प्राथमिक सम्पर्क,

यह अनुभव कराने के साधन हैं। अनुभव करने में अध्यापक बालकों को बताता है कि कौन से अनुभव बुरे हैं और कौन से अच्छे। इसी अच्छाई-बुराई की परख कराने में बालकों का चरित्र बनता है। अध्यापक जितना योग्य होगा, उतना ही वह इस काम में सफल होगा।

२–(क) **अध्यापन** (Instruction) **का महत्व—** बालक का, वाह्य वस्तुओं से संम्पर्क कराना आसान नही। वाह्य वस्तुओं को बालक के आगे वैज्ञानिक ढ़ंग से प्रस्तुत करने की कला की आवश्यकता है। हरबार्ट ने इस कला को जन्म दिया। उसने पाठ को प्रस्तुत करने का जो ढ़ंग निकाला वह 'पंचपदी शिक्षाक्रम' के नाम से विख्यात है। यह वही अध्यापन कला है जो कक्षा-शिक्षण में प्रयुक्त होती है। अध्यापन का अर्थ, केवल जानकारी प्राप्त करना नहीं है। सच्चा अध्यापन वह है जिसके द्वारा छात्र अपने अनुभवों को संघटित करने में ससर्थ हो जाता है। हरबार्ट की शिक्षण-विधि में यही तरीके से उक्त प्रकार के अध्यापन का प्रयोग होता है।

(ख) **'पूर्वानुवर्तीज्ञानपिंड'** (Apperception Mass) **की परिकल्पना**—शिक्षा का मुख्य केन्द्रबिंदु है 'अभ्यसन' या सीखना (Learning)। यदि सीखने की प्रक्रिया का ज्ञान हमें प्राप्त हो जाय अर्थात् यदि यह मालूम हो जाय कि बच्चा कैसे सीखता है तो उसे पढ़ाना बड़ा सरल हो जाता है। हमारी समझ में हरबार्ट का नाम इसलिए सदैव अमर रहेगा कि वह प्रथम व्यक्ति था जिसने अभ्यसन के मनोविज्ञान (Psychology of Learning) पर प्रकाश डाला। वह सीखने की प्रक्रिया की जाँच के लिए कोई प्रयोग तो न कर सका परन्तु उसने इसके लिये एक उपपत्ति (Hypothesis) अवश्य तैयार की। सीखने की प्रक्रिया (Learning process) का विश्लेषण करने के लिए, उसने 'पूर्वानुवर्तीज्ञानपिंड' की परिकल्पना की। सरल शब्दों में, इसका अर्थ यह है:—

इंद्रियों द्वारा वाह्य वस्तुओं के सम्पर्क से बालक के मन:पटल पर कुछ चिह्न अंकित हो जाते हैं। दो वस्तुओं के एक साथ सम्पर्क में आने से मन में जो चिह्न बनते हैं उनमें एक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इन वस्तुओं के अनुभव से मिलते-जुलते जितने भी अनुभव होते हैं, उन्हें ग्रहण करने में बालक के मन को आसानी होती है। इन साम्यतापूर्ण चिह्नों के सहारे एक विचार-गुल्म बन जाता है, जो अपने समान नवीन विचारों और अनुभवों को तुरन्त ग्रहण कर लेता है। इस विचार-गुल्म को ही पूर्वानुवर्ती-ज्ञानपिंड कहते हैं। सीखने की दृष्टि से यह गुल्म बड़ा ही महत्वपूर्ण है; क्योंकि अपने समानवाले विचारों को ग्रहण करने में यह सहायता देता है। यही मनुष्य के सीखने की शक्ति का आधार है। ज्यों-ज्यों मनुष्य का अनुभव बढ़ता जाता है, यह पूर्वानुवर्ती ज्ञान, बड़ा होता जाता है।

इस मनोवैज्ञानिक तत्व का प्रयोग हरबार्ट ने शिक्षणविधि में किया। उसने बताया कि, "अध्यापक बालक के पूर्व-संचित ज्ञान का सहारा लेकर, नये विचार या विचार-समूह में विद्यार्थी की रुचि और एकाग्रता उत्पन्न करके उन विचारों को स्थिर करने में सफल हो सकता है।" अत: हरबार्ट ने अपनी विधि में 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' (From known to unknown) वाले सिद्धान्त का प्रयोग किया। इसका मतलब यह है कि यदि बालक को कोई भी नयी बात बतानी हो, तो उसका सम्बन्ध पूर्वानुवर्तीज्ञान से स्थापित करके बताया जाय। इससे उसे नयी बात के सीखने में सरलता और सुविधा मिलेगी। हरबार्ट की विधि से पढ़ाने वाले अध्यापक को बालक के पूर्वज्ञान की जानकारी, पाठ पढ़ाने से पहिले, प्राप्त कर लेनी पड़ती है। बालक का पुराना ज्ञान, नये ज्ञान के प्राप्त करने में सहायता देता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य के महत्व के सम्बन्ध में हरबार्ट ने एक स्थल पर लिखा है कि मनोविज्ञान से शिक्षा-सिद्धांत को जो देन मिली

है, वह यह है कि नये ज्ञान का विकास पुराने ज्ञान से होता है।

बहुमुखी रुचि (**Manysided Interest**) *और चरित्र का संबंध*—

हरबार्ट के मतानुसार शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। बालक के चरित्र-विकास के लिए, शिक्षक को बहुत-कुछ श्रम करना पड़ता है। हरबार्ट ने बड़ी योग्यता से चरित्र-विकास के क्रम का विश्लेषण किया है। वह क्रम एक रेखाचित्र द्वारा नीचे प्रदर्शित किया जा रहा है:—
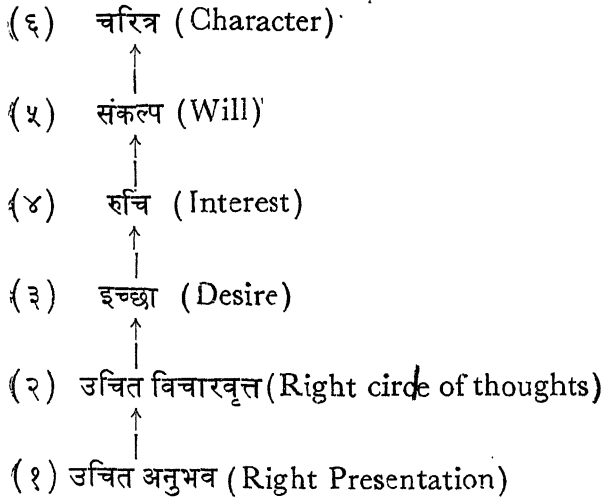
हम पहले लिख चुके हैं कि मनुष्य के चेतन-मन की रचना अनुभवों (Presentation) द्वारा होती है। इसलिये अध्यापक का कर्तव्य है कि वह इन अनुभवों पर नियंत्रण रखे। यह नियंत्रण इस लिए रखना जरूरी है कि अनुभव यदि उचित (Right) होंगे तो

शुद्ध चरित्र बनेगा। यदि पहला कदम गलत पड़ा, तो लक्ष्य तक पहुँचना असंभव हो जायगा। यह उचित अनुभव 'पाठ्य-विषयों' द्वारा दिलाये जाते हैं। विषयों का चुनाव, पढ़ाने से पहले अच्छी तरह कर लेना चाहिए। उचित अनुभवों द्वारा उचित विचारवृत्त की रचना होती है। अतः इन प्रथम दो सीढ़ियों को पार करने में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। ('उचित अनुभव' और 'उचित विचार' की सीढ़ियों के बीच, का मार्ग तै करना और बालक के मनोवैज्ञानिक विकास में बालक के 'पूर्वज्ञान' का सहारा लेना आवश्यक है। इस संबन्ध में पहले लिखा जा चुका हैं।) उचित विचारवृत्त से बालक के मन में ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा बालक के मन में 'रुचि' को जन्म देती है। हरबार्ट की शिक्षण-विधि में 'रुचि' को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

अपनी पुस्तक 'शिक्षा सिद्धांत की रूपरेखा' में रुचि की परिभाषा देते हुए हरबार्ट ने लिखा है—"खास तौर से 'रुचि' शब्द से एक ऐसी मानसिक क्रिया (Mental Activity) का बोध होता है जिसे जागृत करना, अध्यापन का मुख्य उद्देश्य है। जानकारी (Information) से कोई लाभ नहीं होता। साधारण बातों की जानकारी प्राप्त करके, या न करके भी मनुष्य ज्यों-का-त्यों बना रह जाता है। परन्तु जो एक बार जानकारी प्राप्त करके, और अधिक जानकारी प्राप्त करने में रुचि लेता है, वही सच्चा ज्ञान है। रुचि की यह मानसिक क्रिया अनेक प्रकार की है और उसे हम 'बहुमुखी' कहकर पुकार सकते हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि अनुभवों और विचारों के आधार पर रुचि बनती है। अतः रुचि को जाग्रत करने के लिए, सामाजिक संपर्क और प्रकृति का अनुभव आवश्यक है। हरबार्ट ने रुचियों के दो मुख्य वर्ग बताये हैं—एक अनुभवजन्य जो प्रकृति के अनुभव से

बनती हैं और दूसरी सम्पर्कजन्य जो समाज में रह कर बनती है। अनुभवजन्य रुचियाँ भी तीन प्रकार की होती हैं (१) इंद्रियभावी जो ज्ञानेंद्रियों पर प्रभाव डालती है। (२) जिज्ञासाभावी जो विवेक-शक्ति को जाग्रत करती है। और (३) सौन्दर्यभावी जो मनुष्य को कलात्मक आनन्द देती है। सम्पर्कजन्य रुचियाँ भी तीन प्रकार की हैं। (१) सहानुभूतिमय, जो मनुष्यों में परस्पर हिल-मिल कर रहने को बाध्य करती है। (२) सामाजिक, जो राष्ट्र, देश या जाति का प्रेम उत्पन्न करती है। और (३) धार्मिक, जो ईश्वर-चिन्तन के लिए प्रेरित करती है। हरबार्ट ने दोनों प्रकार की रुचियों को उत्पन्न करने के लिए पाठ्य-विषयों की भी दो श्रेणियाँ बना दीं। अनुभवजन्य रुचियों को जाग्रत करने के लिए वैज्ञानिक विषय, और सम्पर्कजन्य के लिए ऐतिहासिक विषय पढ़ाने का निर्देश किया।"

उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट हो जायगा कि रुचि बहुमुखी (Manysided) है और उसके विभिन्न रूप हैं। इस रुचि-वैचित्र्य के कारण चेतना-शक्ति टुकड़े-टुकड़े होकर कई धाराओं में बँट न जाय, इसलिए हरबार्ट ने चेतनाशक्ति के एकत्व (Unity) पर जोर दिया, रुचियों की विभिन्नता और अनेकता आवश्यक है पर ये सब एक सूत्र में इस तरह आबद्ध होनी चाहिए कि उनमें एक संघटित संबंध (Organic relationship) बना रहे। 'रुचि' द्वारा कक्षा में केवल एकाग्रता ही नहीं पैदा होती, वरन् बालक जो कुछ नया ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह उनके चेतनमन की इकाई में इस तरह समा जाता है कि उनका चरित्र सर्वांगीण, संतुलित, समन्वित, और उदारतापूर्ण हो जाता है।

बहुमुखी-रुचि चरित्र की आधार-शिला है, परन्तु बहुमुखी रुचि में एकता (Unity) पैदा करने के लिए बालक में संकल्पशक्ति (Will or Volition) उत्पन्न करना आवश्यक है। ज्योंही संकल्प-शक्ति का विकास हो जाता है, वैसे ही बालक का चरित्र आदर्श

बन जाता है। संकल्प शक्ति उचित-अनुचित, सुन्दर-असुन्दर, उत्तम और अधम के बीच चुनाव करने से जाग्रत होती है।

शिक्षण के दृष्टिकोण से उपर्युक्त विचार-धारा के तीन मुख्य परिणाम निकले:—

(अ) **पाठन-सामग्री का चुनाव**—बालकों को उचित अनुभव कराने के लिए पाठन-सामग्री का भली प्रकार चुनाव करना बहुत जरूरी है। इस चुनाव के लिए हरबार्ट ने एक विशेष प्रकार का सुझाव दिया। उसका यह कथन है कि बालकों के लिए होमर का काव्य पढ़ाना ज्यादा अच्छा है। उसका कारण यह है कि बालक अपनी इस आयु में वही क्रियाएँ करता है, जो होमर के युग में मानव-जाति करती थी। हरबार्ट के इस विचार को लेकर उसके शिष्य जिल्लेर (Ziller) ने अपनी संस्कारावृत्ति के सिद्धांत (Culture-epoch theory) का प्रतिपादन किया। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन-काल में, विकास की उन सीढ़ियों से होकर गुजरता है जिन्हें मानव-जाति अपने जीवन-काल में पार कर चुकी है। मानव-जाति का विकास कई युगों में बाँटा जाता है, जैसे प्रथम 'असभ्य युग' (आखेट-युग Hunting period) जिसमें मनुष्य में विनाशात्मक प्रवृत्ति प्रधान थी, वह हिंसक पशु की भाँति तोड़फोड़ करता था। एक व्यक्ति के जीवन में बचपन का समय, जाति के असभ्य युग के समान है, दोनों की विशेषतायें एक-सी हैं, क्योंकि बालक असभ्य होता है, वह जो वस्तु पाता है नष्ट कर डालता है। मानव-जाति के विकास का दूसरा युग, चरागाह-युग (Nomadic period) कहलाता है। इस युग में मनुष्य एक स्थान पर बस कर नहीं रहता था, वरन् घूमा करता था। व्यक्ति के जीवन में, यौवन काल की यही विशेषताएँ होती हैं, जो चरागाह-युग की सारी मानव-जाति में मिलती हैं। इस प्रकार जाति और व्यक्ति का

विकास समानान्तर रेखाओं की भाँति चल रहा हैं । अतः हरबार्ट ने सलाह दी कि बालक को पढ़ाने के पूर्व इसी आधार पर पाठ्य-विषय का चुनाव किया जाय, जैसे छोटे बालकों को आखेट युग का इतिहास पढ़ाया जाय, यौवनारंभकाल में, चरागाह युग का इतिहास और वयस्क होने पर आधुनिक इतिहास पढ़ाया जाय, । हरबार्ट ने पाठन-विषय के चुनाव का यही आधार निश्चित किया।

(ब) **पाठ्य-विषयों में सानुबंध**--हरबार्ट की विचारधारा का जो दूसरा परिणाम निकला, वह सानुबंध के सिद्धांत (Principle of Correlation) के नाम से विख्यात है। हम बहुमुखी रुचि के प्रसंग में पहले लिख चुके हैं कि रुचि की अनेकरूपता के कारण बालक की मानसिक चेतना की एकता (Unity) नष्ट न होने पाये, इस बात पर हरबार्ट ने बहुत ज्यादा ज़ोर दिया है। चेतना की एकता बनाये रखने के लिए उसने संकल्प शक्ति (Will) को पैदा करना आवश्यक बताया; परन्तु यह सब हो कैसे ? इस कठिनाई को हल करने के लिए उसने सानुबंध (Correlation) की परिकल्पना की। सरल भाषा में, इसका अर्थ यह है कि सारे पाठ्य-विषय इस प्रकार पढ़ाये जाने चाहिए कि, वे अलग-अलग न जान पड़ें, वरन् सबका गहरा संबंध बालक देख सके। जैसे इतिहास पढाते समय, भूगोल, साहित्य, समाज-शास्त्र आदि भी प्रसंग वश कक्षा में समझाये जायें ताकि बालक इन विषयों के सह-संबंध को समझ लें। इस सम्बन्ध को सानुबंध कहते हैं। इस संबंध के अभाव में बालक की मानसिक एकता नष्ट हो जायगी; उसकी संकल्प-शक्ति निर्बल हो जावगी और अंत में उसका चरित्र नष्ट हो जायगा।

(स) **एकाग्रीकरण का सिद्धान्त** (Concentration or Core-Curriculum) सानुबन्ध स्थापित करने के लिए हरबार्ट और उसके अनुयायियों ने 'इतिहास' को पाठन का केन्द्र (Central Core) मान लिया। संस्कारावृत्ति के सिद्धांत के प्रसंग में हम "इतिहास के

महत्व पर विचार प्रकट कर चुके हैं। हरबार्ट की दृष्टि में इतिहास अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है; यह मानव संस्कृति का मूलाधार है। इसकी सहायता से भूगोल, साहित्य, वाणिज्य और विज्ञान सभी पढ़ाये जा सकते हैं क्योंकि इतिहास आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक सभी प्रकार के आन्दोलनों का एक वृहत् लेखा (Record) है। इसके सहारे सभी विषयों को पढ़ना संभव है।

हरबार्ट की विधि द्वारा पढ़ाई का ढंग—

हरबार्ट ने अपनी पुस्तक 'साधारण शिक्षण-कला' (Allgemeine Pedagogik) में, शिक्षण-विधि के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है। उसका कहना है कि पाठ्य-विषय के अनुसार शिक्षण-विधि हेर फेर कर लेना जरूरी है। उसने शिक्षण-विधि के दो मुख्य रूप बताये हैं। (१) एक को संश्लेषण-प्रधान (Synthetic Method) और (२) दूसरे को विश्लेषण-प्रधान (Analytic Method) कह सकते हैं। प्रथम विधि द्वारा पढ़ाने में अध्यापक को पाठ्य-सामग्री का चुनाव अच्छी तरह करके, इस तरह क्रम से सजाना पड़ता है कि छात्रों की समझ में अच्छी तरह आ जाय। 'साहित्य' और 'इतिहास' के पाठों में इसका प्रयोग किया जाता है। संश्लेषण-प्रधान विधि में यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि बालक के पूर्वज्ञान का नवीन ज्ञान से अच्छी तरह सम्बंध स्थापित हो जाय। दूसरी विश्लेषण-प्रधान विधि का प्रयोग ऐसे पाठों में करना पड़ता है, जहाँ बालकों के मन से अस्पष्टता दूर करना हो। कभी-कभी एक पाठ को संश्लेषण विधि से पढ़ा चुकनेके बाद, विश्लेषण विधि से फिर पढ़ाया जाता है, जिसमें पाठ के अस्पष्ट प्रसंग बालकों की समझ में अच्छी तरह आ जाँय।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट पता चल जाता है कि उक्त दोनों विधियाँ एक दूसरे की पूरक हैं और एक ही विधि के दो पहलू हैं। आवश्यकता पड़ने पर दोनों का प्रयोग एक साथ किया जा

सकता है। अतः हरबार्ट की शिक्षण-विधि, वास्तव में, एक ही है। हरबार्ट की यह विधि, पंचपदी-शिक्षण-विधि कहलाती है। समस्त विधि को पाँच पदों (Steps) में विभाजित किया जा सकता है और शिक्षण में आदि से लेकर अन्त तक अध्यापक उन्हीं पदों का अनुसरण करता है।

प्रसिद्ध पंच पदों (**Famous five Steps**) *का विवरण*

(१) **उद्बोधन** (Preparation)—इस प्रथम पद में अध्यापक का मुख्य उद्देश्य बालकों को पढ़ने के लिए तैयार करना है। पाठ्य-विषय के प्रति बालकों में रुचि जाग्रत करना आवश्यक है, अन्यथा पढ़ाने में सफलता नहीं प्राप्त होती। जिस तरह भोजन को ठीक तरह पचाने के लिए भूख लगना आवश्यक है, उसी तरह पाठ को ग्रहण करने के लिए रुचि तथा जिज्ञासा की आवश्यकता है। रुचि और जिज्ञासा से बालकों का मन एकाग्रचित्त हो जाता है। उन्हें पढ़ने की प्रेरणा देना एक कला है। उसके लिए अध्यापक को बालकों के पूर्वज्ञान की जानकारी प्राप्त करना चाहिए। पाठ की भूमिका में, उसे कुछ ऐसे प्रश्न करने चाहिएँ जिनका उत्तर कक्षा के बालक अपने पूर्वज्ञान से दे सकें। अच्छा हो यदि एक दिन पहले पढ़ाये गये पाठ के संबंध में प्रश्न किये जांय। 'कल' और 'आज' के पाठों में संबंध होना, पाठ के समझने में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त बालकों के पूर्व अनुभव का लाभ उठाने से न चूकना चाहिए। फिर ऐसे प्रश्न पूछने चाहिएँ जिनका संबंध प्रस्तुत पाठ से हो परन्तु उसका उत्तर पूर्व ज्ञान से दिया जा सकता है। इस प्रकार प्रश्नों द्वारा बालकों को पाठ्य-विषय के निकट ले आते हैं। सबसे अच्छी बात यह है कि बालकों के सहयोग से विषय बड़ी स्वाभाविकता के साथ कक्षा के सामने आ जाता है। विषय को समझने की उत्सुकता बालकों में पैदा हो जाती है। इस प्रकार रोचक भूमिका के द्वारा पाठ की सफलता पहले से ही निश्चित हो जाती है।

इस तैयारी में लगभग सात मिनट लग जाते हैं। इससे अधिक समय भूमिका में लगाना अनुचित है। उद्बोधन का यह पद (Step) संक्षिप्त और स्पष्ट होना चाहिए। इसका अंत उद्देश्य-कथन के साथ होता है।

Presentation

(२) **पाठ-प्रस्थापन—** इसद्वितीय पद में पूरा पाठ बालकों के आगे प्रस्तुत किया जाता है। सबसे अधिक समय—लगभग पचीस या तीस मिनट—इसी में देते हैं। सारी पाठ्य-सामग्री दो या तीन टुकड़ों में बाँट कर, परन्तु क्रम से सम्बद्ध करके प्रस्तुत की जाती है। यथासम्भव इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि बालक के पूर्वानुवर्ती ज्ञान से लाभ उठाया जाय। इस कार्य में प्रश्नों द्वारा सहायता ली जाती है। सहायक उपकरणों का प्रयोग यथास्थान किया जाता है। कुछ प्रसंगों को पढ़ाने में वर्णनात्मक शैली से काम पूरा नहीं होता क्योंकि बालक केवल वर्णनमात्र से वस्तुओं के रूप, रंग और आकार का अंदाजा नहीं कर पाते। ऐसी दशा में रेखा-चित्रों, मानचित्रों, तस्वीरों और मूर्तियों की सहायता से पाठ्य-विषय को सरल बना दिया जाता है। पाठ्य-सामग्री प्रस्तुत करने में स्पष्टता, रुचि, दोहराने तथा जोर देने की कला का समयानुकूल प्रयोग पाठ को रोचक बना देता है। साहित्य तथा इतिहास के पाठों में अधिकतर वर्णन (Narra tion) का सहारा लेना पड़ता है। विज्ञान के पाठों में प्रयोग तथा उदाहरणों की प्रधानता रहती है। कभी-कभी प्रश्नोत्तर-विधि भी बड़ी सहायक सिद्ध होती है, विशेष रूप से उन स्थलों पर जब बालकों का सहयोग, पाठ को समझाने में, प्राप्त करना अभीष्ट हो।

Association

(३) **तुलना और निष्कर्ष** (Comparison & Abstraction)—इस तृतीय पद में बालक ने अभी तक जो भी तथ्य (Facts) एकत्र किये हैं, उनकी तुलना करने पर ज़ोर दिया जाता है। इसका उद्देश्य बहुत्व (Diversity) में एकत्व (Unity) को खोज निकालना

है। इसके द्वारा बालक नियम और सिद्धान्त निर्धारित करना सीखता है। तथ्यों की तुलना करने में अध्यापक बालकों की सहायता कर सकता है परन्तु सारा प्रयत्न बालकों को ही करना पड़ता है। उदाहरणों, प्रयोगों और घटनाओं में समानता और असमानता देखने में अभ्यास कराने का फल यह होता है कि बालक स्वयं परिणाम निकालने लगते हैं। इस पद में, विशेषरूप से छोटे बालकों को बड़ी कठिनाई पड़ती है। साहित्य और इतिहास के पाठों में भी तुलना और निष्कर्ष से काम लिया जा सकता है और ऐसा करना सम्भव भी है परन्तु इस पद का विशेष महत्व, विज्ञान, व्याकरण और गणित के पाठों में है। अतः इस पद को किसी भी पाठ में आवश्यकतानुसार ही स्थान देना चाहिए।

(४) **परिणमन या नियम-निर्धारण** (Generalization)—सारे पाठ का वास्तविक उद्देश्य बालक को परिणाम या नियम खोजने का अभ्यास कराना है। पाठ के अंत में बालक को इस योग्य हो जाना चाहिए कि वह तथ्यों की सहायता से परिणाम निकाल सके। विशेषरूप से विज्ञान के पाठ में यदि पर्यवेक्षण, के बाद तुलना, करके परिणाम निकालने में बालक को सफलता न मिले, तो पाठ को असफल समझना चाहिए। परिणमन के इस पद में अध्यापक को केवल बालक की सहायता करनी चाहिए और सारा भार उसी पर छोड़ देना ठीक है।

(५) **नियम-प्रयोग** (Application)—ठोस ज्ञान वही है जिसे बालक व्यवहार में ला सकता है। व्यवहार इस बात का प्रमाण है कि बालक ने नियम को अच्छी तरह समझ लिया है और उस पर उसका स्थायी अधिकार हो चुका है। इसलिये पाठ के अंतिम पद में नियम का प्रयोग करना बताया जाता है इस पद में भी पाठ की सफलता या असफलता ज्ञात हो जाती है।

उपर्युक्त विवरण द्वारा हरबार्ट की पंचपदी शिक्षण-विधि का साधारण ज्ञान प्राप्त हो सकता है परन्तु यह याद रखना चाहिए कि प्रत्येक पाठ में इन पाँचों पदों का होना जरूरी नहीं है। हरबार्ट ने एक पाठ के शिक्षण को पाँच पदों में इसलिए विभाजित कर दिया है कि अध्यापक को पाठ-नियोजन (Lesson planning) में सहायता मिले। दूसरे, इन पाँच पदों का अनुगमन करने से बालक को पाठ समझाने में पूरी सहायता मिलती है। इन दोनों बातों को हम क्रम से स्पष्ट करेंगे।

पाठ नियोजन **(Lesson planning)** *या अध्यापक की तैयारी*—

कक्षा में आने के पहले, अध्यापक को जो भी पाठ पढ़ाना है, उसकी तैयारी कर लेना आवश्यक है। इस तैयारी के बिना यदि वह पढ़ाता है, तो वह कभी भी बालकों की कठिनाइयों को समझ नहीं पाता और अंत में पाठ सफल नहीं होता। पाठ्य-विषय को पहले घर पर अच्छी तरह स्वयं पढ़ लेना अध्यापक का कर्तव्य है। पाठ को समझने के लिए सहायक सामग्री (Material aid) इकट्ठा करना और पाठ पढ़ाने की योजना तैयार करना—यह अध्यापक का मुख्य कार्य है। कक्षा में पढ़ाई के समय इस पाठ योजना का अनुगमन करना पड़ता है। यह आवश्यक नहीं कि कक्षा में उत्पन्न समस्या या प्रश्न का ध्यान किये बिना योजना का पालन किया जाय। पाठ-योजना से एक लाभ यह भी होता कि अध्यापक बालकों के पूर्वज्ञान से प्रस्तुत पाठ का संबंध स्थापित कराने में सफल होता है। कक्षा में पूछे जाने वाले प्रश्न भी पहले से स्थिर कर लिए जाते हैं और बालकों की रुचि तथा उत्साह तीव्र करने के सम्भव उपाय भी सोच लिए जाते हैं। ट्रेनिंगकालेजों में अध्यापकों को पाठ-नियोजन की विधि इसी उद्देश्य से सिखाई जाती है। 'पंचपदों' का ध्यान, पाठ-नियोजन में किस प्रकार रक्खा जाता है, उसका विवरण, चित्र द्वारा नीचे दिया जाता है:—

पाठ योजना के अंग	पंचपद
१—कक्षा········ समय················	
२—विषय········ पाठ का शीर्षक······	
३—उद्देश्य······	
(अ) साधारण·····················	
(ब) विशेष························	१. उद्बोधन
४—सहायक उपकरण	
५—पूर्वज्ञान का अनुमान	
६—भूमिका	
७—उद्देश्य-कथन	
८—पाठ-प्रस्थापन·····················	२. पाठ-प्रस्थापन
९—पाठ का दोहराना या पुनरावृत्ति······	३. तुलना और निष्कर्ष
१०—श्यामपट-कार्य·····················	४. नियम-निर्धारण
११—गृहकार्य ························	५. प्रयोग

पाठ-योजना का एक उदाहरण

(१) **कक्षा—९** **समय—४० मिनट**

(२) **विषय—**भारतीय इतिहास। **पाठ—**हुमायूँ तथा शेरशाह का युद्ध

(३) **उद्देश्य—**(अ) साधारण (१) मुगल-साम्राज्य की स्थापना के पूर्व भारत में घटित होने वाली घटनाओं का बोध कराना। (२) मानव-संस्कृति के विकास में भारतीय-जनों के योग का विवरण देना। (३) मानव जाति की एकता का आभास कराना। (४) बालकों की कल्पना-शक्ति को प्रेरित करना तथा उनमें त्याग और समाज-सेवा का भाव भरना।

(ब) **विशेष—**(१) हुमायूँ और शेरशाह के मुख्य युद्धों का विवरण देना तथा शेरशाह की सेना-संचालन-योग्यता का आभास

देना। साथ ही भारत के ऐतिहासिक मानचित्र में मुग़ल-सेना का मार्ग और युद्ध-स्थान दिखलाना। (२) बालकों के मन में यह बात जमाना कि बचपन की शिक्षा तथा परिस्थतियों का भावी-जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, जैसे शेरशाह को बचपन की कठिनाइयों ने सुयोग्य सेनानी बना दिया और हुनायूँ को विलासप्रिय तथा आलसी बनाने में उसके सुखी बचपन का हाथ था, जिससे वह पराजित हुआ। (३) हुमायूँ की असफलता के कारणों पर प्रकाश डालना।

(४) **सहायक सामग्री**—उत्तरी भारत, अफगानिस्तान और फारस तक का चित्र जिसमें हुमायूँ के सिंहासन पर बैठने के समय की राजनैतिक स्थिति अंकित हो, जैसे—फारस के शाह का राज्य, मुगल साम्राज्य, शेरशाह तथा बहादुरशाह का राज्य (२) बाबर की आत्मकथा 'बाबरनामा' तथा मिर्ज़ा हैदर नामक तत्कालीन इतिहासकार की पुस्तक से लिये गये कुछ उद्धरण।

(५) **पूर्वज्ञान**—इसके पूर्व विद्यार्थियों ने पढ़ लिया है कि बाबर की मृत्यु के बाद हुमायूँ गद्दी पर बैठा। उसके सामने कई कठिनाइयाँ थीं। एक ओर उसके भाई उसके विराधी थे और दूसरी ओर बहादुरशाह तथा शेरशाह जैसे योग्य शत्रु उसका राज्य हड़प जाने के लिए तैयार थे। हुमायूँ बहादुरशाह को दबाने में सफल हुआ।

(६) **भूमिका**—पिछले दिन हम लोग बाबर की मृत्यु तथा हुमायूँ के सिंहासन पर बैठने की घटना के बारे में पढ़ चुके हैं।

प्रश्न—(१) सिंहासन पर बैठते ही हुमायूँ को किन-किन कठिनाइयो का सामना करना पड़ा ? **संभावित उत्तर**—भाइयों का विरोध और शेरशाह तथा बहादुरशाह की शत्रुता।

(२) उस समय उत्तरी भारत में कौन से मुख्य राज्य थे ? (बालकों से नक्शे में दिखाने के लिए कहो)

(३) बहादुरशाह के साथ युद्ध का क्या परिणाम हुआ? (**संभावित उत्तर**—बहादुरशाह की पराजय)

कथन—बहादुरशाह को अच्छी तरह पराजित करने में जिस समय हुमायूँ व्यस्त था, बिहार में शेरशाह अपनी शक्ति बढ़ाता जा रहा था। हुमायूँ के लिए अब शेरशाह की ओर ध्यान देना आवश्यक हो गया।

(७) **उद्देश्य-कथन**—आज हम हुमायूँ और शेरशाह के युद्धों को विस्तृत रूप से अध्ययन करेंगे और देखेंगे कि कैसे और क्यों हुमायूँ की पराजय हुई।

(८) **पाठ-प्रस्थापन**—

खंड (क) हुमायूँ और शेरशाह के चरित्र पर तुलनात्मक प्रकाश

प्रश्न—(१) बाबर की मृत्यु के संबंध में कौन सी घटना प्रसिद्ध है?

(**उत्तर**—हुमायूँ की बीमारी के समय बाबर की प्रार्थना)

इस घटना से बाबर का अपने पुत्र के प्रति असीम प्रेम प्रगट होता है। बाबर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है:—

उद्धरण—"जब शाहजादा हुमायूँ हमारे पास होता है, तो हमारा दिल गुलाब की कली की तरह खिल उठता है, और हमारी आँखें खुशी से चमक उठती हैं। उसकी बातचीत में मनमोहक शक्ति है। अब वह पूर्ण रूप से एक आदर्श मनुष्य बन चुका है।"

इससे स्पष्ट है कि बाबर के लाड़-प्यार में पड़कर हुमायूँ आलसी और व्यसनी बन गया।

शेरशाह का चरित्र (कथन-विधि द्वारा)—बचपन में पिता और सौतेली माता का विरोध, गृह-त्याग तथा अन्य कष्टों द्वारा

उसमें बीरता- और साहस जैसे गुण आ गये । जागीर का प्रबन्ध उसकी योग्यता तथा महत्वाकांक्षा प्रकट करता है । लोहानी अफगानों का मंत्री रहा । चुनार गढ़ पर अधिकार ।

तुलना—हुमायूँ आलसी, सुस्त और आराम पसंद; शेरशाह चतुर और व्यावहारिक ।

प्रश्न—शेरशाह के समान किस हिंदू-राजकुमार ने भारत में एक विशाल साम्राज्य कायम किया ? (चन्द्रगुप्त मौर्य ने) चन्द्रगुप्त मौर्य तथा शेरशाह के बाल्यकाल की तुलना ।

खंड (ख)—शेरशाह तथा हुमायूँ का युद्ध—

(१) **कथन विधि द्वारा**—हुमायूँ १५३० में गद्दी पर बैठा । दूसरे वर्ष उसने मोहम्मद लोदी को **लखनऊ** (नक्शे में दिखाओ) के पास हराया । शेरशाह ने तुरंत हुमायूँ की आधीनता स्वीकार कर ली । जब हुमायूँ लगभग ५ वर्ष तक गुजरात की लड़ाई में व्यस्त रहा' उसने अपनी शक्ति बढ़ा ली और रोहतासगढ़ पर अधिकार कर लिया ।

(२) **हुमायूँ का आक्रमण**—शेरशाह की बढ़ती हुई शक्ति देखकर हुमायूँ ने आक्रमण किया । शेरशाह ने फौरन **चुनार** खाली कर दिया और परिवार को **रोहतासगढ़** में छिपा दिया । हुमायूँ के मार्ग में, पहाड़ी दर्रे में छिपकर उसने सेना को बड़ी हानि पहुँचाई । जब हुमायूँ उन प्रदेशों पर अधिकार करता हुआ **गौड** पहुँचा; तो उसकी रसद आने के मार्ग को शेरशाह ने बंद कर दिया । इधर हुमायूँ विजय की खुशी में मस्त रहा । उसने अपने भाई हिंदाल को सेना लेने आगरा भेजा परन्तु उसने वहाँ जाकर स्वयं आगरे दिल्ली को अपना राज्य घोषित कर दिया । हुमायूँ की बुरी दशा हुई । इसी समय शेरशाह ने **चौसा** नामक स्थान पर उसे बुरी तरह पराजित किया । यहाँ भी वह सामने से न लड़ा । (नक्शे पर, वर्णन

के समय सारे मुख्य स्थान बालकों को दिखलाओ । सानुबंध की दृष्टि से यहाँ उत्तरी भारत का भूगोल भी प्रसंगवश पढ़ाया जा सकता है)

(३) **कन्नौज का युद्ध**——१५४० में हुमायूँ ने फिर सेना एकत्र करके युद्ध किया । कन्नौज के पास हुमायूँ की सबसे बड़ी हार हुई मिर्ज़ा हैदर ने जो एक प्रसिद्ध इतिहासकार था और युद्ध में हुमायूँ के साथ था, लिखा है—

उद्धरण——"हुमायूँ की सेना लगभग एक लाख थी, किंतु सारे सिपाही हिम्मत हारे हुए और फूट के कारण बेकार थे । युद्ध ठीक से शुरू भी न हुआ था कि समाप्त हो गया । शत्रु की ओर से बाण चले ही थे कि सेना तित-बितर हो गई । एक बंदूक भी न चली और सिपाही भाग चले । बहुत से गंगा में डूबकर मर गये ।"

इस हार से हुमायूँ के पैर उखड़ गये और उसे दिल्ली-आगरा छोड़ कर फारस भाग जाना पड़ा ।

खण्ड (ग) पराजय के कारण——

प्रश्न——हुमायूँ के सामने होकर शेरशाह ने युद्ध क्यों नहीं किया ?
(चालाकी के कारण)

कथन द्वारा——(१) व्यक्तिगत वीरता तथा सेना-संगठन में हुमायूँ अधिक कुशल था, परन्तु शेरशाह चालाक और सैन्य-संचालन में निपुण ।

(२) हुमायूँ का आर्दश भ्रातृप्रेम और भाइयों द्वारा विश्वासघात ।

(३) हुमायूँ की सुस्ती तथा आराम पसंदी ।

(९) पुनरावृत्ति——(प्रश्नों द्वारा)

(१) हुमायूँ को शेरशाह से क्यों लड़ना पड़ा ?
(२) हुमायूँ और शेरशाह के मुख्य युद्धों का वर्णन करो ?
(३) हुमायूँ की पराजय के क्या कारण थे ?

(१०) **श्यामपट कार्य—(लिखित)**

हुमायूँ तथा शेरशाह का चरित्र—हुमायूँ, वीर, आदर्श भाई परन्तु आलसी और व्यसनी था। शेरशाह चतुर और व्यवहारिक था, बचपन के कष्टों को सहकर वह दूरदर्शी हो गया।

युद्ध—चुनार पर हुमायूँ का आक्रमण और गौड़ पर अधिकार। शेर खाँ का रोहतास में छिपकर शक्ति बढ़ाना और रसद के मार्ग बन्द करना। हिंदाल का विश्वासघात तथा आगरे-दिल्ली पर अधिकार। चौसा के पास हुमायूँ की हार। अंतिम हार कन्नौज के पास हुई और फारस भागना पड़ा।

पराजय के कारण—(१) शेरशाह का सैन्य-संचालन। (२) हुमायूँ का भ्रातृप्रेम। (३) हुमायूँ का आलस्य।

(११) **गृह-कार्य प्रश्न**—हुमायूँ और शेरशाह के चरित्र की तुलना करते हुये बताइये कि हुमायूँ की पराजय के क्या कारण थे ?

पाठ-योजना का महत्व—

पाठयोजना की सहायता से अध्यापक को पाठ पढ़ाने में बड़ी सहायता मिलती है। दूसरे, विद्यार्थियों को पाठ के समझने में भी बड़ी सुगमता जान पड़ती है। हरबार्ट ने अपनी शिक्षण-विधि के पंचपदों का निर्माण बालक के मनोवैज्ञानिक विकास के आधार पर किया है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक पाठ की पढ़ाई और मानसिक क्रिया में एक मेल-सा दिखाई देता है। पंचपदों के सामान्तर हरबार्ट ने मानसिक क्रिया के भी चार पद निर्धारित किये हैं। (१) **स्पष्टता** (Clearness) इस पद में पढ़नेवाली सामग्री का प्रत्यक्ष और स्पष्ट ज्ञान बालक को हो जाता है। (२) **संयोग** (Asscciation) इस

मानसिक पद में बालक के नवीन ज्ञान का पूर्व ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित होता है। (३) **व्यवस्था** (System) तृतीय पद में बालक युक्ति और क्रमपूर्वक समस्त ज्ञान को व्यवस्थित कर लेता है। (४) **प्रयोग** (Method) चतुर्थ पद में बालक नवार्जित ज्ञान का व्यवहार करने-योग्य बन जाता है। पंचपद और चतुष्पद की तुलना जिसके आधार पर दोनों का सामानातर सम्बन्ध ज्ञात हो जायगा, नीचे अंकित है:—

सिद्धांत चतुष्पदी	**पंचपदी शिक्षण**
१—स्पष्टता	१—उद्बोधन २—पाठ प्रस्थापन
२—संयोग	३—तुलना तथा निष्कर्ष
३—व्यवस्था	४—परिणमन
४—प्रयोग	५—प्रयोग

साधारण रूप से कक्षागत-शिक्षण में, इसी पंच पदी शिक्षण-विधि का प्रयोग होता है परन्तु प्रत्येक प्रकार के पाठ में इस विधि का प्रयोग सफलतापूर्वक करने में कठिनाई पड़ती है। इस पंचपदी शिक्षण-विधि के पूर्ण विवरण को पढ़ने के बाद ज्ञात हो जायगा कि इसका आधार आगमन (Induction है। इसलिये यह समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि इसकी उपयोगिता वैज्ञानिक विषयों में ही देखी जा सकती है। इन विषयों में बालक तथ्यों और उदाहरणों को पहले देख सकते हैं और उन्हें निरीक्षण करने का मौका भी मिलता है। अतः बाद में वे स्वयं नियम-निर्धारण में सफल हो जाते हैं कुछ विषय ऐसे भी हैं, जिनमें बालक न तो अनुभव कर सकता है और न तथ्यों को पहले देखसकता है, जैसे-धर्म, नैतिकशास्त्र और साहित्य आदि। उदाहण के लिए, सत्य बोलना हितकर है। इस नियम को अगमन-विधि से पढ़ाना बड़ा कठिन है; इस प्रकार

के नियम पहले बता दिये जाते हैं और बाद में अनुभव द्वारा उनकी सच्चाई की जाँच बालक स्वयं कर सकते हैं। (कभी ऐंसे नियमों की तत्काल जाँच करना संभव नहीं है।) अतः ऐसे पाठों के लिए, हरबार्ट ने निगमन (Deduction) के सहारे पढ़ाने की विधि अलग बताई है।

निगमन-प्रधान विधि—

इस विधि के द्वारा पाठ पढ़ाने के चार पद निर्धारित किये गये हैं:—

(१) तथ्य संग्रह (Collection of Data), (२) सिद्धांत-कथन (Principle giving), (३) अनुमान (Inference), (४) पुनः परीक्षण (Verification)

एक उदाहरण द्वारा इस विधि को सरलता से समझा जा सकता है। मान लीजिये अध्यापक को भूगोल के पाठ में 'आस्ट्रेलिया की उपज' पढ़ानी है। यह सम्भव नहीं है कि बालकों को आस्ट्रेलिया ले जाकर अगमन द्वारा पाठ पढ़ाया जाय। इस दशा में निगमन-प्रधान विधि का प्रयोग सारी समस्या को हल कर देगा। पहले अध्यापक बालकों के पूर्वानुवर्ती ज्ञान का पता लगा लेगा। प्रायः बालक उपज के पहले, भूमि और जलवायु के संबंध में पहले पढ़ लेते हैं। इसीलिये विद्यार्थियों को आस्ट्रेलिया की भूमि तथा जल-वायु के सम्बन्ध में जितना भी उन्हें ज्ञान है वह एक बार बालकों के आगे रक्खेगा। यह तथ्य-संग्रह का प्रथम पद है। इसके बाद वह उपज का सिद्धांत बताएगा अर्थात्, अमुक प्रकार की भूमि तथा जलवायु में अमुक प्रकार की उपज होती है। यह दूसरा पद सिद्धांत-कथन का हुआ। यहाँ तक बालक इस सिद्धांत को अच्छी तरह याद कर लेते हैं। तीसरे पद—अनुमान—में बालक उसी सिद्धांत के सहारे अनुमान लगायेंगे कि आस्ट्रेलिया की जलवायु और भूमि के

अनुकूल, वहाँ की उपज क्या होगी। अनुमान सत्य भी हो सकता है और गलत भी, इसलिए अनुमान की सत्यता की जाँच करना बड़ा जरूरी है। इसलिये चौथे पद—पुन: परीक्षण—की व्यवस्था की गई है। इस पद में विद्यार्थी पुस्तकें पढ़ता है और देखता है कि उसका अनुमान कहाँ तक सही है। जैसे भूगोल की पुस्तक पढ़कर बालक देखेगा कि उपज के सम्बन्ध में उसने जो कुछ अनुमान लगाया था, सही है, या गलत।

हरबार्ट की विधि के प्रयोग में सावधानी

(१) हरबार्ट के मतानुसार 'शिक्षण' को इतना अधिक मनोरंजक न बनाना चाहिए कि उसकी गंभीरता ही नष्ट हो जाय[१]। चरित्र-निर्माण का काम साधारण नहीं है। हरबार्ट के इन विचारों और खेल-प्रधान शिक्षण के समर्थकों के विचारों में बड़ा भेद है। वह सरल शिक्षण (Soft Padagogy) के विरुद्ध है। साथ ही वह शिक्षण को एक 'बोझ' बनाना भी अनुचित समझता है। एक स्थल पर वह कहता है—"शिक्षक को भूल कर भी शिक्षण को न तो खेल बना देना चाहिए और न एक भारी काम। पढ़ाई एक गंभीर कार्य है। कक्षा में नम्रता के साथ साथ सख्ती का प्रयोग करना उचित है। पाठ इतना सरल न होना चाहिए कि विद्यार्थी उस पर ध्यान

---

१. "......gaining the child's interest was a serious business to Herbart. It was far more than aiming to amuse or divert the child. With a gentle but steady hand the Herbartian teacher was to steer a course between Scylla of turning instruction into play and the Chrybdis of turning it into drudgery. This is naturally a very difficult passage.......", Brubacher : A History of the Problems of Education, pp. 220-221

ही न दें और न इतना कठिन ही होना चाहिए कि विद्यार्थी ऊब ही जाय ।

(२) पाठन में स्पष्टता, अनुबंध और क्रम का पूरा ध्यान रखना चाहिए, जिसमें विद्यार्थी एकाग्रचित्त होकर पढ़ सकें और जो कुछ भी ज्ञान उन्हें प्राप्त हो, वह व्यवस्थित हो । यदि पाठक में यह गुण मौजूद हैं, तो पाठ सरल हो जाता है ।

(३) यह अनिवार्य नहीं है कि प्रत्येक पाठ में सभी पदों का प्रयोग, आँख बन्द करके किया जाय। आवश्यकतानुसार जो पद अनावश्यक जान पढ़े, उसे छोड़ सकते हैं ।

(४) इस विधि से पढ़ाने का भार 'ट्रेनिंग' प्राप्त अध्यापकों पर छोड़ना चाहिए । वही पाठ-योजना का काम कुशलतापूर्वक कर सकते हैं और पढ़ाने में सफल हो सकते हैं ।

(५) यद्यपि हरबार्ट की विधि अध्यापक-प्रधान है, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि बालकों को कक्षा में तटस्थ भाव से बैठे रहने देना चाहिए । उनका सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है। प्रश्नों द्वारा, समय-समय पर, पाठ-विस्तार में उनकी सहायता लेना उचित है। वे यदि अपनी ओर से कोई प्रश्न करें, तो उसका उत्तर भी अवश्य देना चाहिए । पाठ्य-विषय की आलोचना करने का अवसर उन्हें देना बड़ा आवश्यक है।

(६) इस विधि के प्रत्येक पद में 'प्रश्नों' द्वारा काम लिया जाता है। प्रश्नों को तैयार करना एक विशेष कला है। प्रश्न की भाषा सरल होनी चाहिए। प्रश्न न तो इतना कठिन हो कि कक्षा का कोई भी विद्यार्थी उत्तर न दे सके और न इतना सरल कि सभी उत्तर दे सकें। प्रश्न इस प्रकार का बना हो कि उसका उत्तर एक ही हो और वह उत्तर बालकों से निकलवाया जा सके ।

प्रत्येक प्रश्न, जहाँ तक हो सके सारी कक्षा से पूछना चाहिए, किसी एक लड़के, या तेज लड़के से नहीं। सबसे उत्तम प्रश्न वह है जिसका उत्तर देने में विचार-शक्ति से काम लेना पड़े। (प्रश्नों के सबंध में अधिक विस्तार से जानने के लिए 'प्रश्नोत्तर-विधि' के संबंध में पढ़िए। पृष्ठ ५७-५८)।

(७) इस विधि से पढ़ाई में सफलता प्राप्त करने के लिए अध्यापक को अपने व्यवहार पर बहुत ध्यान देना चाहिए। उसे कक्षा में, जोर से परन्तु रुक-रुककर, बोलना चाहिए, ताकि कक्षा का प्रत्येक विद्यार्थी उसकी बात सुन और समझ सके। श्याम-पट पर लिखते समय कक्षा की ओर पीठ किये हुए कभी भी नहीं बोलना चाहिए। अपने व्यवहार को आकर्षक और सौम्य बनाना उचित है। कक्षा में जाने के पूर्व वस्त्रों को ठीक करना और सफाई का ध्यान रखना, कक्षा की मर्यादा के अनुकूल है। पढ़ते समय भाव-भंगिमा और अभिनय के प्रयोग से शिक्षा में जान आ जाती है। साथ ही व्यर्थ का दिखावा करना भी अनुचित है। हर-एक कार्य में फुर्ती तथा चुस्ती दिखाना प्रभावोत्पादक होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस विधि से पढ़ाने में तभी सफलता मिल सकती है, जब कक्षा में अनुशासन रहे। उक्त ढंग के व्यवहार से विद्यार्थी प्रभावित हो जाते हैं और कक्षा में अनुशासन बना रहता है।

(८) इस विधि से पढ़ाने में अध्यापक को बहुत-कुछ जबानी बताना पड़ता है। इसलिए कक्षा में सरल भाषा का प्रयोग करना चाहिए। वर्णनों को व्याख्यान का रूप देना अनुचित है। आदि से अंत तक व्याख्यान देते रहने से विद्यार्थी ऊब जाते हैं। अरुचि उत्पन्न होने पर उनकी समझ में पाठ आता ही नहीं। अतः पाठ में छोटे-छोटे वर्णनों से काम लेना चाहिए और बीच-बीच में 'प्रश्नों'

की सहायता लेना उचित है। सूक्ष्म विचारों के विश्लेषण में, ठोस उदाहरण देकर पाठ को रुचिकर बनाया जा सकना है।

(९) हरबार्ट की शिक्षण-विधि की सफलता बहुत-कुछ कक्षा के समान बुद्धि-स्तरवाले (Homogenous) विद्यार्थियों पर पर निर्भर है। अध्यापक का पाठ तभी वे अच्छी तरह समझ सकते हैं, जब कक्षा के विद्यार्थी मानसिक शक्तियों में समान हों। इसलिए आधुनिक मनोवैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा ठीक तरह से वर्गीकरण (Classification) कर लेना आवश्यक है।

(१०) हरबार्ट की विधि से पढ़ाने में, पाठ्य-पुस्तकों (Text books) की सहायता लेना आवश्यक है। इसलिए पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव बड़ी सावधानी से करना चाहिए। पुस्तकों के चुनाव में भी बालकों के बौद्धिक-विकास तथा पूर्वानुवर्ती-ज्ञान को आधार मानकर बुद्धिमानी से काम करना चाहिए।

(११) हरबार्ट की विधि में सहायक सामग्री (Material aid) का महत्वपूर्ण स्थान है। पाठ की तैयारी करते समय अध्यापक यथास्थान प्रयोग करनेकेलिए, वस्तुएँ, माडेल, चित्र, रेखा-चित्र आदि संग्रह कर लेता है। प्रसंग आने पर उनकी सहायता से वह पाठ पढ़ाता है। कुछ अध्यापकों को ऐसी सामग्री संग्रह करने की लत पड़ जाती है, और वे बिना जरूरत भी मौका ढूंढ़कर उनका प्रयोग करते हैं। वास्तव में ऐसा करना अनुचित है। असमय में अनुचित स्थान पर बार-बार इनका प्रयोग करने से बालकों का ध्यान मुख्य पाठसे हट जाता है। इन सूक्ष्म वस्तुओं में बालक इस तरह उलझ जाते हैं कि उनकी विचार-शक्ति का अच्छी तरह विकास नहीं हो पाता। सहायक सामग्री के प्रयोग के लिए ठीक नियम यह है कि जहाँ भावों और विचारों को जबानी समझाने में कठिनाई हो, वहाँ चित्र या माडेल की तुरंत सहायता ली जाय। पाठं-

योजना के समय, इनके प्रयोग के संबंध में पहले से निश्चय कर लेना चाहिए।

(१२) श्यामपट के प्रयोग के संबंध में भी कुछ ज्ञातव्य बातें हैं। बहुत से अध्यापक, या तो श्यामपट का प्रयोग ही नहीं करते, या हर समय कुछ न कुछ लिखते रहते हैं। श्यामपट पर पाठ का शीर्षक पहले से लिख रखना चाहिए। पढ़ाते समय कठिन शब्दों को लिखने, रेखा-चित्र बनाने और आवश्यक बातें लिखने, में उसका प्रयोग करना चाहिए। अंत में प्रश्नों द्वारा पाठ को दुहराते हुए संक्षिप्त पाठ को श्यामपट पर लिख देना अत्यंत आवश्यक है। शुद्ध, स्पष्ट तथा सुन्दर अक्षरों में लिखना चाहिए ताकि विद्यार्थी बिना किसी कठिनाई के पाठ को समझ लें।

हरबार्ट की विधि की आलोचना—

गुण—(१) प्रायः सभी शिक्षा-शास्त्रियों ने इस बात को ~~बात को~~ मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि हरबार्ट की कक्षा-शिक्षण विधि सबसे कम खर्चीली है। नवीन शिक्षण-विधियों जैसे, माँटेसरी, किंडरगार्टन, प्रोजेक्ट और डाल्टन आदि, द्वारा बालकों को पढ़ाने में बहुत धन व्यय होता है। भारत जैसे गरीब देश में, जहाँ अभी शिक्षा-प्रसार की समस्या है, यही विधि उपयोगी जान पड़ती है। इस विधि द्वारा, बालकों का सहयोग प्राप्त करते हुए, उनमें उत्सुकता ज़ाग्रत करके, बड़ी सरलता से, थोड़े ससय में, बहुत से विद्यार्थियों को एक साथ एक अध्यापक इतना अधिक ज्ञान दे सकता है कि उतना ज्ञान देने में, दूसरी विधियों का प्रयोग करने में, दुगुना-तिगुना खर्च, समय और श्रम लग जायगा। पुराने ढंग के स्कूलों में, जहाँ घंटों के अनुसार पढ़ाई होती है, यह व्यवस्था आदर्श है।

(२) इस विधि का रूप अत्यन्त वैज्ञानिक हैं। इसलिए इस विधि से पढ़ाने की ट्रेनिंग अध्यापकों को दी जाती है। आज-

कल के ट्रेनिंग-कालेजों में अध्यापकों को इसी विधि से पढ़ाने की दीक्षा जाती है। इसी के कारण ट्रेनिंग का महत्व बढ़ा है और शिक्षा-शास्त्रियों ने स्वीकार किया है कि पढ़ाने के लिए दीक्षा प्राप्त करना जरूरी है । इस विधि के चालू होने से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि शिक्षण को एक कला के रूप में स्वीकार कर लिया गया है और उसे एक सम्मानित व्यवसाय (Learned Profession) का पद मिला है । यद्यपि प्राचीनकाल से ही शिक्षक को सम्मानपूर्ण पद प्राप्त हैं परन्तु आज यह सम्मान अंध-श्रद्धा के कारण उसे नहीं मिलता । हरबार्ट ने शिक्षणको कला का रूप देकर, एक ऐसा आधार बना दिया है कि शिक्षक का स्थान पहले से कहीं अधिक ऊँचा माना जाने लगा है ।

(३) हरबार्ट को इस बात का भी श्रेय मिलना चाहिए कि उसने पहली बार शिक्षण-विधि को 'सीखने के मनोविज्ञान' (Psychology of Learning) के आधार पर खड़ा किया और उसे व्यावहारिक बना दिया । बालक को किस तरह सीखने में सुविधा या असुविधा होती है, इसका विश्लेषण उसने पूर्वानुवर्ती-ज्ञान की उद्भावना द्वारा कर डाला । फिर तदनुरूप, उसने 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' वाले सिद्धांत की रचना करके, उसका प्रयोग अपनी विधि में किया । हो सकता है उसकी यह उद्भावनाय (Concepts) तर्कहींन हों और उन्हें सिद्ध न किया जा सके पर उनकी सहायता से, बालक के सीखने की क्रिया को समझने में सहायता मिलती है ।[1] यह मानना पड़ेगा कि इन्हीं से हरबार्ट की जिस विधि का जन्म हुआ, उससे पढ़ाने में व्यावहारिक रूप से आसानी होती है और उसका परिणाम भी अच्छा ही होता है ।

---

1. Hardie, Charles. D. : Truth and Fallacy in Educational Theory, Chap. on Herbart.

(४) इस विधि द्वारा पढ़ाने में, कक्षा के बालकों में सामाजिक भावना उत्पन्न होती है। बालकों और अध्यापक के सहयोग से पाठ की प्रगति होतीं है। सब लोग मिलजुल कर एक पाठ पढ़ते हैं। बालकों को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करने का अवसर मिलता है। 'चित्रों', माडेलों और वस्तुओं को देखकर उनका ज्ञान बढ़ता है। उनके सामने हर प्रकार का वातावरण—सामाजिक और प्राकृतिक—प्रस्तुत किया जाता है। इनसे वे ज्ञानार्जन करते हैं। प्रश्नोत्तरों द्वारा, विद्यार्थियों की विचार-शक्ति का पूर्ण रूप से विकास हो जाता है।

(५) प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हार्न (Horne) ने इस विधि की प्रशंसा हुए अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Democratic Philosophy of Education में लिखा है कि भाषा, साहित्य और इतिहास तथा अन्य प्रधान विषयों के पढ़ने में यह विधि बेज़ोड़ है। पुराने ढंग के स्कूलों में प्राय: यही विषय प्रधान समझे जाते हैं, इसलिए इस विधि को शिक्षा के क्षेत्र में एकाधिकार प्राप्त है।

(६) आदर्शवादियों ने हरबार्ट की शिक्षण-विधि की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। कारण—इसका उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। **अडोल्फ मेयर** ने कहा है कि बालकों के नैतिक गुणों का विकास जैसा इस विधि के द्वारा होता है, वैसा दूसरे उपायों द्वारा करना संभव नहीं है। इसके द्वारा बालकों की आदतें अच्छी बनती हैं और उससे **स्वस्थ** रुचियाँ उत्पन्न होती हैं।

दोष—(१) हरबार्ट के सिद्धान्तों और शिक्षण-विधि के ढंग को देखकर ऐसा पता चलता है कि उसे बालक की **स्वतंत्र** सत्ता (Free-dom of Will) मान्य नहीं है। उसने बालक को मिट्टी का एक (Lump) मान लिया है। जैसे मिट्टी से चाहे हम 'फल' की मूर्ति या बिल्ली का खिलौना तैयार कर सकते हैं, उसी तरह परिस्थितयों को नियंत्रण में लाकर अध्यापक मनचाहे ढंग से विद्यार्थी का चरित्र-

निर्माण कर सकता है। वास्तव में हरबार्ट का यह विचार सत्य नहीं है। उसने परिस्थिति को आवश्यकता से अधिक महत्व दे दिया है। बालक के मन पर पूरी तरह अधिकार करके किसी भी विषय को कक्षा में पढ़ाना इतना सरल नहीं है जितना हरबार्ट ने तर्क द्वारा समझाया है। बालक की एक स्वतंत्र सत्ता है। इसीलिए अँगरेजी में एक कहावत प्रसिद्ध है—तुम घोड़े को पानी के पास ले जा सकते हो परन्तु उसे पानी नहीं पिला सकते। तात्पर्य यह है कि अध्यापक के हाथ में केवल साधन जुटाने की सुविधा है, पढ़ने की बात तो विद्यार्थी पर निर्भर है। संक्षेप में हरबार्ट की विधि नियंत्रणवादी विद्यार्थी (Deterministic) है। (हरबार्ट की इस आलोचना को पढ़ते समय यह याद रखना चाहिए कि आधुनिक रूसी शिक्षाशास्त्री पूर्णरूप से परिस्थितियों के नियंत्रण पर जोर देते हैं। उनका दावा है कि वे शिक्षा द्वारा बालक को जैसा चाहें बना सकते हैं। इस दृष्टि से हरबार्ट हमारे सामने भविष्यद्रष्टा के रूप में प्रकट होता है।)

(२) इस विधि ने शिक्षण में अध्यापक को प्रधान बना दिया। बालकों को स्वतंत्रता नहीं प्राप्त होती। प्रगतिवादी शिक्षा के अनुसार यह विधि दोषपूण है। बालकों में उत्तरदायित्व, स्वतंत्रता-प्रेम तथा अन्य प्रजातांत्रिक भाव नहीं उदय होते। अध्यापक 'स्वामी' तथा बालक 'दास' के रूप में दिखाई देते हैं। एक के आदेश और आशाएँ दूसरों के लिए बिना हिचक के मान्य होती है। बालकों में आंतरिक अनुशासन नहीं उत्पन्न होता, जिसे उत्पन्न करना इस विधि का मूल उद्देश्य माना जाता है।

(३) कुछ आलोचकों का कहना है कि यह विधि आवश्यकता से अधिक उपदेशात्मक (Didactic) है। बालकों को पुराने सिद्धान्त पढ़ाये और सिखाये जाते हैं और वे बिना समझे-बूझे उन्हें ग्रहण करें

लेते हैं। धार्मिक-प्रचार और इस प्रकार के शिक्षण में कोई अन्तर नहीं। अध्यापक एक व्याख्यानदाता की भाँति भाषण देता रहता है और सब सुनते रहते हैं और उन पर सारी शिक्षा का बोझ अधिकार पूर्वक लाद दिया जाता है।

(४) अडोल्फ मेयर का कथन है कि यह विधि आडंबरपूर्ण है। नियमावली जटिल होने से अध्यापक की स्वतंत्रता भी नष्ट हो जाती है, यद्यपि कहने के लिये, इस विधि में पाठन का सूत्र उसी के हाथ में है। उसे नियमों की हर समय गुलामी करनी पड़ती हैं। ट्रेनिग कालेज का अनुभव बताता है कि वहाँ किस प्रकार झूठे शिष्टा-चार का पालन करना पड़ता है[1]। पाठ-योजना का अभ्यास साधारण रूप से अध्यापक उस समय अवश्य कर लेता है परन्तु आडंबर की अधिकता के कारण कोई भी उसका व्यवहार दैनिक जीवन में नहीं करता। पंचपदी शिक्षण-विधि को सिखाने में केवल लकीर पीटी जाती है और उसका पालन करना "केवल समय और शक्ति की निर्मम हत्या करना मात्र ही है।"

(५) कुछ विषयों को पढ़ाने के लिए हरबार्ट की विधि सर्वथा अनुपयुक्त है, जैसे शिल्पकला या विज्ञान के विषय। हार्न का मत है कि ऐसे विषयों के लिए यह विधि ठीक नहीं। इस विधि से सौंदर्यानुभूति शक्ति बालकों में उत्पन्न नहीं होती। "हरबार्ट ने ज्ञान-वितरण को इतना अनावश्वक महत्व दे डाला है कि बालकों के कोमल मन की वृत्तियों को उकसाने और बढ़ाने के साधनों की उसने कल्पना तक न की। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा के संबंध में उसका संपूर्ण प्रयास केवल दार्शनिक और बौद्धिक रह गया; जिससे उसका व्यावहारिक पक्ष इतना नीरस और अप्रिय हो गया

---

१. सीताराम चतुर्वेदी : शिक्षा प्रणालियाँ तथा उनके प्रवर्तक, पृष्ठ १६१

कि सर्वसाधारण के मानस को प्रभावित और संतुष्ट करने की सामर्थ्य उसमें नहीं रह पायी[१] ।"

(६) मौलिकता की दृष्टि से भी इस विधि को अनोखी बताना अनुचित है। हरबार्ट ने कुछ रूपान्तर के साथ फ्रांसिस बेकन (Bacon) के अगमन-निगमन सिद्धांतों का प्रयोग किया। पंचपदी योजना की ओर ल्वायला (Loyla) ने पहले ही संकेत किया था। हरबार्ट ने प्राचीन तत्वों को केवल व्यवस्थित रूप में व्यवहार करने योग्य बना दिया।

(७) प्रोफेसर ड्यूवी (Dewey) इस विधि के प्रधान आलोचक हैं। उन्होंने इसकी त्रुटियाँ बताते हुए लिखा है कि यह बालकों की स्वाधीनता का अतिक्रमण करती है। उस विधि से पढ़ाने में बालकों का क्या लाभ होगा, जिसके द्वारा उसके सुखद वर्तमान की हत्या भविष्य के लिये की जाती है—वह भविष्य, जो सम्भव है आये भी नहीं। चरित्र-निर्माण के लोभ में बालक के जीवन को अनुशासन के शिकंजे में कसकर नीरस बना दिया जाता है। आजकल शिक्षण में 'क्रिया' (Activity) को मुख्य स्थान दिया जाता है। इस विधि में उसका अभाव एक खटकनेवाली बात है। प्रोफेसर ड्यवी का सबसे गंभीर आरोप यह है कि इस विधि में, 'रुचि' (Interest) को चरित्रनिर्माण का साधन माना गया है। वास्तव में स्वस्थ 'रुचि' पैदा करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। पढ़ाई का मुख्य उद्देश्य ही यह होना चाहिये कि बालक किसी विषय में स्थायी रुचि प्राप्त करके और भी गहरा अध्ययन करने लग जाय[२] ।

---

१. Dewey; John : National Herbart Society, Year Book, Article, "Interest as related to the trainningof will", p. 29.

२. सीताराम चतुर्वेदी : शिक्षा प्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक, पृष्ठ १७०

(८) इस बिधि मैं मौखिक ज्ञान पर ही अधिक जोर दिया गया है। पढ़ाई एक मशीन की तरह बन जाती है। अध्यापक अपनी पाठ-योजना के अनुसार इस प्रकार पढ़ाता रहता है, मानो कोइ ग्रामोफोन बज रहा हो। बालक हर बात केवल रट लेते हैं। इस प्रकार का ज्ञान जीवन में कोई सहायता नहीं कर सकता। समाज में, आज जो एक प्रकार का खोखलापन दिखाई देता है, वह इसी प्रकार की पढ़ाई का परिणाम-मात्र है। इस प्रकार के निष्क्रिय[१] (Inert) ज्ञान से क्या लाभ होगा।

(९) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह विधि दोषपूर्ण है। यह व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धांत के विपरीत है। एक कक्षा में तीस-पैंतीस विद्यार्थी होते हैं। सबका मानसिक, बौद्धिक और भावात्मक स्तर एकसा नहीं होता। उधर अध्यापक का पाठ एक स्तर पर चलता है। कमजोर विद्यार्थी पढ़ाई में पिछड़ जाते हैं, और तेज विद्यार्थियों का कोई लाभ नहीं होता। बालकों की विशेष योग्यताओं के विकास का भी अवसर, कक्षा-शिक्षण में नहीं मिलता। इसलिये उनकी सृजनात्मक शक्ति का ह्रास होने लगता है।

(१०) हरबार्ट की शिक्षण-विधि को जिस मनोवैज्ञानिक सिद्धांत पर आधृत बताया जाता है,वह पूर्णरूपेण निर्भरशील नहीं जान पड़ती। बालक के मानसिक जगत् को नितान्त शून्य समझना अनुचित है और उसके संस्कारों की उपेक्षा करना एक सत्य से मुंह मोड़ना है।

आधुनिक कक्षा-शिक्षण-विधि

हरबार्ट ने कक्षा-शिक्षण-विधि की एक स्वस्थ वैज्ञानिक परंपरा कायम कर दी। उसके बाद से सभी देशों में, मूलरूप में या कुछ रूपान्तर के साथ इस विधि का प्रयोग होता रहा है। आम-

१. Whitehead : Aims of Education.

तौर से कक्षा-शिक्षण में चार विधियों का मिला-जुला रूप व्यवहार में लाया जाता है, यथा (१) हरबार्ट की विधि, (२) कथन-विधि, (३) भाषण-विधि, और (४) व्याख्या-विधि। अतः आधुनिक कक्षा-शिक्षण का क्या रूप है, इसका अनुमान पाठक स्वयं कर सकते हैं।

प्रगतिशील शिक्षा के अन्तर्गत कक्षा-शिक्षण के विरुद्ध एक भीषण प्रतिक्रिया आरंभ हो गई है और ऐसा जान पड़ता है कि इसका लोप हो जायगा। कक्षा-शिक्षण में कोई दोष हैं, यथा— (१) कक्षा में प्रत्येक बालक की ओर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देना संभव नहीं है। व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धान्तों के विपरीत होने के कारण, कक्षा-शिक्षण यंत्रवत् बन जाता है। (२) कक्षा-शिक्षण एक 'औसत बालक' (Average child) की कल्पना के आधार पर चलता है और इस 'औसत 'बालक' का कोई अस्तित्व नहीं होता। (३) कमजोर बालकों को इससे कोई लाभ नहीं होता और उन्हें निरंतर चिंताग्रस्त रहना पड़ता है। (४) उच्च मानसिक स्तर के बालकों का कोई लाभ नहीं होता और उनकी प्रगति अवरुद्ध रहती हैं। इस प्रकार कक्षा-शिक्षण में शक्ति और समय का भारी अपव्यय होता है[१]। इसलिए प्रगतिशील शिक्षा-शास्त्री उसकी ओर से उदासीन जान पड़ते हैं। कक्षा-शिक्षण के समर्थक भी कक्षा-शिक्षण को अधिक उपयोगी बनाने के लिए 'कक्षा' के विद्यार्थियों की संख्या कम रखने पर ज़ोर देते हैं, ताकि विद्यार्थी एक अध्यापक के शिक्षण से अधिकाधिक लाभ उठा सकें। संयुक्त राज्य अमेरिका में, एक बार फिर से कक्षा-शिक्षण की जनप्रियता बढ़ती जा रही है। वहाँ के शिक्षा-शास्त्रियों ने प्रायोगिक तौर से इस विधि की उपयोगिता सिद्ध कर दी है।

---

१. Bagley. W. C, : Classroom Management, Chap. XIV. p. 214 and Bray : School Organisation, p. 163.

सर्वप्रथम शिकागो में, पाठशाला-भवन की कमी तथा आर्थिक संकट के कारण इस बात की जाँच करने की आवश्यकता पड़ी कि यदि कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ा दी जाय तो, शिक्षण-कौशल पर क्या प्रभाव पड़ेगा। सन् १९२४ में यह प्रयोग किया गया और यह पता चला कि कक्षा-शिक्षण से लाभ होता है, क्योंकि विद्यार्थियों के पारस्परिक-सहयोग और प्रतियोगिता से पढ़ने में प्रेरणा मिलती है। दुवारा, फिलाडेलफ़िया में कार्नमैन (Cornman) नामक विद्वान ने कुछ प्रयोग किये। उसने तीन प्रकार की कक्षाएँ बनाई; बड़ी, मध्यम और छोटी कक्षाएँ। उसने निर्णय के तीन आधार माने। कक्षा वही श्रेष्ठ मानी जायगी, जिसमें उत्तीर्ण विद्यार्थियों की संख्या अधिक हो- पढ़ाई का काम ज्यादा हो, और अनुशासन ठीक रहे। खोज के उपरांत पता लगा कि चालीस से पचास तक के विद्यार्थियों की कक्षा में पढ़ाई आदर्श ढंग से होती और परिणाम भी अच्छा होता है। एक अन्य विद्वान ब्वाईज़ (Boyes) की खोजों ने भी यही सिद्ध किया कि तीस से लेकर पचास तक की संख्यावाली कक्षाओं में परीक्षाफल, ८० से लेकर ८५ प्रतिशत तक, निकलता है। इसी तरह मिशीगन में बहुत बड़े पैमाने पर की गई खोजों द्वारा भी, कक्षा-शिक्षण की उपयोगिता सिद्ध हुई है।

शिक्षा-व्यवस्था की दृष्टि से भी, कक्षा-शिक्षण को काफी महत्व-पूर्ण समझा जाता है। इसके द्वारा, वर्ष भर सामान बुद्धिस्तर वाले बालकों को एक साथ पढ़ाने के बाद, परीक्षा ली जाती है और उनकी प्रगति की नाप आसानी से हो जाती है। यदि व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक बालक को पढ़ाया जाय, और सबकी परीक्षा अलग-अलग समय पर ली जाय तो स्कूल की व्यवस्था में भारी गड़बड़ हो सकती है। कक्षा शिक्षण-विधि अपेक्षाकृत सबसे अधिक सस्ती है। इसलिए ही अनेक आपत्तियों के बावजूद, इसका प्रयोग अनिवार्य सिद्ध हो रहाहै[1]।

---

१. Bagley, W. C.: Classroom Management, P. 214

कक्षा में पढ़ने से बालकों की स्वावलम्बन शक्ति बढ़ती है; कुछ सहायता अध्यापक से मिलती है और कुछ वह अपने आप काम करता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कक्षा-शिक्षण में, सहानुभूति, सहयोग और प्रतियोगिता द्वारा बालकों के व्यक्तित्व का विकास तो होता ही है, साथ ही बहुत से अनुशासन-सम्बन्धी दोषों और बुरी आदतों का भी सुधार होता है। पिछड़े हुए, मानसिक दोषवाले और किसी अन्य समस्या में ग्रस्त बालकों को भी उनकी अलग-अलग कक्षायें बनाकर पढ़ाने में लाभ होता है। आज का युग व्यक्तिवाद का नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिक तैयार करना है, जो समाज के कल्याण और हित की भावना से प्रेरित होकर काम कर सकें। कक्षा-शिक्षण में एक ऐसा वातावरण बन जाता है, जिसमें बालकों में ऐसी सामाजिक भावना उत्पन्न हो जाती है कि वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को सर्वोपरि नहीं समझते। कक्षा में तीन प्रकार के संबंध बनते हैं। अध्यापक और विद्यार्थी का, विद्यार्थी और कक्षा का तथा विद्यार्थी और समस्त स्कूल-समाज का बड़ा ही अनुकूल संबंध बनता है[१]। इस प्रकार सामाजिक मनोविज्ञान ने कक्षा-शिक्षण को नया आधार दिया है। ऐडम्स[२] का विचार है कि कक्षा-शिक्षण में कमजोर और कुशाग्र बुद्धिवाले बालकों के लाभ न पाने का आरोप निराधार है। यदि अध्यापक कुशल है, तो वह प्रत्येक बात को कई बार विभिन्न तरीके से कहता है। कमज़ोर बालक भी, अन्त में उसे समझ लेता है और कुशाग्रबुद्धि बालक को वह बात अच्छी तरह याद हो जाती है। यह आशा की जाती है कि कक्षा-शिक्षण-विधि उत्तरोत्तर उन्नति

---

१. Bray : School Organisation, P. 162

२. Adams : Modern Developments in Educational Practice P. 144-145

करती जायगी और प्रगतिशील आन्दोलन के धक्के को सहन करके, अपने गौरव को स्थिर रख सकेगी। किसी न किसी रूप में नवीन शिक्षण,विधियाँ कक्षा-शिक्षण की परंपरा को बनाए रक्खे हैं। डाल्टन, प्रोजेक्ट, तथा अन्य विधियों में, कभी-कभी यह आवश्यक हो जाता है कि विद्यार्थी एक साथ एकत्रित होकर कक्षा में अध्यापक से पढ़ें। बटेवियाँ प्रणाली में कक्षा-शिक्षण तथा व्यक्तिगत शिक्षण दोनों का समन्वय किया गया है। बैंगले और ब्रे दोनों विद्वानों का मत है कि इन दोनों विधियों के सम्मिलित प्रयोग से ही अच्छे परिणाम निकल सकते हैं। यह स्पष्ट है कि कक्षा-शिक्षण को समूल नष्ट करना असम्भव है। इस संबंध में सर जॉन ऐडम्स का मत है:—

"हमें कक्षा-शिक्षण के लुप्त होने का कोई खतरा नहीं दिखाई देता। यह अत्यंत स्वस्थ, तथा शक्तिशाली परंपरा है; इसकी नींव आर्थिक सिद्धांतों पर पड़ी है। संसार इसे छोड़ नहीं सकता[१]।"

ऐडम्स का विचार है कि कुछ पाठ्य-विषयों के पढ़ाने में सामूहिक शिक्षण कहीं अधिक उपयोगी है। उदाहरण के लिए साहित्य-चर्चा, धर्म, कला, और कभी-कभी इतिहास और भूगोल आदि के पढ़ाने में कक्षा-शिक्षण अधिक लाभप्रद सिद्ध होगा। इसमें संदेह नहीं कि जब नवीन वैज्ञानिक सहायक-उपकरणों, यथा चित्रपट, रेडियों (श्रवण-नेत्रोपकरण) आदि, का प्रयोग होने लगेगा तो कक्षा शिक्षण अत्यंत उपयोगी बन जायगा।

कक्षा-शिक्षण को उपयोगी बनाने के उपाय —

(१) कक्षा-शिक्षण और व्याख्यान में अंतर है। व्याख्यान देते समय वक्ता एक भारी भीड़ के सामने अपने विचार प्रकट करता है और उस समय उसका उद्देश्य यही होता है कि जो कुछ भी वह कहे रोचक

---

१. Adams Sir. J. : Modern Developments in Educational Practice, Chap. VI, P. 137.

ढंग से कहे। जिस समय अध्यापक कक्षा में पढ़ाता है, उस समय उसका यह भाव नहीं रहता। उसे दो बातों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है,—(क) हर एक विद्यार्थी उसकी बात को ध्यान से सुन रहा है या नही और (ख) हर एक विद्यार्थी उससे लाभ उठा रहा है या नहीं[1]।

(२) एक ओर अध्यापक अपने अध्यायन कार्य को कलात्मक ढंग से पूरा करता है (जिसका वर्णन विस्तार से हरबार्ट की पंचपदी विधि के अन्तर्गत किया जा चुका है।) दूसरी ओर वह यह भी देखता रहता है कि विद्यार्थियों की मानसिक शक्तियाँ प्रस्फुटित हो रही हैं या नहीं उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि जो कुछ वह पढ़ाता है विद्यार्थी भली भाँति समझ जाँय! एक विद्यार्थी खाली घड़ा नहीं है, जिसमें चाहे जितना पानी आप भर दें। कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी को उसकी क्षमता के अनुसार सहायता मिलनी चाहिए। अतः अध्यापक को धीमी परन्तु कुशल गति से कार्य करना उचित है। मंद-बुद्धिवाले को विषय स्पष्ट हो जाय, काहिलों और रुचि न लेने वालों को प्रोत्साहन मिले उद्दंड बालकों को दबा दिया जाय, और अध्यापक का शक्ति-स्रोत हर एक की पिपासा शांत करता चले[2]।

(३) कक्षा-शिक्षण की सफलता, कक्षा में बालकों की संख्या पर निर्भर है। यह संख्या कई आधारों पर निश्चित करना चाहिए, यथा (क) अध्यापक की योग्यता और शक्ति के अनुसार, (ख) कक्षा में बालकों के समान-बुद्धिस्तर के अनुसार, (ग) कमरे की लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार, (घ) पाठ्य-विषय के अनुसार, (ङ) विद्यालय की व्यवस्था के अनुसार और (च) शिक्षा के कानून के अनुसार। अध्यापक को आवश्यकतानुसार कक्षा की संख्या निर्धारित करनी चाहिए[२]।

---

१. Bagley. W. C. : The Classroom Management, P. 188-189.

२, २, Bray : School Organisation. P. 62-66.

(४) कक्षा को सुसंघटित बनाये रखने के लिए, प्रवेश (Admission) और दर्जा देने पर कड़ा नियंत्रण रहना चाहिए।

(५) कक्षा-शिक्षण में पाठ्य-पुस्तकों का महत्व, अध्यापक से कम नहीं है। उनकी सहायता से अनेक बालक एक साथ एक ही प्रकार का काम कर सकते हैं। विद्यार्थियों से स्वावलम्बन का भाव उत्पन्न होता है और स्वयं अध्यापक को भी पढ़ाने में सहायता मिलती है।

कक्षा में पुस्तकों के पढ़ाने में कई बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। पाठ्य-पुस्तकों के वे अंश जो कठिन होते हैं और जिन्हें पढ़ने में बालकों को कोई रुचि नहीं होती, इन्हें अध्यापक को अवश्य स्पष्ट कर देना चाहिए। पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट करना तो अत्यंत आवश्यक है। कुछ ऐसे अंश हो सकते हैं जिन्हें छुड़वा देने में कोई हर्ज नहीं है। जहाँ कोई विचार स्पष्ट न हों, वहाँ तुरंत सहायता करनी चाहिए। पाठ्य-पुस्तक को कई भागों में विभक्त कर सकते हैं, यथा वे अंश जिन्हें कक्षा में पढ़ाया जाता है, वे जिन्हें स्मरण कराया जाता है और वे जिनका सारांश दे दिया जाता है या जिन पर प्रश्न दे दिये जाते हैं। गृह-कार्य के लिये जो प्रश्न आदि दिये जाते हैं, उनके संबंध में यह भी याद रखना चाहिए कि बालकों को स्वयं काम करने का अभ्यास हो जाय, ऐसा प्रयत्न हो। पाठ्य-पुस्तकों के प्रति विद्यार्थियों में रुचि उत्पन्न करने के नवीन पाठों का संबंध पूर्व-ज्ञान से अवश्य जोड़ना चाहिए।

(६) कक्षा-शिक्षण में बालकों की उत्सुकता और जिज्ञासा की प्रवृत्तियों को जागरित करने का प्रयत्न करते रहना आवश्यक है।

(७) कक्षा-शिक्षण की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि विद्यार्थियों में स्वतः अध्ययन करने की शक्ति पैदा हो जाय। इस बात पर शिक्षार्थियों ने बहुत अधिक जोर दिया है।

अध्यापक को बड़ी चतुराई से प्रश्न बना कर देने चाहिऐ। इनकी सहायता से बालकों की विचार-शक्ति जाग्रत होती है और बालक का मन अध्ययन करने में लग जाता है। अध्ययन करते समय, बालकों को लिखने की ओर उनका ध्यान नहीं देना चाहिए, जितना कि एकाग्रचित्त होकर विषय को समझने की ओर देना उचित है। बालकों को कंठाग्र कराने का अभ्यास कराना भी उचित है। कंठाग्र कराने में प्रश्नों की सहायया ली जा सकती है, या उनसे एक अंश जबानी सुनकर याद कराया जा सकता है। कभी-कभी बालकों को पढ़ा हुआ अंश क्रमबद्ध रूप से लिखने के लिए कहा जा सकता है[१]।

(८) कक्षा-शिक्षण की क्षमता बढ़ाने के लिए कक्षा को उपवर्गों में बाँटा जा सकता है। मैकमन[२] (Mac Munn) ने इस उपाय को प्रयोग में लाने का सुझाव दिया है। अध्यापक अपनी सुविधानुसार, बालकों की योग्यता के आधार पर कक्षा को कई उपवर्गों में बाँट दे और आवश्यकतानुसार उनकी सहायता करे।

(९) कक्षा-शिक्षण में अनुशासन का महत्व कुछ कम नहीं है। यदि विद्यार्थियों को पाठ में रुचि है, वे पाठ समझते हैं, तो अनुशासन-भंग की समस्या उत्पन्न ही नहीं होती परन्तु यह संभव नहीं है कि सभी विद्यार्थी एक स्वभाव के हों। प्रत्येक कक्षा में दो

---

१. Bagley. W. C, : The Classrom Management—Chapter on "The Technique of Class Instruction" pages 188-213.

२. Mac Munn : The Child's Path to Freedom.
Adams, John : Modern Developments in Class Educational Practice—Chap. cn "The Knell of Teaching"

चार विद्यार्थी अवश्य ऐसे होते हैं, जो शिक्षण से स्वयं लाभ नहीं उठाते और अपने पास के अन्य विद्यार्थियों के कार्य में हस्तक्षेप करते है। अध्यापन के समय तनिक भी अव्यवस्था उत्पन्न होने पर अध्यापक का मानसिक संतुलन नष्ट हो जाता है और विद्यार्थियों का ध्यान भंग हो जाता है। पाठ जिस गति से चलता है, उसमें अवरोध उत्पन्न होता है। अतः यह आवश्यक है कि अनुशासन की समस्या कक्षा-शिक्षण में उत्पन्न न होने पाये।

—:०:—

(४)

प्रगतिशील शिक्षण-विधियाँ

प्रगतिशील आन्दोलन का प्रारम्भ रूसो के क्राँतिकारी विचारों द्वारा प्रारंभ होता है। रूसो के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों और उसकी पुस्तक इमील (Emile) के विषय में कुछ अधिक विस्तार से हम प्रारम्भ में लिख चुके हैं। उसका मूल सिद्धांत है--शिक्षा का केन्द्र बालक है। बालक का महत्व बढ़ जाने से शिक्षा में मनोविज्ञान का महत्व बढ़ गया। पेस्तालाजी, हरबार्ट और फ्रोबेल ने प्रत्येक बालक को उसकी रुचि, बुद्धि और योग्यता के अनुसार पढ़ाने पर ज़ोर दिया। साथ ही साथ बालकों को सामाजिक कार्यों में उत्तरदायित्वपूर्ण भाग लेने के योग्य बनाने पर भी जोर दिया जाने लगा। प्रगतिशील शिक्षा का एक पहलू सामाजिकता है। इस पहलू को सामने लाने वाले अमरीकी शिक्षा-शास्त्री जॉन ड्यूवी हैं। इस प्रकार, बालक का व्यक्तिगत विकास और बालकों में सामाजिकता की अभिवृद्धि-- यह प्रगतिशील शिक्षा के दो मुख्य पहलू हैं।

उक्त पहलुओं पर ध्यान रखकर शिक्षाशास्त्रियों ने, सर्वप्रथम प्राचीन समूह शिक्षण-विधियों--जैसे कथन-विधि, भाषण-विधि और प्रश्नोत्तर-विधि आदि से असंतोष प्रकट किया और पढ़ाने के लिए नयी विधियों के आविष्कार का प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। उस प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप अनेक शिक्षण-विधियों का जन्म हुआ जिनका वर्णन हम यथाप्रसंग करेंगे। इस समय केवल हम यह बतायेंगे कि प्रगतिवादी शिक्षा के आन्दोलन से जितनी शिक्षण-विधियों का जन्म हुआ उनकी मुख्य विशेषतायें क्या हैं।

(क) सारी शिक्षा का केन्द्र-बिंदु बालक है——

प्रगतिशील शिक्षण विधियों में बालक का मुख्य ध्यान रक्खा जाता है। स्कूल की एक-एक चीज, शिक्षक, इमारत, फर्नीचर, पुस्तकें, खेल सभी बालक के शारीरिक, मानसिक और भाव-विकास को ध्यान में रखकर तैयार की जाती हैं। बालक के सर्वांगीण विकास का ध्यान रक्खा जाता है। विकास की इस प्रक्रिया को अधिक दिनों तक चालू रखने में लाभ है। इसीलिये पढ़ाने में जल्दबाजी नहीं की जाती। बालक उतना ही सीखता है जितना वह आसानी से पचा सकता है।

(ख) निजी प्रयत्न द्वारा सीखना——

प्राचीन शिक्षण-विधियाँ बालक को सिखाने पर जोर देती हैं। प्रगतिशील-शिक्षण-विधियाँ बालक को स्वयं सीखने देती हैं। बालक अपने निजी प्रयत्न द्वारा सीखता है। वह स्वयं ज्ञान की खोज करता है; ज्ञान का बोझ ऊपरसे उस पर लादा नहीं जाता।

(ग) बालक को जीवन का अनुभव करने का अवसर——

प्रगतिशील शिक्षा के अनुसार बालक को जीवन की वास्तविकता का अनुभव कराया जाता है। स्कूल और जीवन दो अलग चीजें नहीं मानी जाती हैं। बालकों की किताबी कीड़ा नहीं बनाया जाता। वे उन सारी समस्याओं का परिचय प्राप्त करते हैं जो देश और समाज के सामने हैं।

(घ) पुस्तकों पर जोर नहीं देते——

नयी शिक्षण-विधियाँ पुस्तकों का अधिक महत्व नहीं देतीं। पुस्तकें तो केवल साधन मात्र हैं। पुस्तकें केवल लिखित अनुभव हैं। अनुभव करने का जब बालकों को अवसर दिया जाता है तो पुस्तकें इतनी जरूरी नहीं रह जातीं।

(ङ) बालकों की स्वतंत्रता——

बालक का महत्व बढ़ जाने से, बालक की स्वतंत्रता को स्वीकार करना आवश्यक हो गया। पुस्तकों का, अनुशासन का और समय-चक्र

(Time-table) आदि के बंधन नष्ट कर दिये गये। बालकों को पढ़नें में इस बात की पूरी छूट है कि वे जब चाहें और जो चाहें पढ़ें। स्वतंत्र बालकों की हैसियत से वे उत्तरदायित्व पूर्ण ढ़ंग से स्कूल की व्यवस्था तक अपने आप कर लेते हैं।

(च) क्रिया (Activity) और खेल—

पुरानी शिक्षण-विधियों से पढ़ाते समय बालक श्रोतागणों की भाँति निश्चल भाव से बैठे रहते हैं। प्रगतिशील शिक्षण-विधियाँ बालकों के उन्मुक्त जीवन की समर्थक हैं। बालक आपस में खूब मिल-जुलकर काम करते हैं, बातें करते हैं, खेलते हैं। स्कूल में श्मशान के नही, वरन् जीवन के दर्शन होते हैं।

(छ) बालकों में सामाजिकता—

आधुनिक-युग प्रजातंत्र का है। सहयोग, कर्तव्यपालन, उत्तर दायित्व, मैत्री जैसे सामाजिक गुणों की बालकों में अभिवृद्धि करके एक स्वस्थ समाज का निर्माण किया जा सकता है। अतः नवीन शिक्षण-विधियों द्वारा बालकों में यह गुण पैदा किये जाते हैं। स्कूलों में बालक बैंक, पोस्टआफिस, मासिक-पत्रिका और समितियाँ चलाते हैं और समाज के लिए उपयोगी नागरिक सिद्ध होते हैं। उन्हें आपस में परामर्श करने और एक-दूसरे से मिलजुल करके काम करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। संगठन उत्पन्न करने के लिये व्यक्तिगत प्रतियोगिता (Competition) को जड़से उड़ा दिया जाता है। पारितोषिक और प्रमाणपत्रों द्वारा व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने की भावना पुष्ट होती है। इसी से प्रतियोगिता, ईर्ष्या और द्वेष के अवगुण पैदा हो जाते हैं। सामाजिकता के लिये यह हानिकारक है। इसलिए इनको शिक्षण-विधियों में कोई स्थान नहीं दिया जाता।

(ज) शिक्षक सहयोगी और सहायक के रूप में—

गतिशील शिक्षण में अध्यापक और विद्यार्थी का समान उत्तरदायित्व रहता है। विद्यार्थी अपनी शक्ति भर सीखने का उद्योग करता है और

शिक्षक सहारा देता है, सहायता करता है, पथ-प्रदर्शन करता है। बालकों को पढ़ने के लिये वह यथासम्भव सारे साधन जुटा देता है, बालक स्वयं पढ़ते हैं, परन्तु जहाँ वे अटक जाते हैं वहीं अध्यापक उनकी कठिनाइयों को हल कर देता है।

(झ) हाथ के काम का महत्व—

प्राचीन शिक्षा में मानसिक कार्य की प्रधानता थी। हाथ का काम नीची दृष्टि से देखा जाता था। प्रगतिशील शिक्षण में हाथ के काम को उचित स्थान दिया गया है। दस्तकारी, चित्र लेखन (Drawing), धुलाई, सफाई, यहाँ तक कि मिट्टी का काम जैसे बागबानी आदि का प्रबन्ध किया जाता है।

कुछ दोष—

(१) प्रगतिशील आन्दोलन का शिक्षण विधियों पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है। हरमैन एच० हार्न का कथन है कि शिक्षा में प्रगतिवाद के कारण शिक्षण-विधि में बड़ी उन्नति हुई है। बालक जो कुछ सीखते हैं, किसी न किसी उद्देश्य से सीखते हैं और उन्हें स्कूल में ही जीवनकी झलक मिल जाती है। आज के स्कूल प्रयोगात्मक विज्ञानशाला तथा वर्कशाप की तरह हैं और उनमें प्रतिक्षण नये-नये प्रयोग हर समय होते रहते हैं। प्रगतिवादी शिक्षा के समर्थकनवीन शिक्षण-विधियोंकी प्रशंसा करते नहीं अघाते, परन्तु परम्परावादी शिक्षाशास्त्री इन विधियों के घोर विरोधी रहे हैं। उनकी आलोचना का मुख्य आधार यह है कि इन विधियों से पढ़ाई करने पर बालक को स्कूल में, जिस जीवन का अनुभव होता है, वह ठीक वही है जो हमें बाहरी दुनियामें देखने को मिलता है। क्यायह जीवन पूर्ण है ? क्या इसमें कोई दोष नहीं ? वास्तव में यह सांसारिक जीवन अपूर्ण और दोषपूर्ण है। शिक्षा का उद्देश्य तो जीवन को अधिक से अधिक सुसंस्कृत बनाना है। इसके विपरीत नवीन शिक्षण द्वारा केवल उस जीवन का अनुभव होता है जो अपूर्ण है। शिक्षण में नग्न यथार्थ-वाद के समावेश से समाज की अपार क्षति होगी।

(२) कुछ आलोचकों ने कहा है कि पाठ्य-विषयों का चुनाव भी, इन विधियों में नहीं किया जाता। बालकों की रुचि पर निर्भर रह कर, पढ़ाई कराना ठीक नहीं जँचता। बाल्काल में रुचियाँ परिष्कृत नहीं होती हैं। वास्तव में शिक्षा का उद्देश्य तो रुचि-निर्माण ही है; कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान में अभिरुचि उत्पन्न करना शिक्षा का उद्देश्य है। प्रारम्भ में बालक इन सबसे अनभिज्ञ रहते रहते हैं। यदि नवीन विधियों से पढ़ाई जारी रहे, तो बालक की खेल-कूद तक ही दृष्टि सीमित रह जाती है। आज मानव संस्कृति कितनी जटिल हो गई है—इसका आभास तक बालकों को नहीं हो पाता। गणित, तर्क, भाषा जैसे विषयों की पढ़ाई इन विधियों द्वारा सफलतापूर्वक नहीं हो पाती। वर्तमान बालकों की अयोग्यता चिंता का विषय है। शिक्षण का स्तर निरंतर गिरता जा रहा है। डा० बटलर का कहना है कि बालकों को एक शब्द भी ठीक से लिख नहीं आता।

(३) विद्वान शिक्षा-शास्त्री बैगले (Bagley) का विचार है कि इन विधियों से पढ़ाई के परिणामों पर यदि विचार किया जाय तो मन को बड़ा असंतोष होता है। बालकों में उच्छृंखलता और अनुशासन-विहीनता जैसे दुर्गुण पैदा हो जाते हैं। अध्यापक पर से बालकों की श्रद्धा और विश्वास उठ जाता है। सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक व्यवस्थायें बालकों को पसंद नहीं आतीं। इससे प्रत्येक क्षेत्र में अव्यवस्था फैलने का भय है। निकोलस मरे बटलर (Nicholas Murray Butler) ने कहा है कि वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथविचारों में भी वर्तमान युग में बड़ी उन्नति हुई है। वर्तमान शिक्षण-विधियों में वैज्ञानिक तत्व अधिक हैं; विचारात्मक-प्रगति का तनिक भी, अनुमान बालकों को नहीं होता। फलतः जिन्हें हम प्रगतिशील शिक्षण-विधि कहते हैं; वास्तव में वे पिछड़ी हुई शिक्षण-विधियाँ हैं। इन विधियों से पढ़ाई का परिणाम यह हो रहा है कि मानव-समाज उदर पोषण को ही ध्येय समझने लगा है। गाय-भैंस की तरह पेट भर लेना ही क्या जीवन का उद्देश्य है?

इन आलोचनाओं का परिणाम यह हुआ है कि शिक्षण-विधियों की प्रगति को गहरा धक्का इन दिनों लगा है। प्रयोग करने वाले कुछ सहम गये हैं। सबका ध्यान नवीन विधियों में अधिक से अधिक सुधार करने की ओर जा रहा है। अब हम अगले अध्यायों में प्रगतिशील शिक्षण-विधियों का विस्तार से वर्णन करेंगे।

—:o:—

(५)

वस्तु-पाठ-विधि
(Object Lesson)

हरबार्ट का गुरू पेस्तालाजी प्रथम व्यक्ति था, जिसने प्रगतिशील शिक्षा के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की। यद्यपि वह अपने शिष्य की भाँति अपने उद्देश्य में पूरी तरह सफल न हो सका, फिर यह मानना ही पड़ेगा कि उसने ही कोमेनियस और लाके के इस शैक्षिक सिद्धान्त को कि ज्ञानेंद्रियों की सहायता से ही बालक को ठोस ज्ञान प्राप्त कराया जा सकता है, अपनी विधि द्वारा प्रयोग में लाकर दिखाया। उसकी विधि वस्तुपाठ-विधि के नाम से विख्यात है। उसके सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:—

शिक्षण-सिद्धान्त—

(१) **ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शिक्षा**—पेस्तालाज़ी का विचार था कि बालक का अनुभव जितना हो विस्तृत और व्यापक होगा, उतना ही उसका ज्ञान भी ठोस होगा। इसलिए उसने स्थूल वस्तुओं की सहायता से बालकों को शिक्षा देना आरंभ किया। बालक प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करता और उसके गुण-दोषों को परखता है। इससे उसे उस वस्तु का पूरा ज्ञान हो जाना स्वाभाविक है।

(२) **'स्थूल से सूक्ष्म की ओर'** (From Concrete to Abstract)—शिक्षण के क्षेत्र में यह सूत्र आज भी उतना ही जनप्रिय है जितना पेस्तालाजी को स्वयं प्रिय था। उसकी विधि का मूलाधार

यही है। प्रारंभ में मनुष्य वस्तुओं को देख कर पहचानता था और उनका ज्ञान प्राप्त करता था। जब भाषा का आविष्कार हुआ, तो 'वस्तुओं' का स्थान शब्दों ने ले लिया। उसके फलस्वरूप शिक्षा में भी वस्तुओं के स्थान पर 'शब्दों' से काम लिया जाने लगा। जब किसी वस्तु का बोध कराना होता था, तो बालक को केवल उस वस्तु की संज्ञा, विशेषता या उपयोग के आधार पर उसका ज्ञान कराने की प्रथा चल पड़ी। मूल वस्तु की ओर कोई भी ध्यान न देता था। उसका परिणाम यह हुआ कि बालक प्रायः उस वस्तु का बोध ठीक से न कर पाता था। शब्दों द्वारा वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कराना एक टेढ़ा रास्ता है। पेस्तालाजी ने यह बात समझी और उसने इस बात पर जोर दिया कि वस्तु को दिखा कर बड़ी सरलता से उस वस्तु का ज्ञान कराया जा सकता है। उसके मत में वस्तु-बोध पहले और शब्द-बोध बाद में होना चाहिए।

(३) **'सरल से जटिल की ओर'** (From Simple to Complex) पेस्तालाजी ने इस सूत्र का प्रयोग पाठ्य-विषय को सुबोध बनाने के लिए किया। वस्तु का ज्ञान कराना उचित है परन्तु एका-एक वस्तु को, यों ही दिखाने से शिक्षा पूरी नहीं हो जाती। पूर्ण-वस्तु तो 'जटिल' होती है, किसी वस्तु का भली भाँति बोध करने के लिए, उसके आकार, रंग, उपयोग तथा अनेक विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इन सबका **विश्लेषण** करके अलग-अलग प्रश्नों द्वारा बालक को वस्तु का बोध कराने का आयोजन पेस्तालाजी ने किया। इस सरल ढंग से, किसी जटिल वस्तु का ज्ञान हो जाता है।

(४) **अध्यापक की तैयारी**—किसी वस्तु को कक्षा में बालक को दिखा देने से काम नहीं चल सकता। बालक के लिए, अपने आप उसकी सभी विशेषताओं को समझ लेना असंभव है। अध्यापक प्रश्नों

की सहायता से बालकों की उत्सुकता जगाता है और वे धीरे-धीरे सभी विशेषताएं जान लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि अध्यापक को पूरी तैयारी करनी चाहिए। जब तक वह पहले से, स्वयं वस्तु का पर्यवेक्षण करके, प्रश्न को तैयार कर न ले, वह कक्षा में नहीं पढ़ा सकता। अतः अध्यापक को काफी परिश्रम करना चाहिए।

(५) बालकों की क्रियाशीलता—वस्तु-बोध के लिए बालकों को क्रियाशील बनाना आवश्यक है। यदि वे कक्षा में तटस्थ होकर बैठ जाते हैं, तो वे पाठ को समझ ही नहीं सकते। पेस्तालाजी का विचार है कि उन्हें अधिक से अधिक क्रियाशील होकर वस्तु को पूरी तरह देखना, प्रयोग करना तथा समझना चाहिए। बालक को ऐसे कामों में बड़ा आनन्द प्राप्त होता है और वे इससे हर एक बात को अच्छी तरह ससझ लेते हैं।

वस्तु-पाठ द्वारा पढ़ाने की विधि—

वस्तु-पाठ का उद्देश्य, बालकों को किसी वस्तु से सम्बन्धित जितने भी शब्द होते हैं, उनका ज्ञान कराना है। अतः कक्षा में जाने से पूर्व अध्यापक किसी वस्तु का पहले चुनाव कर लेता है। फिर उससे संबंधित शब्द की सूची बना लेता है। उन शब्दों के आधार पर वह ऐसे प्रश्न गढ़ लेता है जिनका उत्तर बालक सरलता पूर्वक अपने अनुभव की सहायता से दे सकें। तब, वह कक्षा में जाता है और बालकों के आगे वह वस्तु प्रस्तुत करता है। बालकों को उस वस्तु को भली भाँति परखने का पूरा अवसर दिया जाता है। अब अध्यापक बालकों से वही प्रश्न करता जाता है और वे उत्तर देते हैं। कभी-कभी वह कई बालको से एक ही प्रश्न पूछता है। बार-बार वही उत्तर दुहराया जाता है और इससे कक्षा के सभी बालकों को उस वस्तु से संबंधित शब्दों का ज्ञान हो जाता है।

इस विधि का प्रयोग व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार के शिक्षण में किया जा सकता है। विधि की सफलता अध्यापक की तैयारी पर निर्भर है। उसे अपने प्रश्न मुँहजबानी याद होने चाहिए। इसके लिए उसे बड़ा परिश्रम करना पड़ता है।

एक उदाहरण—

आम का फल—संबंधित शब्दः—हरा रंग-कच्चा आम, पीला रंग-पका आम; आम के भाग-छिलका, गुठली गूदा; स्वाद-खट्टा, मीठा; प्रकार-देशी, कलमी; आम की फसल—मौसम, जलवायु, प्रदेश; आम से तैयार होने वाली वस्तुएँ—खटाई, अचार, मुरब्बे, आदि-आदि (यह सूची और भी लम्बी बनाई जा सकती है)। शब्दों को बालकों की कक्षा और उनकी मानसिक शक्ति तथा अनुभव की दृष्टि से चुनना चाहिए।

प्रश्न—आम किस रंग का होता है? कच्चा आम किस रंग का होता है? पकने पर आम कैसा हो जाता है? आम के कितने भाग होते हैं? हरा आम खाने में किस स्वाद का होता है? आम किस मौसम में पैदा होता है? भारत के किन भागों में आम पैदा होता है? आम के फल से कौन-कौन सी चीज़ें बनाई जाती हैं? आदि

आलोचना—

इसमें संदेह नहीं कि वस्तु-पाठ-विधि प्रगतिशील शिक्षा-विधियों में सबसे पहले उत्पन्न हुई और इसने नये आविष्कारों का मार्ग खोल दिया। सभी नवीन शिक्षण - विधियों में इसका किसी न किसी रूप में समावेश हुआ है। माँटेसरी और किंडरगार्टेन विधियों में जिन शिक्षोपकरणों (Didactic Material) तथा शिक्षोपहारों (Gifts) की सहायता से शिक्षण का काम लिया जाता है, वे पेस्ता-

लाजी के वस्तुपाठ से ही उत्पन्न हुए हैं। इद्रियों की शिक्षा, 'स्थूल से सूक्ष्म की ओर', बालकों की क्रियाशीलता आदि के सूत्र इसी विधि से प्रस्फुटित हुए और बाद में इनका विस्तार अन्य शिक्षाचार्यों ने किया। वस्तु-पाठ में समवाय (Correlation) का सिद्धांत भी बीजरूप में देखने को मिलता है। गाँधी जी की बुनियादी शिक्षा में मूल दस्तकारी का आधार दिया गया है, वह एक वस्तु पाठ का विस्तृत रूप है। वस्तु पाठ में समय-समय पर अनेक वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है परन्तु बुनियादी शिक्षा-विधि में केवल एक ही दस्तकारी का प्रयोग होता है। एक वस्तु की सहायता से पेस्ता-लाज़ी भी अनेक विषयों का समन्वय बड़ी सरलता से कर सकता था और यह उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है।

वस्तु-पाठ से विधि पढ़ाने पर अच्छे परिणामों की आशा की जाती है। एक तो बालक को हर बात सरलता से समझ में आ जाती है और सूक्ष्म विचारों का स्थूल की सहायता से सहज ज्ञान हो जाता है, दूसरे विद्यार्थी को रटना नहीं पड़ता। स्मरण - शक्ति पर दबाव नहीं पड़ता और स्वाभाविक ढंग से पाठ याद हो जाता है। जो भी ज्ञान प्राप्त होता है, वह स्पष्ट होता है। पारिभाषिक शब्दों को व्याख्या द्वारा उतनी सरलता से नहीं समझा जा सकता, जितना सीधे वस्तुओं को दिखाने से संभव है। विचारों और संख्या आदि का बोध भी सरलता से हो सकता है। अमरीका में ऐसी पाठ्य-पुस्तकें तैयार की गई थी और अब भी ऐसी प्रकार की पुस्तकों से कामलिया जाता जिनमें पेस्तालाजी की वस्तु-पाठ विधि के आधार पर पाठ तैयार मिल सकते हैं। कोलबर्न (Colburn)[1] ने गणित के पाठ इसी के

---

१. Warren Colburn : First Lessons in Arithmetic on the Plan of Pestalozzi.

आधार पर तैयार किए थे। **आर्नोल्ड गाइट** (Arnold Guyot) ने भूगोल तथा **लोवेल मैसेन** (Lowell Mason) ने संगीत पढ़ाने के लिए वस्तु-पाठ विधि का प्रयोग किया है। हरबर्ट स्पेंसर ने इस विधि के प्रयोग का समर्थन किया है। उसका कहना है कि इस विधि का प्रयोग केवल बच्चों के साथ ही नहीं, वरन् नवयुवकों के साथ भी करना चाहिए। वह इस बात में पेस्तालाज़ी से सहमत है कि बच्चों को अपनी ओर से कम-से-कम बताना चाहिए और उन्हें स्वयं ज्ञान प्राप्त करने देना चाहिए[1]।

वस्तु-पाठ-विधि पूर्वतया दोषरहित हो, ऐसी बात नहीं हैं। स्वयं पेस्तालाज़ी के समय में इसकी आलोचना हुई थी। माता-पिता इस बात के इच्छुक होते हैं कि उनके बच्चे अधिक से अधिक बातें सीखें। यह ठीक है कि वस्तु-पाठ विधि से पढ़ाने में बालकों की पर्यवेक्षण तथा विचार-शक्ति बढ़ती है परंतु वे पाठ्य-विषय अधिक नहीं पढ़ पाते। यह केवल छोटे बच्चों के लिए अधिक उपयुक्त है और वह भी अमीरों के बच्चों के लिए ही। इस विधि से पढ़ानेमें अध्यापक का उत्तरदायित्व इतना बढ़ जाता है कि उसका निर्वाह करना कठिन हो जाता है। बहुत कम ऐसे अध्यापक होंगे, जो पाठ की इतनी अच्छी तैयारी करेंगे। विभिन्न वस्तुओं का पूरा ज्ञान प्राप्त करना, उन पर प्रश्न रचना और विद्यार्थियों से उत्तर निकलवाना, आदि के लिए एक विशेष कला की आवश्यकता है, जिसे बहुत कम अध्यापक जानते होंगे। यही कारण था कि पेस्तालाज़ी की मृत्यु के बाद उसकी विधि का रूपान्तर उसके शिष्यों को करना पड़ा और वह अपने मूल रूप में जनप्रिय न रह सकी।

अब सैद्धांतिक रूप से वस्तु-पाठ की त्रुटियाँ देखिए। पेस्ता-

---

१. Spencer, Herbert : Education : Intellectual, Moral and Physical.

लाज़ी ने इस विधि में 'सरल से जटिल की ओर' के सिद्धांत का समन्वय किया। उसके मत में हर एक वस्तु की विशेषताओं को अलग-अलग समझने से उस वस्तु का ज्ञान हो सकता है परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बात गलत है। बच्चों के लिए इन सूक्ष्म विशेषताओं का समझना कठिन होता है और पूर्ण वस्तु को समझना सरल। अतः यह विधि 'जटिल से सरल की ओर'— एक उल्टे सिद्धांत के अनुसार बनी प्रतीत होती है। कभी-कभी इस विधि को इस प्रकार प्रयोग करने में व्यर्थ का आडम्बर पैदा हो जाता है। अध्यापक अपने पाठ की धुन में इस बात को भी भूल जाता है कि बालकों को वस्तु के निरीक्षण का पूरा मौका मिल रहा है या नहीं।[१]

—:o:—

१. Brubacher : A History of the Problems of Education, p. 216.

(६)

फ्रोबेल की बालोद्यान-विधि
(Kindergarten Method)

सब पहले प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री कोमेनियस ने पढ़ाने में प्रकृति का अनुसरण करने की सलाह दी थी। शिक्षण में प्रकृति से सहायता लेने के लिए, उसने कुछ सूत्र भी तैयार किये, परन्तु व्यावहारिक रूप से प्रकृति के पद चिन्हों पर चलनेवाले फ्रोबेल महोदय थे। जिस प्रकार उद्यान में पौदा लगाया जाता है और माली उसे पानी तथा खाद देकर उचित ढंग से बढ़ने में सहायता देता है, ठीक उसी तरह स्कूलरूपी बाग में, शिक्षकरूपी माली, बालकरूपी पौधे को सब प्रकार से विकसित करने में सहायता देता है। इस रूपक के आधार पर फ्रोबेल ने बालोद्यान विधि चलाई। इसी भाव को व्यक्त करते हुए, इस विधि को 'किंडरगार्टेन' की संज्ञा दी गई। 'किंडर' का अर्थ है बालकरूपी पौदा, और 'गार्टेन' का अर्थ है उद्यान। इन शब्दों के योग से बने हुये शीर्षक से, इस विधि के उद्देश्य का बोध होता है।

फ्रोबेल एक प्रसिद्ध दार्शनिक तथा शिक्षाशास्त्री था। जीवन के संघर्षों ने उसे तत्वज्ञानी बना दिया और प्रकृति के साहचर्य से उसने 'प्रकृति का महत्व' सीखा। शिक्षा में उसे प्रारंभ से ही बड़ी रुचि थी। प्रसिद्ध शिक्षाचार्य पेस्तालाजी से उसने बहुत-कुछ सीखा। येना विश्वविद्यालय में उसने जर्मन दार्शनिक फिक्टे की विचार-धारा का अध्ययन किया और पेस्तालाजी के आदर्श विद्यालय में शिक्षण-सम्बन्धी अनुभव प्राप्त करके वह इसी क्षेत्र में जुट गया। ईवरडून

में उसने कई उद्योग किये। अंत में उसने कोइलहाउ में एक विद्यालय खोला और यहीं पर उसने किंडरगार्टेन-विधि का आविष्कार किया।

कोइलहाउ में प्राप्त, उसके शिक्षा-संबंधी अनुभव उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मनुष्य की शिक्षा' (Education of Man) में संग्रहीत हैं। इसी पुस्तक के आधार पर हम पहले फ्रोबेल के शिक्षा-सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे जिसमें हम उसकी विधि को अच्छी तरह समझ सकें। फ्रोबेल ने जो कुछ लिखा है वह बहुत ही स्पष्ट तथा व्यवस्थित ढंग से लिखा हैं।

फ्रोबेल का दर्शन—

(१) **अखिल विश्व की एकता**—फोबेल अद्वैतवादी दार्शनिक है। उसका मत है कि विश्व में एक तत्व की प्रधानता है। ईश्वर, जीव और प्रकृति, सभी की रचना उसी एक तत्व से हुई है। अपने इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए उसने लिखा हैं:—

"सृष्टि के सभी पदार्थों में एक शाश्वत नियम व्याप्त होकर शासन करता है। यह सर्वशासक नियम निश्चय ही किसी सर्व-व्यापक, स्फूर्तिमान सजीव चेतन तथा सार्वभौम अभिन्नता या 'एकता' पर अवलंबित है। यह एकता ह ईश्वर है। सब पदार्थ उसी विराट् दैवी एकता से प्रादुर्भूत हुए हैं और उसी में उनका मूल है। सब पदार्थ उसी दैवी एकता या ईश्बर में बंधे रहकर जीते रहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में जो दैवी स्फुरण होता है, वही उस पदार्थ का चेतन-तत्व है।"

शिक्षा का उद्देश्य इसी 'एकता' का बोध कराना है। अपनी विधि में फ्रोबेल ने उपहारों (Gifts) का आयोजन इसी उद्देश्य से किया है। उपहारों की कल्पना का आधार पेस्तालाजी की वस्तु-पाठ विधि

थी परन्तु फ्रोबेल ने उपहारों को इन्द्रियानुभूति का साधन न मान कर आध्यात्मिक शिक्षा का हेतु माना है ।

(२) **विश्व में दिखाई पड़ने वाली अनेकरूपता का कारण**—फ्रोबेल के दर्शन का मुख्य सूत्र 'एकता' (Unity) है, परन्तु वस्तुओं के और जीवों के आकार-प्रकार में हमें एक बड़ी विभिन्नता दिखाई देती है । यह रूपांतर क्यों पैदा हो गया ? दुनिया में हमें सब वस्तुएँ अलग-अलग क्यों दिखाई देती हैं ? इस प्रश्न का जो कुछ उत्तर फ्रोबेल ने दिया, वह 'विकासवाद' के सिद्धांन्तों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि फ्रोबेल विकासवादी है । वास्तव में तो वह आदर्शवादी (Idealist) और आध्यात्मवादी (Spiritualist) है, परन्तु उसके तर्क जड़वादियों के तर्कों के समान हैं । उसका कहना है कि जन्म के समय प्रारंभिक दशा में प्रत्येक वस्तु का रूप एक तरह का होता है परन्तु वृद्धि (Developmemt) की दशा में, उसके रूप में बहुत अंतर उत्पन्न हो जाता है । (इसी तरह डारविन ने भी कहा है कि आदि जीव एक था और आजकल हम जो अनेक प्रकार के जीवधारी देखते हैं, उनकी यह भिन्नता, कालान्तर में विकास के कारण हुई है ।) यह विभिन्नता वास्तविक नहीं है । इस बात का बोध कराना शिक्षा का उद्देश्य हैं । उपहारों की सहायता से यह बात समझाई जाती है । एक उपहार को अनेक छोटे-छोटे टुकड़ो में विभाजित करके और अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों से फिर समूचा उपहार बना करके, इस 'एकता' और 'अनेकता' का बोध कराया जाता है ।

(३) **विकास या वृद्धि का महत्व**—हम ऊपर देख चुके हैं कि जीवों और वनस्पति में दिखाई पड़ने वाला रूपांतर वृद्धि के कारण होता है । इसलिए विश्व को, प्रकृति को और स्वयं अपने को समझने के लिए इस विकास या वृद्धि की क्रिया (Process) को

समझना जरूरी है। जिस काल में बालक शिक्षा प्राप्त करते हैं, वही उनका विकास-काल माना जाता है। अतः इस क्रिया को समझें वगैर 'शिक्षा' पूर्ण नहीं बनाई जा सकती।

(४) **वृद्धि कैसे होती है ?**—जिस तरह पेड़-पौधे या प्रकृति के दूसरे अंग बढ़ते हैं उसी तरह बालक की भी वृद्धि होती है। जैसे एक पेड़ को खींच-खींचकर नहीं बढ़ाया जा सकता, उसी तरह बालकों के शारीरिक तथा मानसिक विकास को बाहरी नियमों की सहायता से आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। पुराने ढंग की पढ़ाई में बच्चों पर इससिये जोर दबाव डाला जाता है कि वे विद्वान बन सकें। क्या यह चेष्टा कभी सफल हो सकती है ? विकास में कभी जोर जबरदस्ती नहीं चल सकती। वास्तव में बालक की मानसिक और शारीरिक वृद्धि एक विशेष क्रिया द्वारा होती है जिससे 'आभ्यन्तर गति' (Inner Process) कहते हैं। इसकी उद्भावना फ्रोबेल ने मनोवैज्ञानिक ढंग से की है। यदि हम आधुनिक मनोवैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग करें तो, इसे हम 'प्रौढ़न' (Maturation) कह सकते हैं। बालक की वृद्धि इसी सिद्धांत के अनुसार होती है। आम के पेड़ में फल तभी लगने हैं, जब फल लगने का समय आता हैं और जब पेड़ फल लगने योग्य हो जाता है। बालक को 'चलना' या 'बोलना' उस समय आता है, जब उसके पैर और मुँह के अँग पुष्ट हो जाते हैं। बालकों के सारे अंगों की 'पुष्टि' या 'वृद्धि' के समय को जानना, उनकी सहज चित्तवृत्तियों का अध्ययन करना ही, इस आभ्यन्तर गति को समझना है। इस गति को समझने की आवश्यकता इसलिए है कि यह गति सहज (inborn) है। इस गति को आध्यापक न तो रोक सकता है और न उसे उत्तेजन(Acceleration) ही दे सकता है। वह जिस तरह से होती है, उसी तरह होगी ओर होती रहेगी। अध्यापक का कार्य केवल ऐसा प्रबंध

करना है, जिससे इस गति में बाधा न पड़े और उसे ऐसे साधन जुटाने चाहिएँ जिससे बालकों को विकास में सहायता मिले। जिस तरह माली पौधों की वृद्धि के लिए खाद और पानी जुटाता है, उसी तरह अध्यापक बालकों की शिक्षा के लिए उपहार, खेल, बागवानी और दस्तकारी का प्रबंध करता है। किंडरगार्टेन-विधि के सारे उपकरण 'आभ्यन्तर गति' की सहायता के लिए चुने गये हैं।

(५) **मनुष्य आध्यात्मिक प्राणी है** (Spiritual Being) है— फ्रोबेल के मतानुसार मनुष्य केवल शरीरधारी (Physical being) ही नहीं, है अपितु वह एक आध्यात्मिक प्राणी है; इसलिए वह साधारण जीवों से श्रेष्ठ। उसमें आत्मा है, जो ईश्वर का अंश है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने-आपको पहचाने। शिक्षा का उद्देश्य, इस आत्म-साक्षात्कार में सहायता देना है। फ्रोबेल की यह विचारधारा भारतीय 'चिंतन शैली' से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। वास्तव में शिक्षा के द्वारा मनुष्य अपनी आत्मा की प्रमुख शक्तियों को पहचान लेता है।

फ्रोबेल ने एक स्थल पर लिखा है कि बालक में यह आध्यात्मिकता सहज (Inborn) है। उसने यह सिद्ध किया है कि बालक के आगे जिस समय गेंद लटकाया जाता है, और वह उस गेंद को हिलते तथा चक्कर लगाते हुए देखता है, तो उसे बड़ा आनंद आता है। स्वभावतः उसका ध्यान उस डोरी पर जाता है, जिसके सहारे गेंद लटका होता है। तुरंत ही उस डोरी के सहारे उसकी दृष्टि उस हाथ पर जाती है, जो उसे पकड़े रहता है। इसी तरह प्रकृति के प्रांगण में होनेवाला घटनाओं को देखकर (जैसे, सूर्य और चंद्रमा जैसे गोलों को आकाश में लटकते देखकर) उसे परमपिता ईश्वर का ध्यान आने लगता है। उसे बादलों के गर्जन में ईश्वर का स्वर तथा धूप में उसकी मुस्कान का आनंद मिलता है। इसलिये फ्रोबेल ने अपनी विधि में

इस बात जोर दिया है कि संगीत का पाठ पढ़ाने के पहले, बालक को निर्झर का नाद, सरिता का कलकल और तरु की डालियों की खड़खड़ाहट सुनाकर उसके कानों को दैवी संगीत का अभ्यस्त बना देना चाहिए।

(६) **खेलों की आवश्यकता**—शिक्षा का प्रारंभ उसी समय से होने लगता है, जब बालक अपने आस-पास की वस्तुओं में दिलचस्पी लेने योग्य बन जाता है। स्वभाव से ही बालक प्रत्येक वस्तु के साथ खेलना चाहता है। इसलिये खेल को शिक्षा माध्यम बनाना उचित है। खेलों की दूसरी उपयोगिता यह है कि इसमें क्रिया (Activity) का समावेश होता है। क्रिया द्वारा बालक को आनंद भी मिलता है। कार्लग्रूस की भाँति फ्रोबेल का भी यही विचार है कि खेलों द्वारा बालक के भावी जीवन का सूत्र हमें मिल जाता है। जो खेल में रुचि लेता है, ईमानदारी से खेल खेलता है, वही जीवन में भी सफल होता है। किंडरगार्टेन में इसी दृष्टि से खेलों की व्यवस्था की गई है। और, यह खेल इस प्रकार से खिलाये जाते हैं कि बालक बड़ी सरलता से गूढ़ आध्यात्मिक तत्वों को सीख लेता है। किंडरगार्टेन विधि में खेलों का आयोजन एक और दृष्टि से भी किया गया है। खेल में बालक को शारीरिक श्रम भी करना पड़ता है। अतः वह 'श्रम' में मनोरंजन प्राप्त करना सीख लेता है। साथ ही उसे हर-एक कार्य आगे चलकर खेल के समान ही प्रतीत होता है।

(७) **प्रकृति-प्रेम**—रूसो की भाँति फ्रोबेल भी प्रकृति के पुजारी हैं। उनका मत है कि प्रकृति के सम्पर्क से बालक को ईश्वर की शक्ति का आभास मिलता है। इसलिये बालकों में प्रकृति-प्रेम जाग्रत करना अत्यंत आवश्यक है। फ्रोबेल की विधि के लिये एक प्रकृति-तुल्य उद्यान होना अनिवार्य है। तरुओं की डालियों पर बैठने, पक्षियों का कलरव सुनने और वायु का स्पंदन अनुभव करने

में बालकों को अपूर्व तृप्ति मिलती है। पशु-पक्षियों से वे प्रेम करने लगते हैं और यही प्रेम आगे चलकर मानवता-प्रेम में परिणत हो जाता है। पौधों के लगाने और पशुपालन से उनमें अनेक गुण पैदा होते हैं। वे समझने लगते हैं कि जिस वस्तु को पाल-पोस कर बड़ा किया जाता है, उसे नष्ट करना अनुचित है।

(८) **श्रम का उपयोग**—खेलों के प्रसंग में हम श्रम का महत्व बता चुके हैं। श्रम करने के लिए किंडरगार्टेन में बागबानी (Gardening) की व्यवस्था है। श्रम से कई लाभ होते हैं। एक तो श्रम द्वारा किया गया काम कभी भूलता नही है। रूसों का मत है कि बालकों को जो बात जबानी बताई जाती है उसे वे भूल जाते हैं परन्तु जिसे सीखने से उन्हें स्वयं श्रम करना पड़ता है, उसे वे कभी नहीं भूल सकते। दूसरे, श्रम बिना कोई भी रचनात्मक कार्य नहीं किया जा सकता। फ्रोबेल के मतानुसार रचनात्मक कार्य, आध्यात्मिकता का प्रधान अंग है। अतः आध्यात्मिकता की प्राप्ति में श्रम सहायक होता है। इस विधि द्वारा शिक्षा में बालकों को विशेष रूप से यह समझाया जाता है कि आत्मोत्थान एवं समाजोत्थान के लिए श्रम करना आवश्यक है।

(९) **ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा**—फ्रोबेल ने बालकों की ज्ञानेंद्रियों को अभ्यस्त बनाने पर जोर दिया है परन्तु ज्ञानेंद्रियों का शिक्षण केवल साधनमात्र है। इसका उद्देश्य प्रत्यय (Concept) विकास में सहायता देता है। ज्ञानेंद्रियों के शिक्षण पर बहुत अधिक जोर मेरिया माँटेसरी ने दिया। इस संबंध में हम अन्यत्र विस्तार से लिखेंगे।

(१०) **'शिक्षक' का नया अर्थ**—फ्रोबेल ने शिक्षक का एक नया अर्थ बताया है। शिक्षक और विद्यार्थी का वही संबंध है, जो माली और पौधे का होता है। जिस प्रकार माली, पौदे के स्वाभाव

को अच्छी तरह समझ-बूझ कर, उसके लिए खाद और पानी की व्यवस्था करता है, उसी तरह शिक्षक भी बालकों की प्रकृति का अध्ययन करके, उसकी आवश्यकताओं के अनुसार, उनके विकास में सहायता पहुँचाता है। उसके लिए वह अपने अस्तित्व को बालक में विलीन कर देता है, तभी उसे बालक की अन्तःप्रवृत्तियों का पता लगता है। किंडरगार्टेन में अध्यापक या अध्यापिका का बालकों से बड़ा ही मधुर कोमल तथा स्नेहपूर्ण व्यवहार करती है।

प्रो० ड्यूवी ने किंडरगार्टेन विधि के तीन[1] मुख्य सिद्धांत बताए हैं—

(१) किंडरगार्टेन का मुख्य उद्देश्य बालकों में सहयोगपूर्ण जीवन बिताने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना है। उन्हें यह समझना चाहिए कि हम एक-दूसरे के आश्रित हैं।

(२) शिक्षा का मूल स्रोत बालक की प्रवृत्तियाँ और सहज शक्तियाँ हैं। उन्हीं के अनुकूल शिक्षण-विधि का प्रयोग होना उचित है। शिक्षा के सारे कार्य-क्रम भी इसी आधार पर आयोजित होने चाहिए।

(३) इन प्रवृत्तियों के संतुष्टीकरण में सहकारिता (प्रथम सिद्धांत) का ध्यान रखना चाहिए। बालकों की व्यक्तिगत प्रवृत्तियाँ संतुष्ट हों परन्तु उनको यह भी समझने का अवसर दिया जाय कि वे समाज से अलग रहकर संतुष्ट नहीं रह सकते।

आवश्यक सामग्री तथा व्यवस्था—

(क) स्कूल की इमारत—(१) बीच का कमरा—

इमारत के बीच के बीच का कमरा, ऊँचा, हवादार, रोशनी वाला

---

१. Dewey John : The School and Society, chap on. "Froebel's Educational Principles", p. 111-112.

तथा अच्छे चमकीले रंग से रँगा होना चाहिए। कमरे में एक तरफ गैलरी हौती है। कमरे की दीवारों पर सुन्दर तस्वीरें और फूलों के गमले लटके होते हैं। अध्यापक की मेज़ पर गमले सजे होते हैं। एक मेज़ पर हारमोनियम या पियानो रक्खा होता है। इसी कमरे में किसी एक तरफ संग्रहालय के रूप में अनेक विचित्र वस्तुओं से भरी खुली अलमारियाँ होती हैं। वे वस्तुएँ या तो विद्यार्थियों द्वारा तैयार की गई या दर्शकों द्वारा उपहार में दी गयी होती हैं। पशु-पक्षियों की मूर्तियां और खिलौने रक्खे होते हैं। किस प्रकार कपड़े, ऊन और अन्य वस्तुओं का शुरू से अब तक विकास हुआ, यह सब-कुछ दिखाया ज़ाता है।

(२) अन्य कमरे तथा उनमें रक्खे वस्त्रों के मॉडेल—

बीच के कमरे के दोनों तरफ और कमरे बने होते हैं। किसी कमरे में, लकड़ी की एक गज लम्बी चौड़ी चौकोर किस्तियों (Trays) में ज़ंगल, खेत, खलिहान और रेगिस्तान आदि के दृश्य अपने स्वाभाविक रूप में छोटे मॉडेल के ढंग से बनाकर रख दिये जाते हैं, दूसरे कमरे कक्षा के रूप में प्रयुक्त होते हैं। प्रत्येक कक्षा के कमरे में २० मेज़ें फर्श में जड़ी हुई होती हैं और उनके साथ चालीस कुर्सियाँ रहती हैं। यहाँ भी दीवारों पर तस्वीरें और फूलों के गमले लटके होते हैं। हर एक कमरा साफ सुथरा रहता है। हर एक अध्यापक अपने कमरे को पाठ पढ़ाने के पहले तैयार कर लेता है।

(ख) अध्यापक—

किंडरगार्टेन के अध्यापक का सबसे बड़ा गुण यह होना चाहिए कि वह अपने को बालकों के बीच में बालक समझे। उनकी मनोभावनाओं की गहराई तक पहुँच सके और उनका आदर करे। उसकी आवाज़ साफ हो। वह सदा प्रसन्न रहने वाला और उदार-चित्त हो। अध्यापकों को अपनी वेश-भूषा तथा कपड़ों की सजावट

का ध्यान रखना पड़ता है ताकि उसका बालकों पर अच्छा असर पड़े। सप्ताह में एक दिन प्रधानाध्यापक तथा अन्य-अध्यापक परामर्श के लिए अवश्य बैठते हैं तथा स्कूल-संबंधी आवश्यकताओं पर विचार करते हैं। विशेष रूप से प्रधानाध्यापक, जो इस विधि का विशेषज्ञ होता है, दूसरे अध्यापकों को नई-नई बातें समझाता है। अध्यापकों कीं व्यावहारिक बाँतें तथा अनुभवों से उसे सहायता मिलती है। आपस में सहयोग का भाव प्रबल होता है।

(ग) सिगनल—

अध्यापक की सहायता के लिए एक 'सिगनल' रहता है। उसमें लगे हुए एक हत्थे को अँगूठे को दबाने पर एक आवाज़ पैदा होती है। प्रत्येक अध्यापक के पास इसका रहना आवश्यक है। इसकी सहायता से बालकों को चलने-फिरने, बैठने, खड़े होने आदि के आदेश अध्यापक देता है। उसे घुमाने के संकेत बाँधे हैं, जिनका अर्थ बालकों को बता दिया जाता है, जैसे ड्रिल में बैठने के आदेश के लिए सिगनल को दबा कर नीचे करना, पढ़ाई के समय भूल का संकेत करने के लिए सिगनल को दो बार दबा कर आवाज़ पैदा करना, जिससे बालक भूल को सुधार लेता है, आदि। वास्तव में सिगनल का उद्देश्य अध्यापक को जोर से चीखने से बचाना है।

(घ) स्कूल प्रारंभ होने के समय का दैनिक कार्यक्रम—

प्रातःकाल से स्कूल प्रारंभ होता है। जैसे ही बच्चे आने लगते हैं, कमरे में ले जाकर उनके बाहरी वस्त्रों को उतरवा देते हैं। फिर एक अध्यापक पियानो या हारमोनियम बजाना प्रारंभ करता है। बालक उसके स्वर पर मार्च (अभियान) करते हुये चलते हैं। बाद में प्रातःकालीन प्रार्थना होती है। हारमोनियम के स्वरों पर कुछ संकेत बंधे होते हैं जिनकी सहायता से बालकों को खड़े होने, हाथ

जोड़ने, बैठने आदि के आदेश देते हैं। प्रार्थना के बाद बालकों को आपस में 'नमस्ते' करने और मिलने-जुलने का अवसर दिया जाता है। उस समय वह जो चाहें बात करें। इसके बाद ही उन्हें एक धार्मिक पुस्तक का पाठ पढ़ाया जाता है।

(ङ) **उपहार**—किंडरगार्टेन की पढ़ाई का सारा भार इन 'उपहारों' पर है। जिस प्रकार मॉंटेसरी-विधि में रेखागणित की शक्लों के सहारे पढ़ाई होती है, वैसे ही कुछ वस्तुयें ऐसी हैं जिनकी सहायता से किंडरगार्टेन-विधि द्वारा पढ़ाई की जाती है। इन वस्तुओं को 'उपहार' कहते हैं। इन्हें यह नाम इसलिए दिया गया है कि बालक इन्हे पाकर बड़े प्रसन्न होते हैं। जैसे मिठाई या खिलौने भेंट के रूप में उन्हें प्रसन्न करने के लिये दिये जाते हैं, वैसे ही स्कूल में बालकों को यह 'उपहार' दिये जाते हैं। भिन्न-भिन्न रंगों, तथा आकारों के इन उपहारों की संख्या २० है, पर उनमें से सात मुख्य हैं। यह सात भी लम्ब गोल, (Cylinder) गोल (Sphere) तथा घन (Cube) इन तीन आकृतियों के रूपांतर मात्र हैं। इन सात उपहारों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है :—

प्रथम उपहार—इसमें छः मुलायम ऊन की गोल गेदें होती हैं जिनका रंग लाल, पीला, नारंगी, हरा और बैंजनी होता है। प्रत्येक गेंद के साथ उसी रंग की डोर होती है जिसके सहारे वह एक फ्रेम में लटका रहता है।

द्वितीय उपहार—इसमें एक कड़ी धातु या लकड़ी के तीन आकार गोल, लम्बगोल, और घन—की वस्तुएँ होती हैं जो डोरियों के सहारे फ्रेम से लटकी रहती हैं।

तृतीय उपहार—इसमें एक बड़ा घन होता है जो आठ छोटे समान आकार के घनों से मिलकर बना होता है। उन छोटे घनों

को मिला कर बड़ा घन जब चाहें बना लें, जब चाहें उन्हें अलग अलग कर दें।

चतुर्थ उपहार—इसमें एक बड़ा घन होता है परंतु यह आठ समान छोटे घनों के बजाय (Oblong) आठ ईंट की शक्ल के समान टुकड़ों से मिलकर बना होता है।

पंचम उपहार—यह उपहार समझने में कठिन है। यह बड़ी आयु के बालकों के लिये हैं। यह २७ छोटे घनों से मिलकर बनने वाला एक बड़ा घन होता है। इनमें तीन छोटे घनों को बीच से एक कर्ण-रेखा (Diagonals) पर बाँट देते हैं जिसके ६ टुकड़े हुये। अन्य छोटे छोटे घनों को बीच से दोनों कर्णों (Diagonals) पर काटकर ६२ टुकड़ों में बाँट देते हैं। अब कुल २१ समूचे छोटे घन, ६ बड़े तिकोने तथा १२ छोटे तिकोने हुए। इनकी सहायता से अनेक डिजायनें तैयार होती हैं।

छठा उपहार—इसमें एक बड़ा घन होता है जौ १८ बड़े तथा ९ छोटे विषम चतुर्भुजों (Oblong) से मिलकर बनता है।

सातवाँ उपरार—दो बक्सों में भरे हुए अनेक रंग के लकड़ी के टुकड़े होते हैं जो ज्यामिति की भिन्न-भिन्न शक्लें बना सकते हैं जैसे त्रिभुज, वर्ग, समकोण, त्रिभुज आदि।

इन सात उपहारों के अतिरिक्त किंडरगार्टेन में अनेक वस्तुओं का प्रयोग होता है, वे भी उपहारों के अन्तर्गत शामिल की जाती हैं, **उनके सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें निम्नांकित हैं।**

(१) १० इंच लम्बी, $\frac{३}{८}$ इंच चौड़ी और $\frac{१}{१६}$ इंच मोटी, लचकदार पटरियाँ (Laths) जिन्हें हवा में हिलाने से कम्पन का स्वर उत्पन्न होता है। (२) २ इंच लम्बी, मोटाई में दियासलाई के बराबर, गोल छड़ियाँ (३) तार के बने छल्ले (Rings) जिनका व्यास १ इंच,

१ इंच या २ इंच तक हो। (४) डोर, स्लेट, पेंसिल, (५) ड्राइंग के अभ्यास के लिए, कागज, पेंसिल, रंग का बक्स, बत्तियाँ और कैंची; (६) दस्तकारी के अभ्यास के लिए, मोती के दाने (Beads) चटाई, कार्ड बोर्ड के टुकड़े, कागज, सफेद खड़िया मिट्टी, बालू और बेंत आदि (७) घुनघुने (Musical bells), चटुए (Dumb bells), छड़ियाँ १८ इंच लम्बी, रंगीन चमकदार साटन की बनी तिकोनी पट्टियाँ (Scarfs), गुलाबी, नीले, हरे, लाल, कागज के पंखे आदि।

उपहारों द्वारा शिक्षण—

पहला उपहार—

गेंदों की सहायता से बालक की ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा होती है। इनकी गति को देखकर आँखें, उसके गिरने या फेंकने से उत्पन्न स्वर से कान, छूने से स्पर्शेन्द्रिय, आदि की कर्मक्षमता बढ़ती हैं। खेलने से कर्मेन्द्रियाँ भी पुष्ट होती हैं। एक साथ खेलने से बालकों में सहयोग और मैत्रीभाव उत्पन्न होता है।

गेंद का वर्णन (प्रश्नोत्तर द्वारा)

अध्यापक बालकों से प्रश्न करता है—

(१) गेंद की कैसी शक्ल है? (गोल)
(२) इस शक्ल की और कौन चीजें तुमने देखी हैं? (संतरा, सेब, सूर्य चंद्रमा)
(३) गेंद छूने में कैसा है? (मुलायम)
(४) इस तरह की मुलायम वस्तुएँ कौन हैं? (बाल, कपड़े)
(५) यह गेंद किस चीज से बना है? (ऊन)

इस तरह प्रश्नों द्वारा बालकों का ज्ञान बढ़ाया जाता है। ऊन कैसे, कहाँ पैदा होती है, यह सारी बातें बड़ी आसानी से उन्हें समझायी जा सकती हैं।

संगीत—गेंद के ऊपर एक गीत लिखा होता। अध्यापक उसे गाकर बालकों को सुनाता है—

गेंद है सुँदर वस्तु महान,
मुझे भाता है इसका गान।
गोल है, हल्का, कोमलतर,
इसे पकड़े कर में कस कर।
ऊन से बना—जानते हो ?
भेड़ से ऊन प्राप्त है जो।
प्रथम नर ऊन कतर लेते,
वस्त्र ऊनी व गेंद बनते।

गेंद के रंग का अध्ययन—एक बक्स में, जिसके ढक्कन को खिसका कर खोल सकते हैं, गेंद एक क्रम से रख दिये जाते हैं। अध्यापक ढक्कन को खिसकाता है। पहले लाल गेंद बालक देखता है। अध्यापक, तब प्रश्न करता है ?

प्रश्नोत्तर—(१) यह किस रंग का है ? (लाल)

(२) लाल रंग की कौन चीजें तुमने देखी हैं। (आग, कुरता, गुलाब)

(३) मैं एक दिन संध्या को घूमने निकला, आकाश में एक लाल रंग बड़ा गेंद देखा यह क्या था ? (सूर्य)

इसी प्रकार प्रत्येक रंग के गेंद के लिए प्रश्न तैयार करके पूछे जाते हैं।

गीत—रंगों पर एक गीत बना होता है—

गेंद कुछ लाल, गेंद नीले,
दिखाऊँ तुम्हें गेंद पीले।

नरंगी भी तथा बैंजनी
दिखाऊँ हरा गेंद मैं अभी।

गेंद की गति—अध्यापक गेंद को डोरी में लटका कर बालकों को दिखाता है—फिर उसे फर्श पर लुढ़का देता है—और प्रश्न करता है:—

गेंद फर्श पर लुढ़क सकता है, क्यों? (गोल है)

और कौन चीजें इसी तरह लुढ़क सकती हैं? (संतरा, गोली)

गेंद के खेल—एक कतार में या घेरे में डोरी में लटकाये हुए गेंद लेकर बालक खड़े हो जाते हैं और उन्हें भिन्न-भिन्न तरीकों से घुमाते हैं। घुमाने के आदेश गीतों द्वारा दिये जाते हैं, जैसे—

लटकते, हिलते, इधर,उधर
कभी आगे, पीछे तड़पड़।
उछलता गेंद अहा कैसा,
हर्ष से नाचे शिशु जैसा।
घूमता रज्जु (डोर) गले में मेल,
अहा, यह कैसा अच्छा खेल।
बनाता छोटे और बड़े,
अरे घेरे, घेरे, घेरे।
नाच कर मेरे चारों ओर,
बनाता वृत्त अरे (गोले) बेजोड़।
उछलता रोक सकूं मैं गेंद,
न गिरना पृथ्वी पर ऐ गेंद।

गेंद की स्थिति—अध्यापक गेंद को कभी मेज़ पर, कभी कुर्सी पर, कभी हाथों में, कभी खिड़की में तथा अन्य भिन्न-भिन्न स्थानों पर रखता है और प्रश्न करता है।

(१) गेंद कहाँ है ? फर्श पर,
(२) अब कहाँ है ? हाथ में, आदि।

गेंद की अनेक स्थितियों से संबंधित गीत तैयार करके सुनाया जाता है।

गेंद के बक्स—बालकों को यह दिखा कर इसके विषम चतुर्भुज आकार का अध्ययन करते हैं। प्रश्न पूछते हैं—

(१) यह किस चीज का बना है ? (लकड़ी का)
(२) लकड़ी कहां मिलती है ? (पेड़ से)
(३) लकड़ी से और कौन चीजें बनती हैं ? (कुर्सी, मेज, दरवाजे)
(४) यह कैसे खुलता है ? (खिसकाने से)

बक्से पर भी गीत बना कर सुनाते हैं।

कल्पनात्मक लोरी गीत— (Lullaby Song) बालकों को समझाते हैं कि मान लो, गेंद एक चिड़िया है और तुम्हारी गोद घोंसला, हाथ रख कर उसे सुलाओ और गाओ।

नीड़ में निज चिड़िया रानी,
सुरक्षित लेटी मन मानी।
तुम्हें चिड़िया हम करें प्रणाम,
तुम्हें सुखमय होवे तव धाम।

अन्य खेल—बालक दो कतारों में दो फीट की दूरी पर आमने-सामने मुँह करके खड़े होते हैं। उन्हें गेंद पकड़ने के भिन्न-भिन्न ढंग बताये जाते हैं। फिर उन्हें आदेश देकर खेल खिलाये जाते हैं।

दूसरा उपहार—

इसके द्वारा बालकों को दूसरे उपहारों का साधारण परिचय

प्राप्त होता है, क्योंकि अन्य उपहार इसी के रूपांतर मात्र हैं। **बच्चे** इनकी आकृति, गति, तथा गुणों का अध्ययन करते हैं।

प्रयोग—उपहार के बक्स का अध्ययन—ठीक उसी तरह होवे जैसे पहले उपहार में बताया गया है।

(१) **लकड़ी के गोल** से **प्रथम उपहार के ऊनवाले गेंद की तुलना**—प्रश्नोत्तर द्वारा यह तुलना की जाती है और बाद में एक गीत सुनाया जाता है।

(२) **गोल और लम्बगोल की तुलना**—प्रश्नोत्तर द्वारा

(३) **गोल और घन की तुलना**—प्रश्नोत्तर द्वारा

तुलना का भाव—पहले इन्हें डोरी में लटका कर बालकों को दिखाया जाता है। वे इनकी आकृतियों का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं। प्रश्नों द्वारा अंतर पूछा जाता है। हर एक तुलना के बाद गीत गाये जाते हैं—

अन्य अभ्यास—घुमा कर और नचा कर दिखाते हैं और प्रश्न करते हैं। अंत में बालकों की आँखें बन्द करके स्पर्श द्वारा गोल, लम्ब, लम्बगोल को पहचानने का अभ्यास कराते हैं, उस समय गीत गाते हैं—

करो आंखों को कस कर बन्द,
ठीक है—अब हो तुम स्वच्छन्द।
खड़े जैसे हो सब तुम साथ,
पकड़ लो तुम अपना ही हाथ।
ध्यान-पूर्वक ही बच्चों! रह,
बताओ तो तुम क्या है यह?
बताओ तो इसका सच्चा नाम?
खेल में यहीं तुम्हारा काम।

तीसरा उपहार—

इसके द्वारा बालकों को यह सिखाया जाता है कि कैसे छोटी-छोटी इकाइयों (units) से मिल कर एक वस्तु बनती है। इस से बालकों की चिंतनशक्ति बढ़ती है। उन्हें प्रत्येक वस्तु के बनने और बिगड़ने का कारण सोचने की आदत पड़ जाती है। दूसरे, रचना करने, आविष्कार करने का अवसर मिलता है। वे कल्पना-शक्ति से काम लेकर अपने नयी चीजें तैयार करने में निपुण हो जाते हैं।

प्रयोग—(१) प्रश्नों द्वारा दूसरे और तीसरे उपहार की तुलना और गीत।

(२) बक्स खोलने का अभ्यास।

(३) **घन का अध्ययन**—प्रश्नोत्तरों द्वारा बालकों को बताया जाता है कि घन कैसे बना है। फिर छोटे-छोटे घनों से कैसे वह बन सकता है, यह दिखाया जाता है। छोटे घनों की सहायता से मकान, दीवार, चिकनी सड़क, कुर्सी, किला आदि लगभग १६ वस्तुएं बना कर दिखायी जाती हैं। बालक उन्हें बनाते हैं। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सभी छोटे घन किसी भी एक वस्तु के बनाने में प्रयुक्त हो जाएं। बालकों को अपनी भूल सुधारने का मौका देना उचित है।

किला या घर बनाते समय अध्यापक कहानी बनाकर सुना सकता है ताकि किले से सम्बन्धित शब्दों का ज्ञान बालक प्राप्त कर लें। एक गीत भी इस मौके पर बालकों को सुनाया जाता है।

(४) **सौन्दर्यानुभूति करना**—छोटे-छोटे घनों को अनेक प्रकार से रख कर असंख्य डिजायन तैयार हो सकते हैं। अध्यापक उन-

की रचना करते है; बालक देखते हैं और बाद में उसका अनुकरण करते हैं।

(५) **संख्या का ज्ञान**—छोटे- छोटे घनों की सहायता से बालकों को संख्या का ज्ञान कराया जाता है। यहाँ भी प्रश्नोत्तर विधि का प्रयोग होता है। अध्यापक कहता है—

घन को दो बराबर टुकड़ों में बाँटो।

हर टुकड़े में कितने छोटे घन हैं ? आदि।

चौथा उपहार—

यह उपहार बालकों को बहुत अच्छा लगता है। इसकी सहायता से उन्हें खोज करने तथा रचनात्मक काम करने का अभ्यास होता है।

प्रयोग—प्रश्नों द्वारा तीसरे उपहार से तुलना।

(१) यह क्या है ?

(२) इसमें और तीसरे उपहार में क्या फर्क है ?

विषम चतुर्भुज आकार के छोटे टुकड़ों की सहायता से (जिनसे मिलकर यह बड़ा घन बनता है) अनेक वस्तुएं जैसे, कुर्सी, सिंहासन नालियाँ, फाटक, झरोखे आदि बनाकर दिखाये जाते हैं तथा अनेक प्रकार के डिज़ाइन बना कर कलात्मक रुचि बालकों में उत्पन्न की जाती है।

पाँचवाँ उपहार—

यह तीसरे उपहार का अधिक विस्तृत तथा जटिल रूप है। उद्देश्य इसका बिल्कुल वही है जो तीसरे का है किन्तु यह अधिक विकसित बुद्धि के बालकों के लिये उपयुक्त है।

प्रयोग—(१) तीसरे उपहार से तुलना (प्रश्नों द्वारा)।

(२) इस उपहार के छोटे घनों तथा टुकड़ों की सहायता से

अनेक प्रकार की इमारतें बनाना, विशेष रूप से चर्च, मंदिर, मिल, और झोपड़ी आदि। इसके अतिरिक्त अन्य चीजें जैसे कुर्सी, सोफे, ज़ीने की सीढ़ियाँ।

(३) डिजायनों का बनाना जो अधिक सुन्दर तथा कठिन होते हैं।

(४) ज्यामिति की शक्लों का ज्ञान कराना—इसमें आधे तथा चौथाई घनों की सहायता से सब प्रकार के त्रिभुजों, कोणों और चतुर्भुजों का ज्ञान आसानी से हो जाता है। बालक उन्हें देखकर उनके नाम याद कर लेते हैं। अध्यापक प्रत्येक शक्ल के बारे में प्रश्न भी करता है।

छठा उपहार—

यह चौथे उपहार का विस्तृत तथा जटिल रूप है। अतः दोनों के उद्देश्य समान हैं।

प्रयोग—(१) चौथे उपहार से प्रश्नोत्तर-विधि से तुलना।

(२) इसके विषम चतुर्भुज आकार के टुकड़ों से, स्टाल, मकान, स्कूल, खेल का मैदान, खेत और अनेक डिजायनों के खम्भे आदि बनाकर दिखाये जाते हैं। बनाते समय गीतों का प्रयोग होता है।

(३) डिजायनों का पहले की तरह तैयार करना।

सातवाँ उपहार—

यह उपहार बालकों को मूर्त (Concrete) से अमूर्त (Abstract) की ओर ले जाने का साधन है। अभी तक बच्चे मूर्त वस्तुओं के बारे में समझ सके हैं। अब इस उपहार द्वारा वे उनके स्मृति-चित्र (Memory Images) को प्रत्यक्ष चित्र के रूप में खींचना सीखते हैं।

प्रयोग—ज्यामित की शक्लों, जैसे वर्ग, विषम-चतुर्भुज, सम-

कोण, समत्रिबाहु त्रिभुज आदि का परिचय कराना। बक्स को जिसमें यह बन्द रहते हैं, खोलते हुए, एक गीत गाया जाता है। जिसमें उनके नाम गिनाये जाते हैं। फिर हर एक के बारे में अध्यापक प्रश्न करता जाता है, बालक उत्तर देते हैं। इस तरह उन्हें प्रत्येक शक्ल का पूरा ज्ञान हो जाता है।

अन्य उपकरणों (उपहारों) द्वारा शिक्षण—

(१) **जुड़ी हुई पटरियाँ**—एक लम्बाई की नौ पटरियों को जोड़ कर एक गज लम्बाई में बना लेते हैं। इसके जोड़ घुमावदार होने से, इन्हें जैसा चाहें मोड़ सकते हैं। इसकी सहायता से सब प्रकार के कोण, (न्यून कोण, सम कोण, अधिक कोण) सब प्रकार के त्रिभुजों, चतुर्भुजों तथा बहुभुजों का ज्ञान कराया जाता है। अध्यापक उन पटरियों को जोड़ पर से मोड़कर इन विभिन्न आकृतियों में रखना बता देता है, फिर बालकों से आदेश देता है और बालक उन पटरियों से वही आकृति तैयार करते हैं।

(२) **बिना जुड़ी पटरियाँ**—जुड़ी हुई पटरियों की अपेक्षा इन्हें प्रयोग करने में अधिक स्वतंत्रता रहती है। इनकी सहायता से समानांतर रेखाओं, रेल की पटरियों तथा अनेक प्रकार के डिजायनों का ज्ञान कराया जाता है।

छड़ियों का रखना—पहले अध्यापक इनके विषय में प्रश्नोत्तर-विधि द्वारा बालकों से बातचीत करता है, या कोई कहानी सुना सकता है। इनके सहारे पेड़-पौधों, बनस्पति का भी ज्ञान बढ़ता है। अंग्रेजी की पढ़ाई में इनका अधिक महत्व है क्योंकि इनकी सहायता से गैर फंदे वाले अक्षर जैसे A, E, F, H, I K, L, M, N, T, V, W, Y, X, Z, का ज्ञान बड़ी आसानी से बालक प्राप्त कर लेते हैं। इन छड़ियों को इन अक्षरों की तरह मिला कर रखने से अक्षर-ज्ञान आसान हो जाता है। इसके अतिरिक्त अनेक वस्तुओं के चित्र जैसे

झण्डा, हैट, घर, लिफाफ़ा, लैंप, संदूक, आदि भी बना कर दिखाये जाते हैं। इनका प्रयोग ज्यामिति में होता है।

छल्लों का प्रयोग—पहले प्रश्नोत्तर द्वारा अध्यापक बालकों को छल्ले (Ring) से परिचय कराता है और उसकी तुलना अँगूठी, पैसे, रुपये से कराते हुए, उनकी समानता और विभिन्नता दिखलाता है। फिर छल्ले के सहारे लोहे की धातु पर एक सुन्दर पाठ पढ़ाया जाता है। किस प्रकार लोहा खानों से निकाल कर तपाने के बाद काम आने लायक बनाया जाता है और फिर कैसे उससे अनेक प्रकार की उपयोगी वस्तुयें बनाई जाती है आदि बड़े मनोरंजक रूप में बालकों को बताया जाता है। इन छल्लों की सहायता से अनेक प्रकार के डिज़ायन भी लड़के बनाते हैं।

डोर के अभ्यास—सूत की डोर का फ्रोबेल की विधि में काफी महत्व है। बालक स्वभाव से डोर के शौकीन होते हैं। वे प्रायः अपनी जेब में डोर की गुड्डी रखते हैं। अनेक प्रकार के रंगों के डोरों का प्रयोग किया जाता है। लकड़ी की पटरियाँ और छल्ले मन चाहे ढंग से मोड़े नहीं जा सकते परंतु डोरे को जैसे चाहें मोड़ सकते हैं, इसलिये डोरे से बहुत काम निकलता है। पहले लड़के डोरे में अनेक प्रकार की गाँठें बाँधना सीखते हैं। फिर उन्हें डोरे की उत्पत्ति पर एक पाठ पढ़ाया जाता है। इस पाठ में, कपास, रुई, धुनना कातना, बीनना, बुनाना आदि सभी विषय प्रसंग में आ जाते हैं। पाठ वार्तालाप-विधि (Conversation Method) से पढ़ाया जाता है। फिर डोरे से विविध प्रकार की आकृतियाँ बनाकर दिखाई जाती हैं, जैसे, फूल, गिलास, पंखा, हैट, वृत्त, चम्मच आदि। डोरे से अक्षर-ज्ञान में भी सहायता मिलती है।

ड्राइंग का अभ्यास—ड्राइंग का किंडरगार्टेन विधि में प्रमुख स्थान है। इसके दो कारण हैं। एक, ड्राइंग की जीवन में हर समय

आवश्यकता पड़ती है। कोई भी ऐसा व्यवसाय नहीं है जहाँ पहले योजना बनाते समय नक्शे की जरूरत न पड़ती हो । उद्यम और उद्योग (Industry) में मशीन के चित्र आवश्यक होते हैं। दूसरे इसके द्वारा बालक की अनुकरण और रचनात्मक प्रवृत्तियों की संतुष्टि होती है बालक का यह स्वभाव होता है कि वह जो वस्तु या दृश्य देखता है, उसका वैसा ही चित्र खींचना पसंद करता है। कल्पना को साकार रूप देने में भी चित्रांकन से सहायता मिलती है। चित्रांकन के महत्व का सब से उत्तम प्रमाण चीन और मिश्र की भाषाये हैं जहाँ की भाषा लिपि में रेखा-प्रतीकों (Line Symbols) के स्थान पर चित्रों का प्रयोग होता ह। ग्राफ की तरह स्लेट पर बने खानों पर बालक, सीधी, टेढ़ी तथा झुकी हुई रेखायें खींचने का अभ्यास करते हैं। फिर इन रेखाओं की सहायता से अनेक सुँदर डिज़ाइन बनाना बताया जाता है। धीरे-धीरे इस प्रकार के डिज़ाइन बालक ग्राफ पेपर पर बनाना सीख लेते हैं। फिर उनमें रंग भरने की कला भी उन्हें बनाई जाती है।

दस्तकारी की शिक्षा—हाथ से किये गये काम बालकों को अच्छी तरह याद रहते हैं। इसलिये किंडरगार्टेन विधि में दस्तकारी सिखाने का पूरा प्रबन्ध है। शीशे के मोतियों के दाने, पानी में भिगोये हुए मटर के दाने इस काम में लाये जाते हैं। मोतियों के दाने कपड़े या मखमल पर बने डिज़ायनों पर टाँकने से बड़े सुंदर चित्र बन जाते हैं। मटर के भीगे दानों में लकड़ी की पतली सलाखे पिरो कर घर खाट और मंदिर आदि के माँडेल तैयार किये जाते हैं। इनके बनाने में 'गीतों' का प्रयोग उसी तरह होता ह, जैसे उपहारों द्वारा पढ़ाई में कागज में पिन से छेद करके भी डिज़ाइनें बनवाई जाती हैं। कागज के प्रयोग में कागज के उद्योग पाठ पर पढ़ाया जाता है। कसीदे की कढ़ाई (Embroidery) इस शिक्षा का मुख्य अंग है। ऊन के कपड़े पर नकली चाँदी, सोने के तारों से डिजाइन काटे जाते हैं। चटाई

बिनने, बेंत से डलिया बिनने कागज़ के खिलौने बनाने का अभ्यास करने में बालकों को बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। वे रंगीन कागज़ को मोड़कर फूल, नाव, टोपी चिड़िया के माँडेल तैयार करके रख देते हैं।

पाठ्यक्रम के अन्य विषयों की पढ़ाई—

नैतिक और धार्मिक शिक्षा—किंडरगार्टेन शिक्षा का प्रधान उद्देश्य ईश्वरीय सत्ता का बोध बालकों को कराना है क्योंकि उसी में 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का वास है। बालकों को उसका बोध 'पिता' के रूप में कराया जाता है। जिस प्रकार गड़ेरिया भेड़ों की देख-रेख करता है, उसी तरह परमपिता परमेश्वर हम सबका पालन करता है, यह भाव उत्पन्न किया जाता है। 'ईश्वर के दंड' का आभास तक नहीं होने दिया जाता। बालकों से यह नहीं कहते कि बुरा कार्य करने पर ईश्वर दंड देता है। इससे उसकी निष्ठुरता का आभास होता है। प्रायः यही कहते हैं कि बुरा कार्य इसलिए करना अनुचित है कि उससे ईश्वर, जो इतना दयालु है, अप्रसन्न होता है।

प्रातःकालीन प्रार्थना का जिक्र हम पहले 'दैनिक कार्यक्रम' के अन्तर्गत कर चुके हैं। प्रार्थना के बाद प्रश्नोत्तर-विधि द्वारा बालको से ईश्वर की दयालुता का दिग्दर्शन कराया जाता है। उदाहरण के लिए—"सूर्य कितना प्रकाशवान है, इसे किसने बनाया ?" या "चिड़ियाँ क्यो गाना गाती हैं ?" आदि इस प्रकार के प्रश्न किये जाते हैं। इसी तरह दया, ईमानदारी, सत्यवचन आदि नैतिक गुणों के पाठ पढ़ाये छाते हैं। पत्यक्ष उदाहरणों के प्रयोग से यह दुर्बोध विषय उनकी समझ में आ जाते हैं जैसे—"मैं एक दिन स्टेशन पर टिकट खरीद रहा था। भीड़ थी, उसी समय एक लड़का घुसकर धक्का देने लगा। मैं गिर पड़ा। मेरी ट्रेन छूट गई।"

यह कैसा लड़का था ? इस तरह के प्रश्न से व्यवहार की अच्छाई-बुराई का ज्ञान हो जाता है।

पढ़ने की शिक्षा—फ्रोबेल की विधि में, पढ़ने की शिक्षा की असली व्यवस्था सात वर्ष की आयु के बाद ही की जाती है परन्तु प्रायः पढ़ने का अभ्यास इस आयु के पूर्व ही होने लगता है। पटरियों, डोर और छड़ियों की सहायता से अक्षर-ज्ञान पहले से हो जाता है, परन्तु यह सब एक तरह खेल ही खेल में आ जाता है। इसके बाद शब्द-ज्ञान का नम्बर आता है। अलग-अलग अक्षर तोड़-तोड़ बताने की अपेक्षा समूचे शब्द को सस्वर (Loud reading) पाठ द्वारा बताते हैं। 'शब्दों' को याद कराने में छोटी-छोटी कहानियों से काम लिया जाता है। इसे नाटकीय विधि कहते हैं। सब बच्चे खेलते हैं। कोई उस कहानी का एक पात्र बनता है कोई दूसरा। इस तरह खेल द्वारा शब्द याद हो जाते हैं। सम्पूर्ण वर्णमाला को याद कराने के लिए एक कविता कंठस्थ करा दी जाती है, जिसकी हर एक लाइन का आरंभ वर्णमाला के एक अक्षर से होता है। पढ़ाई का पाठ एक अन्य विधि द्वारा जिसमें सात पद हैं, दिया जाता है। अध्यापक एक तस्वीर दिखाता है। बालकों की उत्सुकता बढ़ती है। दूसरे पद में अध्यापक इस तस्वीर के बारे में एक कहानी सुनाता। तीसरे पद में वह बालकों कहानी मेंआये हुए नये शब्द सिखाता है। वे शब्द श्यामपट पर लिख दिये जातें हैं। चौथे पद में शब्दों को अच्छी तरह सीखलिया जाता है। (प्रारंभ में ऊपर बताई गई विधि द्वारा) पाँचवें पद में अध्यापक शुद्ध पाठ का नमूना स्वयं पढ़ कर देता है। अब छठे पद में बालक बिना अध्यापक की सहायता से पढ़कर सुनाते हैं। हाँ, अध्यापक कक्षा में बालकों के सामने खड़ा रहता है और भूलों को ठीक करता जाता है। सातों पद में प्रत्येक बालक पर ध्यान देते हुए पढ़ने का अभ्यास कराते हैं। सहानुभूति और प्यार से बालकों की भूल सुधार दी जाती है। बालक में अधिक से

अधिक पढ़ने की रुचि जाग्रत करने के लिए कुछ ऐसी पुस्तकों का प्रबंध किया जाता है जिसमें मनोरंजक कहानियाँ लिखी होती हैं, और जिनके विषय 'जहाज', 'मोटर', 'वायुयान', 'बन्दूक' आदि होते हैं।

लिखने का ज्ञान—लिखने के संबंध में फ्रोबेल का विचार है कि यदि बालक ने अक्षर को ध्यान से देखा है वह उसका स्मृति-चित्र (Memory Image) मन में धारण करके उसके सहारे अक्षर लिख सकता है। फिर अक्षर बनता कैसे है, इसका ज्ञान बालक को कराया जाता है। अक्षर में खड़ी लाइनें, तथा फंदे होते हैं। अतः पहले 'खेल' द्वारा छोटी लकड़ियों के सहारे इन लाइनों और फंदों का अभ्यास कराया जाता है। लकड़ियों को 'फौज के सिपाही' के रूप में मानकर उन्हें ड्रिल की तरह खड़ा होना, घूमना और लेटना आदि की स्थिति में रखना बताते हैं। फिर 'कमल' को घुमाने के अभ्यास कराये जाते हैं। अँगूठे और उँगलियों से कलम या पेंसिल पकड़ना, कलाई घुमाना भी बताया जाता है। इन सबके लिए आदेश नियत हैं। अक्षर को सुन्दर, सीधे तथा धीरे से लिखना बताया जाता है।

संख्या का ज्ञान—'उपहारों द्वारा शिक्षा' के अन्तर्गत हम बता चुके हैं कि प्रारंभ से ही बालकों को संख्या का बोध बहुत-कुछ हो जाता है। आगे चलकर 'खेल' और 'कहानी' की सहायता से अंकगणित के प्रारंभिक नियम जैसे—जोड़, बाकी, गुणा, भाग आदि की शिक्षा दी जाती है। जैसे—अध्यापक कहता है—"मैं अपने मित्र के साथ उसके गाँव गया। उसके दरवाजे पर एक भैंस बँधी थी। दो बैल चारा खा रहे थे। इतने में तीन बकरियाँ आगयीं। अच्छा, अब बताओ मेरे मित्र के पास कितने जानवर थे?" आदि। खेल में ठोस वस्तुओं (जैसे—खिलौने, सीप, घोंघे) का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त १० से ऊपर की संख्या का बोध लकड़ी के गोल टुकड़ों में बने असंख्यक छेदों द्वारा कराते हैं।

आकृति तथा रंग का ज्ञान—इस संबंध में बहुत-कुछ 'उपहारों' के प्रसंग में बताया जा चुका है। बालकों को उपहारों की सहायता से ज्यामिति की विभिन्न शक्लों का पूरा परिचय मिल जाता है। जहाँ तक रंगों और उनके (gradations) हल्कापन तथा गहरेपन का प्रश्न है, प्रकृति-पर्यवेक्षण द्वारा उनका ज्ञान कराते हैं, फूलों से पढ़ाई में विशेष सहायता मिलती है। यहाँ भी कहानियाँ तथा खेल काम में लाये जाते हैं।

प्रकृति-विज्ञान (Natural History) **की पढ़ाई**—किंडरगार्टेन में 'पौधों', 'पक्षियों' और 'पशुओं' से बालक का सम्बन्ध हर समय रहता है। वे इनमें रुचि ही नहीं लेते वरन् उनसे प्रेम भी करते हैं। यही भावी वैज्ञानिक अध्ययन की नींव है। उनके साथ खेलने तथा रहने से, उनके अंग-प्रत्यंग का निरीक्षण करने से, उनका ज्ञान ठोस हो जाता है। अब आगे चल कर वस्तु-पाठ (Object Lessons) द्वारा पढ़ाई होती है। उदाहरण के लिये, 'गाय' को लेकर अध्यापक बालकों को उसके सारे अंगों का निरीक्षण कराता है। कभी-कभी स्लाइडों और लालटेन द्वारा बड़े पशुओं के चित्र परदे पर जाते हैं। छोटे-छोटे पशु जैसे चूहे, खरगोश, गिलहरी आदि जालीदार बक्सों में पाल कर रक्खे जाते हैं। वस्तु-पाठ (Object Lesson) और चित्र-पाठ (Picture Lesson) द्वारा पढ़ाई होती है।

कहानियाँ—अनुभव बताया है कि बालक को कहानियाँ सुनने में बड़ा आनंद आता है। संध्या होते ही वे बूढ़े बाबा या दादी को कहानियाँ सुनने के लिये तंग करने लगते हैं। फ्रोबेल ने कहानियों का प्रयोग पढ़ाई में कई कारणों से किया है। एक तो इससे बालकों का भाषा-ज्ञान बढ़ता है, दूसरे, बालकों को पात्रों से सहानुभूति पैदा हो जाती है। इससे उनमें मानवीय-गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इसके द्वारा कल्पना-शक्ति भी बढ़ती है। सबसे अधिक लाभ यह है कि बालकों

में नैतिक गुण उत्पन्न होते हैं। आज्ञापालन, सहनशीलता, सत्य बोलना आदि के गुण कहानियों द्वारा आसानी से सिखाये जा सकते हैं। कहानियाँ कई तरह की होती हैं। ऐतिहासिक, कल्पनात्मक तथा प्रकृति की कहानियाँ। ऐतिहासिक कहानियों द्वारा यथार्थ का अनुभव कराते हैं। कल्पनात्मक कहानियाँ छोटे बच्चे अधिक पसंद करते हैं क्योंकि उनका देव-परी का वर्णन रोमांचकारी होता है। पेड़, पौधे, पहाड़ और नदियों की कहानियों से उनका ज्ञान भी बढ़ता है और प्रकृति के प्रति प्रेम जाग्रत होता है। कहानियों को कहते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि कहानी में वास्तविकता का हनन न हो। रोचक ढंग से सुनाना और जहाँ आवश्यक हो, अभिनय से काम लेना चाहिए। स्वर स्पष्ट हो, भाषा सरल तथा सुबोध होना ठीक है। अध्यापक कहानी इस तरह सुनाये कि बालक समझे कि उसे भी पात्रों के सुख से सुख और दुख से दुख का अनुभव हो रहा है। जो बातें समझ में यों कहने से न आ सकें, उनका चित्र या माडेल भी दिखा देना उचित है।

कविता पाठ—तुकांत पद्य में लिखी हुई कहानियाँ इसके लिए काम में लायी जाती हैं। वे सरल, पर प्रवाहपूर्ण भाषा में लिखी होती हैं। अध्यापक उन्हें सस्वर पढ़कर सुनाता है। शब्दों के शुद्ध उच्चारण पर ध्यान रक्खा जाता है। बालक अध्यापक का अनुकरण करते हैं। कुछ शब्दों पर विशष जोर देते हैं। उन शब्दों पर ध्यान दिलाने के लिए कुछ प्रश्न बीच में पूछ लिए जाते हैं।

संगीत की शिक्षा—मेरिया माँटेसरी की तरह फ्रोबेल का भी विचार है कि संगीत बालक की शिक्षा का प्रमुख अंग है। किंडर-गार्टेन में संगीत की शिक्षा कई भागों में विभक्त है।

(अ) **संगीत के खेल**—बच्चे 'पशुओं' का पार्ट लेकर खेलते हैं और गाते हैं। कभी-कभी समूहगान (Chorus) भी होते हैं। गाते समय वे भिन्न-भिन्न अंगों का संचालन करते हैं जैसे हाथ मिलाकर

नाचना, झुकझुक कर चलना, पर यह अंग-संचालन। ताल और लय के साथ होना है। उदाहरण के लिए वन-गीत (Jungle song) उल्लेखनीय है। समूह गान आरम्भ होता है। एक बालक भेड़िये का अभिनय करता हुआ मानो माँद से निकलता है और ताल और लय के साथ चलता है। दूसरा लड़का शिकारी बन कर उसका पीछा करता है और उसे पकड़ता है। इसी तरह से अनेक गीत होते हैं। इनसे बालकों के कान भिन्न भिन्न ध्वनियों के पहचानने में अभ्यस्त हो जाते हैं।

(ब) **क्रिया गीत** (Action songs)—इन गीतों में अंग संचालन प्रधान होता है। वास्तव में यह भविष्य में ड्रिलकी तैयारी है। गान आरंम्भ होते ही, हाथ जोड़ना, अलग करना, हाथ ऊपर उठाना, ताली बजाना, हाथ को छाती से लगाना आदि क्रियायें बालक करते हैं। इसी तरह दूसरे गान में पैरों के अभ्यास होते हैं जैसे तेजी से चलना, धीरे से चलना, घूमना, पैर जोड़ कर खड़े होना आदि।

(स) **अभियान गीत** (Marching songs) अंगों को सीधा किये हुए स्थिर भाव से संगीत की लय के साथ अभिनय करना बताया जाता है। कदम मिला कर धीरे-धीरे चलना, या तेज़ी से चलना हाथ मिलाते हुये या हाथ बाँध कर चलना, यह सब सिखाते हैं।

इनके अतिरिक्त संगीत की शिक्षा में घुनघुनों का प्रयोग होता है। छः इंच की लड़की के दो सिरों पर दो गोल लोहे के गेंद-से लगे होते हैं। इन्हें घुनघुना कहते हैं। इन्हें विभित्र ढ़ंग से हिला कर मधुर स्वर उत्पन्न किये जा सकते हैं। अतः बालकों को इन्हें कई तरह से हिलाना बताया जाता है। इनके पचासों अभ्यास नियत हैं। किंडरगार्टेन में इनका प्रयोग होता है।

कसरत—बच्चों का स्वास्थ्य सुधारने, उन्हें फुर्तीला बनाने साथ ही उनका मनोरंजन करने के उद्देश्य से अनेक प्रकार की कसरतें बालकों को कराई जाती हैं। लड़की के गोल रिंग जिन पर रेशमी कपड़ा लपेटा रहता है, छड़ी, तिकोनी पट्टी, लकड़ी की बंदूकें, पंखे आदि की सहायता से लड़के ढंग ढंग की कसरत करते हैं। इन कसरतों के लिए संकेत बँधे हुये हैं। अध्यापक उन संकेतों को आदेशों द्वारा प्रकट करता है और बच्चे इसी के अनुसार कसरत करते हैं। इनका पूरा विवरण जानने के लिये किंडरगार्टेन की पुस्तकें पढ़ना आवश्यक है ।

किंडरगार्टेन-विधि की आलोचना—

किंडरगार्टेन विधि के सम्बन्ध में शिक्षाशास्त्रियों का मत यह है कि यह विधि व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि इसमें निर्धारित शिक्षा-क्रम इतना लंबा है कि उसे आसानी से पूरा नहीं किया जा सकता। इसलिए इसे मूल रूप में अपनाना ठीक नहीं। देश और काल की परिस्थिति के अनुरूप, इस विधि का रूपांतर करके इसे प्रयोग में ला सकते हैं। फ़्रोबेल के उपहारों में कोई हेर-फेर करना संभव नहीं है क्योंकि उसने जिस उद्देश्य को ध्यान में रखकर, उनका आयोजन किया है, उसमें तनिक भी परिर्वतन से इस विधि का आकर्षण ही समाप्त हो जायगा, परन्तु खेलों और दस्तकारी की शिक्षा में घटाने बढ़ाने की पूरी गुंजाइश है। अपने समय में ही फ़्रोबेल ने अपनी विधि की लोकप्रियता देखी। उसी ढंग के कई स्कूल भी स्थापित हो गये, परन्तु अपने अंतिम समय में, फ़्रोबेल ने देखा कि उसके देश की सरकार, इस विधि विरोध कर रही है। जर्मन सरकार ने इस विधि के क्रान्तिकारी रूप को देख कर इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उधर अन्य देशों ने इसे अपनाना आरम्भ कर दिया और आज प्रत्येक देश में इसका उपयोग बड़े पैमाने पर किया जाने लगा है।

गुण—

(१) **परिवारिक वातावरण**—किंडरगार्टेन में सारे बालक एक परिवार की भाँति रहते हैं। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप बड़ी तेजी से परिवार का विघटन होता जा रहा है। पहले कुटुम्ब का भरण-पोषण आसानी से हो जाता था। पुरुषवर्ग काम करता था और स्त्रियाँ घर में रह कर गृहस्थी चलातीं और बच्चों की देख-भाल करती थीं। आज वह युग आ गया है, जब माता-पिता दोनों करखानों, खेतों में या खानों काम करने के लिये निकल जाते हैं। बच्चों की देख-भाल करने वाला कोई नहीं रह जाता और वे बिगड़ जाते हैं। इस कमी को किंडरगार्टेन पूरा करता है। अध्यापिका से बालकों को मातृ-स्नेह प्राप्त होता है। वे यहाँ रह कर अच्छी आदतें सीखते हैं और अच्छे नागरिक बनते हैं।

(२) **व्यावसायिक महत्व**—किंडरगार्टेन में दस्तकारी की शिक्षायें भी हैं। काग़ज, लकड़ी, बुनाई, और सिलाई के काम यहाँ बालक सीख लेता है। भविष्य में इनसे उसे बड़ा लाभ पहुँचता है। फ़ोबेल से पूर्व रूसो ने शिक्षा के व्यावसायिक महत्व पर प्रकाश डाला था। 'एमील' की शिक्षा में उसने दस्तकारी का विशेष ध्यान रक्खा था परन्तु दस्तकारी की शिक्षा, उसने केवल आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से आवश्यक बतायी थी। उसीके बाद पेस्तालाजी ने दस्तकारी पर इसलिए जोर दिया था कि बालक हाथ से काम करके बहुत-सी नयी बातें सीख सकते हैं, परन्तु फ्रोबेल ने व्यावसायिक शिक्षा का महत्व एक नये ढ़ंग से बताया। उसका मत है कि व्यावसायिक शिक्षा से बालकों की रचनात्मक शक्ति का विकास होता है। इन दस्तकारी के कामों द्वारा, बालकों की आंतरिक शक्ति बहिर्मुखी होकर रचनात्मक कार्यों में संलग्न हो जाती है।

दस्तकारी के कामों से एक लाभ और होता है। बालकों को अपनी व्यावसायिक रुचि का अंदाजा हो जाता है। अध्यापक उन्हें

काम कराते हुए उनकी भावी सफलता या असफलता का अनुमान लगा देता है और उसी के आधार पर उन्हें शैक्षिक और व्यावसायिक सलाह दे सकता हैं। आर्थिक दृष्टि से इन कामों का महत्व है ही। बालक इस योग्य हो जाते हैं कि वे अपने पेट की समस्या स्वयं हल कर सकें।

(३) **बालकों के व्यक्तित्व का अध्ययन**—किंडरगार्टेन में अनेक प्रकार के काम (activities) होते हैं। उन्हें करते हुए बालकों के व्यवहार का अध्ययन, बड़ी सरलता से किया जा सकता है। जब अध्यापक प्रत्यक्ष रूप से बालक के व्यक्तित्व का अध्ययन करने लगता है, तो बालक संकोच में पड़ जाता है और उसकी चित्त-वृत्तियाँ, स्वाभाविक ढंग से काम करना बंद कर देती हैं। इसके विपरीत जब वह खेलता होता है या किसी अन्य काम में लगा होता है, तो उसका व्यवहार स्वाभाविक रहता है। किंडर-गार्टेन में हम बालक के स्वाभाविक व्यवहार का अध्ययन इसलिए कर सकते हैं कि इसमें उन्हें प्रत्येक प्रकार के काम करने की सुविधा रहती है।

(४) **बालक की प्रवृत्तियों की संतुष्टि**—इस विधि द्वारा पढ़ाई में बालक की रचनात्मक, कल्पनात्मक और सौंदर्यानुभूति आदि शक्तियों का उपयोग होता है। कहानियों, खेलों और अभिनयों में बालक कल्पित जीवन (Make believe) का आनन्द लेते हैं। वे कभी अपने को शिशु, कभी राजा, कभी कुछ और मान कर उनके कार्यों का स्वयं आनन्द लेते हैं। बालकों यह प्रवृत्ति शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। किंडर-गार्टेन में इस की संतुष्टि होती है। बालकों की सहज शक्तियों और प्रवृत्तियों का प्रयोग किंडर-गार्टेन में होता है। इनके प्रयोग द्वारा धीरे-धीरे बच्चों की आदतें सुधरती हैं और उनकी कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है। रचनात्मक कार्यों में वे जीवन में विभिन्न वस्तुओं की उपयोगिता का सही अर्थ समझने

लगते हैं। अनुकरण और निर्देश की प्रवृत्तियों का भी समुचित प्रयोग किंडर-गार्टेन में हुआ है।

(५) **प्रकृति-प्रेम की उत्पत्ति**—बाग में पशु-पक्षियों, पेड़ों और फूलों के संपर्क में रहकर बालक प्रकृति से प्रेम करना सीखते हैं उनकी पर्यवेक्षण शक्ति बढ़ती है। वस्तु-पाठ द्वारा वे एक वैज्ञानिक की भाँति हर वस्तु का सूक्ष्म अध्ययन करना सीख लेते हैं। प्रकृति प्रेम का इससे भी आगे, एक पहलू है, वह है आध्यात्मिक पहलू। प्रकृति-प्रेम द्वारा बालक के नैतिक गुणों की अभिवृद्धि होती है। प्रकृति तो केवल ईश्वर की महान शक्ति का अनुभव करने का साधन है। ईश्वर पर विश्वास तथा श्रद्धा उत्पन्न करने का यह साधन है।

(६) **नैतिक गुणों का विकास**—बालकों में आध्यात्मिकता उत्पन्न करना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है क्योंकि आध्यात्मिकता से ही नैतिकता उत्पन्न होती है। किंडरगार्टेन के उत्तम वातावरण में बालकों का चरित्र बनता है। उनमें कर्तव्य-पालन, सत्य बोलना, सहयोग, तथा पारस्परिक प्रेम जैसे सात्विक गुण उत्पन्न हो जाते हैं। किंडरगार्टेन की पढ़ाई का सच्चा असर भावी जीवन में देखा गया है। यहाँ के पढ़े हुए बालक, सामाजिक जीवन में सुनागरिक साबित हुए हैं। आलोचक रस्क का कहना है कि किंडरगार्टेन में, सैद्धांतिक दृष्टि से भले ही कुछ दोष हों, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि छोटे बच्चों को शिक्षा के लिए नए प्रकार के स्कूलों की आवश्यकता का ध्यान फ्रोबेल ने ही दिलाया, क्योंकि चारित्रिक विकास के दृष्टिकोण से बचपन में, चरित्र की पक्की नींव डालना बहुत जरूरी है।

(७) **इन्द्रिय-शिक्षा**—आजकल हम सभी जगह इन्द्रिय-शिक्षा की चर्चा सुनते हैं। इस ओर सबसे पहले हमारा ध्यान आकर्षित करनेवाला फ्रोबेल ही था। फ्रोबेल के आधार को लेकर, उस पर

मेरिया माँटेसरी ने अपनी शिक्षण-विधि का विकास किया तो, परन्तु मेरिया ने उसे एकांगी बना दिया । फ्रोबेल की शिक्षण-विधि में इन्द्रिय-शिक्षा का जितना महत्व होना चाहिए, उतना ही है । इन्द्रिय-शिक्षा द्वारा विचारोत्पत्ति (Concept formation) में सहायता मिलती है, इसीलिए फ़्रोबेल ने इन्द्रिय-शिक्षा पर जोर दिया । उसने इसे कभी भी आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं दिया ।

(८) **उपहारों का मनोवैज्ञानिक महत्व**--फ्रोबेल ने उपहारों का चुनाव, मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुसार किया है । स्थूल वस्तुओं के सहारे सूक्ष्म विचारों को उत्पन्न करने के लिए उसने 'मूर्त से अमूर्त की ओर' (From Concrete to Abstract) वाले सिद्धांत का फ्रोबेल ने पालन किया है। इसके अतिरिक्त 'क्रिया द्वारा सीखना' (Learning by doing) तथा खेलों द्वारा शिक्षा' (Playway) जैसे मनोवैज्ञानिक तत्वों का समावेश किंडरगार्टेन में हुआ है। सबसे बड़ी बात यह है कि फ्रोबेल ने पहली बार वैकासिक मनोविज्ञान (Developmental Psychology) का शिक्षा में प्रयोग किया। इस दृष्टि से वह सच्चा मनोवैज्ञानिक था । उसने ही इस तथ्य को खोजा कि बालकों का विकास एक नियम के अनुसार होता है और उस नियम का यदि शिक्षण में प्रयोग किया जाय तो अवश्य सफलता मिलेगी। इस विधि से बालक को कल्पित-जीवन (Make believe) का पूरा आनन्द प्राप्त होता है। गेंद को चिड़िया मान कर अपनी गोद में सुलाना बालक को बड़ा ही सुखप्रद जान पड़ता है। बच्चों का स्वभाव ही यह होता है कि वे अपने को कहानी के नायक के रूप में, घोड़े को छड़ी के रूप में, गुड्डे-गुड़ियों में भावी गृहस्थ-जीवन को देखकर, इतना तन्मय हो जाते हैं कि वे अपने को भूल जाते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति किंडरगार्टेन में संतुष्ट हो जाती है ।

(९) फ्रोबेल ने अपनी शिक्षा-विधि में सामाजिकता को स्थान दिया। रूसो ने इमाइल की शिक्षा में सामाजिक प्रभावों को हानिकर बताया था। फ्रोबेल ने प्रकृति और समाज के प्रभावों को बालक की शिक्षा में उपयोगी ढंग से प्रयोग किया। किंडरगार्टेन में बालक मिल-जुल कर सारे कार्य करते है। यह सामाजिकता का वातावरण किंडरगार्टेन की विशेषता है।

दोष—

सिद्धांत और उनके व्यवहार में अन्तर—फ्रोबेल ने उपहारों और खेलों का तात्कालिक (Immediate) महत्त्व कम बताया है। उसके मत में उपहार तथा खेल की वस्तुएँ, उच्च आध्यात्मिक सिद्धांतों को व्यक्त करने के लिए प्रतीक (Symbol) के रूप में चुनी गयी हैं। मजे की बात यह है कि फ्रोबेल महोदय ने न जाने कैसे यह कल्पना कर ली कि बालक खेल ही खेल में, इन उच्च आध्यात्मिक बातों को समझ लेगा।[1] इस बात की कल्पना करने में वे व्यावहारिकता और बालक के मनोविज्ञान को भूल गये। दूसरे, उपहार के सम्बन्ध में आप यहाँ तक कह जाते हैं कि दो साल का बच्चा इसकी सहायता से प्रकृति तथा मनुष्य की वास्तविकता समझ लेता है। इसी तरह खेलों के संबंध में आप लिखते हैं कि बालक खेल द्वारा ही उस महान एकता का बोध कर लेता है जो सब जगह व्याप्त है। गेंद की चमक, गर्मी और लचकपन से वह 'महान आत्मा' की शक्ति तथा प्रकाश का अनुभव कर लेता है आदि। बालकों के संबंध में यह सब बातें हास्यास्पद ज्ञात पड़ती हैं, क्योंकि बालक ऐसी बातें न सोचते हैं और न समझ पाते हैं।[2] वे केवल उपहारों

१. Kilpatrick, W. H. : Froebel's Kindergarten Principles critically examined.
२. Rusk, Robert R. : Doctrines of Great Educators, p. 259

से खेलने में मस्त रहते हैं। इस दृष्टि से यह विधि जिस उद्देश्य को लेकर चली है, उसमें असफल हुई है। उसकी लोकप्रियता का एकमेव कारण है—वर्तमान औद्योगिक हलचल से उत्पन्न सामाजिक स्थिति।

डयूवी[1] के मत में फ्रोबेल ने दो कारणों से अपनी शिक्षण-विधि में प्रतीकवाद (Symbolism) का प्रयोग किया है। एक तो उस समय मनोवैज्ञानिक तथा शरीर रचना-विज्ञान के वे सिद्धांत अज्ञात थे, जिनका सम्बन्ध बालक के विकास से है। अत: फ्रोबेल ने मजबूर होकर खेलों और उपहारों की प्रतीकात्मक व्याख्या की। दूसरे, उस युग में जर्मनी में राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति ऐसी थी कि स्कूलों का मुक्त और स्वतन्त्र वातावरण उसके प्रतिकूल बैठता था। मतलब यह है कि समाज में निरंकुशता और बन्धन हो और किंडर-गार्टेन में खेलकूद और स्वतन्त्रता हो, यह बात सरकार और समाज को सह्य न थी। इस लिए फ्रोबेल ने उपहारों की कल्पना में नैतिकता और दार्शनिकता का रंग मिला दिया ताकि वह सर्वग्राह्य हो जाय। फिर भी नाज़ी जर्मनी में किंडरगार्टेन विधि पर प्रतिबध लग ही गया। हाँ, अब अन्य देशों में यह प्रतीकवाद का आवरण हटा दिया जाय तो अनुचित न होगा। अन्यथा फ्रोबेल के विचार असंगत मालूम पड़ने ही चाहिएँ।

सिद्धांतों में विरोधाभास—फ्रोबेल के सिद्धांत युक्तियुक्त नहीं हैं और कहीं-कहीं उसका एक सिद्धांत दूसरे से टकराता है। 'विश्व में एकता' तथा 'आन्तरिक विकास क्रिया', जैसे गूढ़, सिद्धांतों वह स्पष्ट समझाने में असफल रहा। यही नहीं, उन्हें वह तर्कों और उदाहरणों द्वारा प्रमाण सहित प्रस्तुत न सका। एक ओर वह कहता

---

1. Dewey, John: The school and society, chap on Froebel's Educational Principles, p. 116-117.

है कि बालक का विकास एक आन्तरिक क्रिया द्वारा होता है और दूसरी ओर वह यह बताने में असमर्थ है कि यह क्रिया शिक्षा द्वारा कैसे प्रस्फुटित होगी। यदि बालक का ज्ञान और अनुभव इस आँतरिक क्रिया द्वारा बढ़ सकता तो फिर बाहरी शिक्षा का इतना बड़ा भ्रमजाल बिछाने की क्या आवश्यकता है? यदि फ्रोबेल का यह सिद्धांत मान लिया जाय तो शिक्षा-सम्बन्धी सारा आयोजन ही व्यर्थ है। प्रोफेसर डिवी ने फ्रोबेल के इस पक्ष की बड़ी खरी आलोचना की है, क्योंकि वह सिद्धांत शिक्षा के महत्व को कम करता है। चार्ल्स हार्डी के मत में[2] वृक्ष और बालक के आन्तरिक विकास में जो समता दिखाई देती है। वह सम्पूर्ण नहीं है। बालक के शारीरिक विकास के सम्बन्ध में तो फ्रोबेल के विचार सत्य हैं परन्तु मानसिक विकास के सम्ब्रन्ध में फ्रोबेल का मत सही नहीं प्रतीत होता। शिक्षा का संबंध सीखने (Learning) से है और सीखने की क्रिया में आन्तरिक विकास की क्रिया अधिक सहायता नहीं करती।

आडंबर तथा बन्धन—फ्रोबेल ने किंडर-गार्टेन द्वारा बालकों को मुक्त वातावरण प्रदान करने की चेष्टा की, जिससे वे अबाध गति से शारीरिक और मानसिक उन्नति कर सकें। दुर्भाग्य से उसने 'उपहारों' तथा अन्य व्यापारों की योजना इस प्रकार बनायी कि इस शिक्षण-विधि में आडंबर हद से ज्यादा बढ़ गया। बालक इन सबको करते हुए कभी-कभी बड़ा बंधन अनुभव करने लगता है।

गंभीरता का अभाव—फ्रोबेल ने खेलों को इतना अधिक महत्व दे दिया है कि शिक्षा एक क्रीड़ा बन गयी। बालक खेल को खेल ही

---

2. Hardie. D. charles: Truth and Fallacy in Educational Theory chap. I.

समझते हैं। बालकों का ध्यान, रंगीन और चमकदार गेंदों, विभिन्न आकारवाले लकड़ी के टुकड़ों, कागज, लकड़ी और मिट्टी के खिलौनों और गीतों में ऐसा उलझ जाता है कि वह इनसे परे विचार करने की आवश्यकता नहीं समझता। यह स्थिति भावी-जीवन के लिए बड़ी घातक होती है। 'जीवन' एक हँसी-खेल की चीज नहीं। वहाँ तो कठिनाइयाँ और संकट पग-पग पर मिलते हैं। जिन बालकों को ऐसे खेल-प्रधान जीवन का अनुभव हो जाता है और जो उसके अभ्यस्त हो जाते हैं, वे जीवन-संग्राम में क्या कर सकेंगे? सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से जर्मनी में किंडर-गार्टेन स्कूलों में नाज़ी सरकार ने प्रतिबंध लगा दिया था। विद्वानों का मत है कि यहाँ बालक का केवल मन बहलता है, शिक्षा नहीं प्राप्त होती।

एक दूसरा तर्क और भी है। बालक को घर से स्कूल में क्यों भेजा जाता है? स्कूल एक ऐसा स्थान जहाँ बालक ऐसी बातें सीखता है, जो घर में या समाज में नहीं सीख सकता। किंडर-गार्टेन में जितना उसे बताया जाता है, उसे वह घर में ही सीख सकता है। जितना इंद्रिय-ज्ञान उसे यहाँ प्राप्त होता है, उतना तो वह घर में ही अनेक स्थूल वस्तुओं से खेल कर प्राप्त कर लेता है।

खेलों का अनुचित प्रयोग—जीवन में खेल का एक प्रयोजन है और वह है मन को गंभीर बातों से हटाना और इस प्रकार उस पर पड़े हुए चिंतन-मनन, एकाग्र-बंधन के भार से मुक्त कर उसके तनाव और खिचाव को ढीला कर देना, जिससे उसकी गंभीरता से शरीर पर पड़ने वाला कुप्रभाव दूर हो सके और मन की स्वतन्त्रता तथा उसके उल्लास से शरीर की अन्य इन्द्रियाँ भी सक्रिय, चेतन तथा स्वस्थ रह सकें। खेल का वास्तविक ध्येय मनोरंजन है। उसे शिक्षा में प्रयुक्त करना, खेल की वास्तविकता को नष्ट करना है। ड्यूवी[1] का

---

1 Dewey I:— The school and society p, 114

विचार है कि खेल में बालक केवल कुछ विशेष प्रकार की शारीरिक क्रियाएँ ही नहीं करता वरन् खेल एक प्रकार का 'मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण' है अर्थात् खेल के कामों में बालकों को एक निश्चित ढंग से काम करने के नियमों का पालन नहीं पड़ता। फ्रोबेल की विधि में खेलों, क्रियाओं और उपहारों के प्रयोग में, बहुत ही सूक्ष्म नियमों के पालन करने पर जोर दिया गया है। यही बात आलोचना का मुख्य विषय है। यदि नियमों का बिना समझे-बूझे पालन किया जाय तो अवश्य ही फ्रोबेल के मूल सिद्धान्तों से दूर हट जाना पड़ता है।

शैक्षिक कार्य-क्रम का अधिक विस्तार—किंडरगार्टेन में कुछ बातें ऐसी बतायी जाती हैं, जो चार वर्ष की आयु के बच्चों के अनु-भव से परे हैं। मानसिक विकास पूरा होने के पूर्व इनका समावेश हानिकर है। बालक की उत्सुकता मारी जाती है। ज्यों-ज्यों उसकी जिज्ञासा-प्रवृत्ति उल्लसित हो, वैसे-वैसे पाठ्य-सामग्री का विस्तार करना चाहिए। उस नियम का पालन नहीं किया गया हैं।

अध्यापक के महत्व के प्रति उदासीनता—'आन्तरिक-क्रिया पर अत्यधिक विश्वास के कारण, संभवतः फ्रोबेल ने अध्यापक का महत्व कम बताया है। उसका यह पक्ष काफी शिथिल है। अध्यापक के सम्पर्क से ही बालक का चेतन मन भासमान तथा उद्दीप्त होता है। "वास्तव में सजीव चेतन बालक के लिए सजीव चेतन अध्यापक की आवश्यकता है जो अपने ज्ञान, चरित्र और व्यवहार से बालक के भीतर बैठे हुए देवत्व को उद्‌बुद्ध करे, उसमें मानवता के सम्पूर्ण उदात्त भाव भरे और उसे तेजस्वी नागरिक बनावे। लकड़ी और मिट्टी से खेलनेवाले बालक वह तेज नहीं प्राप्त कर सकते, जो चरित्र और विद्या तेज़ प्राप्त किये हुए अध्यापक के सम्पर्क में प्राप्त होता है" [१]।

---

१. सीताराम चतुर्वेदी : शिक्षा प्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक पृ० १८६

आवश्यकता से अधिक कल्पनात्मक या वास्तविकता की उपेक्षा—फ्रोबेल की विधि में 'कल्पना' का प्रयोग आवश्यकता से अधिक हुआ है। कल्पना-जगत् में रह कर बालक को आनन्द अवश्य प्राप्त होता है परन्तु वह जीवन की वास्तविकता से दूर हट जाता है। उदाहरण के लिए बालक जमीन पर बालू के कण बिखरा कर बागबानी और खेती की कल्पना का आनन्द लेता है। परन्तु ऐसे कार्य वास्तविक और सत्य नहीं होते। अतः बालक आगे स्वयं ही इनकी कृत्रिमता को जान लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि बालकों में स्नायु-दुर्बलता, अति भावुकता और शक्तियों का कुंठित होना आदि दोष पैदा हो जाते हैं। उपहारों और उपकरणों द्वारा शिक्षा में निर्देश और कल्पना के प्रयोग से अंध-विश्वास की भावना उत्पन्न होती है। बालक आध्यात्मिक सत्य तो नहीं सीखता, हाँ उनमें कोरी भावुकता अवश्य उत्पन हो जाती है। दिवा-स्वप्न (Day-dreaming) जैसे दोषों का उत्पन्न हो जाना भी स्वाभाविक ही है।

———

(७)

मांटेसरी विधि

माँटेसरी विधि का आविष्कार करनेवाली विश्व-प्रसिद्ध महिला मेरिया मांटेसरी इटली देश की रहने वाली थीं। उनका जन्म सन् १८७० में हुआ। मेरिया उन जागरूक महिलाओं में गिनी जाती हैं जिन्होंने सदैव अपने देश के प्रगतिशील आंदोलनों में भाग लिया है। उन्होंने इटली में होने वाली राजनीतिक उथल-पुथल में भारी हिस्सा लिया परन्तु आज संसार उन्हें किसी दूसरे रूप में जानता है। उनकी प्रसिद्धि शिक्षा के क्षेत्र में विशेष रूप से हुई। डाक्टरी की परीक्षा पास करनेवाली, वे प्रथम इटैलियन महिला थीं। प्रारंभ से ही उन्हें बच्चों में रुचि थी। बालकों के मानसिक और शारीरिक विकास के लिए उन्होंने अनेक प्रयोग किए और उन्हीं के परिणाम-स्वारूप माँटेसरी-विधि का जन्म हुआ। आज यह विधि इतनी लोक-प्रिय है, कि प्रत्येक देश में बच्चों की पढ़ाई में कुछ हेर-फेर के साथ इसका प्रयोग अवश्य ही होता है। इस विधि की रूपरेखा की जानकारी प्राप्त करने के पूर्व, हमें उन परिस्थितियों और सिद्धांतों को समझ लेना आवश्यक है, जिनसे इसकी उत्पत्ति हुई।

सिद्धांत—

(१) **निर्बल मस्तिष्कवाले** (Feeble minded) **बालकों पर मेरिया के प्रयोग तथा उनसे प्राप्त अनुभव**—निर्बल मस्तिष्क वाले बालकों की मुख्य विशेषताएँ यह हैं कि वे अपनी कर्मेन्द्रियों तथा

ज्ञानेन्द्रियों का ठीक से उपयोग नहीं कर सकते। चलने-फिरने, बोलने तथा अपने शरीर का ठीक संतुलन करने में असमर्थ होने के कारण वे अपनी स्वास्थ्य-रक्षा नहीं कर सकते। ऐसे बालकों के नाक, आँख और मुख से पानी बहता रहता है। वास्तव में उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ अविकसित तथा अक्षम होती हैं। न उनमें दृढ़ता होती है और न भावों की स्थिरता। उनके संबंध में, मेरिया से पहले बहुत-कुछ हो खोज हो चुकी थी। उनकी दुर्दशा को ध्यान में रखते हुए सेगुइन (Seguin) नामक विद्वान ने एक पुस्तक[1] लिखी जिसमें उसने इस प्रकार के रोगी बालकों की शिक्षा पर ज़ोर दिया और यह आशा प्रकट की कि निकट भविष्य में अवश्य ही कोई ऐसी शिक्षण-विधि तैयार होगी जिसके द्वारा इस प्रकार के बालक इस योग्य बनाये जा सकेंगे कि वे साधारण जीवन बिता सकें।

मेरिया माँटेसरी ने सेगुइन की पुस्तक पढ़ी। वे स्वभाव से दयालु तथा बालकों से अपार स्नेह करने वाली स्त्री थीं। अतः उन पर इस पुस्तक का बड़ा प्रभाव पड़ा। डाक्टरी पास करने के बाद इन रोगी बालकों की ओर उनका ध्यान गया। रोम नगर में निर्बल मस्तिष्कवाले बालकों की शिक्षा का भार उन्होंने अपने कंधों पर ले लिया। उन्होंने अन्य विद्वानों जैसे लोम्ब्रोजो (Lombroso) और सर्जी (Sergi) की विधियों का अध्ययन किया और उन्हें अधिक उन्नत बनाने के प्रयत्न में वे लग गयीं। उनके परिश्रम का परिणाम यह हुआ कि बेचारे रोगी बालकों के कल्याण का मार्ग खुल गया। अर्धविकसित या पूर्ण अविकसित मस्तिष्क वाले बालक, स्वस्थ (Normal) बालकों की तरह कुछ न कुछ पढ़-लिख सकने में समर्थ हो सके। इस सफलता का श्रेय मेरिया की अनोखी शिक्षण-विधि को

1—Idiocy, Causes and its Treatment by Physiological Methods—Seguin.

प्राप्त है। माँटेसरी-विधि का आधार उनके वे ठोस अनुभव हैं और उन्होंने इस बात को मुक्त कंठ से स्वीकार भी किया है।

(२) **रोम की सामाजिक स्थिति के कारण 'बच्चों के घर' की कल्पना**—रोम में, निर्धन गृहस्थों की सामाजिक दशा अत्यंत दयनीय थी। वे बेचारे, गंदे मकानों में रहने के कारण अस्वस्थ हो जाते थे। उनकी दशा सुधारने के लिए नये प्रकार के मकान बनवाये गये, सफाई और देख-रेख का प्रबंध उन्हें ही सौंप दिया गया। अब एक नयी समस्या सामने आ गयी। माँ-बाप तो काम को करने के लिए घर से निकल जाते थे परन्तु बच्चे घर पर रहकर शैतानी करते। वे मकानों की दीवारों और दूसरे सामान को हानि पहुँचाते थे। इससे नये मकानों के व्यवस्थापकों को एक चिंता पैदा हुई। फलतः वहाँ के डाइरेक्टर-जनरल को एक बात सूझी। उन्होंने तै किया कि एक ऐसा बड़ा कमरा तैयार कराया जाय, जिसमें उस नयी बस्ती के ३ वर्ष से लेकर ७ वर्षवाले सारे बालक इकट्ठा कर दिये जायँ। वहाँ उनके खेलने तथा काम करने का आयोजन हो। उसकी देखभाल के लिए एक शिक्षक नियुक्त कर दिया जाय। इस प्रकार के स्थान को 'बच्चों का घर' (House of Childhood) का नाम दिया गया। इसकी स्थापना का उद्देश्य उन बालकों की पढ़ाई का मुफ्त प्रबंध करना था जिनके माता-पिता सरकारी काम में लगे रहने के कारण उनकी देखभाल करने में असमर्थ थे। यहाँ बच्चों को नहाने, कपड़े धोने, और सफाई रखने की शिक्षा दी जाती थी। अनुशासन की अवहेलना करनेवाले बालकों को निकाल दिया जाता था। सन् १९०६ में डाइरेक्टर महोदय ने इस संस्था का भार अनुभवप्राप्त मेरिया पर छोड़ दिया। इस प्रकार मांटेसरी विधि में 'बच्चों के घर' की परिकल्पना की गयी। यही उसका इतिहास है। माँटेसरी-स्कल को बच्चों का घर इसलिये कहा जाता है कि यहाँ उन्हें पूर्ण रूप से पारिवारिक जीवन का अनुभव होता है।

(३) **मेरिया मांटेसरी के दार्शनिक विचार**—मेरिया ने अपनी हस्तपुस्तिका में लिखा है कि शरीर-रचना-विज्ञान तथा चिकित्सा-विज्ञान की खोजों के फलस्वरूप बच्चों की स्वास्थ्य-रक्षा में काफी तरक्की हुई है। आधुनिक माताएँ (यूरोप में) स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का पालन करने लगी है और शिशुओं की मृत्यु-संख्या में भारी कमी हुई है। हर्ष का विषय है कि वतमान मानव-नस्ल अधिक स्वस्थ तथा शक्तिशाली होती जा रही है। परन्तु क्या शारीरिक स्वास्थ्य ही सब-कुछ है ? वास्तव में मावन-जीवन शरीर तक सीमित नहीं। बच्चों का शारीरिक ही नहीं, अपितु मानसिक और आध्यात्मिक विकास होना भी जरूरी है। अतः विज्ञान का काम अभी पूरा नहीं हुआ है। जिस तरह विज्ञान के द्वारा भौतिक नियमों की जानकारी हमें प्राप्त हुई है उसी तरह मानसिक विकास के नियमों की खोज करना जरूरी है। जब यह नियम मालूम हो जाय तो उनके आधार पर बच्चों की शिक्षा का ऐसा प्रबंध हो कि उनके चरित्र, बुद्धि और दूसरी रचनात्मक शक्तियों का, जो मनुष्य की आत्मा में प्रसुप्तावस्था (Dormant Condition) में निष्क्रिय पड़ी हैं, अभिवर्धन हो। मेरिया के मतानुसार शिक्षा का काम इस विकास में सहायता देता है।

इस प्रधान उद्देश्य को लेकर मेरिया ने अपनी शिक्षण-विधि में जिन मूल तत्वों का समावेश किया, वे निम्नलिखित हैं—

(क) **लाके (Locke) के इन्द्रियजनित-ज्ञान के सिद्धांत (Empiricism) का समावेश**—अंग्रेज दार्शनिक लाके की विचार-धारा के सम्बन्ध में हम पहले लिख चुके हैं। उनका मत है कि ज्ञान सहज नहीं है। मनुष्य का मत निष्क्रिय जड़-पिंड के समान है। वाह्य परिस्थितियों के सम्पर्क से उस पर चिन्ह अंकित हो जाते हैं, जिन्हें विचार कहते हैं और ये प्रारंभिक विचार आपस में मिलकर ज्ञान

को जन्म देते हैं। वाह्य परिस्थितियों और मन के बीच सम्पर्क का साधन मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इसीलिए ज्ञानेन्द्रियों को 'ज्ञान का द्वार' कहा गया है। इनके द्वारा मनुष्य को अनुभव प्राप्त होता है और इन्हीं के द्वारा उसका ज्ञान बढ़ता है। मेरिया ने लाके द्वारा प्रतिपादित इन्द्रियों, की उपयोगिता को समझा और इन्द्रियों को सबल बनाने का समर्थन किया। बच्चों की इन्द्रिय-शिक्षा पर उन्हों-ने बहुत जोर दिया। उनका कहना है कि जिस प्रकार शारीरिक विकास के लिए बच्चों को परिस्थितियों—हवा, पानी, और भोजन पर निर्भर रहता पड़ता है, उसी प्रकार उन्हें मानसिक विकास के लिए वाह्य परिस्थितियों का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है। इस सहारे का आधार बच्चों की ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। माँटेसरी-विधि में इसीलिए इन्द्रिय-शिक्षा को विशेष महत्व प्राप्त है।

(ख) वैकासिक मनोविज्ञान (Developmental Psychology) **का प्रभाव**—प्राणि और वनस्पति-विज्ञान ने जीवों और पेड़-पौधों की बाढ़ (Growth) के सम्बन्ध में खोजकर के बहुत से नियम निर्धारित किए हैं। इसी तरह मनोवैज्ञानिकों ने भी बालकों के मानसिक विकास का अध्ययन करके कुछ नियम खोज निकाले हैं। शैशवकाल, बाल्यकाल, तथा यौवनारम्भकाल में मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक तथा भाव-सम्बन्धी परिवर्तनों का गहरा अध्ययन करके यह नियम बनाये गये हैं। मेरिया माँटेसरी ने इन नियमों से लाभ उठाया है। उनका कहना है कि शिक्षण में इन नियमों की अव-हेलना करना अनुचित है। माँटेसरी विधि में इन नियमों का पूरा ध्यान रक्खा गया है। इसका प्रमाण यह है कि इस विधि से पढ़ाई करने में छोटे बालकों से अधिक मानसिक परिश्रम नहीं कराया जाता, क्योंकि इस अवस्था में उनकी मानसिक शक्ति अधिक विक-सित नहीं होती। ज्यादातर उन्हें खेल-कूद पसंद होते हैं। अतः यहाँ बालकों को खेलने का पूरा अवसर मिलता है।

(ग) **श्रम का महत्व**—अनुभव के आधार पर मेरिया का कथन है कि श्रम स्वाभाविक है। चराचर जगत में सर्वत्र श्रम का महत्व देखने को मिलता है कोई भी जीव श्रम से बच नहीं सकता बालक भी श्रम करते हैं। वयस्क का श्रम हमें देखने को मिल जाता है क्योंकि उन्हें हम नौकरी, व्यापार या मजदूरी करते हुए देखते हैं। पर यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो खेल में बालकों को उतना ही श्रम करना पड़ता है जितना वयस्कों को अपने कारोबार में। इसके अतिरिक्त बालकों का श्रम वाह्य और दृष्टिगत (External visible work) नहीं होता। यहाँ तक कि आराम करते समय भी वे रहस्यमय आंतरिक स्वनिर्माण का काम (mysterious inner work of auto-formation) पूरा करते रहते हैं।

बालक कई तरह से श्रम करते हैं। (१) **वे अंग-संचालन-क्रिया** (Motor function) द्वारा श्रम करते हैं, जैसे अपने शरीर का संतुलन करने, चलने तथा कई अंगों को एक ही साथ काम में लाने आदि में (२) **ऐन्द्रिक-अनुभूति-क्रिया**—(Sensory function) में उनका श्रम हो जाता है जैसे बाह्य परिस्थितियों से संवेदन ग्रहण करने, चीजों को पहचानने, बुद्धि प्रयोग-करने और पर्यवेक्षण करने आदि में। (३) भाषा सीखने में उन्हें उक्त दोनों तरह का श्रम पड़ जाता है- जैसे ओठों और जबान के चलाने में अंग-संचालन का और भावों को समझने में ऐंद्रिक अनुभूति का श्रम करना पड़ता है।

श्रम का असली महत्व यह है कि, इसके द्वारा बालक का मानसिक विकास पूरा और पक्का हो जाता है। मानसिक विकास सीखने (learning) और अगों के पुष्ट होने (Maturation) दोनों पर निर्भर है। श्रम द्वारा इन दोनों प्रक्रियाओं को उत्तेजन मिलता है। सबसे अच्छी बात यह है कि बालक को श्रम करने में आनन्द आता है। जिस प्रकार एक प्रवासी स्वदेश से दूर जाकर अपरिचित

जगह में बसते समय, वहाँ की परिस्थिति के अनुकूल श्रम करके अपने को इस योग्य बना लेता है कि वह अपना जीवन सुख से बिता सके, उसी प्रकार माता के उदर से जन्म लेकर बालक भी श्रम द्वारा इस नवीन संसार में अपना स्थान बना लेता है। शिक्षा का कार्य बालकों को इस नवीन संसार में अपने को उसके अनुकूल बनाने (Adjustment) में सहायता देता है। इस कार्य में सफलता तभी मिल सकती है, जब शिक्षण-विधि **वैज्ञानिक** तथा **विचारपूर्वक** हो।

(घ) **बालकों की स्वतन्त्रता तथा शिक्षक की स्थिति**—मेरिया का विचार है कि बच्चे अपनी पढ़ाई स्वयं करते हैं। इसे स्वशिक्षा (Auto-educaton) कहते हैं। अतः जहाँ तक हो सके, बच्चों को अनुभव करने का पूरा अवसर देना चाहिए। मेरिया के यह विचार फ्रांसीसी दार्शनिक रूसो (Rousseau) के विचारों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। उसका मुख्य सिद्धांत बालकों की अबाध स्वतंत्रता है। माँटेसरी के मत में शिक्षक बालकों का पथप्रदर्शक है। वह उनके आनन्द और अनुभव में कोई बाधा नहीं डालता। वह बालकों को उस तरह नहीं हँकाता, जिस तरह गड़रिया भेड़ों को खदेड़ता है। इसके विपरीत वह उनकी इच्छाओं और विचारों का आदर करता है। बच्चे अगुआ बनकर हर'एक काम करते हैं। अपने लिए काम का चुनाव, काम करने का ढंग सभी-कुछ बालकों की अपनी जिम्मेदारी है। शिक्षकों के लिए मेरिया का उपदेश है—'हमें बालकों के सुख में भाग लेना चाहिए। हम भी तो उन्मुक्त आनन्द और आजादी चाहते हैं। फिर उच्चे यदि इनकी कामना करते हैं तो क्या पाप करते हैं ? वे भी मनुष्य हैं और निष्कपटता में वे वयस्क से श्रेष्ठ होते हैं। उनके ऊपर अपने नियम लादकर हम उनके जीवन को भार बना देते हैं। उनके साथ उदार और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने की आवश्यकता है।" साथ ही वे चेतावनी देती हैं कि

दया का अर्थ दुलार नहीं है। उसका अर्थ केवल यह है कि बालकों की इच्छाओं और मनोभावों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाय। अभी तक हमें उस प्रक्रिया (Process) की तनिक भी जानकारी नहीं है जिसके द्वारा बालक बढ़कर वयस्क हो जाता है। यह प्रक्रिया उसी तरह रहस्यमय है जैसे रज और वीर्य के दो बिंदुओं से बालक की उत्पत्ति। यह सब कार्य ईश्वरीय गति से होते हैं, इसीलिए उसमें छेड़छाड़ करने की जरूरत नहीं। शिक्षण में, इसीलिए, दमन से काम लेना अनुचित है। बालकों को स्वतंत्र रहकर बढ़ने देना चाहिए।

(ङ) **अंतिम ध्येय, नैतिकता**—इस अबाध स्वतंत्रता का उद्देश्य बच्चों में उत्तरदायित्व की भावना पैदा करना है। सभ्यता के प्रथम चरण में स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व, दोनों का समाज में अभाव था। सभ्यता का स्वर्णयुग वह होगा जब यह दोनों गुण समाज में पूर्णरूप से व्याप्त हो जायेंगे। मानव इतिहास इस बात का साक्षी है कि ज्यों-ज्यों स्वतंत्रता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे सभ्यता भी विकसित होती जाती है। स्वर्णयुग लाने के लिए मनुष्य की संतानों, में अनुशासन, स्वावलंब, उत्तरदायित्व आदि नैतिक गुण उत्पन्न करने की आवश्यकता है और यह गुण उत्पन्न करना मॉंटेसरी विधि का मुख्य उद्देश्य है।

मेरिया का कहना है—"छोटे बच्चों की पढ़ाई के लिए, मेरी विधि का वास्तविक उद्देश्य यही (नैतिकता पैदा करना) है, और इसी कारण से यह कुछ ऐसे सिद्धांतों पर आधारित है और कुछ ऐसे विशेष ढंगों का प्रयोग इसमें होता है जो आमतौर से प्रचलित नहीं है। यह विधि सब बालकों के लिए न होकर; केवल ३ से लेकर ७ वर्ष के बालकों के लिए है अर्थात् यह उस अवस्था के लिए उपयुक्त है, जिसमें बालकों का विकास होता है। मेरी विधि अपने

उद्देश्य तथा तरीके में पूरे तौर से वैज्ञानिक है । यह बालकों को आगे चलकर उन्नत करने के योग्य बनाती है और प्रयोग करने में केवल बालक के शारीरिक विकास का ध्यान नहीं रखती, वरन् स्वास्थ्य-रक्षा-विज्ञान ने बच्चों के स्वास्थ्य को स्थायी बनाने में जो-कुछ कमी रक्खी है, उसे यह विधि पूरी करती है ।"

माँटेसरी-विधि से पढ़ाई कैसे होती है ?

(१) **बच्चों का घर** (Children's house)——माँटेसरी-विधि को सफल बनाने के लिए सारे स्कूल का प्रबन्ध बिलकुल नये ढंग से करना पड़ता है। कोमेनियस के शब्दों में, प्राचीन ढंग के स्कूल कसाईखाने से बदतर थे, वहाँ मारपीट और अत्याचार का बोल-बाला था । मेरिया माँटेसरी ने स्कूल को 'बच्चों का घर' कहकर, उसे सार्थक बनाने के उद्देश्य से स्वर्गतुल्य बनाने कीं चेष्टा की । यहाँ बच्चे उसी तरह सुख से जीवन बिताते हैं, जैसे अपने परिवार या घर में।

इस प्रकार का स्कूल काफ़ी जगहदार होता है । इसका उद्देश्य बच्चों को खेलने तथा हर प्रकार के काम के लिये पूरी सुविधा देना है। इमारत की शक्ल किसी एक ढंग की नहीं होती । धन की अधिकता या कमी के अनुसार उनका रूप बदला जा सकता है । हाँ,हर हालत में उसकी शक्ल घरकी तरह की होना आवश्यक है । माँटेसरी स्कूल बाग से घिरे हुए बँगले की तरह दिखायी देता है । इसके कमरे खूब लम्बे-चौड़े और हवादार होते हैं । बाग में जगह-जगह पर छायादार स्थान होते हैं, जिनमें बालक पूरी आजादी से खेल सकते हैं। बाग में बने हुए चबूतरे सोने के काम में लाये जा सकते हैं । कभी-कभी, बालक अपनी मेज और कुर्सी बाहर निकाल कर रख सकते और उन पर पढ़ सकते हैं । यहाँ साफ और ताजी हवा मिलती है, परंतु धूप या वर्षा से बचाव का पूरा प्रबंध होता है।

अब स्कूल की इमारत को लीजिये। बीच में एक बड़ा कमरा बना होता है जिनके अगल-बगल में स्नानगृह तथा रसोईघर होते हैं। दो तरफ बरामदे होते हैं । सबका कमरा (Common-room) और शारीरिक श्रम का व्यायाम के लिए भी कमरे होते हैं। बीच का बड़ा कमरा बालकों की पढ़ाई के लिए होता है— कमरों में सफाई और सजावट का पूरा ध्यान रक्खा जाता है । यहाँ पर काम में आनेवाला फर्नीचर हल्का होता है ताकि बच्चे आसानी से उसे उठाकर इधर-उधर ले जा सकें । यह सारा सामान हल्के तथा चित्त प्रसन्न करने वाले रंग में रँगा होता है। गोलाकार, आयताकार तथा वर्गाकार मेजें, घूमने तथा झूलने वाली कुर्सियाँ पड़ी रहती हैं । मुलायम गद्दे और सोफे भी होते हैं खुली हल्की अल्मारियाँ दीवारों के पास रक्खी होती हैं । इनका बच्चे प्रयोग करते हैं। उनकी लम्बाई कम रहती है, ताकि बच्चे उनके सिरे को आसानी से छू सकें। इन अलमारियों में शिक्षोपकरण रक्खा जाता है और ऊपर खिलौने। हैंडेलदार दराज की अल्मारी प्रत्येक बालक को अलग मिलती है। दीवारों पर नीचे की ओर जहाँ तक बच्चों का हाथ आसानी से पहुँच सकता है, स्यामपट (Black board) बने होते हैं। बच्चे उन पर लिखने तथा चित्र खींचने का अभ्यास करते हैं। ऊपर की ओर दीवारों पर स्वस्थ बालकों, परिवारों, फूलों तथा प्राकृतिक दृश्यों के और ऐतिहासिक या पौराणिक चित्र लटका दिये जाते हैं। फर्श पर रंगीन कालीनें बिछी होती हैं। बिछाने का काम बच्चे स्वयं करते हैं।

बच्चों के बैठने का कमरा भी खूब सजा होता है। यहाँ बच्चों को हर तरह से मन बहलाने की सुविधा है। वे जब चाहें बातें करें, खेलें या गाना गायें। मेजें और सोफे यहाँ भी रक्खे होते हैं। उनके खेलने के लिए मेजों पर रंगीन तस्वीरें, लकड़ी के रंगीन टुकड़ों और पियानो या हारमोनियम रख दिये जाते हैं। शिक्षक यहाँ

आकर उनका मनबहलाव कर सकते हैं । कभी-कभी कहानियाँ सुनाकर वे बच्चों का मनोरंजन करते हैं ।

रसोईघर में बर्तन, चाकू, काँटे, टेबुल क्लाथ, तौलिए, चम्मच और तश्तरियाँ साफ़-सुथरे ढ़ंग से सजाकर रक्खी होती हैं। उन्हें साफ़ करने तथा सजाने का काम बालक स्वयं करते हैं। इन्हें रखने के लिए एक खुली अलमारी भी होती है। ड्रेसिंग के कमरे में एक खुली अलमारी का एक एक खाना हर बालक के नाम लिख दिया जाता है। जिसमें वह अपना सामान रख सकता है। यहीं पर साबुन और पानी का नल भी रहता है । बच्खे स्नान करके शरीर की सफाई करते और वस्त्र बदलते हैं। बाद में अपने कपड़े वे कायदे से खूटियों पर टाँग देते हैं।

'बच्चों का घर' हर समय सक्रिय ज़ीवन और उत्साह से परिपूर्ण दिखायी देता है। जिस तरह शहद के छत्ते में मधु-मक्खियाँ धुन के साथ मधु-संग्रह में जुटी रहती हैं, ठीक वैसा ही दृश्य यहाँ देखने को मिलता है।

(२) **पेडोमीटर** (Paedometer)—बच्चों की ऊँचाई नापने का यंत्र— इस यंत्र के सहारे, दो बच्चे एक साथ नीचे लगे तख्ते पर खड़े होकर लोहे की छड़ में लगे हुए खिसकने वाले दिग्दर्शक (Pointer) द्वारा अपनी लम्बाई नाप सकते हैं। बच्चे इस काम में बड़ी दिलचस्पी लेते हैं । बच्चों की बाढ़ का पूरा ब्योरा (Record) सुरक्षित रक्खा जाता है । यह बच्चों के लिए खेल की वस्तु है। साथ ही उनके शारीरिक विकास के अध्ययन का ठोस साधन है। इसलिए यह पेडोमीटर बड़े काम की वस्तु है।

(३) **शिक्षोपकरण** (Didactic Material)—बालकों की पढ़ाई में बहुत-सी वस्तुएँ प्रयुक्त होती हैं, जसे रंग-रंग के विभिन्न

आकारों वाले लकड़ी के टुकड़े और खिलौने। इन्हें शिक्षोपकरण कहते हैं। कारण, यही बालकों को एक प्रकार से शिक्षा देते हैं। यह वैज्ञानिक तरीके से तैयार किये जाते हैं और यह बालकों को शिक्षा ग्रहण करने के लिए बाध्य करते हैं। इनकी पूरी सूची यहाँ देने के बजाय अभ्यासों के साथ इनका वर्णन अधिक उत्तम जान पड़ता है।

मॉंटेसरी शिक्षण के तीन अंग—

(अ) ज्ञानेंद्रियों की शिक्षा—

शिक्षोपकरण—(१) ठोस तथा फिट हो जाने वाले लकड़ी या धातु के टुकड़ों के तीन सेट।

(२) ठोस तथा क्रम से छोटे से लेकर बड़े और विभिन्न आकारों और रंगों के टुकड़ों के सेट जैसे गुलाबी वर्गाकार, खाकी तिकोने, हरी, लाल, नीली बेलनाकार (rods) अण्डाकार टुकड़े।

(३) ज्यामितीय आकार के टुकड़े जैसे वृत, त्रिभुज, आयात, वर्ग, बहुभुज आदि।

(४) आयताकार खुरदरी और चिकनी सतह वाली टिकिएँ।

(५) विभिन्न भारों वाली (Weight) टिकिएँ।

(६) दो संदूकें-प्रत्येक में चौंसठ रंगीन टिकिएँ।

(७) दराज वाला (drawers) एक बक्स जिसमें बहुत-सी टिकिएँ होती हैं।

(८) कार्डों के तीन सेट, जिन पर ज्यामितीय (Geometrical) चित्र चिपके होते हैं।

(९) बजाने वाली घंटियों के दुहरे सेट।

इन शिक्षोपकरणों का प्रयोग उन अभ्यासों में होता है, जो इंद्रिय शिक्षा के लिए नियत हैं। उदाहरण के लिए कुछ अभ्यास नीचे दिये जाते हैं जिनसे इन शिक्षोपकरणों का प्रयोग जाना जा सकता है।

(१) **बेलनों** (Cylenders) **का अभ्यास**—यह अभ्यास ढाई और तीन वर्ष के बालकों के लिए उपयुक्त है। एक बक्स में ठोस लकड़ी के तीन लम्बे टुकड़े लगे रहते हैं। प्रत्येक टुकड़े में दस छेद बने होते हैं। दस छेदों में समा जाने वाले दस बेलन भी साथ होते हैं। बालक इन बेलनों को उन छेदों में इस प्रकार रखते और निकालते हैं कि उन्हें यह ज्ञान हो जाता है कि कौन सा बेलन किस छेद में ठीक फिट हो सकता है। बेलनों को पकड़ने के लिए उनके ऊपरी सिरे पर एक घुण्डी लगी होती है। यह बेलन तीन प्रकार के होते हैं। (अ) दस बेलन, एक ऊँचाई परन्तु विभिन्न मोटाई के। (ब) दस बेलन एक मोटाई के परन्तु विभिन्न ऊँचाई के। (स) दस बेलन विभिन्न मोटाई और विभिन्न ऊँचाई के। अभ्यास के समय सारे बेलन मिला दिये जाते हैं और बालक छाँट करके उन्हें यथोचित छेदों में रखते हैं।

अभ्यास देखने में खेल जान पड़ता है परन्तु इसका आधार मनोवैज्ञानिक है। इस अभ्यास में बालकों को प्रयत्न और भूल (Trial and Error) के सिद्धां से सीखना बताया जाता है। इस अभ्यास में उन्हें बड़ा आनंद आता है। असफलता के साथ के साथ उन्हें हताश तथा क्रोध आता है परन्तु सफलता में अत्यधिक आनंद भी मिलता है। माँटेसरी का दावा है कि अभ्यास में बालक इतनी रुचि लेते हैं कि प्रायः दिन में चालीस बार तक वे इसे दुहराते हैं। सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि खेल ही खेल में, उनकी पर्यवेक्षण, तुलना, तर्क तथा निर्णय आदि शक्तियों का विकास हो जाता है।

बच्चों में स्वशिक्षण (auto-education) की आदत आ जाती है क्योंकि यह शिक्षोपकरण ऐसे ढंग से बना है कि बालकों को अपनी भूल सुधारना पड़ती है । चूंकि एक बेलन के लिए एक ही छेद होता है, इसलिए जब तक भूल दूर नहीं होती, काम अधूरा रहता है । बालकों को इस अभ्यास में लगे हुए देखने से उसकी रुचि, लगन, उत्साह और बुद्धि की परीक्षा भी होती है । अभ्यास के समय शिक्षिका को यह ध्यान रखना पड़ता है कि बेलन न तो गिरने पायें और न कोई शोर होने पाये । अभ्यास के अंत में बेलनों को छेदों से निकाल कर रख देना चाहिए ।

(२) **मीनार बनाने का अभ्यास**—गुलाबी रंग के ठोस लकड़ी के बने दस घन, जो क्रम से छोटे-बड़े होते हैं । इस अभ्यास के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं । बड़े घन पर उससे छोटा घन रखते बालक मीनार बनाने का अभ्यास करते हैं । इससे बड़े से छोटे का क्रमिक ज्ञान प्राप्त होता है ।

(३) **सीढ़ी बनाने का अभ्यास**—इस अभ्यास में बालक दस चौकोर टुकड़ों को, जो क्रम से पतले से मोटे हो जाते हैं, इस प्रकार रखते हैं कि सीढ़ी बन जाती है ।

स्पर्शेंद्रिय के अभ्यास—

(१) **चिकने और खुरदरे पहचान का अभ्यास**—इसमें एक आयताकार बोर्ड का प्रयोग होता है । इसकी कुछ सतह चिकनी और कुछ खुरदरी होती है । बालक अपनी उँगलियों से दोनों प्रकार की सतह छूते हैं और दोनों में अंतर समझने लगते हैं । यह अंतर वे दोनों प्रकार की संवेदनाओं (Sensations) का अनुभव करके समझते हैं ।

एक दूसरे बोर्ड पर जिसकी सारी सतह चिकनी होती है, बलुए कागज़ (Sand paper) की धारियाँ चिपका कर बालकों के आगे रख दी जाती हैं। इन पर अपनी उँगलिया फिरा कर बालक चिकने और खुरदरे का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

(२) **कठोरता तथा कोमलता की पहचान**—इसी अभ्यास में सूती तथा रेशमी कपड़ों को छूकर, कठोरता और कोमलता की पहचान बालक करते हैं।

(३) **हल्के और भारी की पहचान**—हल्की और भारी वस्तुएँ अभ्यास के लिये दी जाती हैं। बालक कभी एक और कभी दूसरी वस्तु उठाकर 'हल्के और भारी' का अनुभव करते हैं।

स्पर्शेन्द्रिय की शिक्षा में शिक्षिका को बहुत परिश्रम करना पड़ता है। अभ्यास करते समय बालकों की आँखों पर पट्टी बाँध दी जाती है। हाँ, अपनी भूल को समझने के लिये आँखों पर से पट्टी हटाने की अनुमति उन्हें दे दी जाती है। वस्तुओं को छूने, उठाने और रखने में बालकों को अंग-संचालन में, सुंदरता का ध्यान रखना पड़ता है।

मेरिया मांटेसरी ने स्पर्शेंद्रिय की शिक्षा को बड़ा महत्व दिया है। स्पर्श द्वारा पहचान करने को उन्होंने एक अलग शक्ति माना है जिसे (Steriognostic sense) कहते हैं।

नेत्रेन्द्रिय की शिक्षा—

(१) **रंगों की पहचान का अभ्यास**—दो बक्सों में टिकियें भरी रहती हैं। प्रत्येक बक्स में चौंसठ टिकियें होती हैं। आठ रंग की टिकियें होती हैं और प्रत्येक रंग की आठ टिकिय क्रमशः हल्की से लेकर गाढ़े रंग की होती हैं। रेशमी रंगीन कपड़ा उन पर मढ़ा हुआ

होता है। बालक दोनों बक्सों से एक रंग की टिकियें निकाल कर जोड़े मिलाता है। प्रारम्भ में केवल सोलह टिकियों के आठ जोड़े मिलाना सीखना पड़ता है और अंत में चौंसठ जोड़े मिलाना। इस अभ्यास द्वारा बालकों को एक रंग के विभिन्न 'शेड' (Shade) का ज्ञान हो जाता है। उनकी निरीक्षण, तुलना और विवेक शक्ति का विकास होता है। नेत्रेन्द्रियों के साथ-साथ कर्मेन्द्रियों की साधना पूरी हो जाती है। उँगलियाँ महीन काम करने में अभ्यस्त हो जाती हैं।

(२)—**ज्यामितीय** (Geometrical) **चित्रों के अभ्यास**—एक बक्स में ६ चौखटे (Frame) रक्खे होते हैं। हर एक चौखटे में ज्यामितीय चित्रों की शक्ल के, जैसे वर्ग, आयत, त्रिभुज, बहुभुज, आदि के छेद बने होते हैं। उन छेदों में बैठालने के लिए उन्हीं ज्यामितीय शक्लों के लकड़ी के टुकड़े भी होते हैं, जिन पर घुंडियाँ लगी होती हैं, ताकि बालक उन्हें पकड़ कर छेदों में फिट कर सकें। प्रारंभ में यह अभ्यास आँखें बन्द करवा कर कराया जाता है। बच्चे उन छेदों को और लकड़ी के टुकड़ों को उँगलियों से छूकर, तुलना करते हैं और उन्हें एक समान समझ कर फिट करते हैं। इस अभ्यास के बाद बालकों को ज्यामितीय चित्रों का पूरा ज्ञान हो जाता है और वे सहज में ही, त्रिभुज, वर्ग और आयात आदि की परिभाषा आगे चलकर समझ लेते हैं। इस अभ्यास के बाद, बालक रंगीन कागज से ज्यामितीय चित्र काटने का अभ्यास करते हैं। उन्हें, सफेद कागज पर चिपकाते हैं। फिर अंत में कागज पर कलम से बिना किसी सहायता के वे शक्लें खींचना सीख लेते हैं।

इन अभ्यासों द्वारा बालक को गणित-शास्त्र के मूल तत्वों को सीखने में आगे चलकर बड़ी सहायता मिलती है। मेरिया ने इनमें, मूर्त से अमूर्त की ओर (From Concrete to Abstract) वाले सिद्धांत का प्रयोग किया है। छोटी अवस्था में रेखागणित की

शक्लों का जबानी ज्ञान कराना बड़ा कठिन होता है। मेरिया ने इस समस्या को हल कर दिया। नेत्रेन्द्रियों की सहायता से ठोस वस्तुओं के सहारे जो ज्ञान बालकों को प्राप्त होता है वह स्थायी रहता है। ज्यामितीय शक्लों के स्मृति-चित्र (Memory Images) उनके मन:पटल पर हमेशा के लिए अंकित हो जाते हैं। उनकी परिभाषाएँ, रटने की अपेक्षा समझ कर याद कर ली जाती हैं। बालकों का मन नहीं ऊबता। वे इस अभ्यास को करने का बार-बार आग्रह करते हैं। एक बार एक निरीक्षक ने माँटेसरी स्कूल में जाकर बिस्कुट बाँटे। बालकों ने तुरंत कहना प्रारंभ किया—"यह त्रिभुज है।", "यह आयत है।" आदि। बालकों के इस ज्यामितीय ज्ञान को देख कर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ।

कर्णेन्द्रिय की शिक्षा—

इस प्रकार की शिक्षा का विस्तृत-वर्णन 'संगीत-शिक्षा' के अन्तर्गत भी आयेगा। विशेषरूप से इसके लिए भी कुछ अभ्यास नियत हैं। कार्डबोर्ड के बने हुए छः बेलनों द्वारा बालकों को विभिन्न स्वरों का ज्ञान कराया जाता है। उनको हिलाने से अनेक प्रकार के स्वर उत्पन्न होते हैं। स्वर के भारीपन और हल्केपन को समझ कर, उसी क्रम में बेलनों को रखना बताया जाता है।

ज्ञानेंन्द्रियों की शिक्षा के सामान्य नियम—

(१) **आकार की पहचान—**पढ़ाते समय शिक्षिका को यह ध्यान रखना चाहिए कि बालकों को वस्तु के आकार का पूरा ज्ञान हो जाय। जैसे त्रिभुज कहते ही, बालक समझ ले कि यह तीन भुजाओं से घिरी शक्ल की कोई वस्तु है।

(२) **समानता का बोध—**बालकों में तुलनात्मक शक्ति अवश्य पैदा करनी चाहिये। उपकरणों के प्रयोग के समय उनका ध्यान

दो वस्तुओं में सामानता की ओर अवश्य आकर्षित करना चाहिए।

(३) **विभिन्नता का बोध**—समानता की तरह विभिन्नता का बोध भी बालकों को साथ ही कराते रहना उचित है।

(४) **'पृथकता' के नियम का पालन**—ज्ञानेंद्रियों के शिक्षण में पृथकता के नियम (Method of Isolation) का पालन होना बड़ा जरूरी है। इसका तात्पर्य यह है कि एक समय में एक ही ज्ञानेंद्रिय की शिक्षा होनी चाहिए। बालक जहाँ तक हो सके, जिस समय आँखों से काम ले रहा हो, किसी दूसरी ज्ञानेंद्रिय का प्रयोग न करने पाये।

कर्मेंद्रियों की शिक्षा—

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स (William James) का कथन है कि जन्म के समय शिशु केवल अव्यवस्थित और अस्पष्ट संवेदनायें ग्रहण करता है। उसमें प्रत्यक्षीकरण (Perception की शक्ति नहीं होती। उसकी आँगिक क्रियायें भी अस्पष्ट और उद्देश्य-पूर्ण नहीं होतीं। प्रत्येक अंग अपना विशिष्ट (Specialized) कार्य करने में असमर्थ होता है। पहले विकास-काल में, उसके अंग अपना अपना अलग काम करते हैं। अंगों के समायोजन (Motor Coordination) की क्रिया वे बाद में सीखते हैं, जैसे एक साथ हाथ उँगलियों और आँखों के पारस्परिक सहयोग से काम करना आदि। मॉंटेसरी शिक्षण-विधि में आँगिक समायोजन (Motor-Co-ordination) पर पूरा ध्यान रक्खा जाता है। ज्ञानेंद्रियों की शिक्षा से यह शक्ति बढ़ती है परन्तु इसके लिये अलग अभ्यास बनाये गये हैं। इन अभ्यासों का उद्देश्य बच्चों के अनियंत्रित अंग-संचालन (Disorderly Movements) को दुरुस्त करना है। इसके द्वारा वे गृहस्थाश्रम में वस्तुओं को कायदे से रखने और उठाने की

आदत सीख लेते हैं। कर्मेंद्रियों की शिक्षा का यही अर्थ है और इसके लिए निम्नलिखित अभ्यास नियत हैं:—

(१) दैनिक-जीवन के प्रारंभिक किंतु अनिवार्य कार्य, जैसे कायदे से चलना, उठना, बैठना, वस्तुओं को उठाना और धरना आदि।

(२) अपने शरीर की सफाई का ध्यान रखना, कपड़े धोना, और फैलाना आदि।

(३) घर-गृहस्थी का प्रबन्ध करना।

(४) बागबानी।

(५) हाथ से काम करने की कलाएँ।

(६) खेलकूद, कसरत करना।

(७) अंगो का कलात्मक परिचालन (Graceful Movements) सीखना।

यह अभ्यास 'बच्चों के घर' में बड़ी स्वाभाविकता के साथ पूरे करा दिये जाते हैं। बच्चे स्वयं अपने कपड़े उतारते और पहनते हैं। शरीर को साबुन से धोना सिखाया जाता है। चीनी मिट्टी के बरतनों को उठाना, रखना, धोना ओर बरतना उन्हें बड़ी अच्छी तरह आ जाता है। यह सारा काम बड़ी शांति के साथ होता है, शोर तो जरा भी नहीं सुनाई देता। हाथ और उँगलियों के समायोजन का अभ्यास कई तरह से कराया जाता है। फ्रेम में लगे हुए चमड़े या कपड़े में बटन लगे होते हैं। बालक उँगलियों से बटनों को बन्द करते और खोलते हैं। फीते खोलने और बन्द करने के अभ्यास अलग हैं। बागबानी में बालकों को हाथ से काम करना पड़ता है। मिट्टी सानना, ईंटे और खपड़े पाथना, उन्हें पकाना और फिर छोटे-छोटे झोपड़े तैयार करना, सभी कुछ वे सीख लेते हैं। पैरों के अभ्यास

में व्यायामशाला (Gymnasium) की फर्श पर रेखायें खींच कर उन पर चलना सिखाया जाता है ।

इन सारे कामों में इस बात का पूरा ध्यान रक्खा जाता है कि कोई भी काम अधूरा न छूट जाय। बालक स्वयं सारे काम करते हैं, शिक्षिका केवल पथप्रदर्शन करती है। इसे स्वाशिक्षा (Auto-education) कहते हैं। सफलता मिलने पर बालकों को प्रसन्नता होती है और उनका साहस बढ़ता है। बालकों के साथी प्रशंसा करते जाते हैं और दैनिक-जीवन के अमूल्य काम स्वतः सीख लेते हैं ।

संगीत की शिक्षा—

मेरिया मांटेसरी का विचार है कि संगीत का आनंद लेने के लिए ईश्वर ने मनुष्य को एक अलग ज्ञानेंद्रिय प्रदान की है। अतः स्कूल में बालकों को संगीत का ज्ञान प्राप्त कराना आवश्यक है। मांटेसरी स्कूल में संगीत–शिक्षा का पूरा प्रबंध होता है। संगीत-शिक्षा में जिन उपदानों का प्रयोग होता है, वे शिक्षोपकरणों में शामिल नहीं हैं । संगीत के कुछ अभ्यास नीचे दिने जाते हैं ।

(अ) **स्वरों की पहचान**—एक मेज पर धातु की बनी घंटियों की कतार (Row) लगी होती है। बच्चे हथौड़ी (Hammer) से उन पर हलकी-सी चोट लगाते हैं । हर-एक धंटी अपना अलग स्वर देती है। स्वरों में अन्तर समझना, बालकों को स्वयं आ जाता है। धीरे–धीरे स्वरों के आरोह और अवरोह का ज्ञान उन्हें हो जाता है।

(ब) **एकाग्रता बढ़ाने का अभ्यास**—इस अभ्यास के लिए मौन-साधन पर जोर दिया गया है। वास्तव में वह भारतीय प्राणायाम और यौगिक क्रियाओं का प्रतिरूप है। प्राचीन आश्रमों में शायद वही दृश्य देखने में आता होगा, जो इस अभ्यास के समय मांटेसरी स्कूल में

देखने को मिलता है। बच्चे एक साथ किसी कमरे में इस तर जाते हैं कि वे जरा भी नहीं हिलते। बैठने के कई आसन (Postures) नियत हैं। जब बच्चे आराम और स्थिरता के साथ बैठते हैं उस समय पूर्ण शांति छा जाती है। कमरे में प्रकाश कम कर दिया जाता है। आँखों पर हाथ रख कर, ध्यानावस्थित मुद्रा में बैठने पर बच्चों को जो अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, उसका वर्णन स्वयं मॉंटेसरी के शब्दों में सुनिये:—

"अपना ध्यान रखते हुए प्रत्येक बालक धीरे-धीरे अधिकाधिक मौन होता जाता है; यहाँ तक कि पूर्ण रूप से गहरी शांति छा जाती है। यह सारी स्थिति इतने धीरे-धीरे पैदा होती है, जैसे सूर्यास्त के समय संध्या की गहराई धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि इन क्षणों में हल्के शब्द जो पहले सुनाई न देते थे, अब सुनाई देने लगते हैं, जैसे घड़ी की चाल का स्वर, चिड़ियों का चहचहाना या तितली के पंखों की फड़फड़ाहट आदि। जैसे तारे रात्रि के सघन अंधकार को दूर किये बिना चमकते रहते है, उसी तरह समस्त संसार कुछ ऐसे अज्ञात स्वरों से भरा हुआ जान पड़ता है, जो शांति को भंग किये बिना सुनाई देते हैं।...इन क्षणों में आत्मा उन्मुक्त होकर खिल उठती है जैसे कमल की पंखुड़ियाँ। उस समय आत्मा का विकास होता है, वह आंतरिक, शक्तिशाली, शांत और अनवरत नाद को श्रवण करने में समर्थ होती है।"

इस अभ्यास के अंत में बालकों का नाम केवल फुसफुसाहट के स्वर में पुकारा जाता है और हाजिरी भर दी जाती है। शांति-प्रियता का अभ्यास बालकों को वस्तुओं को धीरे से उठाने और धरने का आदी बना देता है। वे बोलते समय धीरे से बोलते हैं। शांति-स्थापन में सहयोग की भावना भी उदय होती है क्योंकि यह अभ्यास सफल तभी होता है जब सब बालक चुप रहें। विघ्न करने वाले बालकों का बहिष्कार कर दिया जाता है।

भाषा-ज्ञान की शिक्षा—

भाषा की शिक्षा में कर्णेंद्रिय का खास महत्व है। स्वरों को कानों द्वारा ही स्पष्ट पहचाना जा सकता है। इसलिए कर्णेंद्रियों के अभ्यासों को भाषा-ज्ञान की पहली सीढ़ी समझना चाहिए। कर्णेंद्रियों की शिक्षा पूरी हो जाने पर भाषा-ज्ञान प्राप्त करना आसान हो जाता है। शब्दों का ज्ञान कराने में वस्तुओं (Object) की सहायता ली जाती है। शब्दों के ग्रहण करने में बालक को तीन सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं:—

(अ) वस्तु को नाम जानना।
(ब) वस्तु को पहचानना।
(स) वस्तु का नाम उच्चारण करना।

मान लीजिये, वालकों को 'कमल' शब्द का ज्ञान कराना है। शिक्षिका पहले उसे कलम दिखाती है और जोर से कई बार कहती है, "यह कलम हैं।" बच्चे 'कलम' शब्द का शुद्ध उच्चारण सुनते हैं और वस्तु का नाम जान लेते हैं। फिर शिक्षिका कलम को कई वस्तुओं के साथ मिलाकर रख देती है और बालक से कहती है, 'कलम लाओ'। बालक पहचान कर कलम उठा लाता है। अंत में वह कलम दिखा कर पूछती है, "इसका क्या नाम है?" वच्चे उत्तर में 'कलम' शब्द कहते हैं। इस विधि से 'संज्ञा' शब्दों का ज्ञान आसानी से कराया जा सकता है। 'विशेषणों' का ज्ञान भी करीब-करीब इसी विधि द्वारा कराया जाता है। दो रंग की या दो प्रकार की, जैसे एक वस्तु छोटी और बड़ी, या सफेद और काली सामने रख दी जाती है। शिक्षिका पहले बताती है—"यह छोटी है।" और "यह बड़ी है"। फिर वह बच्चों से कहती है. "बड़ी कलम लाओ" या "छोटी कलम लाओ"। तात्पर्य यह है कि वस्तु के गुणों का ज्ञान तथा गुण के लिए उपयुक्त शब्द आसानी से सिखाया जा सकता है।

इस विधि द्वारा बालकों का शब्द-भांडार बढ़ता जाता है। वे शब्दों का शुद्ध अर्थ और शुद्ध प्रयोग समझ जाते हैं। शब्दों के समझने में ज्ञानेंद्रियों और पर्यवेक्षण का उपयोग करने से बालकों को भाषा पर अधिकार प्राप्त करने में बड़ी सरलता होती है।

लेखन की शिक्षा—

ऊपर बताये गये ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों के अभ्यास लगभग चार वर्ष की अवस्था तक पूरे करा दिये जाते हैं। वास्तव में यह भावी शिक्षा की तैयारी मात्र है। शुद्ध, सात्विक और सुखप्रद वातावरण में सारे बालक एक प्रकार से शिक्षा प्राप्त करते हुए, एक ढंग का व्यक्तित्व विकसित कर लेते हैं यद्यपि व्यक्तिगत भिन्नताओं को मरने नहीं दिया जाता। ठीक ढंग से अंग-संचालन, परिश्रम की आदत, आत्मनिर्भरता तथा अन्य अच्छे गुण उनमें आ जाते है। अब वह स्थिति आ जाती है, जब लिखने का अभ्यास कराया जा सकता है।

लिखने में उँगलियों को सधे हुए ढंग से चलाने की आवश्यकता होती है क्योंकि हाथ से कलम पकड़ना, उसे सधे हुए ढंग से चलाना और एक सतर पर लिखना आसान काम नहीं है। हाथ का सधना, बालक के सुषुम्नामंडल की व्यवस्था पर निर्भर है। स्नायु-दुर्बलता वाले बालकों का नियँत्रण हाथों और उँगलियों पर ठीक से नहीं रहता। इसलिए उनकी लिखावट अच्छी नहीं होती। स्वस्थ बालकों को इस नियंत्रण का अभ्यास कराना आवश्यक है। कुछ अभ्यास नीचे दिये जाते हैं।

(१) **उँगलियों का अभ्यास**—शिक्षोपकरण—एक लकड़ी के बोर्ड पर चौकोर धातु के बने चार गुलाबी रंग के फ्रेम होते हैं। प्रत्येक में नीले रंग के ज्यामितीय शक्ल के घुंडीदार लकड़ी के

टुकड़े रहते हैं। दस रंग की पेंसिलों का बक्स और कागज साथ रहता है।

बालक एक टुकड़े को घुन्डी से पकड़ कर उठाता है और कागज पर रखता है। किसी रंग की मनचाही पेंसिल लेकर उस टुकड़े के चारों तरफ रेखा खींचता है। कागज पर वह शक्ल खिंच जाती है। इस अभ्यास के द्वारा बालकों की उँगलियाँ सध जाती हैं और हाथ, कलाई तथा उँगलियों का समायोजन (Co-odination) होने से लिखने में सहायता मिलती है; रंगों का ज्ञान प्राप्त होता है और कलम पकड़ने की ताकत आ जाती है।

(२) **वर्णमाला का अभ्यास**–शिक्षोपकरण—एक बक्स में चिकने कागजों पर बलुए कागज के कटे हुए अक्षर चिपकाये जाते हैं और बालकों को दे दिये जाते हैं।

बालक इन अक्षरों पर अपनी उँगलियाँ फिराता है। अक्षर खुरदरे होते हैं, इसलिए स्पर्श द्वारा अक्षरों में आये हुए घुमावों (Loops) का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। बालक जिस अक्षर पर उँगलियाँ फिराता है, शिक्षिका उस समय ज़ोर से उस अक्षर का उच्चारण करती है। अभ्यास के अन्त में अक्षरों की पहचान की परीक्षा के लिये, वह कहती है 'क' लाओ या 'ज' लाओ। इस तरह बालक अक्षरों को अलग-अलग पहचानने लगते हैं।

(३) **शब्दों का अभ्यास**—अन्त में अक्षरों को जोड़ कर शब्द बनाने का अभ्यास कराया जाता है। एक शब्द में आये हुए अक्षरों का नाम शिक्षिका बोलती है, बालक लाकर उन्हें क्रम से जोड़ते हैं, बस शब्द बन गया।

इन अभ्यासों को पूरा करने में बालक को बड़ा आनन्द आता है। जैसे वह शब्द बनाने लगा, वैसे ही उसका चाव इतना बढ़ता

है कि शब्द बनाते-बनाते उसे कभी तृप्ति नहीं मिलती। जैसे एक बार चल कर बच्चा बार-बार चलने का प्रयत्न करता है, वैसे ही वह बार-बार लिखने का प्रयत्न करता है।

वाचन (Reading) की शिक्षा—

लिखने की शिक्षा पूरी हो जाने के बाद वाचन की शिक्षा प्रारम्भ होती है। लिखने का अभ्यास वाचन की तैयारी समझना चाहिए। अंतर केवल इतना है कि लिखने में 'अक्षरों' को पहले सिखाकर बाद में 'शब्द' लिखना सिखाते हैं परन्तु वाचन में इसकी उल्टी विधि प्रयुक्त होती है अर्थात पहले 'शब्द' पढ़ना सिखाते हैं और उस शब्द में आये हुए प्रत्येक अक्षर को पढ़कर बताते हैं। एक बार में अन्त में फिर शब्द जोर से पढ़ कर बता देते हैं। शब्द केवल संकेत मात्र होते हैं। उनसे किसी वस्तु, क्रिया या गुण का बोध होता है। अतः पढ़ते समय, शब्द के साथ संबंधित वस्तु को यथा समय अवश्य दिखाते हैं।

शिक्षोपकरण—काग़ज या कार्ड पर लिखे हुए शब्द या मुहावरे और शब्द से वोध होने वाली वस्तु वाचन की शिक्षा में प्रयुक्त होते हैं।

अभ्यास—बालक के आगे कार्ड पर लिखा हुआ शब्द रख दिया जाता है। शिक्षिका जोर से शब्द का शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण करती है। बच्चे उसे दुहराते हैं। कई बार ऐसा करने के बाद शिक्षिका उस शब्द से संबंधित वस्तु और वह शब्द दोनों एक साथ रख देती हैं ताकि बालक दोनों का संबंध जान ले। शब्दों का ज्ञान हो जाने पर वाक्य-रचना का अभ्यास प्रारंभ होता है। पहले यह आज्ञासूचक होते हैं, जैसे 'यह पुस्तक लाओ', 'गिलास लाओ' आदि। वाचन की शिक्षा में 'क्रिया' (Activity) का विशेष महत्व है।

गणित की शिक्षा —

ज्ञानेन्द्रियों और लेखन-कौशल की शिक्षा के अंतर्गत आये हुये अभ्यासों में ज्यामितीय शक्लों के प्रयोग का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। इनके द्वारा ज्यामितीय शक्लों की परिभाषा आसानी से बालक समझ लेते हैं। अक्षर-ज्ञान के अभ्यास की तरह अंकों को जानने के अभ्यास कराये जाते हैं। अंकों का ज्ञान कराने में एक सीढ़ी (Long stair)का प्रयोग किया जाता है। एक ही लम्बाई के दस छोटे डंडों से, जो एक साथ जोड़कर फिट किये जा सकते हैं, जोड़-बाकी के नियम सिखाये जाते हैं। इन्हीं के द्वारा बालकों को इकाई का ज्ञान भी करा दिया जाता है।

माँटेसरी-विधि की आलोचना—

माँटेसरी-विधि के महत्व को निर्धारित करते हुए विद्वान रस्क (Rusk) ने लिखा है—"सम्भवत: शिक्षा-विधि में इन्द्रिय-शिक्षा के समावेश से ही माँटेसरी को स्थायी यश प्राप्त हुआ हैं। पर हमारा यह विश्वास है कि उन्होंने इन्द्रिय-शिक्षा को आवश्यकता से अधिक महत्व दे दिया है। शिक्षोपकरणों का प्रयोग और व्यावहारिक अभ्यास आदि माँटेसरी विधि के स्थायी अंग हैं। 'बच्चों के घर' जैसे स्कूल की कल्पना करके उन्होंने नयी सामाजिक संस्था को जन्म दिया है, जो परिवार और स्कूल दोंनों के काम को पूरा करती है। यह इस विधि की मुख्य विशेषता है। इससे भी अधिक खास बात यह है कि मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को अपनाकर चलने से बालकों का व्यक्तित्व निखर उठता है। शिक्षा के क्षेत्र में आज जो नवीनतम प्रवृतियाँ काम कर रही हैं, उनकी छाया इस विधि में स्पष्ट दिखायी देती है और यही भावी स्कूलों (Schools of Tomorrow) की मुख्य विशेषता होगी[1]।"

---

1. Rusk., Robert, R: The Doctrines of the Great Educators, chap. on Montessori, P. 288.

गुण—

(१) **नैतिक गुणों का विकास**—इस विधि द्वारा शिक्षा-प्राप्त बालकों में नैतिक गुणों का विकास बड़े स्वभाविक ढंग से होता है। बच्चों को प्रत्येक काम में पूर्ण स्वतंत्रता रहती है, मगर फिर भी उनमें अनुशासन, उत्तरदायित्व, सहयोग, और स्वावलंबन जैसे गुण उत्पन्न हो जाते हैं। जिस समाज में ऐसे बालक होते हैं, उसकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

(२) **रचनात्मक शक्ति का विकास तथा श्रम का मूल्य**—गत दो शताब्दियों में सामाजिक-व्यवस्था में भारी परिवर्तन हो रहा है। मनुष्य की समानता स्थापित करने का भरसक प्रयत्न किया जा रहा है। सामाजिक औरआर्थिक असमानता को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य को 'श्रम' का मूल्य समझाया जाय और उसे कोई न कोई सामाजोपयोगी कार्य करने के लिए बाध्य किया जाय। निर्बल-सबल, गरीब-अमीर, नीच और ऊँच का प्रच-लित भेद 'श्रम' के आधार पर बना है। सबल, अमीर और उच्च-वर्ग के लोग साधन सम्पन्न होने के कारण भोग-विलास में निमग्न रहते हैं और निर्बल, गरीब तथा नीच श्रेणी के लोग 'श्रम' करके मरते-पिसते हैं। समाज में यह द्वैतभाव पैदा करनेवाली पुरानी शिक्षा है। बचपन में इसकी नींव जम जाती है। वही बालक आगे चलकर समाज में द्वैतभाव पैदा करते हैं। अब जिस समाज का निर्माण होने जा रहा है, उसमें यह द्वैतभाव न रहेगा। उसकी तैयारी नयी शिक्षा द्वारा हो रही है। शिक्षा में रचनात्मक कार्य और शारीरिक श्रम से प्रेम करना हर एक बालक को बताया जाता है। माँटेसरी विधि से पढ़कर बालक एक संघटित समाज की रचना करने में समर्थ होंगे। वे श्रम करते हैं। उनके समाज में भेद-भाव नहीं दिखाई देता।

(३) **परिवार तथा स्कूल का समन्वय**—बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा परिवार में होती है। यही शिक्षा की असली नींव है। एलमर (M. C. Elmer) नामक विद्वान ने अपनी पुस्तक (The Sociology of Family) में लिखा है कि बालक परिवार में होनेवाले दैनिक कृत्यों तथा सांस्कृतिक उत्सवों से बहुत-कुछ शिक्षा प्राप्त कर लेता है। दूसरे शिक्षा-ग्रहण करने में माता-पिता का प्रेम बड़ा सहायक होता है। इस स्नेहमय वातावरण में जितनी व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त होती है, उतनी अन्यत्र पाना असंभव है। दुर्भाग्य से वर्तमान औद्योगीकरण के कारण परिवार की नीव जड़ से हिल रही है। बड़े-बड़े नगरों में माता-पिता दोनों नौकरी या मज़दूरी करने निकल जाते हैं। बच्चों की शिक्षा का प्रबंध नहीं हो पाता। हम पीछे लिख चुके हैं कि रोम में यही समस्या उठ खड़ी हुइ थी, तभी बच्चों के घर की कल्पना की गई, अर्थात् एक ऐसे स्कूल की आवश्यकता अनुभव की गई जो परिवार का भी काम करे। मॉंटेसरी स्कूल में 'परिवार' तथा 'स्कूल' दोनों का समन्वय हुआ है। यहाँ शिक्षिका माता के रूप में बालकों की देख-रेख करती है, और घरेलू जीवन के स्वाभाविक वातावरण में उन्हें पढ़ाती भी है।

(४) **स्वशिक्षण** (Auto-education) **का अभ्यास**—सर जान ऐडम्स (Sir John Adams) ने अपनी पुस्तक "शिक्षा सिद्धान्त का विकास" (Evolution of Theory of Education) में शैक्षिक प्रक्रिया (Educational Process) का विश्लेषण करते हुए लिखा है, कि प्रथम चरण में शिक्षा का सूत्र अध्यापक के हाथ में रहता हैं अर्थात् अध्यापक पर पढ़ाने की जिम्मेदारी होती है। दूसरे चरण में अध्यापक और विद्यार्थी दोनों का सहयोग होता है और जिम्मेदारी बराबर होती है। अंतिम चरण में शिक्षा का सूत्र विद्यार्थी के हाथ में आ जाता है अर्थात् वह अपनी पढ़ाई स्वयं करने में समर्थ हो जाता है। सर जाँन के मतानुसार शिक्षण का उद्देश्य विद्यार्थी को इस तीसरी

सीढ़ी पर पहुँचाना है। दूसरे शब्दों में शिक्षण का उद्देश्य बालक को स्वशिक्षा (Auto-education) के योग्य बनाना है। माँटेसरी-विधि इस शैक्षिक-प्रक्रिया को बचपन में ही पूरा करा देती है। बालक प्रारंभ में ही अपनी शिक्षा पूरी करने के योग्य हो जाते हैं।

(५) **मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुरूप**—ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा का बचपन में विशेष महत्व रहता है। चार-पाँच वर्ष की आयु में बालक प्रत्यय-निर्माण (Concept-formation) में असमर्थ होता है। प्रारंभ में यदि शिक्षा का प्रारंभ प्रत्यय (Concept) से होता है तो सफलता नहीं मिलती। बालक 'प्रत्यय' को समझ नहीं पाता। इस लिए 'स्थूल से सूक्ष्म की ओर' वाले (From Concrete to Abstract) सिद्धांत को लेकर इन्द्रिय-शिक्षा का प्रबंध किया गया है। माँटे-सरी विधि में शिक्षोपकरण इसी आधार पर बनाये गये हैं। वस्तुओं का ज्ञानेंद्रियों द्वारा पर्यवेक्षण करके प्रत्यय-निर्माण का काम पूरा कराया जाता है। आगे चलकर बालकों के विचार स्पष्ट तथा सुलझे हुए होते है। कारण, संसार का ज्ञान वे मनोवैज्ञानिक विधि से प्राप्त करते हैं। उनकी विचार तथा विवेक शक्ति का अभिवर्धन सुचारु रूप से हो जाता है। यह इतनी आसानी से इसलिए हो जाता है कि उस विधि से बालकों को पढ़ने में आत्मिक संतोष मिलता है। मेरिया का कहना है कि वर्तमान समय में राजनीतिज्ञों का ध्यान पेट की समस्या हल करने में उलझा हुआ है। पर रोटी मिलने से ही शाँति नहीं मिलती। मनुष्य की आन्तरिक आध्यात्मिक भूख कहीं अधिक प्रबल होती है। मेरिया माँटेसरी का दावा है कि इस विधि द्वारा बालक की आध्यात्मिक भूख को तृप्त किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त, बालक के शारीरिक और सामाजिक विकास में यह विधि सहायता देती है। उनकी रुचि, प्रवणता, तथा व्य-क्तित्व के अन्य अंग मुखरित हो उठते हैं। बालक की सामाजिक

प्रवृत्ति भी मांटेसरी स्कूल में भलीभाँति संतुष्ट होती है। शिक्षा-शास्त्री ड्यूवी ने 'समाज' की परिभाषा देते हुए लिखा है कि सच्चा समाज वही है, जिसके प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के कार्यों में योग दें। इस प्रकार का सच्चा समाज माँटेसरी स्कूल में देखने को मिलता है।

(६) **हर प्रकार के बालकों का लाभ**—माँटेसरी का दावा है कि इस विधि से पढ़ाने में हर प्रकार के बालक का लाभ होता है। सामान्य बालक, एक बार अभ्यास पूरा कर लेने के बाद भी उसे बार-बार करने में बड़ा आनन्द प्राप्त करते हैं। अल्पबुद्धिवाले बच्चे एक बार अभ्यास को सही-सही पूरा कर लेने पर बड़ा आत्म संतोष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अल्पबुद्धिवाले बालकों की शिक्षा पूरी होती है और सामान्य बालकों को स्वशिक्षा का अभ्यास हो जाता हैं। माँटेसरी बिधि में प्रयुक्त अभ्यासों से सब से बड़ा लाभ यह है कि बालकों को सामाजिक परिस्थितियों का सफलता-पूर्वक सामना करने का ज्ञान भी प्राप्त होता है।

दोष—

(१) **विधि खर्चीली है**—माँटेसरी विधि से पढ़ानें में खर्च अधिक बैठता है। साधारण ढंग के स्कूलों में जितना शुल्क पड़ता है, उसका तिगुना मांटेसरी स्कूलों में लिया जाता है। भारत जैसे गरीब देश में इस विधि से लाभ उठाना सम्भव नहीं जान पड़ता। हाँ, केवल थोड़े से धनी मनुष्य अपने बच्चों के लिये इसका प्रबन्ध कर सकते हैं। सार्वजनिक शिक्षा के लिये आर्थिक दृष्टि से यह बिल्कुल अनुपयुक्त जान पड़ती है। खर्च के बढ़ने का कारण इस विधि में प्रयुक्त महंगे शिक्षोपकरण हैं। आलोचक रस्क (Rusk) ने बड़े दुख के साथ लिखा है कि इस विधि का जन्म रोम में गरीब बालकों की शिक्षा के लिए हुआ था और आज गरीब ही उसके लाभों से वंचित हैं, केवल अमीर उससे लाभ उठाते हैं।

(२) **शिक्षोपकरणों का आडम्बर**—पूर्ववर्णित शिक्षोपकरणों की लम्बी सूची देखकर ही पाठक इस विधि के महान आडम्बर का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। मांटेसरी स्कूलों में यह आडम्बर अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। शिक्षोपकरणों को जबरदस्ती ठूँसा जाता है। इस कारण से यहां शिक्षा-सम्बन्धी काम कम होता है दिखावा अधिक।

शिक्षोपकरणों का संग्रह मांटेसरी स्कूल को मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला का रूप दे देते हैं। छोटे-बड़े बेलन, लकड़ी के टुकड़े तथा अन्य उपकरण लगभग उसी प्रकार के होते हैं, जिनका प्रयोग मनोवैज्ञानिक बुद्धि परीक्षा में करते हैं।

(३) **विशेष प्रकार के शिक्षकों की आवश्यकता**—वह विधि बड़ी 'टेकनिकल' है। सभी प्रकार के मनुष्य शिक्षक नहीं बन सकते और न इस विधि से सभी शिक्षा दे सकते हैं। इसके लिये केवल महिलाएँ उपयुक्त समझी जाती हैं। भारतीय महिला-समाज अभी इस दशा में नहीं आ पाया है कि एक बड़ी संख्या में स्त्रियों को इस कार्य के लिये लिया जा सके। परिवार और गृहस्थी छोड़कर विवाहित स्त्रियाँ इस ओर आना अभी पसन्द नहीं करतीं। भारत में कौमार्यव्रत बहुत कम स्त्रियाँ धारण करती हैं। जो स्त्रियाँ इस ओर आना भी चाहें, उनमें स्नेह तथा उदारता के गुण अवश्य होने चाहिएँ। इस विधि को सफल बनाने के लिये मनोविज्ञान का भली भांति ज्ञान रखने वाली अध्यापिकाओं की आवश्यकता है,[1] जो यह समझ सकें कि कब और कहाँ बच्चों के कार्य में हस्तक्षेप अथवा नियंत्रण करें। अतः वर्तमान समय में शिक्षकों की कमी इस विधि की सफलता में एक व्यावहारिक कठिनाई के रूप में उपस्थित है।

---

१. आत्मानन्द मिश्र : शिक्षण-कला, अध्याय १८, पृष्ट ३०३

(४) **संस्कृति की अवहेलना**—शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य है बालकों को मानव-संस्कृतिरूपी धरोहर सौंपना। इसीलिये स्कूलों में इतिहास, साहित्य और कला का ज्ञान कराया जाता है। माँटेसरी विधि इस ओर से पूर्णतया उदासीन है[२]। इन विषयों की पढ़ाई यहाँ होती ही नहीं। बालकों में सौन्दर्यानुभूति (Aesthetic sense) का उदय ही नहीं होता। इसके विपरीत बालकों में सुख और विलास की प्रवृत्ति जोर पकड़ती है। भौतिकता (Materialism) की नींव उनके हृदय में बचपन से ही जम जाती है।

(५) **आकर्षक परन्तु असफल**—देखने में यह विधि आकर्षक है परन्तु इससे पढ़ाई का परिणाम ठीक नहीं निकलता। साहित्य और इतिहास आदि तो इसके द्वारा पढ़ाये ही नहीं जा सकते, अपितु भाषा और गणित का प्रारम्भिक ज्ञान कराने में सफलता नहीं मिलती।

(६) **समय का अपव्यय**—अक्षर, अंक, और वस्तु-ज्ञान के पाठ पूरे कराने में महीनों लग जाते हैं और उनके बाद जो कुछ सीखा जाता है, वह केवल दो चार दिन का काम जान पड़ता है। समय का बड़ा अपव्यय होता है। बाल्यकाल के इस कीमती समय को व्यर्थ के खेलों में उलझाकर नष्ट कराना अनुचित है।

(७) **स्वस्थ और साधारण बुद्धि के बालकों के लिए अनुपयुक्त**—अच्छा होता यदि मेरिया ने इस विधि को केवल अल्पबुद्धिवाले बालकों के लिए ही सुरक्षित रक्खा होता। सफाई रखने, कपड़े पहनने आदि जैसी क्रियाओं को शिक्षाक्रम में स्थान देना उचित नहीं, क्योंकि यह कार्य बालक घर में या अपने आप सीख लेते हैं। हाँ, ऐसी

---

२. Rusk, Robert, Doctrines of the Great Educators, p. 286.

क्रियाएँ जड़ और अल्प-बुद्धिवाले बालकों को अवश्य सिखाना चाहिए। स्थूल शिक्षोपकरणों का उपयोग भी ऐसे ही बालकों के लिए मनोवैज्ञानिक रीति से उपयुक्त है क्योंकि मंद-बुद्धिवाले बालकों में विचार-शक्ति नहीं होती। इसीलिए मेयर (Meyer) नामक आलोचक ने स्पष्ट लिखा है कि जो विधि विभिन्न मंद-बुद्धिवाले बालकों के लिये बनी, वह स्वस्थ-बुद्धि वालों के लिए कैसे काम दे सकती है। पं० सीताराम चतुर्वेदी के शब्दों में "मौन्तेस्सौरी प्रणाली एक विराट् विडंबना है, जो मंद-बुद्धि और जड़ बालकों के लिये भले ही लाभकारी हो, किंतु साधारण बालक की शिक्षा के लिए अत्यन्त अव्यावहारिक व्ययसाध्य, आडम्बरपूर्ण और निरर्थक है।"

(८) **कई विरोधाभास**—(Paradoxes) मेरिया माँटेसरी ने बताया है कि उनकी शिक्षाविधि पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है, परन्तु उन्होंने न तो कोई ऐसे प्रमाण दिये हैं और न आधार जिनके द्वारा विधि की वैज्ञानिकता सिद्ध की जा सके। कई बातें जिन्हें वे विधि का उद्देश्य बताती हैं, पूर्ण नहीं होतीं और यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसके उलटे परिणाम नजर आते हैं।

(क) **शिक्षोपकरणों का विरोधाभास**—स्थूल शिक्षोपकरणों के सहारे वालकों को प्रत्यय-निर्माण (Concept formation) में, सहायता देना, इस विधि का उद्देश्य है, पर वास्तव में शिक्षोपकरण प्रत्यय-निर्माण में बाधा देते हैं। इनसे खेलते-खेलते बालक उन्हीं में इतना रम जाता है कि उसके विचार-विकास का काम ही ठप हो जाता है। अतः यह जिस काम के लिए बने हैं, उसी में यह बाधा पहुँचाते हैं।

(ख) **रोचकता का विरोधाभास**—मांटेसरी ने पग-पग पर प्रशंसा करते हुए लिखा है कि यह विधि बड़ी मनोरंजक है। आकर्षक और रंग बिरंगे शिक्षोपकरणों के कारण बालक बड़े उत्साह और रुचि के साथ काम में लगे रहते हैं। पर क्या यह सही है? नित्यप्रति

एक ही तरह के टुकड़ों से उलझना क्या उन्हें आनंद देता होगा ? रोज़ ही बेलनों को रखना, बटन लगाना, हलका-भारी तौलना, क्या यह सारे काम कुछ दिन बाद यंत्रवत् (Machanical) न जान पड़ते होंगे ?

(ग) **अनुशासन का विरोधाभास**—मांटेसरी का कहना है कि इस विधि से पढ़ाने में अनुशासन की समस्या उठती ही नहीं। इस पर विश्वास नहीं होता। विभिन्न वातावरणों से आनेवाले बालक कभी भी एक तरह से चुप नहीं बैठ सकते। वास्तविकता यह है कि कक्षा में हर समय 'गृध्र दृष्टि से ताकने वाली अध्यापिका के भय से वे चुपचाप अपने कार्य में लगे रहते हैं।' यहाँ संयम नहीं भय का राज्य है। यहाँ पर दिखाई पड़नेवाला मौन तथा विनय भय का परिणाम है। वह भी भय कैसा ? अनुशासन भंग करनेवाले को स्कूल से निकाल देना। क्या इसे बुराई को नष्ट करने के बजाय बुराई करने-वाले की हत्या करना न कहेंगे ? वास्तव में रोग को नष्ट करने के स्थान पर इसे रोगी को नष्ट करना कहेंगे।

(घ) **मनोवैज्ञानिक विरोधाभास**—मांटेसरी का दावा है कि उनकी विधि पूर्णरूप से मनोवैज्ञानिक है परन्तु प्रसिद्ध मनोवैंज्ञानिक विलियम स्टेर्न (William Stern) ने अपनी पुस्तक (The Psyc. hology of Early Childhood) में लिखा है कि मांटेसरी-विधि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। खाना बनाना, परोसना, बर्तन साफ करना आदि काम छोटी आयु के बालकों के लिए अस्वाभाविक हैं। इन्हें शिक्षा का प्रत्यक्ष उद्देश्य (Conscious aim) बनाना अनु-चित है। यह कितनी अस्वाभाविकता की बात है कि बच्चे इस छोटी आयु में इतना व्यवस्थित और नियमबद्ध जीवन बिताते हैं। जो जीवन आगे पच्चीस वर्ष में बिताना होगा, उसे अभी बिताने के लिये बालक को बाध्य किया जाता है।

---

(८)

डाल्टन-विधि

(Dalton Plan)

इस विधि का जन्म संयुक्तराज्य अमेरिका के डाल्टन नगर में हुआ, इसलिए इसका नाम डाल्टन-विधि पड़ गया। इसका आविष्कार हेलेन पार्खस्ट ने किया था। कुमारी हेलेन ने बहुत दिनों तक सुप्रसिद्ध डॉ० मांटेसरी के साथ काम किया था। लगभग सन् १९००, में इस विधि की रूपरेखा का विचार उनके मन में उत्पन्न हुआ। सन् १९१३ में उन्होंने इस पर कुछ प्रयोग भी किए परन्तु मांटेसरी के साथ वे कुछ ऐसे कामों में लग गयीं कि उनका ध्यान कुछ समय के लिए इस ओर से बिल्कुल हट गया। सन् १९१८ में कुछ विद्वानों की प्रेरणा से उनका ध्यान इस ओर फिर आकर्षित हुआ। अंत में, १९१९ में, पहली बार वे डाल्टन नगर में इस विधि को पूर्णरूप से कार्यान्वित करने में सफल हुई। पहले उन्होंने भी डॉ० मांटेसरी की तरह, विकृतांग बालकों पर इसका प्रयोग किया परन्तु अंत में यह विधि स्वस्थ बालकों के लिए ही कारगर साबित हुई। इस विधि को 'डाल्टन-प्रयोगशाला-योजना'[1] (Dalton Laboratary Plan) कहते हैं क्योंकि हेलेन के मत में स्कूल के कमरे एक प्रयोगशाला की भाँति होते हैं और विद्यार्थी इनमें वैज्ञानिक (Experimenter) के

---

1. Miss Evelyn Dewey ने अपनी एक पुस्तक में, इस शिक्षा विधि को यही संज्ञा दी है।

रूप में काम करते हैं, इस विधि के सिद्धांतों का प्रतिपादन कुमारी हेलेन ने स्वयं किया है। उनकी विवेचना निम्नलिखित है:—

(१) **प्राचीन शिक्षण विधियों से असंतोष तथा शिक्षा के प्रति नये दृष्टिकोण की आवश्यकता**—(क) अंग्रेज़ शिक्षाशास्त्री पर्सी नन (Nunn) का कथन है कि, यदि हम शिक्षण-विधि को अधिक कारगर और निर्भरशील बनाना चाहते हैं, तो हमें उसकी कार्यशीलता पर संदेह अवश्य रखना चाहिए। हेलेन का भी ठीक यही मत है। उनकी समझ में प्राचीन शिक्षण-विधि दोषपूर्ण है और एक नयी आदर्श विधि की आवश्यकता है। बच्चे यदि पढ़ने में असफल रहते हैं, तो दोष विधि का है, बच्चों का नहीं। अतः सुधार की भावना ने हेलेन को अपनी विधि का आविष्कार करने की ओर प्रेरित किया।

(ख) दोषपूर्ण विधि से पढ़ाने में अधिकतर बालकअ सफल होते हैं। इससे धन का अपव्यय होता है। इसमें हानि राष्ट्र की होती है। नवीन दृष्टिकोण के अनुसार बच्चों की पढ़ाई पर खर्च होनेवाला जनता का धन, पूँजी (Investment) के रूप में माना जाता है। विद्यार्थियों को राष्ट्र इसलिए पढ़ाता है कि वे योग्य नागरिक बनें और राष्ट्र के करोड़ों रुपयों की बरबादी के सिवा और क्या हाथ लगेगा। इसलिए शिक्षण-विधि में तुंरत परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

(ग) मानव-समाज में शिक्षा-प्रेम बढ़ता जा रहा है। शिक्षा, जीवन में सफलता प्रदान करती है। इसलिए शिक्षण को अधिक से अधिक पूर्ण बनाने की आवश्यकता है। मनोवैज्ञानिकों के मत में शिक्षा ही सबसे अच्छा वातारण (Environment) प्रस्तुत करती है। मनुष्य के व्यक्तित्व-विकास में वातावरण की महत्ता बताते हुए एडविन कॉकलिन ने अपनी पुस्तक 'मनुष्य के विकास में वंशानुक्रम तथा परिस्थिति' में लिखा है कि स्कूल का स्वस्थ वातावरण बालकों

में अच्छी आदतें पैदा करता है जिनके बल पर वे जीवन-संग्राम में सफलता प्राप्त करते हैं। अत: शिक्षणविधि में नयी खोजों के आधार पर आवश्यक सुधार कर लेना चाहिए।

(२) **शिक्षणविधि के प्रति नवीन दृष्टिकोण**–कुमारी हेलेन पर एडगर नामक के विद्वान के विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। उन्होंने अपनी विधि पर लिखी हुई पुस्तक में, एडगर महोदव की प्रसिद्ध पुस्तक (Mind in Making) से दो अनुच्छेद उद्धृत किए हैं, जिनमें डाल्टन-विधि के बीज देखने को मिलते हैं।

एडगर महोदय का कहना है—"पढ़ाई की अच्छी विधि वह है जिससे विद्यार्थियों के मन में, स्वयं वस्तुओं का रहस्य जानने और ज्ञान का भाण्डार बढ़ाने की इच्छा उत्पन्न हो। पुरानी उपदेशात्मक और व्याख्यान-विधि मध्य-युग के अनुकूल थी। परिस्थितियाँ बदल गई हैं परन्तु अब भी वही विधि काम में लाई जा रही है। इससे कोई लाभ नहीं होता। इस पुराने कूड़े-करकट को साफ करने के लिए शिक्षकों में जागृति उत्पन्न करने की आवश्यकता है। जाग्रत अध्यापक ही विद्यार्थियों का अध्ययन कर सकेंगे और स्कूल के दर्जों को शैक्षिक प्रयोगशालाओं के रूप में प्रयोग कर सकेंगे। कला-कौशल या हाथ से काम करने वाले विषयों के अतिरिक्त भाषा तथा सामाजिक विषयों में भी बालक काम करते हुए दिखाई देंगे। वहां भी क्रियाशीलता (Activity) के दर्शन होंगे। वातावरण से बालक जो प्रभाव ग्रहण करते हैं, उसका महत्व अभी तक लोग नहीं समझ सके हैं। शिक्षण में अभी तो अध्यापक का काम अधिक समझा जाता है परन्तु वास्तव में काम विद्यार्थी का ज्यादा होना चाहिए।··· विद्यार्थी के जिस गुण की शिक्षक अवहेलना करता है, सम्भव है, उसी के बल पर वह इतना महान बन सके कि अध्यापक उसकी कल्पना करने में असमर्थ हो।"

एडगर ने शिक्षण-विधि को विशेष रूप से विकसित करने पर जोर दिया है। अभी तक लोग पेस्तालाज़ी, फ्रोबेल और हर्बार्ट की शिक्षण-विधियों पर आँखें मूँदकर अमल करते रहे हैं। उनकी समझ में यह नहीं आता कि इससे भी अधिक उपयोगी-विधि हो सकती है। प्रयोगों के बाद ऐसी उत्तम विधि बनाई जा सकती है। एडगर के विचारों ने हेलेन को अपनी विधि पर प्रयोग करने के लिए विशेष रूप से बाध्य किया।

(३) **मानव संस्कृति का महत्व**—हेलेन के शिक्षा-दर्शन की मुख्य विशेषता यह है कि वह एकांगी नहीं है। वर्तमान प्रगतिवादी शिक्षाशास्त्री इतने अधिक अग्रगामी हैं कि वे पाठ्य-क्रम से साहित्य इतिहास तथा अन्य सांस्कृतिक विषयों को निकाल देने का समर्थन करते हैं। वास्तव में यह एकांगीपन बड़ा हानिकारक है। उक्त विषय मानव संस्कृति के वाहक हैं। पाठ्य-क्रम में उन विषयों को स्थान न देना, मनुष्य को एक बहुत बड़े अधिकार से वंचित करना है। हेलेन पार्खस्ट वर्तमान अग्रगामिता के विरुद्ध हैं। वे सांस्कृतिक विषयों को पाठ्य-क्रम में स्थान देने की समर्थक हैं। हाँ, वे इतना अवश्य चाहती हैं कि सांस्कृतिक विषयों की पढ़ाई दिखाने के लिए न हो। इतिहास और साहित्य इस तरह पढ़ाया जाना चाहिये कि बालक उसे आत्मसात (Assimilate) कर लें। हेलेन ने पाठ्यक्रम में बहुत हेर-फेर नहीं किया है। साहित्य और इतिहास को उचित स्थान दिया गया है परन्तु उन्होंने इनको सुरक्षित रखते हुए शिक्षणविधि में आमूल परिवर्तन करने की चेष्टा की है।

(४) **स्वतंत्रता की भावना**—प्रगतिवादी शिक्षा के आंदोलन का हेलेन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। प्राचीन शिक्षण-विधि में बच्चों पर होनेवाले अत्याचारों को देखकर उनका मन बड़ा कुंठित होता था। इसीलिए वे पढ़ाई में बच्चों को आजादी देने की समर्थक हैं,

पर 'स्वतंत्रता' का अर्थ उन्होंने बड़े मौलिक ढंग से बताया है। हाँ, इस पर रूसो का प्रभाव स्पष्ट है। डॉ० मॉंटेसरी की तरह वे स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व का समन्वय चाहती हैं। इस सम्बन्ध में उनके विचार सुनिये—

"स्वतंत्रता (Freedom) का अर्थ मनमानी (License) नहीं है। जो बालक मनमानी करता है, वह कभी भी स्वतंत्र नहीं। कहला सकता। इसके विपरीत, ऐसा उच्छृखंल बालक, कभी भी बुरी आदतों का गुलाम बन सकता है और वह सामाजिक-जीवन के लिए निकम्मा साबित होगा। स्वतंत्रता का असली अर्थ यह है कि उसकी शक्तियों का उचित ढंग से उपयोग हो। डाल्टन-विधि द्वारा बालक को ऐसा मौका मिलता है कि वह अपनी शक्ति को अपनी पढ़ाई अपने आप करने तथा पढ़ाई का आयोजन करने में अपने ढंग से प्रयोग कर सकता है। जिस प्रकार अपने शरीर को स्वस्थ बनाने में उसे शारीरिक स्वतंत्रता मिलती है, उसी प्रकार काम करने में उसे मानसिक और नैतिक स्वतंत्रता दी जाती है। शक्तियों का दुरुपयोग ही असामाजिक कार्य है। आज़ादी का अर्थ यह है कि बालक के काम में बाधा न डाली जाय। *अगर वह एक काम में दिलचस्पी से रहा है तो उसे रोका न जाय।*"

इस स्वतंत्रता की भावना को लेकर ही डाल्टन-विधि में बालकों को समय-सरणि (Time-table) के कठोर बंधनों से मुक्ति दे दी गई है और यदि बालक किसी विषय में लगन के साथ जुटा है, तो घंटा बजाकर उसे दूसरा विषय पढ़ने के लिये बाध्य नहीं किया जाता। बालक को अपनी रुचि के साथ अध्ययन करने की छूट दी जाती है। इस स्वतन्त्रता से तीन सूत्रों का जन्म हुआ।

(क) समय-सरणि से मुक्ति—डाल्टन-विधि में घंटे नहीं बजते। बालक जितनी देर चाहे एक विषय पढ़े। समय-सरणि को

हटाने का औचित्य हेलेन ने मनोवैज्ञानिक तर्क से सिद्ध किया है। मनुष्य का मन यशीन नहीं है, जिसे जितनी चाहे एक ही तरफ लगा रक्खा जाय। जैसे स्टोव को जब चाहे जला या बुझा सकते हैं, उसी तरह मन को उत्तेजित या शांत नहीं कर सकते। बालक का ध्यान हटना या लगना, पूर्णरूप से अध्यापक की चतुरता और अध्यापन-कौशल पर निर्भर नहीं। यह सोचना कि ४५ मिनट तक बालक मन लगा कर एक विषय पढ़ता ही रहेगा, एक गलत ढंग का नियतिवादी (Deterministic) दृष्टिकोण है। डाल्टन-विधि से पढ़ाई में मन लगने की दृष्टि से, बालक को छूट दी गई है।

(ख) कक्षा (Class) को प्रयोगशाला (Laboratory) का रूप——जिस प्रकार प्रयोगशाला में वैज्ञानिक इच्छानुसार प्रयोग करता है, उसी प्रकार डाल्टन-विधि में कक्षाएँ, पाठ्यसामग्री से पूर्ण रहती हैं। विद्यार्थी आवश्यकतानुसार पुस्तकों से और अन्य उपकरणों से सहायता लेता है।

(ग) ठेकों की व्यवस्था—इमारतें बनाने, या माल सप्लाई करने आदि के ठेके व्यापारी लोग सरकार से लेते हैं। एक निश्चित अवधि के भीतर उन्हें अपना ठेका पूरा कर देना पड़ता है। वे चाहे दिन में काम करें चाहे रात में, चाहे लगातार रोज करें या रुक-रुक कर। इस तरह के काम में आजादी होती है, नौकरी की तरह बंधन नहीं। इसी आधार पर विद्यार्थी, शिक्षक से ठेके लेता है। एक महीने के लिए वह जितने काम के ठेके लेता है उसे पूरा करना होता है, पर उसे इस बात की छूट हैं कि वह जब चाहे काम करें।

(५) सामाजिक जीवन और सहयोग——अमरीकी शिक्षा-शास्त्री ड्यूवी (Dewey) का हेलेन के विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। ड्यूवी ने अपनी पुस्तक, 'प्रजातंत्र और शिक्षा' (Democracy and Education) में लिखा है कि प्रजातांत्रिक शिक्षा का उद्देश्य

केवल इतना नहीं है कि मनुष्य अपने निकट के समाज (Community) में बुद्धिपूर्वक भाग ले वरन् शिक्षा का उद्देश्य है, सारे सामाजिक टुकड़ों को एक सूत्र में इस तरह बाँध देना है कि कोई भी वर्ग का व्यक्ति अलग न रह सके और सब को एक-दूसरे पर आश्रित रहना पड़े। पुरानी शिक्षा-पद्धति में विद्यार्थी सहयोग का भाव नहीं सीखते क्योंकि उसमें शिक्षा-प्राप्ति का उद्देश्य अपना निजी स्वार्थसाधन है। अब शिक्षा का अर्थ बदल रहा है। स्कूल समाज का एक छोटा नमूना समझा जाता है। (School is the miniature Society—Dewey)

हेलेन के उपर्युक्त दृष्टिकोण को ध्यान मैं रखकर डाल्टन-विधि की व्यवस्था की है। यहाँ बालक पढ़ाई में एक-दूसरे को सहायता लेते देते हैं। स्कूल का सारा काम उसी तरह चलता है। जैसे समाज में चलता है। बालक समाज का एक अंग बनकर काम करता है, यद्यपि वह इस तथ्य को समझ नहीं पाता। जिस तरह समाज समझौते के सिद्धाँत (Contract theory) पर चलता है, उसी तरह इस विधि में समझौते और इकरारनामे के द्वारा पढ़ाई होती है। विद्यार्थी और शिक्षक मिल-जुल कर काम करते हैं। इसी समाज में बालकों को मान-असम्मान मिलता है। इसलिए वे पढ़ाई में पूरी दिलचस्पी लेते हैं।

(६) **आत्म-शिक्षण और अनुभव**—आवश्यकता और समस्या मनुष्य की सबसे बड़ी शिक्षक होती है। हेलेन ने इस सिद्धांत को अपनाया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने डॉ० माँटेसरी से बहुत कुछ सीखा है। डाल्टन-विधि में बालक के सामने एक समस्या रख दी जाती है और अपनी शक्ति के अनुसार वह उसे हल करने का प्रयत्न करता है। इस मानसिक संघर्ष के कारण उसकी मानसिक शक्तियाँ खूब विकसित हो जाती हैं। बालकों को अपना काम आप करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। वे समझ लेते हैं कि साल भर में

उन्हें कितना पढ़ना है, क्या पढ़ना है, कहाँ से सहायता मिलेगी और क्या कठिनाइयाँ सामने आयेंगी । अतः अपनी शक्ति और उद्देश्य के अनुरूप वे साधनों का प्रयोग करते हैं । उनका अनुभव बढ़ता जाता है, और उनका व्यक्तित्व निखर उठता है । जहाँ विद्यार्थी अपनी शिक्षा के लिए अध्यापकों पर निर्भर रहते हैं, जहाँ उनकी शिक्षा कभी पूरी नहीं हो सकती । शिक्षाचार्य ब्रे (Bray) का कहना है कि विद्यार्थी अपनी पढ़ाई का उत्तरदायित्व अध्यापक पर डाल देते हैं परन्तु अध्यापक अकेले क्या कर सकता है । बालकों को उनके द्वारा पूरा मानसिक भोजन नहीं प्राप्त हो सकता । उसके लिए बालकों को आत्मशिक्षण की आदत डालनी चाहिए । डाल्टन-विधि द्वारा स्वयं ज्ञान प्राप्त करने का अभ्यास उन्हें हो जाता है ।

(७) **व्यक्तिगत भिन्नता** (Individual Differences)—मनोविज्ञान की उन्नति के साथ, मनुष्य की मानसिक शक्तियों के सम्बन्ध में अधिकाधिक जानकारी होती जा रही है । बौद्धिक परीक्षाओं में (Intellegence Testing) के परिणामों से पता चला है कि मनुष्य की मानसिक शक्तियों में अन्तर होता है । किसी में कार्यक्षमता, ग्राह्यशक्ति और बुद्धि कम होती है और किसी में ज्यादा । इसलिए एक दर्जे के चालीस विद्यार्थियों की क्षमता समान नहीं हो सकती और उन्हें यदि एक ही गति से पढ़ाया जाय तो कोई कम लाभ उठायेगा और कोई ज्यादा । हेलेन ने इस तथ्य को समझ कर डाल्टन-विधि में इस बात की ऐसी व्यवस्था की, कि प्रत्येक विद्यार्थी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार सुविधापूर्वक पढ़ाई का काम कर सकता है और कमजोर बालक केवल उतना ही पढ़ता है जितना वह बोझा उठा सकता है ।

(७) **पुस्तक के स्थान पर 'बालक' का महत्व**—हेलेन का कहना है कि प्राचीन स्कूलों में पुस्तकों को प्रधान मानकर बालक को

उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है, परन्तु समाज में पुस्तकों का कोई स्थान नहीं। वहाँ तो मनुष्य की उपयोगिता देखी जाती है। इसलिए पुस्तकों को अधिक महत्व देकर हम नवयुवकों के रास्ते में एक बाधा खड़ी करते हैं क्योंकि हमारा पुराना दृष्टिकोण गलत है। हम मानों उल्टी दूरबीन से देखते हैं। वास्तव में बालक या बालिका प्रधान है, पुस्तक तो एक साधनमात्र है। अभी तक हम सत्य की ऊपरी सतह तक पहुँचे हैं। अब हमें बालकों की शक्तियों के मूल-स्रोत की खोज करनी होगी। यह तभी सम्भव है जब हम नवीन शिक्षापद्धति के अनुसार बालक को सारा काम करने दें और उसे मौका दें कि वह स्वयं काम करे। हो सकता है यह स्वतंत्रता शिक्षा के सारे दोषों का इलाज न कर सके परन्तु इससे बालकों का मानसिक रोग और अनुशासनहीनता आदि अवश्य दूर हो सकते हैं। स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व के समन्वय से अद्भुत आश्चर्य दिखाये जा सकते हैं।

हेलेन ने डाल्टन-विधि में 'बालक' को प्रधान स्थान दिया है। उसे स्वयं काम करना होता है। उसे आजादी है, पर उसे अपनी जिम्मेदारी पूरी करनी पड़ती।

(८) **'सर्वांग-समन्वय' शिक्षा का उद्देश्य**—प्राचीन शिक्षा-पद्धति में प्रत्येक विषय इस प्रकार अलग-अलग पढ़ाये जाते हैं कि उनमें कोई सजीव एकत्व (Organic unity) नहीं दिखाई देता। हेलेन के मतानुसार पढ़ाई का उद्देश्य 'सर्वांग समन्वय (Synthetic aim) है अर्थात् सारी शिक्षा में एकत्व हो, सारे विषयों में अलगाव न जान पड़े। इस सम्बन्ध में हेलेन ने कुमारी एमिली विलसन (Emily Wilson) के विचार उनकी पुस्तक (An Experiment in Synthetic Education) से उद्धृत किये हैं—

"हमारे पाठ्यक्रम के मुख्य विषय समन्वयपूर्ण (Synthetic) ढंग

से पढ़ाये जाने चाहिएँ अर्थात् उनका एक-दूसरे से सम्बन्ध बताया जाय जिसमें वे अलग-अलग स्वतंत्र क्षेत्र की भाँति न मालूम हों। केवल समन्वय द्वारा अर्थात् केवल बार-बार जोर देकर और बताकर कि मनुष्य को अच्छी तरह समझने के लिये इतिहास, वातावरण, विज्ञान साहित्य और कला को जानना जरूरी है, हम ज्ञान को सजीव पिंड (Living organism) का रूप दे सकते हैं। तभी ज्ञान की शक्ति का अनुभव होगा, नहीं तो अलग-अलग विषयों की पढ़ाई से ज्ञान निरर्थक और निर्जीव सा मिलेगा।"

अत: हेलेन ने डाल्टन-विधि को यों ही बालकों पर लादने का प्रयत्न नहीं किया है। यहाँ बालक स्वेच्छा से लाभ प्राप्त करता है और वह ज्ञान-पूर्ण और शक्ति प्रदान करने वाला होता है।

(९) **अध्यापक की स्थिति**—यह विधि स्व-शिक्षण-प्रधान होने के कारण, अध्यापकों से नये प्रकार के उत्तरदायित्व निर्वाह की अपेक्षा रखती है। अध्यापक सलाहकारों (Advisers) के रूप में कामकरते हैं। वे बालकों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते। अध्यापकों के निम्नलिखित कर्तव्य[1] होते हैं:—

(क) कक्षा में अध्ययन का वातावरण बनाये रखना।

(ख) निर्दिष्ट कार्य की व्याख्या करना।

(ग) सहायक सामग्री के प्रयोग के बारे में स्पष्ट निर्देश देना।

(घ) अध्ययन से सम्बन्धित समस्याओं को हल करने के उपाय बताना।

---

१. Adams, John : Modern Developments in Educational Practice, Chap. on Dalton Plan. p. 165-166 quoted from Evelyn Dewey's, the Dalton Laboratory Plan p. 75.

(ङ) आवश्यकता पड़ने पर विषय से सम्बन्धित सामान्य नियमों की व्याख्या करना ।

डाल्टन-विधि द्वारा पढ़ाई का विवरण

यद्यपि हम डाल्टन-विधि को एक 'विधि' के रूप में लेकर चल रहे हैं, परन्तु पाठकों को ध्यान रखना चाहिये यह केवल विधि नहीं है । यह एक प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था (Educational Organization) है जो मौलिक रूप से नयी है । हेलेन इसे केवल विधि मानने वालों का चेतावनी देती हैं । क्योंकि इसे विधि मान लेने से इसमें 'रूढ़िवादिता' का दोष आ जायेगा । इसे शिक्षा-व्यवस्था कहना अधिक उपयुक्त है । क्योंकि बिना स्कूल की व्यवस्था बदले हुए इस विधि से पढ़ाई सम्भव नहीं है । अतः पाठकों को निम्नांकित विवरण पढ़ते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इस विधि के लिये कैसे व्यवस्था में परिवर्तन करना पड़ता है ।

(१) पाठ्यक्रम की नवीन ढंग से व्यवस्था —

(अ) **विषयों का वर्गीकरण**—स्कूल में पढ़ाये जानेवाले सारे अनिवार्य तथा ऐच्छिक विषयों का नया वर्गीकरण कर लिया जाता है, जैसे :—

मुख्य विषय (Major Subjects)	**मामूली विषय** (Minor Subjects)
गणित	संगीत
इतिहास	कला
विज्ञान	कताई, बुनाई
हिंदी	गृहविज्ञान आदि
भूगोल	
विदेशी या प्रांतीय भाषा (अंग्रेजी)	

मुख्य या मामूली विषयों को श्रेष्ठ या हीन समझना अनुचित है। प्रथमवर्ग को मुख्य इसलिए कहा गया है कि, इन विषयों के आधार पर विद्यार्थी को दर्जा (Promotion) दिया जाता है। इसलिये परीक्षा की दृष्टि से हम इनके लिये अधिक समय देते हैं। मामूली विषयों द्वारा बालकों का ज्ञान विकसित होता है और सौन्दर्यानुभूति की शक्ति (Aesthetic Sense) बढ़ती है। दूसरे, वर्गीकरण इसलिये किया जाता है कि डाल्टन-योजना को आंशिक रूप से लागू किया जा सके। अच्छा यह है कि पहले मुख्य विषयों पर इसका प्रयोग किया जाय और बाद में मामूली विषयों पर।

(ब) विषयों का ठेकों (Contracts) में विभाजन—जिस प्रकार व्यवसायी लोग कोई इमारत बनाने या माल भेजने आदि का ठेका सरकार से लेते हैं और उसे नियत समय में पूरा करते हैं उसी तरह विद्यार्थी हर विषय के शिक्षक से उसके विषय की पढ़ोई पूरी करने का ठेका लेते हैं। हर-एक विषय में एक ठेके को पूरा समय एक महीने का होता है। एक महीने के भीतर ठेके में दिया गया काम पूरा हो जाना चाहिए। विद्यार्थी को महीने के प्रारम्भ में एक इकरारनामे (Contract bond) पर हस्ताक्षर करना पड़ता है, जैसे—

मैं ·······कक्षा··········का विद्यार्थी··········निर्दिष्ट पाठ (Assignment) पूरा करने का ठेका लेता हूँ।

तिथि और हस्ताक्षर

ठेके का उद्देश्य साल भर की पढ़ाई को बराबर टुकड़ों में विभाजन करना है। इस ढंग से प्रत्येक विषय हर महीने बराबर गति से लड़के पढ़ते हैं, किसी में पिछड़ते नहीं हैं। प्राचीन शिक्षा-विधि की तरह लड़के साल भर टालमटूल नहीं करते। पुराने

स्कूल में तो पढ़ाई परीक्षा के दिनों में ही होती है, शुरू साल से आधे साल तक वे समय नष्ट करते रहते हैं। ठेकों में पढ़ाई का काम बंट जाने से बालक काम में नियमित बन जाते हैं, उन्हें बराबर रफ्तार से काम करने का अभ्यास हो जाता है।

(स) **ठेके में दिये गये निर्दिष्ट पाठ को (Assignment) को तैयार करने के सूत्र**—पाठ को तैयार करने में शिक्षक को अपनी पूरी योग्यता का परिचय देना पड़ता है। वास्तव में डाल्टन-विधि के अन्तर्गत शिक्षक का असली काम यही है। उसे बालकों की मनोवैज्ञानिक स्थिति की पूरी जानकारी होनी चाहिए ताकि वह छोटे या बड़े, सभी प्रकार के विद्यार्थियों के लिए उनकी योग्यता के अनुसार पाठ तैयार कर सके। इन पाठों की उपयुक्तता पर इस विधि की सफलता निर्भर है।

अच्छे **निर्दिष्ट पाठ की विशेषताएँ**—(१) निर्दिष्ट पाठ लिखित हो, जबानी नहीं। उनकी भाषा स्पष्ट होनी चाहिए जिसे पढ़कर विद्यार्थी अपने आप समझ ले कि उसे क्या काम करना है। एक अच्छे पाठ में विद्यार्थी के दृष्टिकोण, रुचि और योग्यता का ध्यान रक्खा जाता है।

(२) पाठ में निर्देश (Instructions) इस तरह दिये जायें कि उनके अनुसार बालक पढ़ाई सुभीते के साथ कर सके। उसका कार्य-प्रणाली (Procedure) निश्चित हो ताकि वे भावी जीवन में हर काम को उचित ढंग से करना सीख सकें।

(६). आवश्यकतानुसार पाठ में आसानी से हेर-फेर (Alteration) किया जा सके। यदि पूरे दर्जे के लिए तैयार किया हुआ पाठ किसी विद्यार्थी के लिए कठिन या सरल हो, तो उसमें घटाने बढ़ाने की गँजाइश रहनी चाहिए।

(४) एक मास के लिए तैयार किया हुआ पाठ सप्ताहों की इकाई से बांटा होना चाहिए। स्पष्ट मालूम हो जाय कि पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे सप्ताह में पाठ का कितना-कितना भाग पूरा हो जाना है।

(५) पाठ में सुझाव, प्रश्न, संदर्भ, संकेत आदि होना उचित है इन सुझावों (Interest pocket) का डाल्टन-विधि में महत्व-पूर्ण स्थान है क्योंकि इनका सम्बन्ध विद्यार्थियों की विशेष रुचियों और आवश्यकताओं से होता है। ऐसे स्थलों का संकेत होना चाहिए, जहाँ विद्यार्थी शिक्षक से सीधे सहायता ले सके या विचार-विमर्श कर सके। इस प्रकार के पाठ वास्तव में 'सहायक अध्यापक' की भाँति उपयोगी सिद्ध होते हैं। इनकी उपयोगिता इस बात में हैं कि परोक्षरूप से शिक्षक विद्यार्थी की सहायता करता है पर यह सहायता गुप्त होती है। विद्यार्थी समझता है कि वह स्वयं बिना सहारे काम कर रहा है।

(६) प्रत्येक विषय के अध्यापक अलग-अलग अपने पाठ तैयार करते हैं। ऐसी स्थिति में उन पाठों में सम्बन्ध नहीं रह पाता। इसलिए प्रत्येक मास के लिए पाठ तैयार हो जाने पर एक बार सभी अध्यापक एक मीटिंग कर लें और यह प्रयत्न करें कि सबके पाठ जहाँ तक हो सम्बद्ध हों, ताकि सानुबंध के सिद्धांत (Principle of Correlation) की अवहेलना न हो। 'सर्वांग समन्वय' का ध्यान अवश्य रक्खा जाय। उदाहरण के लिए इतिहास के पाठ में भूगोल या साहित्य से सम्बन्धित बातें आ जाएँ तो अच्छा है। पाठों में यह विशेषता तभी आ सकती है जब ग्रहों (Planets) का अध्ययन हो रहा हो, तो गणित में उसी से सम्बन्धित प्रश्न दिये जाएँ, चित्रकला की पढ़ाई में उन्हीं के चित्र खींचे जायें। अतः अध्यापक

के पास सारे विषयों के पाठों की एक-एक प्रतिलिपि (नकल) रहनी चाहिए।

(द) **निर्दिष्ट पाठ की रूपरेखा**—पाठ को किस ढंग से तैयार किया जाय अथवा उसमें कौन-कौन-सी बातें लिखी जाएँ उनका विवरण नीचे है :—

विषय—

मास के कार्य की भूमिका—केवल कुछ वाक्यों में महीने भर के काम के विषयों में लिखा जाय। यह भूमिका-सुझाव (Interest pockets) के रूप में हो।

प्रथम सप्ताह—

कक्षा............ ठेके के पाठ का क्रमाँक............

१—शीर्षक (**Topic**)—पाठ के विषय के मुख्य विचार का बोध हो जाय जैसे "चीन" 'पेट्रोल' या 'विश्वसंघ'।

२—समस्या (**Problem**)—कई बातों का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे चित्र खींचना, नापना, प्रयोग करना, आदि।

३—लिखित कार्य (**Written work**)—हर तारीख को जितना लिखने का काम हो उसका निर्देश हो।

४—याद अरने का काम (**Memory work**)—इसके अन्तर्गत, कविता का अंश, गणित के नियम परिभाषाएँ आदि दी जाती हैं।

५—परामर्श या जबानी पाठ (Conferences or Oral Lessons)—वह तारीख लिखी हो जिस दिन पाठ की

पढ़ाई होगी ताकि विद्यार्थी पूछने वाले प्रश्नों को पहले से तैयार कर लें ।

६—**सहायक पुस्तकें और संकेत (References)**—उन पुस्तकों, समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं के पन्नों का उल्लेख जिन्हें पढ़ना आवश्यक हो ।

७—**प्रगति विवरण (Equivalent)**—इसमें विद्यार्थी को अपने काम का ग्राफ तैयार करना बताया जाता है । इसे विद्यार्थी एक कमरे (Lab.) से दूसरे में साथ ले जाता है । यह एक प्रकार का प्रवेशपत्र है । यदि बालक ने लिखने या पढ़ने में अधिक काम कर लिया है तो अगले सप्ताह में उसकी कटौती दी जाती है ।

८—**सूचना-पट का अध्ययन (Bulletin-study)**—किसी कक्षा के बोर्ड पर लगे हुए चित्र को अध्ययन करना है, तो उसका उल्लेख हो ।

९—**विभागीय कटौती या छूट (Departmental cuts)** यदि एक विषय के पाठ में किसी दूसरे पाठ का कोई अंश सानुबन्ध (Correlation) के कारण पूरा कर लिया जाता है, तो उसकी कटौती हो जाती है । उदाहरण के लिए इतिहास की पढ़ाई में भूगोल का कोई अंश आ जाय और विद्यार्थी उसे सफलतापूर्वक पूरा कर लें तो उसे भूगोल में वह अंश नहीं पूरा करना पड़ता । इसे विभागीय छूट या कटौती (Departmental cut) कहते हैं ।

यह आवश्यक नहीं है कि पाठ मे यह नौ सूत्र आ ही जायें । जैसा उचित हो, आवश्यकतानुसार करना चाहिए ।

(२) **अध्यापक और विद्यार्थी का नया सम्बन्ध**—अध्यापक पाठ तैयार करने का सारा काम करता है । इसके बाद विद्यार्थी

पाठ पूरा करता है। इस प्रकार डाल्टन-विधि में कार्य-विभाजन (Division of Work) का सुन्दर आयोजन है। कितना काम शिक्षक को करना है और कितना विद्यार्थी को, यह स्पष्ट है। पाठ तैयार करने के बाद शिक्षक का काम समाप्त नहीं होता। विद्यार्थी उससे सहायता ले सकते हैं, विचार-विमर्श कर सकते हैं। दोनों के सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण होते। यदि विद्यार्थी उससे कुछ पूछने आते हैं तो वह उचित परामर्श देता है परन्तु वह इस बात का भी ध्यान रखता है कि छात्र नकल तो नहीं करते, या समय तो नष्ट नहीं करते या प्रयोगशाला की वस्तुओं को हानि तो नहीं पहुँचाते। अध्यापक को अपने विषय का पूरा ज्ञान होता है और वह सदैव अपने विषय की नयी खोजों की जानकारी करता रहता है। पर वह दूसरे विषयों की उपेक्षा नहीं करता। दूसरे, विषयों के अध्यापकों से वह पूर्ण सहयोग करता है।

(३) **प्रत्येक विषय के लिए एक विशेष कमरा**—डाल्टन-विधि से पढ़ाई के लिए हर विषय के लिए एक कमरा नियत होता है। यह कमरा एक प्रकार की प्रयोगशाला (Laboratory) होती है जिसमें विद्यार्थी वैज्ञानिक की भाँति प्रयोग करते हैं। इन कमरों में उस विषय से संबंधित तस्वीरें, चार्ट, ग्राफ़, मूर्तियाँ, पुस्तकें तथा अन्य आवश्यक उपकरण मौजूद रहते हैं। प्रत्येक कमरे में हर कक्षा के लिए अलग-अलग डेस्क रखे होते हैं ताकि उस कक्षा के बालक कायदे से आकर बिना गड़बड़ी के बैठ सकें। कमरे के बाहर सूचना-पट्ट पर पाठ की नकल लगा दी जाती है। विद्यार्थी उसे बाहर पढ़ लेते हैं। जब वे कमरे में आते हैं, तो अपने स्थानों पर वे शांति से बैठ जाते हैं। उस समय अध्यापक पाठ की प्रतिलिपियाँ हर-एक को दे देता है। विद्यार्थी उसे पढ़ते जाते हैं और अध्यापक यथासम्भव समझने में उनकी सहायता करता है। इसके बाद पाठ में दिये गये निर्देशों के अनुसार वे काम करने लगते हैं। अपना काम पूराकर लेने पर या

मन के ऊब जाने पर विद्यार्थी उठकर दूसरे कमरे में जा सकता है। सप्ताह में एक बार १२ बजे के आस-पास अध्यापक लगभग ४५ मिनट तक जबानी एक दर्जे के लड़कों को पढ़ाता है।

(४) **पाठ्य-पुस्तकें**—डाल्टन-विधि की पढ़ाई में प्रत्येक विषय के लिए एक विशेष पुस्तक नियत नहीं रहती। कोई भी पुस्तक 'आदर्श' रूप से सर्वोत्तम नहीं होती; इसलिए एक विषय के लिए जितनी भी अच्छी पुस्तकें मिल सकती हैं, उनका संग्रह कर लिया जाता है, प्रत्येक कमरे में एक छोटा-सा पुस्तकालय रहता है। पाठ्य-क्रम की पुस्तकें नीरस होती हैं। इससे बालकों को आनंद नहीं मिलता और पढ़ने से उन्हें अरुचि हो जाती है। इसलिए प्रत्येक कमरे में अच्छी से अच्छी पुस्तकें रख दी जाती हैं। विद्यार्थी उन्हें पढ़ते हैं और भविष्य में पढ़ने का उन्हें अभ्यास हो जाता है।

(५) **घंटों की व्यवस्था का अभाव**—डाल्टन-विधि में घंटो का झगड़ा हटा दिया गया है। वास्तव में घंटे अध्यापकों की सुविधा के लिये बनाये गये हैं, बालकों को इससे अड़चन होती है। पुराने ढंग के स्कूलों में विद्यार्थी यदि कमजोर है तो भी उसे एक ४५ मिनट पढ़ना पड़ता है और यदि तेज है तो भी वह उतनी देर पढ़ता है। चाहिए यह कि जिस विषय में वह कमजोर है, उसे अधिक समय मिले, या जिस विषय में उसे रुचि हो, जितनी देर चाहे पढ़े। इसलिए डाल्टन-विधि में घंटों का बन्धन हटा दिया गया है। हर बालक का अपना निजी समय-चक्र रहता है। आवश्यकतानुसार वह प्रत्येक विषय के लिये अपना समय बाँटकर दे सकता है। बालक प्रारंभ से ही समय का मूल्य समझने लगता है और उसे समय-बाँटने (Time-Budgetting) का अभ्यास हो जाता है।

प्रत्येक विषय में कितना समय एक विद्यार्थी को देना चाहिये, वह यह अपने शिक्षक से पूछ भी सकता है। शिक्षक उसे आसानी से बता

देता है क्योंकि वह उसकी प्रगति से हर समय अवगत रहता है। उसकी कमजोरी या तेजी को ध्यान में रख कर अध्यापक उसे सलाह दे देता है।

(६) **प्रगति का लेखा** (Record of Progress)—यदि विद्यार्थी को अपनी प्रगति (Progress) की जानकारी होती रहती है, तो वह दूने उत्साह से काम करता है। इसलिए हेलेन ने ग्राफ तैयार करने की तरकीब निकाली है। यह ग्राफ (Graphs) प्रत्येक विषय की प्रयोगशाला के मुख्य अंग हैं। यह ग्राफ पुराने स्कूलों में भरी जाने वाली शिक्षकों की डायरी से हजार गुना अच्छे हैं। इसके द्वारा एक नजर में ही, प्रत्येक विद्यार्थी, प्रत्येक कक्षा और सारे स्कूल की प्रगति का अन्दाजा हो जाता है। प्रगति-सूचक रेखा-चित्र तीन तरह के होते हैं।

(क) **अध्यापक की प्रयोगशाला का रेखाचित्र** (Instructor's-Laboratory Graph)—इसमें एक कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी की साप्ताहिक प्रगति की एक रेखा खींच दी जाती है। स्वयं विद्यार्थी अपने नाम के आगे वह रेखा खींच देता है। उसके द्वारा बालक और शिक्षक दोनों को प्रगति का पता लग जाता है। विद्यार्थी की अभिरुचि का पता चलता है और वह जान लेता है कि कितना काम पिछड़ गया है। वह अपनी प्रगति की तुलना दूसरों की प्रगति से कर सकता है। अध्यापक को यह मालूम होता रहता है कि कब वह अमुक विद्यार्थी को सहायता दे।

(ख) **विद्यार्थी का ठेके का ग्राफ** (Pupil's Contract Graph) इसके द्वारा विद्यार्थी, प्रत्येक विषय पर अपनी प्रगति का लेखा देख सकता है। ग्राफ में प्रत्येक विषय के खाने नीचे बने होते हैं और बायें तरफ लम्बाई में चार सप्ताह के खाने होते हैं। विषय के खाने में हर सप्ताह में किये गये काम की रेखा खींची जाती है।

इस ग्राफ द्वारा बिद्यार्थी हर विषय में अपनी प्रगति का तुलनात्मक अध्ययन कर सकता है और दूसरे विद्यार्थियों के ग्राफ को देखकर उसकी तुलना कर सकता है। इस ग्राफ की पीठ पर शिक्षक विद्यार्थी के लिए सुझाव लिख देता है (पर ये सुझाव नियम के रूप में न लिखे जाने चाहिये।)

(ग) **कक्षा या स्कूल का ग्राफ** (Form or House Graph)—इस ग्राफ में चालीस खाने होते हैं, जिनके द्वारा १० विषयों में की गई प्रगति का लेखा रहता है। एक विषय के लिए चार सप्ताह दिये जाते हैं, इसलिए १० विषयों के लिए चालीस सप्ताह हुए। ग्राफ के चालीस खानों से चालीस सप्ताह का बोध होता है। एक विद्यार्थी, जो १० विषय के लिए है, एक मास में ४० सप्ताह का काम करता है। इस ग्राफ द्वारा लिखा जाता है कि एक विद्यार्थी ४० सप्ताहों में से कितने सप्ताह का काम पूरा किया है। ग्राफ में स्कूल भर के विद्यार्थियों का लेखा एक रेखा द्वारा अंकित कर दिया जाता है। इसके द्वारा सारे स्कूल की पढ़ाई का पता चल जाता है। स्कूल के संग्रहालय में, इसे सुरक्षित रखना चाहिए।

(घ) **उपस्थिति** (Attendance) **का ग्राफ**—कुछ डाल्टन-स्कूलों में इसका भी प्रयोग किया जाता है। यह ग्राफ स्कूलों के बड़े हाल में नोटिस बोर्ड पर लगा दिया जाता है। स्कूल में ठीक समय पर आने वाला प्रत्येक विद्यार्थी, अपने नाम के आगे, 'टिक' का निशान लगा देता है। देरी होने पर, देरी के खाने में आने का समय लिख देता है।

(७) **अनुशासन**—डाल्टन-विधि से पढ़ाई होने पर अनुशासन की समस्या नहीं उठती। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुशासनहीनता, रोग नहीं वरन् बालक की किसी मानसिक समस्या से उत्पन्न हुई कठिनाई का लक्षण-मात्र है। जब बिद्यार्थी को असंतोष, या अशांति

होती है तभी वह अनुशासन भंग करता है। डाल्टन-विधि में उनकी इच्छाओं, रुचियों और स्वतंत्रता का सम्मान किया जाता है। इसलिये वे संतुष्ट रहकर पढ़ने में मग्न रहते हैं। यहाँ बालक के व्यक्तित्व-विकास की पूरी सुविधाएँ दी जाती हैं अनुशासन का प्रश्न यहाँ उठ ही कैसे सकता है। अनुशासनहीनता के मूल में बुरी आदतें काम करती हैं। हेलेन कहती है कि बालकों को अश्लील भाषा के प्रयोग और बुरी आदतों में क्यों आनन्द आता है, इसका एक मात्र कारण यह है कि इनके द्वारा बालक को 'स्वतंत्रता' और 'स्वच्छन्दता' का आनन्द मिलता है जब कि अच्छी आदतों में बंधन होता है। यदि बालकों को अपने काम में पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाय, तो बुरी आदतों का शिकार वह हो ही नहीं सकता। इस दृष्टिकोण को लेकर डाल्टन-विधि में बालकों को अपने ढंग से काम करने की पूरी छूट दे दी जाती है। इससे अनुशासन की समस्या का अंत हो जाता है।

डाल्टन-विधि लागू करने में सतर्कता—

(१) **नौ या दस वर्ष की आयु के बाद इसका प्रयोग**—डाल्टन विधि की सफलता इस बात पर निर्भर है कि विद्यार्थी अपने कर्तव्य को पालन करने में समर्थ हों। उत्तरदायित्व और कर्तव्य-पालन का भाव नौं या दस वर्ष की आयु तक आ जाता है। इसलिये इसी आयु के शुरू से और आगे की आयु में इस विधि को लागू करना उचित है।

(२) **बालक के विकास-कालों** (Developmental periods) **का ध्यान**—बालक का विकास तीन कालों में विभक्त है, शैशव काल (Infancy), बाल्यकाल (Childhood), यौवनारंभकाल (Adolescence)। डाल्टर-विधि बाल्यकाल और यौवनारंभ-

काल के लिये बनी है। इन दो कालों में बालकों के अनेक भाव और विचार सम्बन्धी समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। डाल्टन-विधि में इन समस्याओं को हल करने की ओर ध्यान देना चाहिये।

(३) **व्यक्तिगत भिन्नता** (Individual Difference) **पर हर समय दृष्टि**—मनोवैज्ञानिक परीक्षणों (Mental-testing) के आधार पर यह बात सिद्ध हो चुकी हैं कि एक कक्षा के बालक बुद्धि-स्तर (Intelligence), रुचि (Interest) और विशेष योग्यता (Aptitude) आदि में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। इसलिये इन भिन्नताओं पर अध्यापकों को हर समय दृष्टि रखनी चाहिये। हेलेन की राय है कि मानसिक परीक्षा (Mental tests) का प्रयोग समय-समय पर करना लाभदायक है। ठेकों के पूरे या अधूरे रहने से भी भिन्नता का पता चलता है। परीक्षा में विशेषज्ञ (Expert) की सहायता लेना उचित है।

(४) **योजना लागू करने में जल्दबाजी अनुचित**—किसी भी स्कूल में डाल्टन-योजना लागू करने के पहले पृष्ठ-भूमि तैयार कर लेना चाहिए। पहले अध्यापकों और बालकों को इस सम्बन्ध में पूरी जानकारी करा देना चाहिये। इस काम में कम से कम एक मास का समय देना आवश्यक है। पहले मुख्य-विषयों पर प्रयोग करना चाहिए फिर मामूली विषयों पर। अच्छा यह होगा कि आरंभ में हर दिन स्कूल में काम शुरू करने के पहले १५ मिनट का समय प्रत्येक बालक को दिया जाय ताकि वह दिन भर काम करने की योजना के सम्बन्ध मैं एक बार फिर अच्छी तरह सोच ले। अध्यापकों में अच्छी तरह सहयोग और समय-समय पर परामर्श होना भी जरूरी है।

(५) **घर के लिए काम** (Home-work) **न दिया जाय**—डाल्टन-विधि में पढ़ाई का सारा काम दर्जे में हो जाता है। सब

बालक मिलकर काम करते हैं और समय-समय पर अध्यापक से अपनी कठिनाई के बारे में पूछ लेते हैं। इसलिये भूलें कम होती हैं या होती ही नहीं। इसलिए घर के लिए कोई काम देने की आवश्य-कता नहीं है। दूसरे, दिन भर काम करने के बाद, यदि घर के लिए भी काम दे दिया जाय तो बालक को सोचने का मौका नहीं मिलता। इससे उसके काम में मौलिकता और ताज़गी नहीं रहती।

(६) **लिखने में सफाई और सही होने का ध्यान**—शब्दों को साफ और सही लिखने पर सदैव जोर देना चाहिए पर इतना अधिक भी नहीं कि विचार-प्रकाशन में बाधा पड़े।

(७) सभी विषयों के अध्यापकों में सहयोग होना चाहिए जिसमें विद्यार्थी समान भाव से प्रत्येक विषय में रुचि लें। यदि अध्यापकों में विरोध होगा, तो इस बात की संभावना रहेगी कि बालकों में भी दलबंदी चल जाय। इससे कुछ बालक एँक विषय अधिक पढ़ेगे और दूसरे की उपेक्षा करेंगे।

(८) डाल्टन-विधि की सफलता के लिए विशेष पाठ्य-पुस्तकों का प्रबंध रहना चाहिए। यह पुस्तकें व्यक्तित्वप्रधान शैली में बालकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए लिखी जानी चाहिए; विषय की ओर केवल साधारण ध्यान दिया जाय।

आलोचना

प्रगतिशील शिक्षा के समर्थकों में हेलेन पार्खस्ट का मुख्य स्थान है। उनका यह प्रयोग आलोचकों की दृष्टि में काफी मूल्यवान साबित हुआ है। प्रांरभ में इसका सफलतापूर्वक प्रयोग करने में कई कठिनाइयाँ सामने आयीं। पाठय-क्रम के सारे विषयों की पढ़ाई का

संतुलन विगड़ गया। अक्सर ऐसा देखा गया कि विद्यार्थियों ने एक-दो विषयों को ठीक से पढ़ा और अन्य विषय उपेक्षित हुये। कालान्तर में व्यवस्था के ठीक होने पर; विद्यार्थियों ने उचित ढंग से काम करना सीख लिया। वे निर्दिष्ट समय में अपना काम पूरा कर लेने लगे। एक विशेष बात यह हुई कि विद्यार्थियों ने पाठ्य-विषय के कठिन अँशों की ओर विशेष ध्यान देना आरंभ कर दिया। इस विधि के गुणों और दोषों की विवेचना निम्नांकित है:—

गुण—

(क) **अध्यापक और विद्यार्थी के उत्तरदायित्व का उचित विभाजन**—अँग्रेजी शिक्षाशात्री पर्सी नन (Percy Nunn) ने 'डाल्टन योजना' पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि इस विधि के अन्तर्गत प्रथम बार अध्यापक और विद्यार्थी के कामों का अलग-अलग निश्चित रूप से विभाजन हुआ है। अध्यापक का काम निर्दिष्ट पाठों को तैयार करना, सलाह देना, तथा सप्ताह में एक-दो बार पढ़ाना है। विद्यार्थी पढ़ाई का शेष काम स्वयं करते हैं। काम के बँट जाने से पढ़ाई में सुविधा होती है।

(ख) **डाल्टन-योजना के द्वारा स्कूल 'जेल' न होकर आमोद-प्रमोद का स्थान बनता है**—बालक को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है। उन्हें स्कूल का भय नहीं रहता। प्रत्येक काम को वे अपना हित समझ कर करते हैं। न तो यहाँ समय-चक्र का बंधन है और न परीक्षाओं का। पुरानी शिक्षण-विधि में स्कूल की रोचकता इन्हीं दोनों के कारण नष्ट हो गई थी। डाल्टन-विधि में इनके हटा देने से बालक पूरी स्वतंत्रता का अनुभव करते हैं।

(ग) **ठोस ज्ञान की प्राप्ति**—बालकों को इस योजना में एक

वैज्ञानिक की भाँति काम करना पड़ता है। वे स्वयं प्रयोग करते हैं और अनुभव प्राप्त करते हैं। सारे विषयों में सानुबंध स्थापित होने से उनका ज्ञान ठोस तथा व्यावहारिक होता है। जिस प्रकार सामाजिक जीवन में सामने समस्यायें और कठिनाइयाँ आती हैं और उनका सामना किया जाता है, उसी प्रकार डाल्टन-स्कूल में बालक स्वयं अपनी कठिनाइयों को हल करते हैं। उससे वे जीवन-संग्राम में सफल होने के योग्य पहले ही बन जाते हैं। स्कूल में उन्हें जीवन की प्रतिच्छाया देखने को मिलती है।

(घ) **सामाजिक गुणों का विकास**--मानव-संस्कृति के विकास के साथ-साथ समाज की शक्ति बढ़ती जा रही है और व्यक्तिवाद का अंत हो रहा है। आज यदि हमें जीवित रहना है, तो पास-पड़ोसियों से मिलकर चलना होगा। डाल्टन-विधि से पढ़ाई का परिणाम यह होता है कि बालकों में पारस्परिक सहयोग, कर्तव्य-पालन, जिम्मेदारी, स्वालम्बन आदि के गुण उत्पन्न हो जाते हैं और वे अच्छे नागरिक बन जाते हैं। अडोल्फ ई मेयर का कथन है कि इस योजना का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक बालक को अपने निकट के समाज में बुद्धिमानी-पूर्वक भाग लेने के योग्य बना दिया जाय। स्कूल के कार्य में बालकों को अधिक से अधिक स्वतंत्रता देने की भावना से डाल्टन-विधि का जन्म हुआ है। डाल्टन असोसियेशन के मंत्री के शब्दों में, "इसका उद्देश्य बालकों को स्वतंत्रता प्रदान करना है ताकि वे स्कूल में एक ऐसा समाज बना सकें जिसमें विभिन्न वर्गों का आत्मीय संबंध संभव हो।" डाल्टन-विधि दो प्रकार से सामाजिक भावना उत्पन्न करती है। एक तो उस अर्थ में जिसे प्रो० ड्यूवी ने अधिक महत्व दिया है अर्थात् शिक्षा का संबंध सामाजिक आवयश्कताओं से जोड़ती है, जिसके फल-स्वरूप विद्यार्थी समाज में सफल होकर जीवन बिताने योग्य बनता है और दूसरे अर्थ में यह विधि बालकों में सहकारी भावना और सहयोग-

पूर्ण ढंग से काम करने की प्रवृत्ति पैदा करती है[1]। यह ठीक है कि विद्यार्थियों को अपनी शक्ति के अनुसार काम करने की छूट रहती है, परन्तु इसका अर्थ नहीं है कि वे परस्पर मिलते-जुलते नहीं हैं। वास्तव में वे सब एक प्रकार का काम करते हैं और अपना-अपना काम अलग-अलग करते हुए भी एक दूसरे से सहयोग करते हैं। यह सहयोग वे स्वत: करते हैं और अपनी आवश्यकता से प्रेरित होकर करते हैं।

(ङ) **अनुशासन की समस्या का अभाव**—मनोवैज्ञानिक तत्वों पर यह विधि आधारित है, इसलिए अनुशासन की समस्या यहाँ उठती ही नहीं। बालक अपने आप संयमी बन जाते हैं। जब उन्हें अपनी आवश्यकताओं तथा उनको पूरा करने की विधि ज्ञात हो जाती है, तो वे अव्यवस्था फैलाना नहीं चाहते।

(च) **सामूहिक-शिक्षण** (Group-Teaching) **के दोषों का परिष्कार**—पुरानी विधि द्वारा एक दर्जे में चालीस लड़कों को एक साथ पढ़ाया जाता था। अच्छे-बुरे, तेज-कमजोर, सभी एक साथ बैठकर पढ़ते थे। उनकी व्यक्तिगत कठिनाइयों के बारे में अध्यापक को कोई जानकारी न होती थी। व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धांतों के प्रतिकूल यह पढ़ाई होती थी। डाल्टन-विधि में यह दोष नहीं। शिक्षक प्रत्येक बालक की मनोभावनाओं और योग्यताओं का सूक्ष्म अध्ययन कर सकता है क्योंकि कक्षा-प्रयोगशालाओं में बालक को हर तरह से देखने का पूरा मौका मिलता है। इसके बाद वह बालक की व्यक्तिगत देख-रेख (Individual care) कर सकता है।

(छ) **शिक्षक-और विद्यार्थी दोनों को संतोष**—शिक्षक और

---

१. Adams, John : Modern Developments in Educational Practice, p. 171-174

विद्यार्थी दोनों में मैत्री भाव स्थापित हो जाता है । डाल्टन योजना में काम करने वाले शिक्षकों का मत है कि उन्हें इस विधि से पढ़ाने में अधिक आनन्द मिलता है । शिक्षकों को स्वतंत्रता और आत्मसम्मान प्राप्त होता है । हेलेन ने हर-एक बिषयों के अध्यापकों के मत इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक में उद्धृत किये हैं । श्रीमती रोजा बेसेट (Rosa Bessett) ने अपने स्कूल में इस योजना को एक वर्ष तक चलाने के बाद एक **प्रश्न-तालिका** (Questionaire) बालिकाओं को दी । उनके उत्तरों से पता चलता है कि बालिकाओं को पुस्तकों के पढ़ने में अधिक सुविधा मिली और पढ़ने में रुचि भी बढ़ी । उनमें सहयोग का भाव उत्पन्न हुआ और प्रायः सभी को संतोष रहा ।

(ज) **पुरानी और नयी विधियों का समन्वय**—प्रगतिशील शिक्षा के आन्दोलन से, बालकों को पूर्ण स्वतंत्रता देने की चर्चा चल पड़ी । स्कूलों में पाठ्यक्रम और प्रस्तावों को हटा देने की माँग हुई । पुराने ढंग के स्कूलों में सांस्कृतिक विषयों (Cultural Subjects) जैसे साहित्य और इतिहास पर अधिक जोर दिया जाता था । अब इनको हटाकर वैज्ञानिक विषयों को लाने का समर्थन होने लगा । डाल्टन-विधि इन दोनों विरोधी प्रवृत्तियों में संतुलन स्थापित रखती है । वह पाठ्य-क्रम को गौण बताती है परन्तु पाठ्य-क्रम को हटाने पर जोर नहीं देती । पाठ्य-क्रम को सुरक्षित रखते हुए, इस विधि द्वारा शिक्षा-क्रम में आदर्श परिवर्तन करने में सफलता मिलती है ।

(झ) **मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि**—हेलेन ने अपनी विधि में, मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में होने वाली नवीनतम खोजों का उचित ढंग से प्रयोग किया है । वर्तमान शताब्दी के गत अर्द्धांश में मानसिक-परीक्षण-विज्ञान (Science of Mental Testing) का जन्म हुआ । इन परीक्षणों के आधार पर मालूम हुआ कि बालकों की मानसिक योग्यताओं में अंतर होता है । सबको एक डंडे से हाँकना अनुचित है । डाल्टन-विधि ही ऐसा आयोजन है, जिसके द्वारा बालक

अपने-अपने हिसाब से पढ़ते हैं। विशेषरूप से यह कुशाग्र-बुद्धि बालकों का चुनाव करती है। इस बात का महत्व राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से बहुत ज्यादा है। अच्छे और कुशाग्र-बुद्धि वाले बालकों कोछाँटकर उनकी पढ़ाई के लिए ज्यादा अच्छी व्यवस्था कर दी जाती है, जिससे वे बड़े होने पर योग्य नेता, दार्शनिक कलाकार, राजनीतिज्ञ और शासक बन सकें। इस विधि द्वारा वास्तविक रूप से योग्य तथा अच्छी शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों का पता चल जाता है। उनकी रुचियों और विशेष योग्यताओं का सम्मान होने से उन्हें उत्साह मिलता है और भविष्य में इनसे राष्ट्र का बड़ा हित हो सकता है।

(ञ) **उचित स्वतंत्रता**—डाल्टन-विधि से शिक्षण की व्यवस्था के अन्तर्गत बालकों को उचित स्वतंत्रता मिलती है। मॉटेसरी विधि की भाँति यहाँ पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी जाती। बालक सब चाहें पढ़ें, जो पाठ चाहें पढ़ें और जितनी देर पढ़े परन्तु इसके आगे उन पर नियंत्रण रक्खा जाता है। बालक यदि समय से पहले घर जाना चाहे, तो नहीं जा सकता, यदि वह उपकरणों का अनुचित प्रयोग करना चाहे तो नहीं कर सकता। अध्यापक उच्छृंखलता और स्वतंत्रता के बीच संतुलन रखता है।

डाल्टन-विधि की विशेषताओं का उल्लेख ब्रे[1] (Bray) ने बड़ी योग्यता से किया है। उसका सारांश हम नीचे देते हैं—

(१) प्रत्येक विद्यार्थी अपनी स्वाभाविक गति से पढ़ता है।

(२) फलतः सारी उन्नति असली और पक्की होती है क्योंकि उसे बालक स्वयं अपने परिश्रम और अनुभवपूर्ण अध्ययन से प्राप्त करता है।

(३) डाल्टन-विधि से पढ़ाई में इस बात पर जोर दिया जाता

---

[1] Bray : School Organisation, pp. 169-170

है कि बालक अपने आप काम करें, आवश्यक पुस्तकें पढ़ें और प्रयोग करें। वे स्वयं कठिनाइयों को हल करके अपनी बुद्धि तीव्र करते हैं।

(४) अपनी योग्यता और अपने विषय की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए, अपने समय का विभाजन करना वे सीख लेते हैं।

(५) एक निश्चित अवधि के भीतर उन्हें पढ़ाई का ठेका पूरा करना पढ़ता है, इसलिए उन्हें अपना काम का पूरा ज्ञान हो जाता है। उन्हें रुचिकर या अरुचिकर, सभी तरह की पढ़ाई निभानी पड़ती है।

(६) बालक को उत्तरदायित्व वहन करने, सफलता के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करने, श्रम का अर्थ और महत्व समझने तथा समीक्षण में आनन्द प्राप्त करने आदि की शिक्षा प्राप्त होती है।

(७) अनुपस्थित विद्यार्थी का पढ़ाई में कोई हर्ज नहीं होता। जहां तक उसने काम किया था, उसके आगे वह, लौटकर प्रारम्भ कर सकता है।

(८) इस विधि में 'पाठय-क्रम' का लचीलापन बना रहता है। बंधे हुए न पाठ हैं न बंधी हुई पुस्तक। इससे खर्च भी कम बैठता है।

(९) गृह-कार्य का बोझ हल्का हो जाता है। अगर बालक चाहे तो उस पर समय दे, इसके लिए कोई बंधन नहीं है।

(१०) अनुशासन की समस्या बिल्कुल दूर हो जाती है। स्कूल के प्रति बालक का दृष्टिकोण बिल्कुल नवीन हो जाता है।

(११) अध्यापक की निरंकुशता तो नष्ट हो जाती है, परन्तु अध्यापक के महत्वपूर्ण स्थान को सुरक्षित रक्खा गया है।

दोष तथा आलोचकों के मत—

कुछ आलोचकों के मत में यह डाल्टन-योजना निर्भरशील नहीं है। उनका कहना है कि साधारण श्रेणी के बालकों के लिए यह अनुपयुक्त है, विशेष रूप से उनके लिए जो पढ़ाई में टाल-मटूल करते हैं। यह केवल बहुत अच्छे विद्यार्थियों के लिए लाभदायक है। अच्छे लड़के ही ज्यादा अच्छी तरह अध्यापकों से लाभ उठा सकते हैं और अध्यापक भी उन्हीं से रुचि लेते हैं, कमज़ोर लड़कों पर समय नष्ट करना उन्हें अच्छा नहीं लगता। इस योजना के लिए निर्दिष्ट पाठ तैयार करना और पाठय-पुस्तकें लिखना भी कठिन है। अध्यापकों का सारा समय इसी में नष्ट हो जाता है। विशेषज्ञों और विशेष प्रकार की इमारत की आवश्यकता के कारण सार्वजनिक रूप में इसे नहीं अपनाया जा सकता; केवल कुछ स्कूलों में इसे चला सकते हैं। जबानी पढ़ाई के न होने से समय बहुत नष्ट होता है। सैद्धांतिक दृष्टि से इस योजना में निम्नलिखित त्रुटियाँ हैं :—

वास्तविक जीवन के विपरीत—कुछ आलोचकों का कहना है कि इस योजना में बालकों को पूरी स्वतन्त्रता रहती है और वे जब चाहें, और जैसा चाहें काम कर सकते हैं, परन्तु आगे चलकर सामाजिक जीवन में प्रविष्ट होने पर उन्हें स्वेच्छाचारिता का मौका नहीं मिलता। तब तो उन्हें वही करना पड़ता है, जो दफ्तर में बड़ा अफसर कहे, या दल में नेता कहे अथवा स्कूल में प्रिन्सिपल कहे। इतनी अधिक स्वतन्त्रता का स्कूल में उपयोग कर लेने से भावी जीवन में विद्यार्थी असफल हो जाते हैं। उनके सामने एक वैषम्य उपस्थित हो जाता है।

इस आक्षेप के उत्तर में श्रीमती बेनेट का कहना है कि इस योजना में स्वतंत्रता अवश्य दी जाती है पर आदर्शों का अभाव

यहाँ नहीं होता। वास्तव में 'निर्दिष्ट-पाठ' इन आदेशों के आधार पर बने होतें हैं। बालकों को इन्हें मानकर चलना होता है। इस लिए उक्त आक्षेप गलत है।

(ख) **व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन**—डाक्टर कॉक्स (Dr. Cox) डाल्टन-योजना के प्रसिद्ध आलोचक हैं। वे कहते हैं हेलेन ने अपनी पुस्तक में इस बात पर जोर दिया है कि इस विधि से पढ़ाई करने पर विद्यार्थियों में सामाजिक भावना की वृद्धि होती है। परन्तु वास्तव में, बालक अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की ओर ही विशेष ध्यान रखता है। वह अपने काम को जैसे भी हो पूरा करना चाहता है। इससे व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिलता है जो आज के युग की विचार-धारा के विपरीत है। प्रसिद्ध साम्यवादी रूसी शिक्षा-शास्त्री पिंकेविश (Pinkevitch) ने अपनी पुस्तक 'सोवियत गणतन्त्र में नवीन शिक्षा' (The New Education in the Soviet Republic) में लिखा है :—

"बावजूद इस बात के कि कुमारी हैलेन फार्खस्ट ने अपनी योजना के सामाजिक शिक्षणवाले पहलू पर बार-बार जोर दिया है, हमें भय के साथ कहना पड़ता है कि इस विधि द्वारा बालकों में व्यक्तिगत दृष्टिकोण उत्पन्न हो ही जाता है। डाल्टन-योजना के अन्तर्गत प्रत्येक विद्यार्थी अपने निर्दिष्ट पाठ को पूरा करने में जुटा रहता है। चूँकि हर एक की पाठ्य-समस्या अलग-अलग रहती है, इसलिए उसे इस बात का पता ही नहीं रहता कि उसका साथी क्या काम कर रहा है।"

वास्तव में इस विधि में सामूहिक कार्यों का अभाव है। इसलिए उक्त आपेक्ष बहुत-कुछ सही जान पड़ता है।

(ग) **व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धांत की अवहेलना**—इस योजना

की नींव वास्तव में व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धान्त पर रक्खी गई हैं। पर डॉक्टर वी० टी० थेयर (Dr. V. T. Thayer) का मत है कि इस विधि से पढ़ाई होने पर व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धान्त की अवहेलना होती है। अतः यह जिस सिद्धान्त पर आधारित है, उसी के विपरीत है। बच्चों की प्रगति की रफ्तार में होनेवाले अन्तर का अवश्य रखा जाता है, परन्तु अन्त में हम देखते हैं कि सभी विद्यार्थी एक ही प्रकार के निर्दिष्ट पाठ पढ़ते हैं, यद्यपि उनकी रुचियों और विशेष योग्यताओं में भारी अन्तर होता है। बालकों की आवश्यकताओ का ध्नान यहाँ नहीं रखा जाता। इसके साथ-साथ अभिभावकों और माता-पिता का हर समय यह दबाव पड़ा करता है कि जहाँ तक हो पढ़ाई में जल्दी हो और समय बचाया जाय। बच्चे भी काम पूरा करने में प्रतियोगिता करते हैं। भाग-दौड़ और जल्दबाजी में काम बिगड़ जाता है। काम की अच्छाई (Quality) की ओर ध्यान न देकर, शीघ्रता पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

(घ) अध्यापकों की कठिनाई—अध्यापकों का काम असंतुलित रहता है। यह ठीक है कि महीने भर का काम चार सप्ताहों में बराबर बँटा रहता है, परन्तु होता यह है कि पहले सप्ताह में काम थोड़ा होता है और अंतिम सप्ताह में काम जमा हो जाने से अध्यापक पर बड़ा बोझ पर जाता है। इससे अध्यापक को काम करने में असुविधा होती है।

(ङ) डाल्टन विधि से शिक्षण प्रारंभ कराने में प्रायः एक प्रकार की हानि की संभावना है। मान लीजिए बालकों को भाषा का अध्ययन करना है। भाषा की पढ़ाई के अन्तर्गत, शब्दकोष का प्रयोग, व्याकरण का अभ्यास, अनुवाद और निबंध आदि अनेक अंग आते हैं। जब बालक सहयोगपूर्वक पढ़ते हैं, तो संभव है कि काम से

बचने के लिए भाषा-अध्ययन के अंगों का बटवारा करलें; एक बालक केवल कोष के प्रयोग का काम ले ले, दूसरा व्याकरण का और तीसरा अनुवाद का और बाद में सब एक दूसरे से काम अदल-बदल कर ठेका आसानी से पूरा कर दें। यदि यह प्रवृत्ति पैदा हो जाय (और इसका संभावना भी है) तो विद्यार्थियों का बड़ा अहित होगा। अतः आवश्यक है कि बालकों के स्थायी सहयोग को नष्ट कर दिया जाय और अध्यापक उन पर कड़ा नियंत्रण रक्खें। अन्यथा बालकों में न तो स्वावलंबन का भाव पैदा होगा और न सच्चा ज्ञान ही वे प्राप्त कर सकेंगे।

(च) इस विधि की रचना, प्राचीन कक्षा-शिक्षण की जटिलता को नष्ट करने के लिए की गयी है परन्तु कुछ अंशों तक, इसके लिए भी जो व्यवस्था की जाती है, उसमें रूढ़ियों के आने की संभावना है। यदि ठेकों की प्रथा, ग्राफ के रूप में लेखा रखने के नियम तथा अन्य कार्यों को, बिना देश और काल की स्थिति को समझे बिना, पूरा किया जाय तो यह विधि भी उतनी जटिल हो सकती है जितनी प्राचीन विधियाँ हैं।

(छ) इस विधि से पढ़ाने से कच्ची आयु के विद्यार्थियों पर आवश्यकता से अधिक उत्तरदायित्व का बोझ पड़ता है,[1] जो उनकी चिंता का कारण बन जाता है, परन्तु इसके प्रत्युत्तर में कह सकते हैं कि यह कठिनाई सभी विधियों में आती है।

(ज) कुछ आलोचकों का विचार है कि डाल्टन-विधि में बालकों को इतनी स्वतंत्रता रहती है कि वे काम को टालते रहते हैं। एक महीने भर **नियमित** रूप से काम करते रहने का अभ्यास

---

[1] Miss Rosa Bassett: Times, Educational Supplement March 4, 1922.

उन्हें नहीं होता । कुछ समय तक वे अधिक परिश्रम करते हैं और शेष दिनों व्यर्थ में समय नष्ट करते हैं। मास के अंत में यदि काम पूरा नहीं हुआ, तो उन पर इतना अधिक बोझ आ पड़ता है कि उनका स्थास्थ्य तक नष्ट हो जाता है।

सर जान ऐडम्स का विचार है कि डाल्टन योजना का यह दोष नहीं है। टाल मटूल करनेवाले विद्यार्थी सब कहीं पाये जाते हैं। बात तो यह है कि ठेके की योजना से यह प्रवृत्ति कुछ कम ही हो जाती है। दूसरे अध्यापक भी तो देखता रहता है कि विद्यार्थी ठीक से काम कर रहे हैं या नहीं। ग्राफ से उनको प्रगति का पता चलता रहता है और अध्यापक उन्हें काम करने के लिए बार-बार कहता रहता है। इस प्रकार टालने की प्रवृत्ति आगे नहीं बढ़ पाती।

डाल्टन-विधि का भविष्य—

डाल्टन-विधि का जन्म माँटेसरी विधि के गर्भ से हुआ है परंतु अब निश्चित रूप से यह एक अपना अलग अस्तित्व रखती है। डाल्टन-विधि में आधुनिकता और प्राचीनता का समन्वय है। अभी यह विकास के मार्ग में है और विभिन्न देशों में साधारण परिवर्तनों के साथ इसका प्रयोग किया जा रहा है। इसके विकास में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। मनुष्य स्वभाव से अपनी प्राचीन परंपराओं के प्रति जबरदस्त मोह रखता है। यही कारण है कि अधिकांश अध्यापक कक्षा-शिक्षण के पक्षपाती होते हैं और डाल्टन जैसी नवीन विधियों को अपनाने में हिचकते हैं। यही नहीं, विद्यार्थियों के अभिभावकों को भी संतोष नहीं होता। वे भी पुरानी प्रणाली के समर्थक होते हैं। डाल्टन-विधि से पढ़ाने पर बालकों का मानसिक विकास होता है, उनकी आदतें बनती हैं, इस बात को कोई महत्त्व नहीं देता। अभिभावक तो इतना चाहता है कि उसके बालक को पाठ्य-विषय का ज्ञान हो जाय। कुछ अध्यापक डाल्टन योजना के विरोधी इस-

लिए बन जाते हैं, कि उन्हें समूह-शिक्षण का अवसर नहीं मिलता। मनुष्य नेतृत्व करना चाहता है; वह चाहता है कि सौ-पचास व्यक्ति एक साथ मेरी बात सुनें और इसलिए अध्यापकों को कक्षा-शिक्षण अधिक पसंद है। डाल्टन योजना में अध्यापक पृष्ठभूमि में पड़ जाता है। अतः उसे ऐसा शिक्षण रुचिकर नहीं जान पड़ता।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी डाल्टन-विधि अपनी विशेषताओं के कारण जनप्रिय होती जायगी और आशा है कि इससे शिक्षण-कला के विकास में सहायता मिलेगी

---

(९)

योजना-विधि

(Project Method)

इतिहास—प्रोजेक्ट-विधि को वर्तमान रूप में आने में काफी समय लगा है। यद्यपि इस विधि को यह रूप देने का श्रेय विद्वान् ड्यूवी और किलपैट्रिक को है परन्तु इसमें अनेक विद्वानों ने योग दिया है, जिनमें से कुछ के प्रयोग उल्लेखनीय हैं।

ड्यूवी महोदय अपने शैक्षिक दर्शन के लिये समस्त संसार में विख्यात हैं। आपने शिक्षा-संसार को अमूल्य निधि दी है और उसे व्यवहृत करके दिखा दिया है। आपने नये ढंग के स्कूल की स्थापना की और उसे लोकप्रिय बनाने के लिये उन्होंने चीन, तुर्की, रूस और अन्य योरोपीय देशों का भ्रमण भी किया। सबसे पहले आपने शिकागो विश्वविद्यालय में कुछ सहयोगियों की सहायता से एक नये प्रकार का स्कूल १८९६ में खोला जिसकी सफलता में पहले लोगों ने बहुत अधिक संदेह किया। इस स्कूल में ड्यूवी ने नयी शिक्षण-विधि चालू की। अध्यापकों और अभिभावकों से परामर्श और सहयोग प्राप्त करके समय-समय पर वे इसमें सुधार करते रहे। उन्होंने हरवार्ट की शिक्षण-विधि का बहिष्कार कर दिया। पुस्तकीय पढ़ाई की अपेक्षा, बालकों के पारस्परिक सहयोगपूर्ण जीवन बिताने पर जोर दिया गया। बालकों की प्रत्येक इच्छा पूर्ण करने की आवश्यकता उन्होंने बताई। वे अनुभव करने, प्रकृति में विचरण करने के लिए प्रोत्साहित किये गये। सन् १९०४ में मेरियम (Meriam) ने मिसूरी विश्वविद्यालय में ड्यूवी से प्रभावित होकर एक स्कूल खोला

जिसमें पाठ्यक्रम के सुधार पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया। इस पाठ्य-क्रम में, पर्यवेक्षण, खेल, कहानी, और हाथ का काम-ये चार बातें अनिवार्य रूप से रक्खी गई। इसमें केवल चार घंटे, (प्रत्येक ९० मिनट का) होते थे। शिकागो में फ्रांसिस पार्कर (Francis W. Parker) ने नयी दिशा में कुछ प्रयोग आरम्भ किये, जिनमें भावी प्रोजेक्ट-विधि के कुछ कीटाणु मिलते हैं। १९१२ में पार्कर ने कुछ पत्रिकायें निकालीं (Francies W. Parker : School Year-Book Vol. I. 1912) जिनके लेखों में वही सिद्धांत निहित हैं, जैसे जिस काम को विद्यार्थी स्वयं करता है, उसी से उसे लाभ होता है। इसलिये उसे अपने आप काम करने का अभ्यास करना ठीक है; उत्तरदायित्वपूर्ण स्वतंत्रता में ही बालक का नैतिक और बौद्धिक विकास होता है। सही शिक्षा वही है जिससे बालक अपनी योग्यता का पूर्ण विकास कर सके; सामाजिकता की भावना बालकों में उत्पन्न करना जरूरी है, आदि।

प्रोजेक्ट-विधि अभी अपने असली रूप में नहीं आई थी। हाँ, उसकी रूपरेखा तैयार हो रही थी। प्रोजेक्ट-विधि को वर्तमान रूप देने का काम किलपैट्रिक (Kilpatrick) ने अपने हाथ में लिया। वे कोलंबिया विश्वविद्यालय के ट्रेनिंग कालेज में अपने भाषणों के कारण काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। ड्यूवी के समाज-शास्त्र और जेम्स तथा थार्नडाइक के मनोविज्ञान से प्रभावित होकर उन्होंने शिक्षण-विधि को सँवारने का प्रयत्न करना आरम्भ किया। सबसे पहले उन्होंने 'अनुभव' को शिक्षण में प्रमुख स्थान दिया। उनका कथन है कि बच्चों के सीखने के तीन पहलू हैं—(१) बौद्धिक (२) शारीरिक (३) स्वभावगत। बौद्धिक सीखने का अर्थ है—बालक का किसी भी समस्या को हल करने की शक्ति प्राप्त करना; शारीरिक सीखने का अर्थ है—हाथ से काम करने की कला में पटु

होना और स्वभावगत का अर्थ हैं——अच्छी रुचियों का निर्माण। प्रोजेक्ट-विधि के यही तीन अंग हैं।

सिद्धांत

योजना-विधि का जन्म प्रोफेसर ड्यूवी के प्रयोजनवाद (Pragmatism) से हुआ है। ड्यूवी के शिक्षा-सिद्धान्तों और प्रयोजनवाद में घनिष्ट संबंध है, इसलिए संक्षेप में प्रयोजनवाद का विश्लेषण करना आवश्यक है। प्रयोजनवाद, अमरीकी संस्कृति की देन है। प्राचीन संसार की (जिसमें यूरोप, एशिया और अफ्रीका सभी शामिल हैं) संस्कृति काफी प्राचीन है, इसने अनेक उत्थान और पतन देखे हैं। इसके विकास में सबसे बड़ा योग धर्म ने दिया है। यद्यपि धर्म का बल बहुत-कुछ घट गया है, परन्तु प्राचीन संस्कारों और विश्वासों से यह संस्कृति मुक्त नहीं हो सकी है। प्राचीन दार्शनिकों, धर्माचार्यों और विद्वानों द्वारा प्रस्थापित सत्य आज भी सम्मानित रूप में पूजे जाते हैं। इसके विपरीत अमरीका की संस्कृति बिल्कुल नयी है। उसका जन्म 'विज्ञान' से हुआ है। उसका इतिहास मुश्किल से दो सौ वर्षों का है। इस थोड़े से समय में, पराजय और पराभव से दूर रहकर, एक विशाल भूखंड के अगाध साधनों से सिंचित, अमरीकी-संस्कृति का यह विशाल वृक्ष, उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुका है। प्रयोजनवाद, उसी वृक्ष का फल है। विज्ञान ने अमरीका के निवासियों के हाथ में अपरिमित शक्ति दे दी है और वहाँ का मनुष्य प्राचीन-संस्कृति के 'ईश्वर' से होड़ करने लगा है। 'विज्ञान' ने मनुष्य को सिखाया कि जो-कुछ पहले कहा जा चुका है, सत्य नहीं है। धर्म-ग्रंथों में लिखी हुई अनेक बातें विज्ञान की कसौटी पर चढ़ कर झूठी साबित हुई। अतः प्रयोजनवाद, प्राचीन दर्शन के सम्मानित सिद्धान्तों का खंडन करता है और दूसरी ओर अपनी-अलग विचारधारा भी प्रवाहित करता है।

प्रयोजनवाद की व्याख्या करते हुए, ड्यूवी ने अपनी पुस्तक—'दर्शन का पुर्निर्माण' (Reconstruction of Philosophy)—में लिखा है कि "यदि, **सिद्धान्तों, विचारों, नियमों, या विधियों** से, परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने और कठिनाइयों या समस्याओं को हल करने में सहायता मिलती है, तो उन्हें सत्य और निर्भरशील समझना चाहिए। यदि वे इस काम में सफल हो सकें, तो उन्हें निर्भरशील, विश्वसनीय, सत्य और अच्छा समझना उचित है। यदि उससे अस्पष्टता और दोषों को दूर करने में सहायता न मिले, या उसके अनुसार काम करने पर और भी अधिक अस्पष्टता और परेशानी बढ़ जाय, तो उन्हें 'झूठी' और असत्य समझना ही उचित है। उपपत्ति (Hypo thesis) यदि व्यवहारिक हैं, तो सत्य है।" स्थूल-जगत् में हम जो कुछ वस्तुएँ देखते हैं, प्रायः उनकी उपयोगिता के आधार पर ही उनकी सत्यता हम निर्धारित करते हैं और उन्हें ही हम जीवन में आवश्यक समझते हैं, उसी तरह प्रयोजनवादी, इस उपयोगिता के सिद्धांत को विचार-जगत् में प्रयोग करने लगे हैं। ड्यूवी के विचारों में उपयोगितावाद की छाप स्पष्ट दिखायी देती है। उस दर्शन, धर्म या साहित्य को ही सच मानना चाहिए जिससे मानव-जीवन की बहुमुखी समस्याओं को हल करने में सहायता मिले। प्रयोजनवाद के चार सूत्र, निम्नलिखित हैं, जिनसे इस विचार-धारा के समझने में सहायता मिलेगी:—

(क) हम सत्य विचार की हमेशा जाँच (Verify) कर सकते हैं।

(ख) जिन विचारों की हमेशा जाँच की जा सकती है, वही सत्य हैं।

(ग) सत्य विचार हमेशा उपयोगी होते हैं।

(घ) और उपयोगी विचार ही सत्य होते हैं।

प्रयोजनवाद में निहित 'उपयोगिता' से कई परिणाम निकलते हैं। सबसे पहले उपयोगिता की कसौटी क्या है? यह कसौटी 'मनुष्य' है। हमें देखना होगा कि अमुक वस्तु या विचार किसके लिए उपयोगी है। वही विचार, या नियम सत्य समझना चाहिए, जो मनुष्य के लिए उपयोगी है। इस दृष्टि से 'मनुष्य' का महत्व बढ़ जाता है। सारे सत्य और सिद्धांत 'मनुष्य' को ध्यान में रखकर निर्धारित किये हैं और मनुष्य द्वारा निर्धारित किये गये हैं। उपयोगिता का दूसरा आधार 'परिस्थिति' है। कोई भी विचार किसी परिस्थिति में उपयोगी होता है परन्तु परिस्थिति बदलते ही व्यर्थ बन जाता है। अतः कोई भी विचार शाश्वत और चिरंतन रूप से सत्य नहीं है। सिद्धांत और सत्य परिवर्तनशील हैं। ऐसी स्थिति में 'भूत' और 'भविष्य' का महत्व नष्ट हो जाता है। जो कुछ कल तक हो चुका है, परिस्थितियों के बदल जाने से, हमारे काम का नहीं रहा। भविष्य में भी परिस्थितियाँ बदल जायँगी, इसलिये 'आज' के नियम कल उपयोगी न रहेंगे। अतः 'आज' (Present) का महत्व है। 'भूत' और 'भविष्य' की चिंता में पड़कर आज को खो देना निरी मूर्खता है।

संक्षेप में प्रयोगवाद के मूल तत्व यहीं हैं। यद्यपि प्रोफेसर ड्यूवी का कथन है कि 'शिक्षा-दर्शन' अपनी अलग विशेषता रखता है परन्तु शिक्षा पर प्रयोजनवाद का काफी असर पड़ा है। शिक्षण में बालक के व्यक्तित्व पर अधिक से अधिक जोर देने का कारण प्रयोजनवाद द्वारा प्रस्थापित, मनुष्य का महत्व है। इसी के परिणामस्वरूप बालक के वर्तमान जीवन को अधिक से अधिक सुखद बनाया जाता है। उन्हें, समस्याओं और कठिनाइयों का सामना करना तथा उनका हल करना बताया जाता है। बालकों को सामाजिक कार्यों में भाग लेने तथा किसी भी नियम को स्वीकार करने के पूर्व, उनकी जाँच करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

शिक्षा के रूप में उपयोगी और सफल बनाने के उद्देश्य से, 'योजना-विधि' का आविष्कार किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य शिक्षा का जीवन से गहरा संबंध स्थापित करना है। इस विषय को ड्यूवी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रजातंत्र और शिक्षा' (Democracy and Education) में अच्छी तरह स्पष्ट किया है। आगे हम उनके शिक्षा-सिद्धांतों का उन्हीं की उक्त पुस्तक के आधार पर विश्लेषण करेंगे।

शिक्षा एक अनिवार्य क्रिया है—साधारण रूप से शिक्षा का कार्य विद्याभवनों में ही चलता दिखाई देता है परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट पता चल जायगा कि शिक्षा का कार्य सामाजिक कृत्यों द्वारा हर समय चला करता है। स्कूल से कहीं अधिक शिक्षा मनुष्य को समाज में रह कर मिलती है। यह शिक्षा इतनी स्वाभाविक और प्राकृतिक रूप से मानव-जीवन में क्यों प्रतिष्ठित है ? बात यह है कि 'जीवन' में एक तारतम्यता है। हजारों वर्षों से इस पृथ्वी पर, जिस क्रम से जीवन चल रहा है, वह एक सूत्रबद्ध-सा दिखाई देता है। 'व्यक्ति' तो केवल उस 'जीवन' का वाहन (Carrier) मात्र है। तात्पर्य यह है कि आदि व्यक्ति ने अपने जीवन में जो-कुछ सीखा, उसे वह धरोहर के रूप में अपनी संतान को सौंपा गया। इस तरह जीवन का विकास होता चला गया और मानव-संस्कृति के रूप में सुरक्षित, उस धरोहर को भावी संतानों को सौंपने की क्रिया ही शिक्षा कहलाती है। यह क्रिया न होती, तो शायद 'समाज' को हम जिस रूप में हम देखते हैं, उसका नामो-निशान ही मिट गया होता और मनुष्य भी बर्बर पशु की श्रेणी में गिना जाता। ड्यूवी ने इसीलिये शिक्षा को अनिवार्य क्रिया बताया है। उनका कहना है कि शिक्षा को (जिस तरह आजकल स्कूलों में दी जाती है) निष्प्राण तथा 'मेकैनिकल' नहीं बनाना चाहिए। बालकों को, शिक्षा के सांस्कृतिक महत्व की ओर अवश्य प्रेरित

करना चाहिए। उनकी बुद्धि अपरिपक्व होती है, इसलिए, बिना बताये हुए उनकी समझ में इसका महत्व नहीं आ सकता। विशाल मानव-संस्कृति कोई ईंट या रोड़ा नहीं है, जिसे एक हाथ से दूसरे हाथ में दिया जा सके। यह तो अमूल्य 'अनुभवों' का कोष है। यह अनुभव बालकों को व्यावहारिक ढंग से करना चाहिए। इन 'अनुभवों' को स्वयं अनुभव करने, उनकी जाँच करने और तब ग्रहण की व्यवस्था योजना-विधि में की गई है। सारे विद्यार्थी एक रुचि, एक उत्साह, और एक मन से उन कार्यों में भाग लेते हैं।

शिक्षा एक सामाजिक क्रिया है—ड्यूवी ने अपनी दूसरी पुस्तक 'स्कूल और समाज' (The School and Society) में लिखा है कि स्कूल, समाज का एक छोटा सा रूप है। समाज की स्थापना इसलिए हुई कि वह 'व्यक्ति' के सर्वांगीण विकास के लिए ऐसा वातावरण प्रस्तुत करे कि, वह बिना किसी बाधा के उन्नति करता रहे। 'प्रजातंत्र और शिक्षा' में डिवी, ने शिक्षा को एक सामाजिक क्रिया बताया है। उसका तात्पर्य यह है कि शिक्षा का कार्य (समाज की भाँति) बालकों के विकास में सहायता देना है। वातावरण में बड़ी शक्ति होती है। उससे बालकों का विकास अवरुद्ध भी हो सकता है और तीव्र भी हो सकता है। इसलिए स्कूल का वातावरण पूर्ण-रूप से नियोजित होना चाहिए। वातावरण एक व्यापक शब्द है। इसके अन्तर्गत स्कूल, भवन, पुस्तकें, पाठ्य-सामग्री तथा सभी कार्य-क्रम आ जाते हैं। इन सबका बालकों के वाह्य व्यवहार तथा अन्तर्मन पर गहरा असर पड़ता है। स्कूल के वातावरण में रहकर बालक 'सफलता' 'असफलता', 'मान' और 'अपमान' के भाव सीखता है। यहीं उसे भाषा का ज्ञान भी प्राप्त होता है। यहाँ पर उसे जो कुछ भी प्राप्त होता है—जैसे भाषा, आचरण, और रुचियाँ—वह सब सामाजिक जीवन के लिए उपयोगी होता है।

प्रोफेसर ड्यूवी ने जिस समाज की कल्पना की है, वह वैसा समाज नहीं है, जो हम यहाँ अपने चारों ओर देखते हैं। यदि हज़ार या पाँच सौ व्यक्ति किसी एक स्थान पर रहने लगें तो, उससे न तो समाज ही बनता है और न ऐसे लोगों का जीवन सामाजिक-जीवन ही कहलायेगा। सच्चा समाज वही है; जिसमें सारे व्यक्ति अन्योन्याश्रित हों। संघटन-विहीन जीवन, सामाजिक जीवन नहीं कहला सकता। आज तो यह स्थिति है कि हम अपने पास रहने-वाले पड़ोसी को भी नहीं जानते, उससे हमारा न तो कोई काम निकलता है और व हमारे द्वारा उसका कोई भला होता है। पर-स्पर सहयोग न करनेवाले, एक दूसरे के सुख-दुख में भाग न लेने-वाले व्यक्यियों का जमघट केवले 'समूह' कहला सकता है, समाज नहीं। ड्यूवी ने एक सच्चे समाज की स्थापना के लिए, जिसके व्य-क्तियों में सहयोग, सहानुभूति, और समानता जैसे गुण हों, प्रजा-तंत्र को आधार चुना। प्रजातांत्रिक समाज ही सच्चा समाज है क्योंकि इस व्यवस्था के अन्तर्गत, प्रत्येक व्यक्ति को अपने सर्वांगीण विकास के लिए समान अवसर मिलता है। शिक्षा द्वारा ऐसा समाज सरलता से स्थापित किया जा सकता हैं। यह कैसे सम्भव हो? उपर्युक्त अनुच्छेद में हम कह चुके हैं कि नियोजित वातावरण द्वारा भावी नागरिकों में चरित्रबल पैदा करके, ऐसा समाज स्थापित किया जा सकता है। स्कूल ही ऐसा **नियोजित वातावरण है**, जहाँ बालक को प्रजातांत्रिक शिक्षा दी जा सकती है। प्रमाण के लिए निम्नांकित तर्क, विचारणीय हैं:—

(क) परिवार में केवल चलतू तथा दैनिक जीवन में काम आने-वाले विश्वासों तथा परम्पराओं का ज्ञान बालक प्राप्त कर सकता है परन्तु स्कूल में पुस्तकों द्वारा सदियों से चली आनेवाली और अज्ञात बातें बालक सीख सकता है। स्कूल बालक का सम्बन्ध भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों से कराने में समर्थ है।

(ख) स्कूल की विशेषता यह है कि यहाँ पर प्रत्येक समस्या या प्रश्न सुलझा करके (Simplified) बालकों के आगे प्रस्तुत किया जाता है। ज्ञान की जटिलता दूर करके, उसे बोधगम्य बना दिया जाता है।

(ग) बालकों के आगे रक्खा जानेवाला ज्ञान चुना हुआ होता है। वातावरण में भरी हुई गंदगी को दूर करके स्वास्थ्यप्रद स्थिति पैदा कर दी जाती है। स्कूल में केवल लाभदायक ब्रातें बतायी जाती हैं, बाहर समाज में बालक गुण और दुर्गण, दोनों सीख लेता है।

(घ) स्कूल का वातावरण संतुलित (Balanced) होता है। जीवन के सभी आवश्यक तत्वों का समावेश होने से, स्कूल का जीवन एकांगी नहीं रहता। साहित्य, धर्म, विज्ञान, कला और व्यापार, सभी प्रकार के अनुभव, चुनकर बालकों को दिये जाते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से 'समाजिक-क्रिया' का स्पष्ट अर्थ ज्ञात हो जायगा। योजना-विधि द्वारा इस सामाजिक क्रिया को व्यवहृत करके दिखाया जाता है। सामाजिक जीवन का पूरा अनुभव बालक कर सकते हैं।

शिक्षा पथ-प्रदर्शन के रूप में—सम्पूर्ण शिक्षा एक प्रकार का वातावरण (Environment) है। इस दृष्टि से शिक्षा के तीन काम होते हैं:—

(क) **निर्देशन** (Direction)—इसके अंतर्गत साधारण तौर से नियंत्रण और मार्ग-दर्शन दोनों आ जाते हैं। शिक्षा का काम, बालकों का ध्यान उन वांछनीय कार्यों की ओर आकर्षित करना है, जो जीवन के लिए आवश्यक हैं। यदि स्कूल में बालक अपनी शक्ति का अपव्यय करने लगेंगे, तो उनका विकास अवरुद्ध हो जायगा। इसीलिये 'योजना' उन कार्यों के सम्बन्ध में बनाई जाती है, जो आगे चलकर बालकों के लिए हितकर सिद्ध होते हैं। निर्देशन का तात्पर्य यही है कि, बालक से

वे काम करवाये जायँ जिन्हें समाज उपयोगी समझता है। निर्देशन-कार्य का सूत्र अध्यापक के हाथ में रहता है।

(ख) **नियंत्रण** (Control)—डिवी का कहना है कि बालक की प्रवृत्तियों को संतुष्ट करने का अवसर देना ठीक है; परन्तु मनमानी, उच्छृङ्खलता और उद्दंडता को कभी भी प्रोत्साहन न देना चाहिये। दुष्प्रवृत्तियों पर अनुशासन रखना, एक अच्छी आदत है और बालकों को इसका अभ्यास कराना जरूरी है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो 'योजना' अप्रत्यक्षरूप से बालकों पर जबरदस्त नियंत्रण कायम रखती है। अध्यापक जो काम चाहता है योजना द्वारा बालकों से करवा लेता है। स्वयं बालक भी आत्म-नियंत्रण करते हैं। योजना में लगे रहकर वे कष्ट झेलते हैं, इच्छाओं का दमन करते हैं और अन्य बुरी भावनाओं का नियंत्रण करते हैं।

(ग) **पथप्रदर्शन** (Guidance)—साथ ही बालकों पर हर एक नियम जोर या जबरदस्ती से नहीं लादा जाता। उनकी रुचि और शक्ति का ध्यान रक्खा जाता है। योजनायें, स्वयं बालक अपनी प्रसन्नता से पूरी करते हैं, उन्हें समय-समय पर सलाह और सुझाव दिये जाते हैं। शिक्षा का यह पथप्रदर्शनवाला पहलू है। योजनाओं में 'पथ-प्रदर्शन' ही प्रधान रहता है, निर्देशन और नियंत्रण तो केवल गौण रूप से आते हैं।

पथ प्रदर्शन का सारा काम, जहाँ तक हो, अप्रत्यक्ष रूप से किया जाना चाहिए। 'ताड़ना' और 'दंड' का इसमें तनिक भी स्थान नहीं। पथ प्रदर्शन में अध्यापक के व्यक्तिगत प्रभाव का विशेष स्थान है। उसके द्वारा विद्यार्थी से बहुत-कुछ कराया जा सकता है। भय दिखाने या आज्ञा देने की अपेक्षा, स्वयं ऐसा आदर्श, अध्यापक को रखना चाहिए कि बालक उसका अनुकरण करने लगें। योजनाओं में, अध्यापक का स्वयं रुचि लेना आवश्यक है। उसे स्वयं श्रम करना

चाहिए तभी बालक काम करना सीखेंगे। बालकों की अनुकरण-वृत्ति से लाभ उठाना जरूरी है। इस संबंध में सामाजिक मनो-विज्ञान से सहारा मिल सकता है।

शिक्षा 'विकास' (Growth) के रूप में—

(क) **विकास का अर्थ**—विकास का अर्थ है—एक ऐसी अवस्था जिसमें बालक धीरे-धीरे वयस्क बन जाता है और जीवन के गंभीर उत्तरदायित्व को वहन करने में समर्थ हो जाता है। विकास को समझने के लिए, अविकसित अवस्था (Immaturity) को समझना जरूरी है। बचपन में मनुष्य इसी अविकसित अवस्था में रहता है। इस दशा में बालक की दो शक्तियों को ध्यान में रखना चाहिए। एक, बालक में ऐसी शक्ति होती है जिससे उसे अपने अंगों को पुष्ट करने और बढ़ाने में सहायता मिलती है। दूसरे, इस अवस्था में बालक में, अनेक प्रसुप्त (Dormant) शक्तियाँ छिपी पड़ी रहती हैं। इस दृष्टि से बालक पशुओं के बच्चों से अधिक भाग्यवान है। मनुष्य के बालकों की यह अविकसित अवस्था, पंद्रह वर्षों तक चलती रहती है। इतने दीर्घकाल में उन्हें सीखने का पूरा अवसर मिलता है। इस विकासकाल में बालक की प्रवृत्तियों का प्रस्फुरण और परिमार्जन होता है। शिक्षा द्वारा इस विकास में सहायता मिलती है।

(ख) **विकास के चिह्न**—अच्छी 'आदतें' ही, विकास का चिह्न हैं। बालकों के व्यवहार में अभ्यास द्वारा परिवर्तन होता जाता है और अच्छी आदतें पड़ जाती हैं। वे परिस्थिति पर विजय पाने के योग्य बन जाते हैं। पर यह आदतें केवल बँधी हुई नहीं होतीं। बालक सोच-समझ कर इनका उपयोग करते हैं।

(ग) **शिक्षा और विकास का संबंध**—विकास का महत्व स्पष्ट

है। शिक्षा का उद्देश्य केवल इस विकास में सहायता देना है। यदि यह कहा जाय कि स्वयं-शिक्षा की क्रिया ही विकास है, तो यह कथन अनुचित न होगा। शिक्षा स्वयं 'साधन' है, शिक्षा स्वयं 'जीवन' है। शिक्षाकाल में लगातार अनुभव करना, परीक्षण करना और सृजन करना यही तीन क्रियायें होती हैं। विकास को ध्यान में रखते हुए बालक की आदतों को सुधारना और परिस्थिति के अनुकूल बनाना—इन बातों की शिक्षा अवश्य दी जानी चाहिए। स्कूल की योजनायें, बालकों के विकास में पूर्ण सहायता पहुँचाती हैं। उनकी आदतें सुधरती हैं और वे किसी भी परिस्थिति में सफलतापूर्वक संघर्ष करने योग्य बन जाते हैं।

शिक्षा का नवीन आदर्श—शिक्षाशास्त्री ड्यूवी प्राचीन शिक्षा के विरोधी हैं। प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य, बालकों को 'भावी-जीवन' के लिए तैयार करना था। 'भावी-जीवन' की पोल खोलते हुये आपने 'वर्तमान जीवन' पर जोर दिया। उनका कहना है कि बालक की आपरिपक्व बुद्धि भविष्य की कल्पना करने में असमर्थ होती है। बालक का जीवन प्रवृत्ति-प्रधान होता है, वह 'वर्त्तमान' के सुखद पहलू को छोड़कर भविष्य की गहराई में जाना नहीं चाहता। यही कारण है कि शिक्षा में जब वें बातें बताई जाती हैं, जिनका वर्तमान से कोई संबंध नहीं है, तो उसे शिक्षा भार जान पड़ने लगती है। दूरस्थ भावी-जीवन को ध्यान में रख कर शिक्षा को इस प्रकार नीरस बना देना एक मूर्खता की बात है। भावी-जीवन की मृगतृष्णा में पड़कर शिक्षाशास्त्री बालक पर रुढ़िवादी व्यवस्था लाद देते हैं। कठोर नियंत्रण और अनुशासन की चक्की में अबोध और कोमल-हृदय बालक पिसते रहते हैं। दूसरी ओर ड्यूवी महोदय वर्तमान शिक्षा शास्त्रियों के 'स्वच्छंदतावाद' के भी आलोचक हैं। रूसो और फ्रोबेल ने बताया था कि बालक को पूर्ण स्वतंत्रता देकर उसे उसी तरह विकासित होने देना चाहिए, जैसे जंगल में वृक्ष मुक्त वातावरण

पाकर बढ़ता है। उक्त दोनों 'विद्वान' बालक के स्वतः विकास पर ज़ोर देते हैं। यदि ऐसा हो सकना सम्भव है, तो शिक्षा की आवश्यकता क्या है? बालक अपने आप नहीं उन्नति कर सकता। ड्यूवी ने इन विद्वानों का विरोध करते हुए 'परिस्थिति' का महत्व बताया। (इस संबंध में हम पिछले पृष्ठों में लिख चुके हैं।) शिक्षा स्वयं एक उत्तम प्रकार का वातावरण है, जो बालकों के विकास में निर्देशन, नियंत्रण और पथप्रदर्शन द्वारा सहायता पहुँचाती है।

इस प्रक़ार ड्यूवी ने प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षा के बीच में एक नया आदर्श स्थापित किया। उनके मत में शिक्षा के समय वालक का वर्तमान जीवन अधिक ध्यान देने योग्य है। यदि वही बिगड़ गया तो कल्पित भविष्य किस काम आयेगा। 'वर्तमान' का अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए, बालक के वातावरण को नियोजित करने की आवश्यकता है। अबोध बालक अपने-आप कुछ भी नहीं कर सकता। उसके विकास के लिए सारे साधन जुटाना शिक्षकों का कर्तव्य है।

शिक्षण-विधि पर ड्यूवी के विचार—अपनी पुस्तक 'प्रजातंत्र और शिक्षा' में ड्यूवी ने शिक्षण-विधि पर भी विस्तार से अपने विचार प्रकट किये हैं। इस संबंध में उनका आधार-भूत विचार यह है **कि शिक्षण-विधि और पाठ्य-विषय** परस्पर सम्बद्ध हैं। दोनों को अलग-अलग मानना उचित नहीं है। इन दोनों को प्राचीनकाल से लेकर अब तक अलग-अलग माना गया है। इससे शिक्षण में कई दोष उत्पन्न हो गये हैं। शिक्षण-विधि पर बहुत अधिक ध्यान देते रहने से, जो कुछ पढ़ाया जाना चाहिये, उसकी ओर से अध्यापक उदासीन हो जाता है और वह अपनी विधि का चमत्कार दिखाने में शक्ति का अपव्यय करने लगता है। बच्चों को अनुशासन के बंधन में फँसना पड़ता है और उन्हें स्वयं अनुभव करने का पूरा मौका नहीं

मिलता। अध्यापक हर एक बात उन्हें साधिकार बताने का प्रयत्न करने लगता है। विधि में उलझे रहने के कारण 'रुचि' और 'अनुशासन' के संबंध में अध्यापकों ने गलत धारणायें पैदा कर दी हैं। विशेष रूप से, यह दोष हरबार्ट की पंचपदी-विधि में मौजूद हैं। उसमें इतना अधिक आडम्बर है कि पढ़ाई के बदले बालकों की हानि होती है। अध्यापक हर समय कहता रहता है—'यह याद करो' 'इसे समझो'। वास्तव में यदि किसी से बार-बार याद करने के लिए कहा जाय तो उसे कभी याद नहीं होगा। जानबूझ कर यदि आप सीखने के लिए बैठें तो आप कभी सीख न सकेंगे। सीखने का काम अनजान में, परोक्ष रूप से और योंही (Incidentally) हो जाता है। जिस तरह युद्ध में शत्रु पर सामने से आक्रमण करने में अपनी हानि होती, उसी तरह 'सीखने' पर बार-बार जोर देने से सीखना और भी कठिन हो जाता है। शिक्षण-विधि को अलग एक कला के रूप में पूजते-पूजते, वह एक निष्प्राण मूर्ति-सी बन जाती है। उसमें नीरसता पैदा हो जाती है और बालकों को पढ़ने में अरुचि उत्पन्न हो जाती है।

फिर 'शिक्षण-विधि' का अर्थ क्या है ? ड्यूवी ने शिक्षण-विधि की अपनी निजी परिभाषा दी है। शिक्षण-विधि पढ़ाने का ऐसा तरीका है, जिससे बालकों को सीखने में आसानी होती है। साथ ही पाठ्य-विषय और पाठन-विधि दोनों का चोली-दामन का साथ है। यह ठीक है कि पाठन-विधि में सीखने के नियमों का, जिन्हें मनोविज्ञानिकों ने खोज निकाला है, पालन होता है, परंतु पाठ्य-विषय का भी पाठन-विधि पर प्रभाव पड़ता है। यदि ध्यान से देखा जाय तो शिक्षण-विधि और कुछ नहीं केवल पाठ्य-सामग्री का चुनाव है। उदाहरण के लिए जीव-विज्ञान के अन्तर्गत होने वाली खोजें इधर-उधर बिखरी पड़ी रहती हैं, परंतु पढ़ाने के समय अध्यापक उन्हें चुन कर और कायदे से सजा कर बालकों

के आगे प्रस्तुत कर देता है। यही शिक्षण-विधि है जो पाठ्य-सामग्री से संबंधित है। दूसरी ओर शिक्षण-विधि का अध्यापक से अलग कोई अस्तित्व नहीं है। वही शिक्षण-विधि एक अच्छे अध्यापक के हाथ में, अच्छे परिणाम दिखाती है, और बुरे अध्यापक के हाथ में बुरे। एक सितार का बिना उस्ताद के क्या महत्व हो सकता है? एक मूर्ख के हाथों में पड़कर उसके तार टूट जायँगे, परन्तु एक कुशल वादक के हाथ में पड़ कर, उससे मधुर राग-रागिनियों का कल्पना-लोक उत्पन्न हो जाता है। इसलिये शिक्षण-विधि का अध्यापक और पाठ्य-विषय से अलग कोई महत्व नहीं।

डयूवी के इन विचारों को समझ लेने के बाद, 'योजना-विधि' का सारा रहस्य स्पष्ट हो जाता है। विधि, विषय और अध्यापक, तीनों के काम दूध-पानी की तरह मिले हुए रहते हैं। जिस समय विद्यार्थी योजना में जुटा रहता है, वह यह नहीं जान पाता कि अध्यापक का क्या योग है या वह कौन सा विषय पढ़ रहा है या वह सीख रहा है या नहीं। योजना में तन्मय होकर दत्तचित्त होकर वह काम करता रहता है। इसी स्थिति को पैदा करने के लिये डयूवी ने 'विधि' और 'विषय' के अलगाव को दूर करके एकत्व की स्थापना पर जोर दिया है।

शिक्षक का कार्य—डयूवी के मत में, शिक्षण की दृष्टि से अध्यापक का विशेष महत्व है। विद्यार्थी यह नहीं जानता कि उसके कामों का क्या परिणाम निकलेगा, परन्तु अध्यापक प्रत्येक योजना के भावी परिणाम की, पहले से ही जानकारी रखता है। वह विद्यार्थियों की आवश्यकताओं का अध्ययन कर लेता है। वह यह भी जानता है कि किस विषय का बालक पर क्या प्रभाव पड़ेगा। वह एक मनोवैज्ञानिक, अध्ययनशील विद्वान् तथा मानव-स्वभाव का ज्ञाता होता है। उसका काम, बालकों की पढ़ाई के लिए सारी सामग्री का

प्रबन्ध करना है। शिक्षारूपी नाटक का वह सूत्रधार है। रंगमंच की रचना करके, वह बालकों को अभिनय करने का मौका देता है; वह स्वयं रंगमंच पर भले ही न दिखाई दे परन्तु निर्देशक का काम, पीछे से करता रहता है। वह बालकों को भूलों से बचाता है। वह स्कूल में बालकों के लिए ऐसा सामाजिक वातावरण तैयार करता है, जिसमें बालक स्कूल को, उस विशाल मानव-समाज का एक अंग समझने लगते हैं, जिसमें उन्हें आगे चलकर पदार्पण करना है। योजनाओं को कार्यान्वित करने में, सामाजिक जीवन का अनुभव बालकों को हो जाता है।

पाठ्य-सामग्री का स्थान—ड्यूवी ने पाठ्य-सामग्री का चुनाव 'ज्ञान' के आधार पर करने की सलाह दी है। प्रायः शिक्षक पाठ्य-सामग्री के चुनाव में, 'सूचना' और 'ज्ञान' में कोई अंतर नहीं समझते। इसलिए 'सूचना' का अर्थ समझ लेना जरूरी है। संसार में मनुष्य अनेक वस्तुओं से परिचित हो जाता है और वह इस साधारण 'परिचय' को अपने साथियों से बताना चाहता है। वस्तुओं से साधारण परिचय को सूचना कहते हैं, क्योंकि मनुष्य का जीवन-काल इतना थोड़ा है कि संसार की असंख्यक वस्तुओं का स्वयं परिचय प्राप्त करना संभव नहीं हैं। अतः दूसरों कीं सूचना द्वारा उनका परिचय प्राप्त करना पड़ता है। साथ ही इस 'सूचना' को 'ज्ञान' समझना भूल है। सूचना द्वारा केवल ज्ञानवर्धन के लिए प्रेरणा मिलती है। सच्चा ज्ञान वही है, जिसकी सहायता से वस्तुओं की वास्तविकता ज्ञात हो सकती है। किसी वस्तु के बारे में हम जो-कुछ समझते हैं, वह सत्य ही होता है। वस्तु की सत्यता वह है जिसे बार-बार हज़ारों-लाखों मनुष्यों ने युगों से, परीक्षण द्वारा निर्धारित किया है। इसलिए पाठ्य-सामग्री में केवल सूचनाप्रधान विषय स्थान न पाने चाहिएँ। पाठ्य-सामग्री का चुनाव ज्ञान के आधार पर होना चाहिए। ऐसे विषय पढ़ाये जाने चाहिएँ, जिनके द्वारा बालकों को

सत्य का शोध करने का मौका मिले। ऐसे विषय, जिनके द्वारा बालको में अज्ञान, श्रद्धा, विश्वास और भाग्यवाद की जड़ जमें, कभी भी न पढ़ाये जाने चाहिएँ।

डच्यूवी के मत में वैज्ञानिक और सामाजिक विषय पढ़ाये जाने चाहियें। वैज्ञानिक विषयों द्वारा बालकों में, जिज्ञासा, प्रयोग करने तथा सुचारु-रूप से काम करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। बालक घटनाओं को कार्य-कारण के सम्बन्ध से समझने लगते हैं। सामाजिक विषयों की आवश्यकता का कारण यह है कि ज्ञानोत्पत्ति समाज में हुई है। ज्ञान-प्राप्ति का उद्देश्य ही लोककल्याण के भाव को पुष्ट करना है। उसके द्वारा संस्कृति, मानवता और प्रजातंत्र की अभिवृद्धि होती है। योजना-विधि द्वारा यह दोनों उद्देश्य पूरे हो जाते हैं। बालकों को प्रत्येक बात की परीक्षा करने का सुअवसर मिलता है। साथ ही वे अपने ज्ञान का प्रयोग योजना जैसे सामाजिक कार्य में करते हैं।

मनोवैज्ञानिक तत्व—डच्यूवी के अपनी शिक्षण-विधि में कई मनोवैज्ञानिक तत्वों का समावेश किया है। उनका कहना है कि बालक क्रिया द्वारा सभी काम सरलता से सीख लेता है। यह क्रिया द्वारा सीखने (Learning by doing) का सिद्धांत है। किसी काम को करते-करते, जितना अच्छा ज्ञान मनुष्य को प्राप्त होता है, उतना वह दूसरों से सुनकर नहीं प्राप्त कर सकता। करने से मनुष्य को अनुभव प्राप्त होता है और उसे वह काम करने का अभ्यास भी हो जाता है। इसीलिए योजनाओं में बालकों को दौड़ना-भागना, उठाना-धरना, लाना और ले जाना आदि सभी तरह की क्रियायें करनी पड़ती हैं। अनुभव, जो क्रिया द्वारा प्राप्त होता है, केवल समझने में ही सहायता नहीं देता, वरन्, भविष्य में आनेवाली समस्याओं को हल करने में सहायक सिद्ध होता है।

डच्वी से पहले भी 'क्रिया' का प्रयोग हो चुका था परन्तु जिस अर्थ में डच्वी ने क्रिया का व्यवहार किया, वह पहले किसी को ज्ञात न था। अरस्तू भी शिक्षा में 'क्रिया' को महत्व देता था परन्तु, उसके मत में क्रिया का तात्पर्य था मानसिक कार्य। डच्वी ने इसके विपरीत बताया कि 'क्रिया' वही है जो दृष्टिगत हो अर्थात् उस क्रिया का कोई परिणाम दिखाई दे; क्रिया द्वारा वातावरण में कोई हेर-फेर दृष्टिगोचर हो! हम कह सकें कि इस प्रकार की अमुक क्रिया है या उसकी इतनी मात्रा है[1]। इसी प्रकार क्रिया के सम्बंध में डच्वी के विचार फ्रोबेल और पेस्तालाज़ी से भिन्न हैं। यह दोनों शिक्षाचार्य वस्तुओं और उपहारों का प्रयोग शिक्षा में इसलिए करते थे उनके व्यवहार से उनके गुणों का ज्ञान बालक प्राप्त कर सकते हैं। अतः वे वस्तुएँ और उपहार पहले से ज्ञात होना आवश्यक है। डच्वी का कहना है कि इनको पहले से जानना आवश्यक नहीं। वे व्यवहार द्वारा जाने जा सकते है।[2]

कुछ लोगों का कहना है कि 'क्रिया' से विचार-शक्ति को हानि पहुँचती है। यह विचार भ्रमपूर्ण है। 'क्रिया' के समय बालक शरीर और मन दोनों के कार्यों में संतुलन स्थापित कर लेता है। इसीलिए अब स्कूलों में बालकों को, स्वच्छन्दता से शारीरिक क्रियाओं के करने की पूरी छूट दी जाती है। पुराने स्कूलों में शारीरिक क्रियाओं पर लगा हुआ बंधन हानिकारक सिद्ध हुआ है। 'क्रियाओं' में शारीरिक अंगों और ज्ञानेन्द्रियों का संचालन होता है। पढ़ने में आँखें चलती हैं, लिखने में हाथ चलता है, गाने में मुँह चलाना पड़ता है। इस तरह यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा

---

1. Dewey, J. in Monroe, Cyclopedia of Education Vol. I p. 33-34.
2. Dewey, J. : Democracy and Education, p. 233.

को प्रमुख स्थान दिया है। ड्यूवी ने 'रुचि' का कुछ दूसरा ही अर्थ बताया है। उनके मत में रुचि का जीवन से बहुत बड़ा संबंध है। मनुष्य के दैनिक, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के प्रति निश्चित दृष्टिकोण को रुचि कह सकते हैं। रुचि से एक प्रकार की मनोदशा का बोध होता है। इस मनोदशा को स्थायी रूप देना रुचि-निर्माण करना है। शिक्षा का उद्देश्य, ऐसी रुचि का निर्माण करना है, जिससे जीवन एक सुनिश्चित ढंग से बिताया जा सके। अतः ड्यूवी ने रुचि को शिक्षा का लक्ष्य माना है। वे हरबार्ट के रुचि-संबंधी अर्थ के विरोधी हैं। हरबार्ट ने रुचि को साधन माना है। उन्होंने रुचि को 'लाभ' और 'हानि' की भावना के साथ जोड़ दिया है। विद्यार्थी को पढ़ाई में रुचि इसलिये लेना चाहिए कि, उसे आगे नौकरी मिल जायगी, या उसका और लाभ होगा। ड्यूवी ने पढ़ाई को स्वयं एक रुचि माना है। इस तरह 'योजना' में सन्निहित, जितने प्रकार के काम हैं वे पढ़ाई के साधन-मात्र नहीं हैं, वरन् वे 'लक्ष्य' के रूप प्रस्तुत किए जाते हैं। बालक उन्हें मन लगाकर करते हैं, उन्हीं के करने में आनंद प्राप्त करते हैं। जिस समय वे 'योजना' में लगे रहते हैं, वही उनका जीवन बन जाता है।

इसी तरह 'अनुशासन' और 'शिक्षण' में ड्यूवी ने मनोवैज्ञानिक संबंध स्थापित किया है। अनुशासन का अर्थ नियमपालन नहीं है। किसी भी कार्य को करने में मनुष्य तभी सफल हो सकता है, जब वह यह समझे कि उस कार्य को करना उचित क्यों? इससे यह लाभ होता है कि वह काम बीच में आनेवाली बाधाओं पर विजय प्राप्त करता चलता है। उसकी इच्छा-शक्ति दृढ़ हो जाती है और उसमें अध्यवसाय (Perseverence) का गुण उत्पन्न हो जाता है। सच्चा अनुशासन अध्यवसाय से ही उत्पन्न होता है। काम करने में दूसरी बाधा है मन का उचट जानना। काम करते-करते, कुछ ऐसे प्रलोभन आ जाते हैं कि बालक अपने असली कर्तव्य को

भूल जाता है और काम को छोड़ बैठता है । यही अनुशासन-विहीनता है । अतः दृढ़ इच्छा-शक्ति द्वारा इन प्रलोभनों से बचना अनुशासन का दूसरा पहलू है। 'योजना-विधि' द्वारा बालकों को संयम का अभ्यास कराया जाता है । अनुशासन के दोनों प्रकार के गुण उनमें आ जाते हैं। 'योजना' पूरी होने तक असफल होने पर भी, हिम्मत के साथ वे काम में डटे रहते हैं और जब तक वह पूरा न हो जाय अपने मन को इधर-उधर नहीं जाने देते। इस प्रकार बालकों को अनुशासन का अभ्यास हो जाता है ।

डिव्यूवी ने शिक्षण में "खेल और कार्य" दोनों का समन्वय किया है। 'खेल' के मनोरंजन-प्रधान पहलू को छोड़कर आपने उसके सामाजिक पहलू पर अधिक जोर दिया है। 'खेल' द्वारा बालकों में 'सहयोग', 'सहानुभूति', मैत्रीभाव', और 'संगठन' जैसे सामाजिक गुण उत्पन्न होते हैं। साथ ही बालकों को आनन्द भी आता है। इसलिए 'खेल' को शिक्षा का माध्यम बनाने में लाभ है। साथ ही 'शिक्षा' में गंभीरता की भी आवश्यकता है—वही गंभीरता, जो किसी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को करने में दिखाई देती है। शिक्षण में 'खेल' और 'कार्य' का समन्वय करने के लिए ही ड्यूवी ने मानों योजना-विधि चालू की। योजना को पूरी करने में गंभीरता से काम लेना पड़ता है परंतु उसमें उन्हें वही आनंद प्राप्त होता है, जो खेल में मिलता है।

सामाजिक द्वैतभाव (Dichotemy) का अन्त—

ड्यूवी का दर्शन 'समाज-दर्शन' कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। उनका मत है कि दर्शन का काम केवल संसार को ज्ञान प्राप्त कराना नहीं है, वरन् संसार को अधिक उन्नत बनाना है। दर्शन का मुख्य उद्देश्य उन सामाजिक द्वन्द्वों और कठिनाइयों को हल करना है जो आज के प्रजातन्त्र, उद्योग और विज्ञान के युग में चल रहे हैं। इनका हल तभी हो सकता है, जब मनुष्य 'समाज' और 'आचरण' से सम्बन्ध

रखनेवाले विचारों का औचित्य या अनौचित्य समझ ले। मनुष्य को यह सब समझाने का काम शिक्षा द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। स्कूल समाज का प्रतिबिंब है और वहाँ पर इन समस्याओं का अनुभव तथा उनका हल बालकों को कराया जा सकता है।

समाज की सबसे बड़ी समस्या क्या है? वह है, समाज में प्रचलित 'ऊँच'-'नीच' का भेद-भाव। प्रत्येक देश के समाज में यह समस्या उत्पन्न हो गई है। भारतवर्ष में जाति-भेद, अफ्रीका में वर्णभेद और योरोपीय देशों में वर्ग-भेद आदि का जन्म इसी समस्या के कारण हुआ है। जब तक यह समस्या बनी रहेगी, सच्चा प्रजातंत्र कभी भी स्थापित नहीं हो सकेगा।

यह समस्या उत्पन्न कैसे हुई? समाज को टुकड़ों में खंड-खंड कर देनेवाली इस समस्या का जन्म कैसे हुआ और कैसे यह अब तक बनी हुई है? इसका जन्म शिक्षण-प्रणालियों द्वारा हुआ। हर एक देश में अब तक अलग-अलग वर्ग के लिए अलग ढंग से शिक्षा का आयोजन है। भारतवर्ष में 'ब्राह्मणों' के लिये एक तरह की और 'क्षत्रियों' तथा 'वैश्यों के लिये दूसरी तरह की शिक्षा का प्रबंध था। शूद्रों के लिए तो शिक्षा का द्वार बंद ही कर दिया गया। इंगलैंड के पब्लिक स्कूल और 'कैम्ब्रिज' 'आक्सफोर्ड' विश्वविद्यालय उच्चवर्ग के लिए थे, और अब भी हैं, तथा सरकारी स्कूल, गरीब लोगों के लिये। फ्रांस में भी ऐसा ही भेद-भाव है। एक वर्ग के लिए बौद्धिक विषयों की पढ़ाई का प्रबंध होता है और दूसरे वर्ग के लिये व्यवसायिक विषयों का। अतः समाज में "वर्गवाद" को जन्म देनेवाली शिक्षा ही है। ड्यूवी का कहना है कि यह भेद-भाव 'शिक्षा' द्वारा दूर भी किया जा सकता है।

सबसे पहले ड्यूवी ने शिक्षागत द्वैतभाव को दूर करने के लिये प्राचीन शिक्षा को अस्वाभाविक सिद्ध कर दिखाया। उनका कहना है

कि कोई भी विषय पूर्णरूप से बौद्धिक (Intellectual) या पूर्णरूप से 'शारीरिक' (Manual) नहीं हो सकता। कम से कम आज के संसार में ऐसा असंभव है। पुराने जमाने में हाथ के काम में भले ही बुद्धि-प्रयोग कम करना पड़ता हो, परन्तु आज तो मशीन, बिजली, तथा अन्य काम ऐसे विषय हैं, जिनमें हाथ और बुद्धि का बराबर भाग रहता है। मनोवैज्ञानिक खोजों ने मानसिक और शारीरिक-क्रियाओं में समझे जाने वाले अंतर को गलत साबित कर दिया है। अतः इस भेद-भाव वाली शिक्षण-प्रणाली का अंत करने के लिए ड्यूवी ने अपनी योजना-विधि निकाली। इसमें बौद्धिक और शारीरिक कार्यों का संयोग बड़ी खूबी के साथ किया गया है।

बौद्धिक और शारीरिक कार्यों में संयोग स्थापित करने तथा मूर्खता-पूर्ण द्वैतभाव के नष्ट करने के लिए ही ड्यूवी ने 'सानुबन्ध' (Correlation) के सिद्धांत का प्रयोग किया है। 'योजना' द्वारा सारे विषयों में एक सम्बन्ध बालकों को दिखाई देने लगता है। दूसरी ओर सारे बालक ऊँच-नीच, निर्धन-धनी, निर्बल-सबल के भेदभाव भूलकर एक साथ जुट कर काम करने लगते हैं। इससे एक संगठित समाज की स्थापना हो सकती है और समाज में युगों से चले आनेवाला द्वैतभाव नष्ट हो सकता है।

शिक्षा का व्यावसायिक महत्व—ड्यूवी की दृष्टि में शिक्षा का व्यावसायिक महत्व कुछ कम नहीं है। व्यवसाय में निपुण होने से मनुष्य की आर्थिक सम्पन्नता और क्षमता तो बढ़ती ही है, उसका व्यक्तिगत जीवन तो सुखमय होता ही है, साथ ही इससे समाज का मंगल होता है। दूसरे, आज की वैज्ञानिक उन्नति के कारण प्रत्येक प्रकार के काम-काज में एक ऐसी विशेषता उत्पन्न होती जा रही है कि बिना ट्रेनिंग के उस काम को कोई चला नहीं सकता। पहले की तरह व्यावसायिक शिक्षा एकांगी भी नहीं है। उसमें बौद्धिक तथा

सामाजिक तत्व मिले होते हैं। इसलिए शिक्षा में व्यावसायिक तत्व होना जरूरी है। हाँ, इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि शुद्ध व्यावसायिक शिक्षा के चक्कर में पड़कर ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों को न भुला दिया जाय। विशेष रूप से व्यवसाय द्वारा समाज का क्या कल्याण होता है, इस ओर बालकों का ध्यान अवश्य ही दिलाना चाहिए। ड्यूवी की योजना-विधि में 'व्यवसाय' को उचित स्थान दिया गया है। योजनाओं का विशेष रूप से, सम्बंध व्यवसाय से ही रक्खा जाता है। बालकों की व्यावसायिक क्षमता को उद्दीप्त करने के लिए यह प्रबन्ध किया जाता है। स्कूलों में सहकारी समिति स्थापित करके एक ऐसी योजना बनाई जाती है कि बालक खरीद, बिक्री, उत्पादन और वितरण के व्यवसायों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

'योजना द्वारा पढ़ाई की विधि'

'योजना' का अर्थ—"योजना एक ऐसा समस्या-प्रधान कार्य है, जो उसकी स्वाभाविक परिस्थिति में पूरा किया जाता है।"[1] इस परिभाषा का विस्तार से विश्लेषण किए बिना 'योजना' का वास्तविक अर्थ स्पष्ट न होगा। ड्यूवी ने बताया है कि शिक्षा 'जीवन' है। पुराने ढंग के स्कूलों में जिस तरह पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं उससे ऐसा जान पड़ता है, शिक्षा का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका कारण यह है कि जीवन में मनुष्य को अनेक समस्याओं का सामना पग पग पर करना पड़ता है, परन्तु स्कूल में ऐसा नहीं है। सामाजिक और आर्थिक संघर्षों में पड़ा हुआ मनुष्य, दिन-रात, उन पर विजय प्राप्त करने की योजना बनाया करता है। स्कूल

---

1. Stevenson, J. A. The Project Method of Teaching.

में, बालकों के आगे जीवन का यही प्रतिरूप लाना 'योजना' का उद्देश्य है। 'योजना' के द्वारा बालकों के आगे कोई न कोई ऐसी समस्या रख दी जाती है, जिसका संबंध बालकों की आवश्यकताओं से होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, प्रयोजन (Purpose) के बिना बालक पढ़ते नहीं हैं, इसलिए योजना का संबंध बालकों की तात्कालिक आवश्यकताओं से होना आवश्यक है। 'योजना' बालकों की शारीरिक और मानसिक शक्ति की सीमा से परे नहीं होती। यदि 'योजना' को पूरा करने के उपाय, बालकों की समझ में नहीं आते, या उसे पूरा करने के साधन उपलब्ध कराने में वे असमर्थ हैं तो वह योजना पढ़ाई के लिए अनुपयुक्त है। सच्ची योजना वही है जिसे बालक अपने आप पूरा कर सकें। जिस तरह जीवन में मनुष्य को अपनी कठिनाइयों पर अपने आप विजय प्राप्त करनी पड़ती है, केवल समय-समय पर मित्रों से सुझाव या साधारण सहायता मिलती है, उसी तरह बालकों को स्वयं योजना को पूरा करना पड़ता है, अध्यापक केवल आंशिक सहायता करता है। 'योजना' का संबंध उसकी स्वाभाविक परिस्थिति से है। अपनी परिस्थिति से अलग योजना का सौन्दर्य और आकर्षण नष्ट हो जाता है। सड़क बनाने की योजना, या रेल की पटरी बिछाने की योजना, या कुँए की खुदाई की योजना, बंद कमरे में शोभा नहीं पा सकती। 'योजना' पूरी करने के लिए' बालकों को स्कूल की चहार दीवारी से बाहर ले जाकर, सड़क पर या बाग में काम पर लगा दिया जाता है। इससे बालकों को योजना स्वाभाविक जान पड़ने लगती है। उक्त विश्लेषण द्वारा स्पष्ट हो जायगा कि वास्तव में स्कूल की 'योजना' में हम जीवन की झलक देख सकते हैं।[1]

---

1. Adams, John : Modern Development in Educational Practice, Chap. X.—Project Methad pp. 230-232.

योजना के भेद—योजनाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। कुछ योजनाएँ ऐसी बनाई जाती हैं जिन्हें प्रत्येक विद्यार्थी अलग-अलग स्वप्रयत्न से सीखता है। इन्हें व्यक्तिगत योजना कहते हैं। कुछ योजनाएँ सामूहिक होती हैं, जिनमें कक्षा के समस्त बालक मिल-जुल कर काम करते हैं। योजना-विधि से पूरा लाभ उठाने के लिये सामूहिक योजनाओं को ही प्रोत्साहन देना चाहिए।

विषयों के आधार पर भी योजनाओं का वर्गीकरण किया जा सकता है। कुछ योजनाओं के अन्तर्गत किसी वस्तु की रचना को प्रधानता दी जाती है, जैसे भवन बनाना, कुआँ खोदना या इंजन बनाना आदि। इनमें स्थूल वस्तुओं का प्रयोग होता है। किसी योजना में केवल सीखने या किसी कार्य में प्रवीणता प्राप्त करने पर जोर दिया जा सकता है। ज्ञानार्जन या शोध कार्य के लिये समस्यामूलक योजनाएँ बनाई जाती हैं। यह योजनाएँ उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिये हितकर होती हैं। अन्य योजनाएँ ऐसी भी हो सकती हैं जो रसानुभूति के लिए प्रस्तुत की जाती है।[1]

योजना में पाठ्य-विषयों का समन्वय—प्राचीन स्कूलों में नियमों की पढ़ाई द्वारा केवल ज्ञान की बातें बताई जाती हैं। बालक न तो उन्हें ध्यान से पढ़ता है और न उन्हें पचा सकता है। वह ज्ञान भी किस काम का, जिसे जीवन में लाभ के लिए प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। डच्यूवी ने इसलिए योजनाओं पर अपने उपयोगितावाद का रंग चढ़ाया है। बालकों को 'योजना' के द्वारा पाठ्य-विषयों की उपयोगिता का ज्ञान हो जाता है। दूसरे योजना

---

१. आत्यानंद मिश्रः शिक्षणकला, अध्याय १४, पृष्ठ २२३-२२४

द्वारा विषयों में सानुबंध (Correlation) भी स्थापित हो जाता है। 'योजना' की सबसे बड़ी देन यह है कि बालक के आगे पाठ्य-विषय 'हौवा' के रूप में नहीं आते। समस्या के हल करने में, वे सहायक सिद्ध होते हैं। इसलिए पाठ्य-विषय में इन्हें स्थायी रुचि (Interest) प्राप्त हो जाती है। वे समझने लगते हैं कि हमारी शिक्षा की वर्तमान स्थिति यह है कि बालक पढ़ने-लिखने के बाद भी जीवन संग्राम में कुछ नहीं कर पाते। जीवन में पदार्पण करने पर शिक्षा की निःसारता देखकर, उन्हें बड़ी निराशा होती है। उसका कारण यह है कि हमारे पाठ्य-विषय, हमारे जीवन से कोई संबंध नहीं रखते। 'योजना' द्वारा पढ़ाई में यह दोष नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विषयों की पढ़ाई अपने आप हो जाती है।

एक योजना में एक विषय प्रधान रूप से पढ़ाया जा सकता है और एक साथ कई विषय भी पढ़ाये जा सकते हैं। साहित्य, इतिहास, कृषि, भूगोल, कला और व्यवसाय सभी विषय योजना में स्थान पा सकते हैं परन्तु वैज्ञानिक विषयों को 'योजना' द्वारा पढ़ाने में अधिक सरलता और सफलता होती है।

योजना का उदाहरण—अमेरिका में कृषि-विज्ञान की पढ़ाई में योजना का सबसे पहले प्रयोग हुआ। इसके बाद श्रमसाध्य विषयों, जैसे भवन-निर्माण, सड़कों का बनाना, नहरें खोदना तथा वैज्ञानिक विषयों के हेतु इसका प्रयोग किया जाने लगा। रूस में, योजनाएँ बहुत जनप्रिय हैं। क्रांति के बाद पंचवर्षीय योजनाओं में विद्यार्थियों से बहुत-कुछ काम लिया गया। रेल की पटरियाँ बिछाने, ट्रेन चलाने और नहरें खोदने की योजनाएं, शिक्षा-कार्य-क्रम का अंग बन गईं। भारतवर्ष में भी इस समय विकास-संबंधी योजनाएँ चल रही हैं परन्तु उनसे कोई लाभ नहीं उठाया जा रहा है। प्रतिवर्ष

होने वाले गणतंत्र-सप्ताह में श्रमदान कार्य, योजना का रूपान्तर-मात्र है परन्तु उनकी व्यवस्था संतोषजनक नहीं है और न विद्यार्थियों की व्यक्तिगत समस्याओं से उनका कोई संबंध है। इस क्षेत्र में हमें विदेशों से बहुत-कुछ सीखना है। वहाँ स्कूलों के विद्यार्थी 'डाक-वितरण', 'दूकान' और 'जलपान गृह' चलाने आदि के काम सफलतापूर्वक, योजना द्वारा चलाते हैं। हम, नीचे एक ऐसी योजना का विवरण दे रहे हैं, जो भारतीय स्कूलों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है और जिससे योजना-विधि से शिक्षण का स्पष्ट ज्ञान भी प्राप्त हो सकता है।

—स्कूल या कालेज में सहकारी-समिति की स्थापना—

उद्देश्य—आज के पढ़नेवाले विद्यार्थी राष्ट्र के भावी नागरिक तथा कर्णधार बनेंगे। राष्ट्र की आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याओं को सुलझाने का भार उन्हें ही उठाना पड़ेगा। इस समय देश की समस्याएँ प्रधान रूप से अपना हल चाहती हैं। एक ओर देश में जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुत-सी वस्तुएँ नहीं मिल रही हैं। भोजन और वस्त्र की समस्या भी अभी हल नहीं हो पाई। या तो उपयोग की वस्तुएँ मिलती नहीं, यदि मिलती भी हैं तो मँहगी। इस समस्या का हल करने के लिए उत्पादन बढ़ाना जरूरी है। और इसके लिए 'पूँजी' की आवश्यकता, जिसके बिना न तो भारी उद्योग, कल-कारखाने आदि और न कुटीर उद्योग ही पनप सकते हैं। पूँजी को एकत्र करने के लिए सहकारी व्यवस्था एक बहुत बड़ा साधन है। पूँजी इकट्ठा हो जाने के बाद अनेक कारोबार चलाए जा सकते हैं, और इससे एक दूसरी बहुत बड़ी समस्या—बेकारी की समस्या, हल हो सकती है। इसलिए बालकों को, 'सहकारिता' का अर्थ,

और उसके द्वारा समाज को होने वाले लाभ बताना और समझाना आवश्यक है । इसके लिए स्कूल में सहकारी-समिति की स्थापना की जा सकती है ।

बालकों की आवश्यकता की पूर्ति—बालकों को 'भोजन' या 'वस्त्र' के राष्ट्रव्यापी संकट का अनुभव नहीं हो सकता । इस छोटी और कच्ची उम्र में उन्हें परिवार और समाज का संरक्षण प्राप्त होता है । हाँ, कुछ आवश्यकताएँ ऐसी अवश्य हैं, जिनका सम्बन्ध उनके विद्यार्थी-जीवन से है । उदाहरण के लिए, पढ़ने लिखने के लिए, उन्हें पुस्तकों और कापियों की आवश्यकता पड़ती है, कागज की कमी के कारण बाज़ार से कापियाँ नहीं मिल पातीं, या मिलती भी हैं, तो बड़ी मँहगी । पुस्तकों और काँपियों को बाज़ार से खरीदने में धक्के भी खाने पड़ते हैं और समय भी नष्ट होता है । इन सारी कठिनाइयों को हम एक समस्या के रूप में ले सकते हैं, जिसका सम्बन्ध बालक की आवश्कताओं से है । इस समस्या को, स्कूल में एक सहकारी समिति की स्थापना द्वारा हल किया जा सकता है ।

योजना का प्रारम्भ— (Preparation of the Project) योजना का संबंध सदैव ऐसी समस्या से होना चाहिए, जो उनके 'अनुभव' के दायरे में उत्पन्न हुई हो । कागज और कापी की कठिनाई का बालकों को **अनुभव** है और वह उनके **वर्तमान** जीवन से संबंधित है । इसी लिए हमने इसको, सहकारी समिति की स्थापना का आधार माना है । यह ऐसी समस्या है, जो बालकों को **सोचने** के लिए बाध्य करेगी । इसे हल करने का उपाय वे अपने आप भले ही न सोच सकें, परन्तु ज्योंही अध्यापक इस योजना को उनके सामने प्रस्तुत करेगा वे इसमें रुचि लेने लगेंगे । यह समस्या, जूलाई में, अपनी चरम सीमा पर होती है । इसलिए स्कूल खुलते ही बालकों की

आम-सभा (Muster) में प्रधान एक संक्षिप्त भाषण देकर इस कठिनाई की और संकेत करे और अंत में एक विज्ञापन-पत्र की तरह का पर्चा, जो पहले से छपवाकर तैयार रक्खा हो, बाँटे। उसमें इस कठिनाई को सहकारी-समिति की स्थापना द्वारा, हल करने का सुझाव दिया गया हो। साथ में यह भी बताया गया हो कि बालक किस प्रकार समिति की स्थापना कर सकते हैं चूँकि इसका संबंध उनकी आवश्यकता-पूर्ति से है, इसलिए वे इसमें रुचि लेंगे। आपस में वे, इस प्रश्न पर मिल-जुल कर विचार करेंगे। फिर कक्षा में वे अध्यापक से इस विषय पर पूछ सकते हैं। प्रारंभिक दशा में अध्यापक को केवल उत्तेजना देनी है, बालकों को प्रोत्साहित करना है। कुछ बालक ऐसे भी होंगे जो आलोचना करेंगे, योजना की हँसी उड़ावेंगे। उनके तर्कों को विफल करना अध्यापक का कार्य है। इन सबका उद्देश्य बालकों के जनमत को योजना के पक्ष में जीत लेना है।

योजना पर अमल–(Launching of the Project) योजना के निश्चित होते ही सारे अध्यापक, उस योजना से संबंध रखने वाले विषयों के पाठ तैयार कर लेते हैं। अध्यापकों में सहयोग होना आवश्यक है। प्रारंभ में बालकों को कोई बात कक्षा में बतानी नहीं है। पहले तो उन्हें 'अनुभव' करने का अवसर देना है। अध्यापक इसमें बालकों की सहायता करता है। सहकारी समिति की योजना में विभिन्न अध्यापकों का क्या कार्य होगा, उसका विवरण हम नीचे दे रहे हैं:—

(क) **नागरिक-शास्त्र के अध्यापक**—सहकारी समिति बनाने के लिए पहले नागरिक-शास्त्र के अध्यापक की आवश्यकता पड़ेगी। बालकों की इच्छा है—समिति बनें; परन्तु कोई भी समिति सदस्यों से बनती है। सदस्य बनाने का काम कौन करे? अतः नागरिक-

शास्त्र का अध्यापक स्कूल के कुछ ऐसे विद्यार्थियों की, एक पूर्व प्रबंधसमिति (Adhoc committee) बना दे जो बालकों में सम्मानित हों। वे लोग बालकों को सहकारी समिति का उद्देश्य बतावें और उसके हिस्से (Shares) बेचें। जब काफी संख्या में सदस्य बन जायें, तो यह पूर्वसमिति चुनाव की घोषणा करे। एक दिन, सभी कक्षाओं में प्रतिनिधियों का चुनाव हो जाय। यह प्रतिनिधि किसी दूसरे दिन, समिति के संचालकों का बोर्ड चुनाव द्वारा बना लें तथा प्रबन्ध-समिति बन जाय, जिसमें सभापति तथा मंत्री आदि पदाधिकारियों का चुनाव भी हो जाय। अब पहले की पूर्वप्रबंध-समिति, इस नई प्रबन्ध-समिति को सारा प्रबन्ध सौंप दे। इन सारे कामों को बालक स्वयं करें, परन्तु नागरिक-शास्त्र का अध्यापक आवश्यकतानुकूल, सलाह देता और पथ-प्रदर्शन करता रहे।

(ख) **व्यापार-विषय के अध्यापक**—व्यापार के अन्तर्गत कई विषय आ जाते हैं। सबसे पहले बैंक से लेन-देन का काम आता है। स्कूल की सहकारी-समिति का धन बैंक में जमा होगा, चेकबुक रखना होगा। बैंक में कई प्रकार का हिसाब हो सकता है जैसे चालू हिसाब, सेंविंग्ज बैंक, या फिक्स्ड हिसाब, आदि; केंद्रीय सहकारी बैंक से उधार लेना—यह सारा काम बालकों को व्यावहारिक रूप में करना पड़ेगा। बैंक के विषय को पढ़ानेवाले अध्यापक का हाथ इसमें रहेगा। इसी तरह व्यवसाय का प्रबंध करना भी बालकों को सिखाया जाय, सहकारी समिति की ओर से एक दूकान स्कूल के अन्दर खोल दी जाय, थोक व्यापारियों (Stockists) से अच्छे कमीशन पर कापियाँ और अन्य सामग्री और पुस्तकें खरीदकर इस दूकान में बिक्री के लिये रक्खी जायँ। बाजार में पाठ्य-पुस्तकें या एक साथ कापियाँ खरीदने पर कमीशन नहीं मिलता। स्कूल की सहकारी दूकान पर कुछ सस्ते में वही सामान बेचा जाय। इससे बालकों को सारा सामान कुछ सस्ते में

मिलेगा, उसका समय भी नष्ट न होगा और जो लाभ व्यापारियों की जेब में जाता है, सहकारी-समिति को मिलेगा। खरीद और बिक्री का हिसाब रखने की कला यहाँ बालक व्यावहारिक रूप से सीख सकते हैं। 'रोकड़बही' और 'खाते' किस तरह रखे जाते हैं, इसका ज्ञान इस विषय के अध्यापक द्वारा प्राप्त हो सकता है। अँग्रेजी और हिन्दुस्तानी; दोनों ढंगों से हिसाब रखना बताया जा सकता है। पत्र-व्यवहार का काम भी बालक बड़ी सरलता से सीख सकते हैं। कागज या पढ़ाई का दूसरा समान स्थानीय व्यापारियों से खरीदा जा सकता है परन्तु वे वस्तुएँ यदि सस्ते में मिलती हों तो पत्र-व्यवहार द्वारा उन्हें मँगाना आवश्यक है। उन व्यापारियों से भाव (Quotation) मँगाना या उन्हें आर्डर देना, सभी प्रकार का पत्र-व्यवहार करना, बालकों के लिये आसान बन जाता है। इस तरह व्यापार के अंग का प्रत्यक्ष ज्ञान बालकों को हो जाता है।

(ग) **गणित के अध्यापक**—व्यापार और गणित का गहरा संबंध है। जोड़, बाकी, गुणा और भाग का प्रारम्भिक ज्ञान तो सहकारी दूकान में हो ही सकता है। इसके अतिरिक्त क्रय-विक्रय, लाभ-हानि, ब्याज और कमीशन के गणित-संबंधी सिद्धांत प्रसंगवश रोचक ढंग से पढ़ाये जा सकते हैं। गणित के अध्यापक को, अपने प्रश्न, इस सहकारी समिति की योजना के आधार पर तैयार करके देना चाहिये। दूकान में होने वाले लाभ या हानि, और सदस्यों का ब्याज जोड़ना, आदि ऐसे काम हैं जो बालक बड़ी रुचि के साथ करेंगे।

(घ) **अर्थशास्त्र के अध्यापक**—इस विषय में व्यावहारिक कार्य संभव नहीं है, परन्तु बालक जितना कार्य कर चुकेंगे, उसके आधार पर मौखिक पाठों द्वारा अध्यापक अर्थशास्त्र का अर्थ

समझा सकता है। राष्ट्र के आर्थिक ढाँचे को सुदृढ़ करने में सहकारी समितियों का स्थान, सार्वजनिक पूँजी और उसका उपयोग, उत्पादन और वितरण का राष्ट्रीयकरण तथा इस व्यवस्था से होनेवाले लाभ- जैसे प्रसंग बालकों को सरलता से समझाये जा सकते हैं, क्योंकि बालकों ने स्वयं एक कठिनाई पर, सहकारी व्यवस्था द्वारा, विजय पायी है।

(ङ) **इतिहास के अध्यापक**—इतिहास में केवल राजनैतिक घटनाओं का वर्णन नहीं होता। आर्थिक समस्याओं का ऐतिहासिक महत्व बढ़ता जा रहा है। सहकारी व्यवस्था बिलकुल नई चीज है। उसको समझाने के लिए, उसका इतिहास जानने की जरूरत है। आज 'समाजवाद' की स्थापना, सभी देशों में धीरे-धीरे होती जा रही है। सहकारिता-आन्दोलन, समाजवाद को स्थापित करने में कहाँ तक सफल हुआ है, दूसरे देशों में यह कहाँ तक प्रगति कर चुका है, इसकी सफलता के क्या कारण हैं, इन सब विषयों का संबंध इतिहास से है। इन्हें स्कूल की इस सहकारी-समिति की योजना के सहारे पढ़ाया जा सकता है,

(च) **भाषा के अध्यापक**—अर्थशास्त्र, इतिहास और पत्र-व्यवहार आदि के विषय में भाषा का प्रयोग होगा। बालकों को शुद्ध, सरल और स्पष्ट भाषा का प्रयोग करना सिखाने की आवश्यकता पड़ेगी। यह भार भाषा के अध्यापक पर रहेगा। निबंधों का प्रयोग भी किया जा सकता है। बालकों को 'सहकारिता' 'चुनाव' 'समाज-वाद' जैसे विषयों पर निबंध लिखने के लिए दिये जायँ। इससे उन्हें भाषा का सही प्रयोग करना आ जायगा।

मौखिक पाठ (Verbal Lessons)—योजना-विधि से पढ़ाई का तात्पर्य केवल यही नहीं है कि बालक किसी योजना के अनुसार कार्य करते

रहते हैं। सैद्धांतिक ज्ञान की पढ़ाई का ध्यान भी रक्खा जाता है। वास्तव में 'योजना' द्वारा बालकों का प्रत्यक्ष ज्ञान बढ़ता है और यह सैद्धांतिक ज्ञान (Principles) की प्राप्ति का पहला कदम है। कभी-कभी 'योजना' केवल मिद्धांतों का प्रयोग-मात्र सिद्ध होती है। बालक पहले प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और बाद में अगमन (Inductions) द्वारा सिद्धांत निर्धारण करते हैं। सिद्धांतों के निर्धारण का कार्य कक्षा (Class Room) में होता है। जैसे 'सहकारी-समिति' की योजना द्वारा बालकों को प्रजातांत्रिक शासन का अनुभव कराया जाता है, फिर कक्षा में नागरिकशास्त्र का अध्यापक बालकों को बड़ी आसानी से 'प्रजातंत्र का सिद्धांत, समझा सकता है, इसी तरह 'पूँजी', 'लाभ', 'सहकारिता' आदि मुख्य सिद्धांतों की परिभाषायें, बालक अध्यापकों की सहायता से, कक्षा में अपने आप दे सकते हैं। यह सारा कार्य मौखिक पाठों द्वारा होता है। वैज्ञानिक विषयों की योजनाओं के पूरे होने पर मौखिक पाठ अवश्य होने चाहिए, जिनके द्वारा नियम-निर्धारण (Generalization) करने में सहायता मिलती है। योजना के अंत में मौखिक पाठ का प्रबंध होना आवश्यक है।

कभी-कभी मौखिक पाठ योजना के प्रारंभ होने से पहले भी पढ़ाए जा सकते हैं। कक्षा में, विभिन्न अध्यापक, विद्यार्थियों के आगे पहले सिद्धांतों का विवेचन कर देते हैं, और बाद में योजना पर काम शुरू होता है। योजना में उन सिद्धांतों का व्यवहार होता है और बालक स्वयं उन सिद्धांतों की परीक्षा करने का अवसर ढूँढ़ लेते हैं। यह निगमन-प्रधान (Deductive) विधि है। यहाँ योजना सिद्धांतों का प्रयोग-मात्र है। 'सहकारी समिति' की योजना में बालक 'पत्र-व्यवहार' 'क्रय-विक्रय' तथा 'हिसाब-किताब' के बताये हुये सिद्धांतों का प्रयोग करना सीखते हैं।

मौखिक पाठों के प्रयोग के लिए, उपर्युक्त व्यवस्था केवल सुविधा की दृष्टि से बताई गई है। कभी-कभी योजना के बीच में मौखिक पाठों की आवश्यकता पड़ जाती है। सम्भव है, बालकों के आगे कोई कठिनाई आ जाय। उस समय वे अध्यापक का सहारा लेते हैं। अध्यापक उन्हें कक्षा में एक साथ बुलाकर, आवश्यक सुझाव और सलाह दे सकता है।

योजना द्वारा पढ़ाई में पाँच पद—(Five steps) जिस प्रकार हरबार्ट ने अपनी शिक्षण-विधि में 'पाँच पदों' पर जोर दिया है उसी प्रकार डयूवी ने 'योजना' द्वारा शिक्षण में आदि से अंत तक पाँच पद निर्धारित किये है। डियूवी के पाँच पद प्रयोग (Experiment) के आधार पर बने हैं, इसी लिए उसकी योजना-विधि को को प्रयोगात्मक-शिक्षण-विधि के नाम से पुकारा जाता है।[1] वे पद निम्नलिखित हैं:—

(१) **क्रिया** (Activity)—बालकों को प्रथम पद में, योजना के लिए सामग्री जुटाने में शारीरिक और मानसिक कार्य करना पड़ता है। इससे उन्हें प्रेरणा (Motivation) प्राप्त होती है और उनका मन योजना में पूरी तरह लग जाता है।

(२) **समस्या** (Problem)—जिस आवश्यकता या समस्या को लेकर योजना तैय्यार हुई है, वह बालकों के आगे, इस द्वितीय पद में रक्खी जाती हैं, जिसमें उनका सारा कार्य उद्देश्यपूर्ण (Purposeful) रहे ओर वे समझने लगें कि हम जो कुछ कर रहे हैं, किसी मतलब से कर रहे हैं।

---

1. Dewey, J. : How we Think, Chap. 6.

(३) **तथ्य-संग्रह** (Data-collection) इस पद में योजना का कार्य प्रारंभ हो जाता है और जब तक योजना पूरी नहीं हो जाती, यह पद चालू रहता है। इस पद में बालकों को अपनी मानसिक शक्तियों से पूरी तरह काम लेना पड़ता है। वे विचार करते हैं। आवश्यक-अनावश्यक तथ्यों का चुनाव करते हैं,—दूसरे से सलाह लेते हैं, परन्तु स्वयं भी मौलिक उपाय सोचते रहते हैं।

(४) **उपपत्ति** (Hypothesis)—किसी भी कठिनाई या समस्या को हल करने के लिए लिए, तथ्यों के आधार पर, यह निश्चय किया जाता है कि यदि अमुक ढंग से काम किया जाय, तो वह समस्या हल हो जायगी। यह 'अमुक ढंग' इस लिए आवश्यक है कि उसके बिना आगे कोई काम नहीं चल सकता। यह एक प्रकार का अस्थायी नियम है, जिसे 'काम चलाऊ' नियम कह सकते हैं। इसके अनुसार काम करना पड़ता है। यह योजना-विधि से पढ़ाई का चौथा पद है।

(५) **परीक्षण** (Testing)—इस कामचलाऊ नियम (Hypothesis) की परीक्षा, योजना के दौरान में हो जाती है। उसे केवल सुविधा के लिए स्वीकार कर लिया गया था। यदि उसके अनुसार काम करने से योजना सफल हो जाती है, तो उसे नियम के रूप में हमेशा के लिए स्वीकार कर लिया जाता है।

—हरबार्ट तथा ड्यूवी की शिक्षण-विधियों में साम्य—

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'पदों' (Steps) की योजना में, हरबार्ट और ड्यूवी दोनों की विधियाँ बिलकुल समान हैं। विशेष रूप से, जब हरबार्ट की शिक्षण-विधि अगमन (Induction) के सिद्धांत से संयुक्त करके काम में लाई जाती है, तो पाठ उन्हीं 'पदों' (Steps) से होकर गुजरता है, जिन्हें ड्यूवी ने आगे चलकर नये नाम से

संबोधित किया है। नियम-निर्धारण और नियम-परीक्षण या नियम-प्रयोग के पद, दोनों विधियों में एक से हैं। पदों की दृष्टि से दोनों विधियाँ एक दूसरे से बहुत मिलती हैं।

पदों में साम्य देखकर, दोनों विधियों के बीच में जो एक महान अंतर है उसे नहीं भूलना चाहिए।[1] दोनों से पढ़ाने का उद्देश्य ही बिलकुल भिन्न है। हरबार्ट ने नैतिकता पर जोर दिया है, परन्तु ड्यूवी ने 'सामाजिकता' को अधिक महत्वपूर्ण बताया है। हरबार्ट की विधि में, 'मौखिक-शिक्षण' का भाग अधिक है, योजना-विधि में, आदि से अंत तक 'क्रिया' (Activity) प्रधान है। हरबार्ट ने वास्तव में अध्यापक की क्रिया (Activity of Teacher) को, शिक्षण में ऊँचा स्थान दिया है। इसके विपरीति ड्यूवी ने 'बालक की क्रिया' (Activity of child) को शिक्षण में प्रधान माना है। हरबार्ट की शिक्षण-विधि में व्यक्तिगत भिन्नता (Individual Differences) के सिद्धांत की अवहेलना हुई है परन्तु योजना-विधि में बालकों को अपनी-अपनी शक्ति, योग्यता और रुचि के अनुसार काम करने का पूरा अधिकार मिलता है। दोनों विधियों में 'रुचि' (Interest) का प्रयोग अलग-अलग ढंग से हुआ है। हरबार्ट ने रुचि को केवल साधन माना है परन्तु ड्यूवी ने उसे साध्य माना है। ड्यूवी रुचि के स्थायीकरण पर जोर देते हैं। दोनों विधियों में सबसे बड़ा अंतर यह है कि एक में (हरबार्ट की विधि में) अज्ञात बातें बालकों को जबानी बता दी जाती हैं, परन्तु दूसरे में, (योजना विधि में) जो ज्ञान उन्हें प्राप्त नहीं, बालक उसे स्वयं खोज द्वारा प्राप्त करते हैं।

---

1. Brubacher : A History of the Problems of Education. Page 239-240.

आलोचक एच० एच० हार्न का मत—हार्न (Horne) ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा का प्रजातान्त्रिक दर्शन' (Democratic Philosophy of Education) में लिखा है कि "दोनों विधियाँ" (हरबार्ट की विधि और योजना-विधि) बड़े उत्तम ढंग से एक दूसरे की कमी को पूरा करती हैं। शिक्षा के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उनका प्रयोग होना चाहिये। भाषा, साहित्य, इतिहास तथा अन्य विचार-प्रधान विषयों के पढ़ाने में हरबार्ट की विधि अधिक कारगर (Effective) सिद्ध होती है और योजना-विधि, कारीगरी, कला और विज्ञान के विषयों को पढ़ाने में अधिक सफल होती है। जहाँ विचारों के पढ़ाने का प्रश्न है, हरबार्ट की विधि उपयोगी है, जहाँ वस्तुओं को उठाने, धरने और काम में लाने का प्रश्न हो, ड्यूवी की विधि अधिक उपयोगी है।"

योजना विधि की सफलता के लिये कुछ आवश्यक आदेश—

(१) **योजना में तल्लीनता** (Directness)—योजना के कार्य में, बालकों को तन मन से लग जाना उचित है। वे इस प्रकार अपने कार्य में लीन हो जायँ कि योजना से बाहर, कितने ही आकर्षण उनका ध्यान भंग करने के लिये मौजूद हों पर वे योजना में जुटे रहें। उन्हें अपने उपर आत्म-विश्वास रहे। जो भी परिस्थिति सामने आये, वे उसे सँभाल लें।

(२) **उदारता** (Open-mindedness)—अध्यापकों और अपने सहपाठियों के सुझावों से लाभ उठाने के लिये बालकों को हर समय तैयार रहना चाहिए। अपने दृष्टिकोण को इतना संकुचित न बना लेना चाहिये कि दूसरों की बात ही न सुने। अपने आप सोच-समझ कर, बालकों को योजना से संबंधित अपना काम करना चाहिये परन्तु यह कभी न सोचना चाहिए कि मुझसे भूल नहीं हो सकती।

(३) **उद्देश्य की एकता** (Single-mindedness)—योजना में संलग्न रहकर बालक एकाग्रता और दत्तचित्त से काम करना सीखें। योजना का एक निश्चित उद्देश्य होता है। उस उद्देश्य को सफल बनाने में जो गुण आवश्यक हों उन्हें बालक सीखें और जो प्रवृत्तियाँ और मानसिक आवेग, बाधक हों, उनका संयम करना सीखें। यही सच्चा अनुशासन है।

(४) **उत्तरदायित्व** (Responsibility)—बालक उत्तरदायित्व निभाना सीखें। यदि बालकों में इस गुण का अभाव है, तो वे सफलतापूर्वक योजना चला ही नहीं सकते। उत्तरदायित्व वहन करने की शक्ति तो तभी उत्पन्न होगी, जब बालक अपने किए काम के भावी परिणामों पर विचार करने में समर्थ हों। उन परिणामों को सोच निकालने में 'योजना' द्वारा सहायता मिलती है। बालकों को उन्हीं परिणामों को ध्यान में रखकर योजना में जुटे रहना पड़ता है।

(५) **अनुभव और विचार का संयोग**—योजना द्वारा बालकों का अधिक से अधिक अनुभव बढ़े, ऐसा प्रबंध होना चाहिए। साथ ही बालकों को विचार करने के लिए प्रेरित करते रहना चाहिए। बिना विचार के अनुभव का कोई महत्व नहीं रह जाता। अनुभव तो सभी करते हैं, परन्तु जो विचार करता है, उसी का अनुभव काम में आता है। लाखों मनुष्यों ने वृक्ष से फल गिरते हुए देखा होगा, परन्तु उस घटना पर किसी ने नहीं विचार किया। विचार किया तो न्यूटन ने। उसने इस साधारण अनुभव से आकर्षण का सिद्धांत (Law of Gravitation) ढूँढ़ निकाला। इसलिए बालकों को अपनी विचार-शक्ति का प्रयोग करने के लिए बार बार प्रोत्साहित करते चाहिए। विचार-शक्ति द्वारा ही मनुष्य की कार्यक्षमता

बढ़ती है। इसलिए बालकों को अनुभव के साथ-साथ विचार करने के लिए, अध्यापकों द्वारा प्रेरणा दी जानी चाहिये।

—योजना-विधि की आलोचना—

शिक्षा के क्षेत्र में 'योजनाओं' का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। पहले स्कूल के काम में नवीनता लाने के लिए योजनाओं का प्रयोग होता था, ताकि किताबी पढ़ाई की नीरसता दूर हो जाय। धीरे-धीरे योजनाओं उपयोग कक्षा में बताई गई बातों का प्रयोग करने में, होने लगा। अब 'योजनायें' पूर्ण रूप से, शिक्षण-कार्यक्रम का प्रधान अंग बन गयी हैं। प्रोफेसर आर्मस्ट्रॉंग (Armstrong) ने अपनी एक पुस्तिका, "योजनायें तथा शिक्षा में उनका स्थान", (Projects and Their Place in Education) में बताया है कि योजनाएँ निम्नलिखित कारणों से जनप्रिय होती जा रही है :—

(१) ऐसा पाया गया है कि बालक एक निश्चित उद्देश्य के साथ काम में जुटे रहते हैं। जो कुछ भी वे करते हैं, पहले से निश्चय करके करते हैं; उनके कार्य तटस्थ भाव से (Passive) नहीं होते।

(२) बालकगण, योजना के कार्य में गहरी दिलचस्पी लेते हैं और हर एक काम बड़ी बुद्धिमानी से पूरा करते हैं। उनकी मानसिक शक्तियाँ सदैव क्रियाशील रहती हैं।

(३) बच्चों की बातों से और उनके ढंग से ऐसा जान पड़ता है कि वे अच्छाई-बुराई की परख कर सकते हैं। उनकी आलोचनात्मक शक्ति भी विकसित हो जाती है।

(४) योजना में एक साथ काम करते-करते बालकों को सामूहिक कार्य करना आ जाता है। व्यक्तिगत प्रतियोगिता का योजनाओं

में जरा भी स्थान नहीं है। वे संगठित ढंग से काम करना सीख लेते हैं।

(५) उनकी रुचियाँ स्थायी और आदर्श बन जाती हैं।

(६) बालकों को स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने का अभ्यास हो जाता है। वे पूरे मन से काम करते हैं और उनके काम करने का ढंग भी मौलिक हो जाता है। वे स्वयं समझ-बूझ कर काम करते हैं।

(७) योजना-विधि से पढ़ाने में, अध्यापक को भी उत्साह और स्फूर्ति का अनुभव होता है। उसकी कार्य-क्षमता बढ़ती है। वह जिस उत्साह और लगन के साथ काम में जुटा रहता है, उसका प्रभाव बालकों पर पड़े बिना नहीं रहता। योजनाओं को पूरा करने में साहसिक कार्य (Adventure) और रोमांस (Romance) का सा आनन्द मिलता हे। बालकों की उत्सुकता बनी रहती है। योजना का सारा काम बड़े रोमाँचकारी (Thrilling) ढंग से पूरा होता है। बालकों को स्कूल में अब योजनाओं के सहारे ऐसे जीवन का अनुभव होता है, जिसकी कल्पना भी अब से सौ साल पहले के विद्यार्थी न करते होंगे।

(८) योजना-विधि द्वारा बालकों में सच्चा अनुशासन उत्पन्न होता है। पुराने जमाने में अनुशासन का अर्थ 'कक्षा में पूर्ण शांति' से था। यह केवल एक दिखावा था क्योंकि यह शांति केवल भय के कारण वर्तमान रहती थी। योजना-विधि जिस स्कूल में लागू होती है वहाँ अनुशासन की कोई समस्या ही नहीं रहती, क्योंकि बालक अपने काम में इतनी दिलचस्पी लेते हैं कि वे कोई विघ्न-बाधा खड़ी ही नहीं करते। यही सच्चा अनुशासन है। वे अपनी प्रवृत्तियों का संयम करते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अनुशासन व्यक्तिगत नहीं

होता, वरन् सारा बालक-समुदाय मिलकर एक उच्चकोटि का अनुशासित समाज बना लेता है। ऐसे समाज में अनुशासन की कोई समस्या ही नहीं पैदा होती। योजना-विधि द्वारा शिक्षण में अनुशासन का अर्थ चुप्पी नहीं है। विद्यार्थी स्वतन्त्रतापूर्वक हर एक काम करते जाते हैं और साथ-साथ बात करते, हँसते और विचारों का आदान-प्रदान भी करते रहते हैं। अध्यापक इसके लिए उन्हें प्रेरित करता है, न कि उन्हें डाँटता फटकारता है।

(९) प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग का दावा है, कि अन्य विधियों द्वारा पढ़ाई में बहुतेरे बालक पिछड़े (Backward) रहते हैं—परन्तु योजना विधि से पढ़ाई में, पिछड़े हुये बालक की समस्या (Problem of Backward Child) उठती ही नहीं, यदि कुछ बालक, कक्षा की प्रगति से पीछे हों, और योजना-विधि चालू कर दी जाय, तो उनकी यह कमजोरी दूर हो सकती है। 'पिछड़े हुए बालक' का अर्थ क्या है? डा० सिरील बर्ट (Cyril Burt) ने ऐसे बालक की परिभाषा देते हुए कहा है—"बहुत से बालक, कक्षा में होनेवाली शिक्षण-प्रगति से, जो साधारणतया एक विशेष आयु में पूरी हो जानी चाहिये, पिछड़े रहते हैं, परन्तु इन सबके लिये विशेष प्रबंध की आवश्यकता नहीं है। असली पिछड़े हुए बालक वे हैं, जिनमें किसी तरह का दोष नहीं है, तब भी वे शिक्षण से पूरा लाभ नहीं उठा पाते" ऐसे बालकों के पिछड़ने का कारण क्या है। वास्तव में कक्षा-शिक्षण से उनकी विशेष योग्यताओं और रुचियों का कोई मेल नहीं खाता। 'योजना-विधि' में इन बालकों को अपनी रुचि और योग्यता के अनुकूल काम मिल जाता है। एक ऐसी कक्षा में जिसमें अच्छे और पिछड़े हुए विद्यार्थी सभी शामिल थे, योजना-विधि का प्रयोग किया गया। इसके परिणाम के आधार पर प्रो० आर्मस्ट्रांग ने लिखा है:—

"पिछड़े बालक की समस्या का हल निश्चितरूप से योजनाओं द्वारा प्राप्त हो सकता है। विशेषरूप से उचित हल उस समय निकल सकता है, जब कि कक्षा में बालकों की संख्या कम हो—तीस से अधिक न हो—ताकि प्रत्येक बालक का व्यक्तिगत रूप से ध्यान रक्खा जा सके। जहाँ एक बार बालकों का विश्वास प्राप्त हो गया और उन्हें रुचि के अनुसार काम मिल गया, वे सहयोग करेंगें और उसी तरह काम करेंगें जैसा कुशाग्र बुद्धिवाले बालक करते हैं। प्रोजेक्ट द्वारा बालकों को अपनी रुचि के अनुसार काम करने की पूरी छूट देनी चाहिए।"

अन्यगुण—

(१) **योजना 'जीवन' का प्रतिरूप**—खेद की बात है कि वर्तमान भारतीय स्कूलों और वास्तविक सामाजिक जीवन के बीच एक बहुत बड़ी खाँई वर्तमान है। बालकों को स्कूल में आमोद-प्रमोदमय जीवन का अनुभव होता है, उनके ऊपर कोई उत्तरदायित्व नहीं, किसी तरह की चिन्ता नहीं; परन्तु ज्योंही वे सामाजिक-जीवन में पदार्पण करते हैं, वे अपने को इस परिवर्तित और करीब-करीब विपरीत वातावरण में साँस लेने के अयोग्य पाते हैं। जैसे मीठा खाने के बाद, कड़वा और कसैला भोजन करने से सारा स्वाद नष्ट हो जाता है, वैसे ही विद्यार्थी-जीवन के बाद, नागरिक जीवन कटु और विषाक्त जान पड़ता है। शिक्षा-प्राप्त नवयुवकों को वास्तविक जीवन में असफल होना पड़ता है। ड्यूवी ने अपनी पुस्तक "स्कूल और समाज" में इस बात पर जोर दिया है कि बालकों को स्कूल में उसी जीवन का अनुभव कराना चाहिए, जिस तरह का जीवन उन्हें शिक्षा समाप्त करने के बाद बिताना है। योजनाएँ, जीवन का प्रतिरूप होती हैं। जिस तरह सामाजिक-जीवन में समस्यायें और कठिनाइयाँ आती हैं, और सब लोग मिल-जुलकर काम करते हैं तथा

उन पर विजय प्राप्त करते हैं, इसी तरह 'योजना' में बालकों को उसी भावी-जीवन की प्रतिच्छाया देखने को मिलती हैं और उसमें वे स्वयं सक्रिय भाग लेते हैं। योजना द्वारा शिक्षा पाये हुए विद्यार्थियों को स्कूल और समाज के जीवन में कोई अंतर या नवीनता नहीं दिखाई देती। जब वे जीवन में प्रवेश करते हैं, तो वे बड़े स्वाभाविक ढंग से और बिना किसी अड़चन के, अपने को सामाजिक जीवन का अभ्यस्त बना लेते हैं।

अतः स्पष्ट है कि योजना-विधि अत्यन्त स्वाभाविक है। पेस्तालाज़ी, फ्रोबेल और मॉंटेसरी की विधियों में जटिलता आ गई। उनमें उपयोगी वस्तुओं और उपहारों के प्रयोग का एक विचित्र क्रम बाँध दिया गया है। इसके विपरीत योजना विधि में अनेक दैनिक घरेलू और व्यावसायिक कार्यों का समावेश है। बालक अनेक अस्तुओं का प्रयोग करते हैं और आवश्यकता के अनुसार उनका चुनाव करते हैं। यही इस विधि की स्वाभाविकता है।[1]

(२) **प्रत्येक बालक की व्यक्तिगत योग्यता का उपयोग**— योजना के द्वारा, यह मालूम होता है कि एक समुदाय (Group) कैसे प्रत्येक बालक की योग्यता से लाभ उठा सकता है। उधर प्रत्येक बालक को यह ज्ञान हो जाता है कि उसे कैसे एक समाज में उसके नियमों के अनुसार रहना चाहिए यह दोनों वातें महत्वपूर्ण हैं। आज हमारे समाज की ऐसी स्थिति है कि कितने ही मेधावी, योग्य, वक्ता, कुशल करीगर, प्रतिभाशाली कवि और लेखक तथा सच्चे समाज-सेवक अज्ञात रह जाते हैं। उनसे समाज का न जाने कितना लाभ हो सकता है, परन्तु उनकी योग्यतायें दबी हुई राख में चिनगारी के समान अज्ञात रहती हैं, उनका कोई उपयोग नहीं हो सकता। यदि समाज उनकी योग्यताओं को परखकर उन्हें प्रोत्साहन दे, तो समाज

1. Dewey, J. & Evelyn Dewey : Schools of To-morrow.

का कल्याण हो सके। योजनाओं में बालकों की व्यक्तिगत योग्यता की परख होती है और एक बालक की योग्यता से, सारा बालक-समुदाय योजना के सहारे अवगत हो जाता है। यही बालक आगे चलकर ऐसे प्रगतिशील (Dynamic) समाज का निर्माण करते हैं, जहाँ व्यक्तिगत विकास को प्रोत्साहन मिलता है; जहाँ व्यक्ति की योग्यता को सम्मान मिलता है; और जहाँ उसकी राह में रोड़ें नहीं अटकाये जाते। यह समाज सच्चा प्रजातांत्रिक समाज होता है। वहाँ विकास के लिये सबको समान सुविधायें (Equal opportunity for all) प्राप्त होती हैं। दूसरी ओर समाज के प्रति भी प्रत्येक व्यक्ति का कुछ न कुछ कर्तव्य है। अपनी योग्यता द्वारा उसे समाज को लाभ पहुँचाना चाहिये। योजनाओं द्वारा परोक्षरूप से बालकों को योजना को पूरा करने में व्यक्तिगत विशेष-योग्यता का उपयोग करना आ जाता है। वे स्वयं अपनी योग्यता को परख लेते हैं। यही बालक आगे चलकर जब समाज में प्रविष्ट होते हैं, तो केवल जीवनयापन करना ही अपना ध्येय नहीं बना लेते वरन् अपनी विशेष योग्यताओं का प्रयोग वे समाज-हित के लिए करते हैं।

(३) **हर प्रकार की शिक्षा के लिए उपयुक्त**—अन्य विधियाँ, किसी न किसी विशेष आयु के लिए उपयोगी हैं, जैसे 'मांटेसरी' और 'किंडरगार्डेन' विधियाँ छोटी आयु के बालकों के लिए उपयुक्त हैं, 'डाल्टन' विधि, परिपक्व बुद्धि वाले बालकों के लिए उपयोगी है। पर योजना-विधि, प्राथमिक (Primary) और माध्यमिक (Secondary) तथा उच्च शिक्षा, (Advanced) सभी में, सफलतापूर्वक प्रयुक्त की जा सकती है। प्राथमिक स्कूलों में, जहाँ बालकों को केवल लिखना-पढ़ना, और हिसाब बताया जाता है, योजना-विधि उपयोगी है। माध्यमिक स्कूलों में, जहाँ बालकों में रुचि और अच्छी आदतें पैदा की जाती हैं, योजना-विधि कारगर सिद्ध हुई है।

(४) **संतुलित व्यक्तित्व का विकास तथा चरित्र-गुणों की**

अभिवृद्धि---'सफलता' और 'विफलता' का व्यक्तित्व-विकास (Growth of Personality) से बहुत बड़ा संबंध है। मनुष्य को सफलता और विफलता, दोनों का अनुभव होते रहना चाहिए। यदि मनुष्य को बिना किसी बाधा के सफलता मिल जाती है, तो वह संतुष्ट होकर बैठ जाता है और यदि पूरा प्रयत्न करने पर भी 'विफलता' हुई तो उसे भारी निराशा (Frustration) होती है, और उसमें साहस की कमी, पलायन की प्रवृत्ति, तथा चिंताशील प्रकृत्ति, आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। अतः जीवन में कठिनाइयाँ आयें, परन्तु अंत में मनुष्य की विजय अवश्य होनी चाहिए, जिसमें उसका व्यक्तित्व विकसित होता रहे। इस मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर 'योजना-विधि' बनी है। योजना में बालक को एक ऐसी समस्या, या कठिनाई का सामना करना पड़ता है, जिस पर विना किसी प्रयत्न के विजय पाना संभव नहीं है। साथ ही वह कठिनाई अजेय नहीं होती। अंत में बालक उस पर विजय पा लेता है। वह देखता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ; उसका फल अच्छा निकल रहा है। वह विजय का अनुभव करता जाता है। इस तरह 'योजनाओं' द्वारा बालक के व्यक्तित्व-विकास में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त बालकों का चरित्र भी बनता है। सहयोग, उत्तरदायित्व, साहस, निर्भीकता, उदारता और कर्मठता आदि गुण बालकों में उत्पन्न होते हैं। इस संबंध में हम पहले ही विस्तार से लिख चुके हैं।

(५) **उपयोगी ज्ञान**—सच्चा ज्ञान वही है, जो हमारे दैनिक जीवन में प्रविष्ट होकर हमारी सहायता करे, जीवन संग्राम में हम जिसका सहारा ले सकें। स्कूलों में, आजकल भूगोल, इतिहास, साहित्य तथा अन्य जो भी विषय पढ़ाये जाते हैं, उन्हें केवल परीक्षा पास करने के लिये बालक पढ़ते हैं। परीक्षा पास करने के बाद बालक स्वप्न में भी उन विषयों का ध्यान नहीं करते। पाँच या सात वर्ष के बाद एक शिक्षित व्यक्ति भी अर्धशिक्षित या पूर्ण रूप

से अशिक्षित बन जाता है। इसका कारण यह है कि उसने ज्ञान प्राप्त तो कर लिया, परन्तु उसका दैनिक जीवन में प्रयोग करना उसने सीखा ही नहीं। योजना-विधि द्वारा प्राप्त ज्ञान में यह कमी नहीं है। इसमें विषयों की पढ़ाई गौण है। योजना में, उनका प्रयोग सिखाया जाता है। इस तरह प्राप्त ज्ञान ठोस तथा टिकाऊ होता है। बालकों को इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये स्वयं प्रयत्न और परिश्रम करना पड़ता है, इसलिये यह भूलनेवाली चीज नहीं। एक प्रकार से योजना-विधि द्वारा "सत्यं शिवं सुन्दरम्"-तीनों की प्राप्ति बालकों को हो जाती है। वे स्वयं सत्य की खोज करते हैं, और उसे सीखते हैं। उस सत्य का रूप मंगलमय तथा कल्याणकारी होता है। योजना द्वारा एक बालक की व्यक्तिगत योग्यता का विकास होता है और बालक-समुदाय का भला भी होता है। इसलिए योजना में 'शिवं' भी सन्निहित है। बालकों को 'सुन्दरम्' का अनुभव साथ ही होता जाता है, वे सौन्दर्यानुभूति के आदी बनते हैं। हर काम को सफाई और सुघराई के साथ करने में उन्हें आनन्द भी प्राप्त होता है।

(६) **क्रियाशीलता**—(Activity Principle) पुरानी शिक्षण पद्धतियों में जिस प्रकार रटने और मानसिक कार्यों पर जोर दिया जाता था, उसके विरोध में आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों ने 'शारीरिक क्रिया' सिद्धांत अपनाया। शिक्षण में खेल-कूद, शरीरिक श्रम तथा हाथ के काम को स्थान दिया गया। मांटेसरी, किंडर गार्डेन आदि विधियों में इस सिद्धांत का पूरा ध्यान रक्खा गया। "योजना-विधि" में भी इस महत्वपूर्ण सिद्धांत का उपयोग हुआ है। बालकों को 'किताबी कीड़ा' बनने से बचाया जाता है। कक्षाओं में निष्क्रिय बैठने की अपेक्षा, किसी योजना में लगकर बालक स्फूर्तिपूर्ण तथा चहल-पहल से भरा हुआ जीवन बिताते हैं। इसमें उन्हें जीवन की हलचल का अनुभव होता है। योजना विधि से पढ़ाने में सबसे बड़ा लाभ यह है कि बालक

जो कुछ पढ़ते हैं या सीखते हैं, वह सब किसी न किसी उद्देश्य से संबधित रहता है। सोद्देश्य पढ़ाई का परिणाम स्थायी होता है।

(७) योजना-विधि में नवीनता का अंश हर समय वर्तमान रहता है। कोई भी कार्य-क्रम लगातार वर्षों तक नहीं चलता इससे विद्यार्थियों का मन नहीं ऊबता।

योजना-विधि को प्रस्तुत करने में, ड्यूवी तथा उनके अनुयाइयों ने वर्तमान काल तक के शिक्षाशास्त्रियों के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों का समावेश किया है। "वास्तविक परिस्थिति में काम करने की योजना में रूसो का प्रकृतिवाद है, काम पूरा करने की योजना में पेस्तालाज़ी, हरबार्ट और फ़ोबेल का, 'करो और सीखो' वाला सिद्धांत है, समस्यात्मक कार्य में फ्रोबेल की स्वयं-शिक्षा, तथा माँटेसरी की स्वतः प्रवृति और स्वतन्त्रता का सिद्धांत है, तथा व्यापक रूप से इसमें स्वयं शिक्षा, आंगिक क्रिया का समर्थन तथा 'करो और सीखो' का समावेश है।" (पं०सीताराम चतुर्वेदी)

विधि के दोष

सैद्धांतिक दृष्टि से 'योजना-विधि' में कई त्रुटियाँ हैं। इसका कारण यह है कि यह विधि प्रयोजनवाद और ड्यूवी के प्रयोगवाद (Experimentalism) पर आधारित है। 'प्रयोजनवाद' के अनुसार सत्य अनिश्चित है, सत्य की परिभाषा और सीमा भी अनिश्चित है। आज जो कुछ सत्य है, वही कल की बदली हुई परिस्थिति में असत्य सिद्ध हो सकता है। ऐसी दशा में बालकों को क्या पढ़ाया जाय ? शिक्षा का उद्देश्य तो बालकों को ध्रुव-सत्य का ज्ञान कराना है, जब ध्रुव-सत्य जैसी कोई चीज़ नहीं, तो शिक्षा का मूल्य ही नहीं रहता। इस विचारधारा का दूसरा गम्भीर परिणाम यह होता है

कि संदेहवाद (Skepticism) का भाव ज़ोर पकड़ने लगता है। विद्यार्थी किसी बात पर विश्वास ही नहीं करते। सभी सिद्धांतों को वे संदेह की दृष्टि से देखते हैं। हर एक बात में बाल की खाल निकालने की आदत अच्छी नहीं होती। इन सबका दुःखद परिणाम यह होता है कि कोई निश्चित पाठ्यक्रम नहीं बन सकता।

अब सत्य की बात लीजिए। ड्यूवी ने सत्य की परिभाषा यह दी है कि जो सत्य बार-बार परीक्षा की कसौटी पर चढ़ सके, वही सत्य है। क्या यह परिभाषा ठीक है ? वास्तव में यह परिभाषा सीमित और अनुदार है चार्ल्स डी० हार्डी (Charles D. Hardie) ने अपनी पुस्तक—"शिक्षा दर्शन में सत्य और असत्य" (Truth and fallacy in Educational Theory) में ड्यूवी की आलोचना करते हुये यह लिखा है कि ड्यूवी की सत्य की परिभाषा केवल आंशिक रूप से सत्य है। यद्यपि यह ठीक है कि जिसकी बार-बार परीक्षा की जा सकती है, वह सत्य है परन्तु यह सोचना, निरी मूर्खता है कि संसार भर के सभी सत्यों की परीक्षा करना संभव है। प्रोफेसर जी० ई० मूर ने ड्यूवी के पूर्ववर्ती प्रयोजनवादी दार्शनिक विलियम जेम्स के सिद्धांत की आलोचना करते हुये लिखा है कि बहुत से ऐसे सत्य हैं, जिनकी परीक्षा नहीं की जा सकती। प्रयोजनवादियों का यह कहना भी गलत है कि जो कुछ उपयोगी है, वही सत्य है; या जो कुछ सत्य है, वह उपयोगी ही होगा। यदि ऐसा होता, तो धर्म, कला, संस्कृत का कोई महत्व ही न रहता। 'कला कला के लिए' या 'ज्ञान केवल ज्ञान के लिए'—जैसे सिद्धांतों का कोई अर्थ ही न रह जाता। इस एकांगी उपयोगितावाद और प्रयोगवाद का जन्म जीव-विज्ञान तथा तथा औद्योगिक क्रांति के कारण हुआ है। चाइल्डस (Childs) ने 'शिक्षा तथा प्रयोगवाद का दर्शन' (Education and the

Philosophy of Experimentalism) में इस प्रयोजनवाद की कटु आलोचना की है । सिडनी हुक (Sydney Hook) ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक मनुष्य के लिए शिक्षा' (Education for the Modern Man) में उसी प्रसंग में लिखा है कि वैज्ञानिक सत्य, जिसकी परीक्षा संभव है, केवल सत्य के महान और व्यापक क्षेत्र का एक तुच्छ अंश मात्र है। कुछ ऐसे सत्य हैं जिसका अनुभव केवल अन्तर्दृष्टि द्वारा ही किया जा सकता है । उनको सिनेमा की फिल्म की भाँति बार-बार दिखाना संभव नहीं है यदि 'योजना-विधि' द्वारा ही शिक्षण हो तो केवल वैज्ञानिक सत्य ही पढ़ाये जा सकते हैं, धर्म साहित्य और दर्शन का स्थान ही लुप्त हो जायगा।

किलपैट्रिक ने अपनी एक पुस्तक "योजना-शिक्षाक्रम पर एक प्रयोग" की भूमिका (Introduction to an Experiment with a Project Curriculum) में लिखा है कि योजना का मूल उद्देश्य यह है कि बालक के **वर्तमान जीवन** को अच्छा और सुखकर बनाया जाय। इस उद्देश्य को सफल बनाने के लिए उसने चार सूत्र बनाये, जो योजना-विधि के आधार माने जाते हैं:—

(क) विद्यार्थी स्वयं निश्चय करें कि वे क्या करना चाहते हैं अर्थात् योजना विद्यार्थीगण की सम्मति से बनाई जाय।

(ख) योजना में केवल वही काम रक्खे जायँ जिससे उनकी आदतें और दृष्टिकोण सुधरें और बनें और जिनका निर्माण करना पहले से निश्चित कर लिया जाय।

(ग) वही काम करने दिये जायँ, जिनसे योजना की पूर्ति में सहायता मिले और उद्देश्य-पूर्ति में जिनकी आवश्यकता हो।

(घ) बालकों का हर कार्य में पथ-प्रदर्शन हो और वे कार्य ऐसे हों जिनसे उनको भावी अनुभवों में सहायता मिले ।

एक ओर 'योजना-विधि' के समर्थक कहते हैं कि विद्यालय का उद्देश्य बालक को भावी-जीवन के लिये तैयार करना नहीं है। दूसरी ओर सूत्र (ख) और (घ) निश्चित रूप से भविष्य से संबंध रखते हैं। यह एक विचित्र विरोधाभास है। यहाँ व्यवहार और सिद्धांत में एक वैषम्य आ जाता है। एक बात और है। यदि योजना का संबंध 'वर्तमान' से है और शिक्षा जीवन है, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि विद्यार्थी, आजीवन विद्यार्थी ही बना रहे। जैसी-जैसी परिस्थिति बदलती जाय, वैसे-वैसे, उसका शिक्षाक्रम बदलता जाय। आज जो कुछ पढ़ाया जायगा, उसका कल के लिए कोई मूल्य ही नहीं रह जायगा।'

कहीं-कहीं पर व्यवहार में, योजना-विधि के सिद्धांतों की अवहेलना होती है। उदाहरण के लिए इस विधि के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि बालक को अपनी योग्यता के अनुसार, योजना में काम मिल जाता है। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। कक्षा के तीस या चालीस विद्यार्थियों की भिन्न-भिन्न रुचियों और और योग्यताओं को ध्यान रखते हुये आदर्श योजना तैयार करना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। विभिन्न आचार-विचारोंवाले और भिन्न-भिन्न वातावरण में पले हुये बालक विद्यालय में आते हैं। उन सबको यथोचित कार्य मिले, ऐसा संभव नहीं है।

ड्यूवी महोदय का यह कथन भी कुछ अधिक समीचीन नहीं जान पड़ता कि स्कूल को समाज की प्रतिलिपि बना दिया जाय। यदि ऐसा हो जायगा, तो सामाजिक विकास की धारा ही रुक जायगी। समाज का ढाँचा ज्यों-का-त्यों स्थिर हो जायगा। स्कूल

वास्तव में एक प्रयोगशाला है, जहाँ, समाजोत्थान के लिये नई-नई व्यवस्थाओं पर प्रयोग होते रहते हैं। फिर उन्हें समाज अपना लेता है, और उन्नति करता है। वास्तव में स्कूल को समाज का पिछलग्गू न बनकर, समाज का नेतृत्व करना चाहिये।

योजना-विधि द्वारा शिक्षा का कार्यक्रम निर्धारित करने में एक कठिनाई यह है कि विद्यार्थियों को पाठ्य-विषयों की पढ़ाई में सन्तुलन नहीं रह पाता। एक योजना में जिस प्रकार सभी पाठ्य-विषयों का समवाय (Correlation) होता है, उसे देखते हुए कहना पड़ता है कि कहीं-कहीं किसी विषय की उपेक्षा होती है या वह विषय गौण ही बना रहता है। अतः विद्यार्थी, सभी विषयों का समान रूप से अध्ययन नहीं कर पाते। इससे अध्यापकों को भी कठिनाई होती है। योजना बनने से पूर्व सभी विषयों के अध्यापक एक साथ बैठ परामर्श करते हैं और जब एक विषय का विशेषज्ञ-अध्यापक यह देखता है कि उसका विषय उपेक्षित है, तो उसे बड़ी निराशा होती है। यह बात योजना की सफलता में बड़ी बाधक है।

अब एक विषय को लीजिये। योजना-विधि से पढ़ाने में यह आवश्यक नहीं है कि अमुक विषय के सभी अंग एक योजना में पढ़ाये जाँय। हो सकता है कि वही अंग बड़े महत्वपूर्ण हों। यदि वे अंग छूट जाते हैं तो उस विषय की पढ़ाई अपूर्ण रह जाती है, और यदि उन अंगों को बलपूर्वक ठूंस दिया जाय, तो योजना अस्वाभाविक बन जाती है। यही नहीं, कक्षा-शिक्षण में विषय जिस क्रम (Logical order) में पढ़ाये जाते हैं, उसमें सभी उलट फेर हो जाता है। एक विषय की तारतम्यता (Logical arrangement) नष्ट हो जाती है।[1]

---

1. Adams, John, : Modern Development in Educational Practice, p. 239-243.

हार्डी महोदय[1] ने योजना-विधि के सम्बन्ध में और भी कई शंकायें प्रकट की हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

(क) यदि योजना का संबंध बालक की वर्तमान आवश्यकताओं से है, या यदि योजना बालकों की इच्छानुसार बनाई जाय तो उस ज्ञान को कैसे पढ़ाया जायगा, जो बालक के सीमित जीवन से परे है और जिसके संबंध में बालक कुछ जानता ही नहीं, और जिसे बिना बताये वह जान भी नहीं सकता। बालकों को स्वयं अपनी आवश्यकताओं का बोध नहीं होता। इस जीवन में तो उसे साधिकार ढंग से बताना होता है।

(ख) योजना-विधि से पढ़ाई में सीखने के मनोवैज्ञानिक नियमों की अवहेलना होती है। सीखने के लिये बार-बार अभ्यास (Practice) करने की आवश्यकता होती है। 'योजना' में एक बार जो कार्य बालक कर डालते हैं, उसे दुहराया नहीं जा सकता। अतः सीखने में एक व्यावहारिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। जहाँ एक ओर बालक कोई बात 'क्रिया' (Doing) द्वारा सीखते हैं वहाँ उसे अभ्यास न करने के कारण भूल भी सकते हैं। जो कुछ योजना द्वारा वे सीखते हैं, उसका प्रयोग भी वे दुबारा नहीं करते।

(ग) योजना-विधि के विधायक यह मान कर चले हैं कि बालकों की रुचियाँ सहज (Inherent) हैं, तभी तो उन्हीं के आधार पर वे

---

1. Hardie, Charles, D : Truth and Fallacy in Educational Theory, Chap. on Ed. Theory of John Dewey

योजनाएँ तैयार करने की सलाह देते हैं। वास्तव में अपनी रुचियाँ (Interests) बालक स्वयं निर्माण करते हैं। अर्जित (Acquired) रुचियाँ सामाजिक-जीवन के लिये कहीं अधिक उपयोगी हैं।

सम्भवत: ड्यूवी महोदय ने योजना-विधि की त्रुटियों को स्वयं अनुभव कर लिया। इसी से उन्होने, उसमें कुछ सुधार और परिवर्तन करने की अपेक्षा की। अपनी पुस्तक 'अनुभव तथा शिक्षा (Experience and Education) में उन्होंने इस ओर संकेत किया है। उन्होंने 'वर्तमान अनुभव को' ही शिक्षा मान लेना गलत बताया। वे कहते हैं कि शिक्षा और अनुभव में घनिष्ठ संबंध है। इसका केवल यह अर्थ है कि अनुभव द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिये परन्तु शिक्षा और अनुभव को समान या एक न समझना चाहिये। कुछ अनुभव ऐसे भी हो सकते हैं, जिनसे शिक्षा मिलने के बजाय, हानि हो सकती है, बुरी आदतें पैदा हो सकती हैं। कुछ अनुभवों से लाभ भी हो सकता है। तात्पर्य यह है है कि योजना का संबंध वर्तमान अनुभव से परे, भविष्य से भी होना चाहिए।

व्यावहारिक दृष्टि से योजना-विधि में कई दोष है। एक तो यह विधि बड़ी खरचीली है। योजना के लिये सामान इकट्ठा करने में काफी धन खर्च करना पड़ता है। भारत जैसे गरीब देश के लिए यह विधि अनुपयुक्त है। फिर एक बार जिस सामान का उपयोग हो जाता है, उसे दुबारा काम में नहीं लाया जा सकता। बहुत सा सामान, प्रयोग करने में नष्ट भी हो जाता है। स्कूल की व्यवस्था (Organisation) की दृष्टि से, यह विधि हानिकारक है। काम करने का कोई निश्चित समय नहीं रहता, और समय-चक्र (Time-Table) का आयोजन भी नहीं हो सकता। सारे विषय मिलकर 'खिचड़ी' के रूप में बालकों के आगे इस तरह आते हैं कि उन्हें यह पता भी

नहीं चलता कि वे क्या पढ़ रहे हैं। सब विषयों के सभी अंग इसके द्वारा बताना संभव नहीं है। सानुबंध (Correlation) के सिद्धांत का प्रयोग इस लिए किया गया है कि बालकों का ज्ञान संघटित तथा एक इकाई के रूप में रहे, परंतु योजना-विधि से पढ़ाने में बालकों का ज्ञान अव्यवस्थित रहता है। स्कूल में बड़े-बड़े प्रयोग करना संभव नहीं है और न सब प्रकार की योजनायें स्कूल में चालू की जा सकती है। बालकों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अपने आप उत्तरदायित्व का निर्वाह करते जायँगे। कभी-कभी योजनायें केवल हँसी-मज़ाक का रूप ले लेती है। विद्यालय में वही दृश्य देखने को मिलता है जो बाज़ार, मंडी या कारख़ाने में दिखाई देता है। चारों ओर कोलाहल तथा भाग-दौड़ मची रहती है। इस विधि द्वारा बहुत से बिषय पढ़ाये नहीं जा सकते, उदाहरण के लिए ज्योतिष या खगोल विद्या। वास्तव में शिक्षण-विधि एक साधन है, परंतु योजना-विधि में, शिक्षण साध्य बन जाता है। विषयों का महत्व गौण हो जाता है, बालक और अध्यापक दोनों विषयों की ओर से उदासीन हो जाते हैं। डा० ऐडम्स (Adams) का कथन है कि एक वर्ष में एक योजना पूरी ही हो जाय, ऐसा संभव नहीं है। ऐसी दशा में बालकों को किस तरह पास या फेल किया जाय। उनकी वार्षिक-प्रगति का अंदाजा ही न चलेगा।

कुछ आलोचकों का मत है कि ड्यूवी की योजना-विधि का जन्म प्राचीन ढंग की शिक्षा के विरुद्ध प्रतिक्रिया से हुआ। संभव है है, कुछ लोगों का ऐसा मत हो, परन्तु उसे प्रतिक्रियात्मक कहकर उसका महत्व कम नहीं किया जा सकता। योजना-विधि ने शिक्षण के क्षेत्रमें, क्रांतिकारी परिवर्तन किया है। पंजाब में मोगा नामक स्थान में डा० मैक्नी ने इस विधि का प्रयोग किया और उन्हें सफलता मिली।

---

(१०)

स्वयं-ज्ञान-विधि
(Heuristic Method)

इतिहास—

स्वयंज्ञान-विधि का जन्म वर्तमानकालीन वैज्ञानिक प्रवृति से हुआ है। जिस प्रकार वैज्ञानिकों ने आविष्कार तथा अनुसंधान करने के लिए वैज्ञानिक विधि निकाली है, उसी प्रकार शिक्षा-शास्त्रियों ने भी बालकों के शिक्षण के लिए, वैज्ञानिक पाठन-विधि निकाली है। दोनों विधियों में पूर्णरूप से साम्य है। 'अनुसंधान' और 'पाठन' दोनों क्रियाओं में एक ही प्रकार के नियम और ढंग काम में लाये जाते हैं। आविष्कार या अनुसंधान के लिए प्रयुक्त वैज्ञानिक-विधि में क्रम से चार सीढ़ियाँ पार करनी पड़नी है। वे हैं पर्यवेक्षण (Observation), तथ्यसंग्रह (Collection of Data), तुलना (Comparision) और निष्कर्ष (Generalisation)। पहले अनुसन्धानकर्त्ता ध्यानपूर्वक प्रकृति के अंगप्रत्यंग का पर्यवेक्षण करता है, और प्रत्येक तथ्य को यथावत् एक स्थान पर सुचारू रूप से लिख लेता है। फिर सब तथ्यों की वह परस्पर तुलना करके यह देखता है कि कौन सी घटना समान रूप से घटित होती है। इस सर्वनिष्ठ समानता के आधार पर वह नियम बना लेता है। संक्षेप में इस वैज्ञानिक-विधि में, बेकन द्वारा प्रतिपादित अगमन (Induction) का सिद्धान्त प्रयुक्त किया जाता है, जिसके सम्बन्ध में हम पीछे कई

प्रसंगों में लिख चुके हैं। इस वैज्ञानिक विधि से इतना अधिक लाभ हुआ है कि भौतिक तथा जीव-विज्ञान, दोनों क्षेत्रों में इसका बराबर उपयोग किया जा रहा है और आशा की जाती है कि भविष्य के गर्भ में छिपे हुये कितने ही रहस्य शीघ्र ही खोज निकाले जायेंगे। इस वैज्ञानिक-विधि की उपयोगिता को देखकर सामाजिक विषयों में, नियम-निर्धारण तथा निष्कर्ष निकालने में विद्वान लोग, निःसंकोच इसका प्रयोग करने लगे हैं। नागरिक शास्त्र,समाज शास्त्र इतिहास, अर्थशास्त्र, साहित्य और भाषाविज्ञान आदि में वैज्ञानिक-विधि द्वारा अनेक उपयोगी नियम निकाले गये हैं। शिक्षा-विज्ञान भी अपवाद नहीं है। शिक्षाशास्त्रियों ने इस विधि को शिक्षण-कार्य में प्रयुक्त करके दिखा दिया है। प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग (Armstrong) को इसका श्रेय प्राप्त है। आपने बालकों की पढ़ाई में इसी विधि का प्रयोग किया। उन्होंने इस वैज्ञानिक-विधि का नामकरण 'स्वयंज्ञान विधि' (Heuristic Method) किया। 'ह्यूरिओस' शब्द उन्होंने ग्रीकभाषा से चुना जिसका अर्थ है—अपने आप खोजना। स्वयंज्ञान विधि की विशेषता यह है कि बालक अपनी पढ़ाई स्वयं करता है। वह एक आविष्कारक या अन्वेषक के रूप में काम करते-करते सारी शिक्षा प्राप्त करता है। उसे किसी वस्तु या नियम का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, पर्यवेक्षण तथ्यसंग्रह, तुलना और निष्कर्ष की सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं।

यों तो प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग को स्वयंज्ञान-विधि के प्रणेता होने का सौभाग्य प्राप्त है, परन्तु उनकी विधि का उद्गम स्रोत हमें उनके पूर्ववर्ती शिक्षाचार्यों में मिलता है। उनकी विधि विज्ञान सम्बन्धी आन्दोलनों से उत्पन्न हुई। विज्ञान द्वारा शिक्षा का क्षेत्र गत शताब्दी में बड़ी तेजी से अतिक्रांत होने लगा। अतः इस सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

आधुनिक शिक्षा में वैज्ञानिक प्रगति—

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही शिक्षा पर विज्ञान का द्रुतगति से प्रभाव पड़ने लगा। यह प्रभाव बहुमुखी था। सबसे पहले हम पाठ्यक्रम (Curriculum) की बात लेते हैं। उन्नींसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक, वैज्ञानिक विषयों ने बहुत ज्यादा उन्नति कर ली थी। इसलिए अभी तक स्कूल में पढ़ाये जाने वाले सामाजिक तथा साहित्यिक विषयों की प्रधानता के विरुद्ध आंदोलन छिड़ गया। इस आंदोलन का नेतृत्व करने वाले हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) और हक्सले (Thomas H. Huxley) हैं। इन लोगों ने तुरन्त ही पाठ्यक्रम में परिवर्तन करने की माँग पेश की। इग्लैंड में, सबसे पहले जार्ज काम्बे (George Combe) ने शिक्षा में परिवर्तन करने का आंदोलन चलाया था। इनके तर्क निम्नलिखित हैं :—

(१) प्राचीन काल में शिक्षाशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों का विचार था कि मनुष्य के मन (Mind) में विभिन्न मानसिक शक्तियों, जैसे स्मृति, विचार, तर्क, भाव आदि के अलग-अलग स्थान नियत हैं। जिस प्रकार अभ्यास और कसरत से हाथ और शरीर के दूसरे अंग पुष्ट हो जाते हैं, उसी तरह यदि इन शक्तियों को कसरत कराई जाय तो वह बढ़ती और पुष्ट होती हैं। इसके लिए उन्होंने प्रत्येक शक्ति के लिये अलग-अलग विषय निश्चित कर दिये थे, जैसे स्मरणशक्ति की वृद्धि के लिये कविता कंठस्थ कराना, या विचार और तर्क-शक्ति को बढ़ाने के लिए गणित का अभ्यास कराना आदि। इसे 'फैकल्टी' (Faculty) मनोविज्ञान कहा जाता है। इस प्राचीन विचारधारा के कारण सामाजिक तथा साहित्यिक विषयों का महत्व अभी तक बढ़ा-चढ़ा था। वैज्ञानिक प्रगति तथा प्रायोगिक मनोवैज्ञानिक खोजों से यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो गई है। किसी एक विषय का, किसी एक मानसिक शक्ति से संबंध नहीं है और न

मनुष्य का मन अलग-अलग क्षेत्रों में बँटा है। प्राचीन मनोवैज्ञानिक जिन्हें मानसिक शक्तियाँ (जैसे स्मृति, विचार आदि) कहते हैं वे एक ही मन के अलग-अलग काम करने के ढंग हैं। जब सम्पूर्ण मन ग्रहण करने का काम करता है, तो उसे 'स्मृति' कह सकते हैं। अलग-अलग शक्तियों की कल्पना भ्रमपूर्ण है। "समस्त मन संघटित रूप से काम करता है" (Mind works as a whole)। ऐसी दशा में 'विषय' का मानसिक-प्रगति से कोई संबंध नहीं है। फिर अब भी स्कूलों में, साहित्य और गणित विषय क्यों उसी पुराने ढंग से पढ़ाये जाते हैं ? इसका उत्तर है परम्परा। अर्थात् सदियों से यह विषय पढ़ाये जाते रहे हैं, इसलिए अब भी पढ़ाये जा रहे हैं। प्राचीन मनोंविज्ञान के दोष प्रकट होंने पर भी, लोग नहीं सोचते कि पाठ्य-क्रम में अंतर लाने की आवश्यकता है। स्पेंसर ने अपनी पुस्तक "शिक्षा-बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक" (Education, Intellc-tual Moral, and Physcial) में लिखा है—

"यदि आपको वर्तमान शिक्षा की भद्दी तथा गिरी हुई दशा का प्रमाण चाहिए, तो वह यह है कि अभी तक पाठ्य-विषयों के महत्व का तुलनात्मक अध्यन ही नहीं किया गया है।...यही नहीं, पाठ्य विषयों के मूल्यांकन के लिए कोई ठोस स्तर (Standard) तक नहीं बनाया गया है। कहाँ तक कहें, ऐसे स्तर की आवश्यकता तक नहीं अनुभव की गई। लोग इस विषय पर पुस्तकें पढ़ते हैं, भाषण सुनते हैं और कहते भी हैं कि हमारे बच्चों को यह पाठ्य-विषय पढ़ाया जाय, या वह पढ़ाया जाय, परन्तु उनकी यह सारी बातें और मांगें परंपरा, पसंद या पूर्वधारणा पर अधारित हैं; उन्होंने विचार तक नहीं किया है कि पाठ्य-विषयों का मूल्य निर्धारित करने के लिये कोई तर्कपूर्ण तरीका होना चाहिये। लोग ऐसे प्रश्नों को, जैसे-किसी प्रकार के विषय को पढ़ाने के लिये कितना समय दिया जाय, उतना

समय देना कहाँ तक उचित है, क्या उससे अधिक महत्वपूर्ण और भी विषय हो सकते हैं, ऐसे नये पाठ्य-विषय कौन हैं—उठाते ही नहीं और यदि उठाते हैं, तो वह टाल दिये जाते हैं, हमें यत्र-तत्र साहित्यिक तथा गणित तथा विषयों पर वादविवाद सुनने को मिलते हैं। यह सारे वाद-विवाद निराधार तथा तर्कपूर्ण नहीं होते।"

पाठ्यक्रम के लिए विषयों को निर्धारित करने की ओर लोगों का ध्यान ही नहीं गया था। इसलिए पुराने विषय चल रहे थे। स्पेंसर ने जोरों से इन विषयों का विरोध करना आरंभ किया और पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों को प्रमुख स्थान देने पर जोर दिया। स्पेंसर की तरह अन्य शिक्षाशास्त्रियों ने कहा कि मानसिक शक्तियों का विकास केवल 'साहित्य' या 'गणित' जैसे विषयों पर निर्भर नहीं है। नये विषयों की भी आवश्यकता है। मानसिक शक्यिों का अलग-अलग अस्तित्व यदि नहीं है, तो पुराने विषयों की आवश्यकता नहीं रह जाती, और यदि है तो वैज्ञानिक विषयों से वही काम लिया जा सकता है, जो साहित्यक विषयों से अभी तक लिया जाता रहा है।

(२) पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों को स्थान देने के लिये एक तर्क और दिया गया। विज्ञान-प्रेमी शिक्षा-शास्त्रियों ने विषयों' के दो वर्ग बनाये। (अ) साधन-विषय—जिनसे सत्य की खोज में सहायता मिलती है, जैसे भाषा, व्याकरण, लिखना, गणित आदि, क्योंकि इनकी सहायता से हम अपने चारों ओर की भौतिक, बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। (ब) साध्य-विषय—जिनमें वास्तविक ज्ञान संचित है, जैसे वैज्ञानिक विषय। प्राचीन शिक्षा-पद्धति में साधन-विषयों का महत्व अधिक बढ़ा दिया गया था, जो उचित न था।

वास्तव में साध्य-विषयों को ऊँचा स्थान मिलना चाहिये। इस दृष्टि से वैज्ञानिक विषयों को पाठ्यक्रम में प्रथम स्थान देना उचित है।

(३) प्राचीन शिक्षा में साहित्य, इतिहास और गणित को साँस्कृतिक दृष्टि से (Cultural point of View) ऊँचा स्थान दिया गया था। इन विषयों के अध्ययन से, शिक्षित मनुष्य उदार(Liberal) बन जाता है। उसके भाव कोमल हो जाते हैं और उसका आचरण शिष्टतापूर्ण तथा मधुर हो जाता है। 'वैज्ञानिक विषयों' में शुष्कता होती है, इसलिये शिक्षा में इनको स्थान नहीं मिला था। अब विज्ञान-प्रेमी शिक्षाचार्यों ने वैज्ञानिक-विषयों को साहित्यिक विषयों के समकक्ष लाने के लिये बड़े ही प्रभावशाली तर्क उपस्थित किये हैं। साँस्कृतिक दृष्टि से नवीन वैज्ञानिक-विषयों का महत्व और भी अधिक माना जाना चाहिए। आज की नवीन संस्कृति विज्ञान की देन है और वह प्राचीन ग्रीस या रोम की संस्कृति से भिन्न है। अतः प्राचीन साहित्य, दर्शन और धर्म आदि विषयों की पढ़ाई इस नवीन संस्कृति के अनुकूल नहीं है।

यह नवीन संस्कृति क्या है ? आज नयी-नयी कलाओं का जन्म हो गया है; विज्ञान द्वारा अनेक जीवनोपयोगी आविष्कारों का जन्म हुआ है। आज मनुष्य का रहन-सहन कुछ ऐसे ढ़ंग का हो गया है, जिसकी कल्पना ग्रीस और रोम के लोग तो क्या, अब से सौ वर्ष पूर्व की पीढ़ी के लोग भी नहीं कर सकते थे। प्रकृति के निरीक्षण और अध्ययन से जो ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है, वह प्राचीन धार्मिक तथा दार्शनिक ज्ञान से कहीं अधिक विस्तृत है। अतः शिक्षा के पाठ्यक्रम में परिवर्तन करना अभीष्ट है। अभी तक धर्म, दर्शन और साहित्य आदि उदार शिक्षा (Liberal Education) के अन्तर्गत माने

जाते थे। मानव-जीवन में जो व्यापक परिवर्तन हो रहा है, उसे देखते हुये 'उदार-शिक्षा' का प्राचीन अर्थ बदल कर हमें एक नया अर्थ लगाना पड़ेगा। पहले उदार शिक्षा का अर्थ, 'बौद्धिक-ज्ञान' समझा जाता था, अब उदार-शिक्षा का अर्थ 'व्यावहारिक ज्ञान' माना जाने लगा है। उदार शिक्षा वह है, जो मनुष्य को अपने व्यवसाय, परिवारिक तथा सामाजिक जीवन में सफलता प्रदान करती है और उसे एक योग्य नागरिक बनाती है। ऐसी शिक्षा व्यावहारिक होती है, वह शिक्षित व्यक्ति को अपने व्यवसाय और सामाजिक अंगों का ज्ञान प्राप्त कराती है। ऐसी उदार शिक्षा की परिभाषा देते हुए हरबर्ट स्पेंसर ने लिखा है—

"मनुष्य को सर्वांगीण जीवन बिताने के लिए तैयार करना ऐसा काम है, जिसे पूरा करना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है; और पाठ्यक्रम के मूल्यांकन का अधार केवल यही है—शिक्षा कहाँ तक अपना यह कार्य (सर्वांगीण जीवन बिताने की कला सिखाना) पूरा कर सकती है।"

नवीन उदार शिक्षा के, जिसका उद्देश्य मनुष्य को सर्वांगीण जीवन बिताने के योग्य बनना है, मुख्य तत्व क्या हैं? सर्वांगीण जीवन का अर्थ क्या? स्पेंसर ने बताया है उदार शिक्षा के दो मुख्य तत्व हैं; (अ) ज्ञान-प्राप्ति, जिससे मनुष्य अपने को दैनिक तथा सामाजिक जीवन के अनुकूल बना सके, और (ब) ज्ञान का व्यवहार, जिससे मनुष्य रचनात्मक कार्य कर सके। इससे सर्वांगीण जीवन बिताने में सफलता मिलती है। सर्वांगीण जीवन के अन्तर्गत कई बातें आती हैं, जैसे (१) जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक ज्ञान, जो शरीर, स्वास्थ्य-रक्षा, भौतिक तथा रसायन आदि विज्ञानों से प्राप्त हो सकता है, (२) जीवन चलाने के लिए उचित ज्ञान, जैसे, भोजन, वस्त्र तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं को उपलब्ध करना; (३)

संतानोत्पत्ति तथा लालन-पालन का ज्ञान, जिसके द्वारा भावी मानव-नस्ल को अधिक स्वस्थ और सुयोग्य बनाया जा सके, (४) सामाजिक तथा राजनैतिक ज्ञान, जिससे नागरिकता का भाव पुष्ट होता है; और (५) साहित्य, कला तथा मनोरंजन की अन्य कलाओं का ज्ञान जिनसे मनुष्य को मानसिक सुख मिलता है।

स्पेंसर द्वारा प्रतिपादित नवीन उदार-शिक्षा में, जो वर्तमान मानव संस्कृति के बहुत कुछ अनुकूल है, प्राचीन धार्मिक तथा साहित्यिक विषय, आधुनिक विज्ञान-विषयों के अंत में आते हैं। वास्तव में आज साहित्य और भाषा अपना महत्व खो बैठे हैं। इसका कारण है, मानव जीवन की बदलती हुई स्थिति। भौतिक-विज्ञान की उन्नति से, मानव जीवन का हर एक पहलू बदल गया है। अनेक प्रकार के नये उद्योग-धंधे निकल आये हैं, जिनके विकास के लिए राजनैतिक क्षेत्र में प्रजातांत्रिक भावनायें ज़ोर पकड़ रही हैं। राष्ट्र के शासन में प्रत्येक व्यक्ति का उत्तरदायित्व समान है। प्रत्येक व्यक्ति को नागरिकता की शिक्षा मिलना आवश्यक है। साहित्य और भाषा आदि की शिक्षा से वर्तमान जीवन की उपर्युक्त आवश्यकतायें नहीं पूरी होतीं। थामस हक्सले (Huxley) ने प्राचीन शिक्षा-क्रम की बड़ी कटु आलोचना की है। ऐसी शिक्षा पर कितना ही धन क्यों न व्यय किया जाय, उससे जीवन में कुछ सहायता नहीं मिल सकती।

शिक्षा के क्षेत्र में, वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव शिक्षणविधि पर डाला है। नवीन पाठ्य-विषयों को, प्राचीन शिक्षण-विधियों द्वारा नहीं पढ़ाया जा सकता। प्राचीन पाठ्य-विषयों की पढ़ाई में बौद्धिक कार्य की प्रधानता थी। इसलिए उन्हें स्कूल के बंद कमरों में ज्ञानेंद्रियों और कर्मेन्द्रियों से खुलकर काम लेना नहीं पड़ता था। वैज्ञानिक शोधों और आविष्कारों में इंद्रियों का उपयोग हर प्रकार से किया गया था। इसलिए शिक्षाशास्त्रियों ने, नवीन शिक्षण-

विधि में वैज्ञानिक शोध-विधि का समावेश किया। प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग की स्वयंज्ञान-विधि इसका फल है। इस संबंध में प्रोफेसर महोदय के विचार उनके लेखों से उद्धृत किये जाते हैं जिनमें उन्होंने अपनी विधि की आवश्यकता बतायी है।

(क) शिक्षणविधि में परिवर्तन की आवश्यकता—पाठ्यक्रम में आवश्यक परिवर्तनों के संबंध में, प्रो० आर्मस्ट्रांग के विचारों का वर्णन देना यहाँ पर अनावश्यक होगा, क्योंकि उनके विचार स्पेंसर और हक्सले से बहुत-कुछ मिलतें हैं। पाठ्यक्रम में परिवर्तन के अनुकूल, पाठनविधि में बहुत बड़ा परिवर्तन करने की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि प्राचीन शिक्षणविधि केवल ऐतिहासिक और धार्मिक विषयों को पढ़ाने के उपयुक्त थी। यह विषय केवल इसलिये पढ़ाये जाते थे कि प्राचीन सामाजिक-व्यवस्था अपने मूल रूप में वर्तमान रहे। उस पढ़ाई को प्रचारमात्र समझना चाहिए। उसे ज्यों-का-त्यों ग्रहण करना विद्यार्थी का कर्तव्य था। इसलिए शिक्षणविधि में रटने पर जोर दिया जाता था। पाठन-विधि में 'प्रयोग' जैसी क्रिया को स्थान कैसे मिलता। उससे तो व्यवस्था के स्थायी होने के स्थान पर नष्ट होने की संभावना थी। बालक में आलोचना-शक्ति का उदय होना, हानिकर होता। उसे तो कुछ समाजोपयोगी आदतें सिखाने में लाभ था। समझदारी, बुद्धि, विवेक, छानबीन आदि के गुण अनावश्यक माने जाते थे, उनके स्थान पर श्रद्धा, भक्ति, आज्ञापालन आदि गुण, समाज-व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए अधिक आवश्यक समझे जाते थे। आज सामाजिक परिस्थितियाँ बदल गई हैं। आज जो कुछ उपयोगी है, कल वही हानिकारक हो सकता है। अतः समय-समय पर सिद्धांतों की परीक्षा करना आवश्यक है। इसके लिए प्रयोगात्मक-विधि का शिक्षण में प्रयोग करना अधिक लाभदायक होगा। सामाजिक जीवन

का स्तर उच्च करने के लिए बालकों को अधिक विवेकशील बनाना उचित होगा। प्रो० आर्मस्ट्राँग ने अपने एक लेख, "पचीस वर्ष बाद" में, इस बात पर बार-बार जोर दिया है कि बदलते हुए समय के अनुसार शिक्षणविधि में यदि परिवर्तन न किया गया, जो शिक्षा में किये जाने वाले सभी सुधार और शोधात्मक कार्यों से कोई लाभ न होगा। कारण यह है कि विना शिक्षणविधि को नया रूप दिये हुए नये विषयों, और नयी संगठन-व्यवस्था का आयोजन न हो सकेगा।

(ख) **यह नई विधि—स्वयंज्ञानविधि** (Heuristic Method) हो—पढ़ाई की यह नई विधि, वही होनी चाहिए, जिसे आदि मनुष्य अपने हर एक काम के करने में प्रयुक्त करता था। वही विधि वह आज भी, स्कूल के बाहर प्रत्येक वस्तु के बनाने में किसी काम को पूरा करने में प्रयुक्त करता है। उसे हम 'स्वयं-ज्ञानविधि' कह सकते हैं। इसका अर्थ है, "अनुभव, छानबीन और पर्यवेक्षण द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की विधि, जो व्यवस्थित और नियमबद्ध हो।" (पच्चीस वर्ष बाद—लेख से) बालकों की पढ़ाई बंद कमरों में और कुर्सी-मेज पर बैठाकर न की जाय। केवल वस्तुओं के बारे में उन्हें जानकारी कराना पर्याप्त नहीं है वरन् उन्हें स्वच्छंद रूप से अधिक से अधिक 'क्रियायें' करने की सुविधा मिलनी चाहिए। प्रकृति के प्रांगण में होनेवाले परिवर्तनों का सुचारु रूप से अध्ययन कराना, बालकों के लिए हितकर है। प्रो० आर्मस्ट्रॉग ने "वैज्ञानिक-विधि की शिक्षा" लेख में, लिखा है कि "आँखों और हाथों"—वैज्ञानिक विधि—का प्रयोग श्यामपट और खड़िया मिट्टी या भाषणों या प्रदर्शनों से नहीं सिखाया जा सकता। इसके लिए प्रत्येक बालक से अपनी आँखों और हाथों का प्रयोग, बार बार करने का अभ्यास प्रारंभकाल से ही कराना चाहिए। हो सकता है कि इस विधि से पढ़ाने में अधिक समय लगे और शक्ति भी खर्च हो परन्तु इससे होनेवाले अमूल्य लाभ से कौन

इनकार कर सकता है। बालकों को यह विधि पसंद आती है और और इससे वे अधिक सीख सकते हैं।

प्रसिद्ध अन्वेषक प्रीस्टले (Priestley) ने अपनी एक कृति की भूमिका में लिखा है कि यदि हम चाहते हैं कि हमारे बालकों में तत्वज्ञान के प्रति रुचि उत्पन्न हो, तो हमें बचपन से ही प्रयोग और शोध के कार्य उन्हें करके दिखाना चाहिए। उन्हें शोध-कार्य के सिद्धाँतों और व्यवहार का प्रारंभिक ज्ञान कराना आवश्यक है जिसके द्वारा वह पुरानी शोधों को स्वयं इस प्रकार करें कि उसे वह अपनी खोज समझें। तभी उन्हें इसका सच्चा ज्ञान प्राप्त होगा। प्रीस्टले के इस कथन में प्रो० आर्मस्ट्रॉग को अपनी स्वयंज्ञान-विधि के सूत्र मिले, जिसे उन्होंने अपने लेख—"प्रधानाध्यापकों से एक निवेदन"—में उद्धृत किया है। उन्होंने सोचा कि जिस प्रकार मनुष्य जीवन में कोई कार्य पूरा करने का भार लेता है और उस सम्बन्ध में आनेवाली कठिनाइयों और सुविधाओं का ज्ञान उसे यों ही प्राप्त हो जाता है, उसी तरह विद्यार्थियों के सामने कक्षा में कोई समस्या रख देनी चाहिए और उसे हल करने का समय नियुक्त कर दिया जाय। यह समस्या ऐसी हो, जिसमें प्रयोगों की आवश्यकता पड़े। इस सम्बन्ध में विद्यार्थी स्वयं लिखे और प्रयोगशाला में अध्यापक से सहायता भी प्राप्त करे। प्रयोग पूरा हो जाने के बाद, नियम निर्धारित कराने पर विशेष ध्यान दिया जाय। इस संबंध में, गणित, फोटोग्राफी, चित्रलेखन आदि विषय पढ़ाये जा सकते हैं। कई अध्यापकों को इसमें हाथ बँटाना आवश्यक होगा। संक्षेप में, इस विधि में अनुभव द्वारा पढ़ाई करने पर विशेष जोर दिया। प्रोफेसर महोदय ने अपनी योजना विद्वानों के समक्ष रक्खी और ब्रिटिश एसोसियेशन में उपस्थित विद्वानों ने यह मत प्रकट किया कि इस विधि से कई लाभ होंगे, जैसे:—

(च) **आयु का प्रश्न**—'स्वयं-ज्ञानविधि' से पढ़ने का अभ्यास बचपन से ही करना उपयोगी है, जिसका कारण यह है कि यदि प्रारम्भ में आँख बन्द करके शिक्षा ग्रहण करने की आदत पड़ गई, तो बालक इस प्रयोगात्मक विधि को कभी भी न अपनायेंगे। अतः प्रारम्भ में ही, इसका प्रयोग करके, बालकों में वैज्ञानिक अभिरुचि जाग्रत कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त बड़ी आयु के विद्यार्थी भी इसका प्रयोग कर सकते हैं। वास्तव में यह विधि इतनी स्वाभाविक है, कि मनुष्य दैनिक जीवन में भी ज्ञान-प्राप्ति के लिए, जब चाहे, इसे प्रयोग में ला सकता है।

(छ) **विशेष प्रकार का अध्यापक**—स्वयंज्ञान-विधि द्वारा शिक्षण में, बालकों को अपने आप ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है, परन्तु इससे अध्यापक का उत्तरदायित्व कम नहीं हो जाता। वास्तव में, इस विधि की सफलता बहुत-कुछ अध्यापक पर निर्भर हैं। 'पच्चीस वर्ष बाद'—लेख में, आर्मस्ट्राँग ने लिखा कि पुराने ढंग के अध्यापक प्रायः निर्धन, निरुत्साहित, कल्पनाहीन और व्यक्तित्वहीन होते हैं। विद्वान होने पर भी, उनमें ऐसे गुणों का अभाव होता है, जो इस विधि को सफल बनाने के लिए आवश्यक हैं। इसके लिए ऐसे शिक्षकों की आवश्यकता है, जो उत्साही हों, और साहस के साथ-साथ, जिनका बुद्धि-स्तर ऊँचा हो। प्रोफेसर महोदय ने एक अन्य स्थल पर लिखा है कि तोते की तरह रटाई करानेवाला अध्यापक किसी काम का नहीं होता। उसे तो क्षात्रों का पथप्रदर्शक और मित्र होना चाहिए। दोनों के बीच गहरी सहानुभूति होना उचित है। बालकों को हर समय आज्ञा देते रहना अनुचित है। अध्यापक को कभी-कभी बड़े आत्म-संयम से काम लेना पड़ता है। बालक जिस विषय पर प्रयोग करते हैं, अध्यापक उसका परिणाम पहले से जानता है, परन्तु वह बड़े संयम के साथ, चुप रहता है और बालकों को निष्कर्ष निकालने देता है।

प्रोफेसर आर्मस्ट्राँग ने, इस विधि से पढ़ाने के लिए स्त्री-शिक्षकों को अनुपयुक्त बताया है। छोटे बालकों को पढ़ाने के लिए, 'माँटेसरी' और 'फ्रोबेल' की विधियों में, स्त्री-शिक्षकों को अधिक उपयुक्त बताया गया है। इस छोटी अवस्था में बच्चों को स्नेह की आवश्यकता रहती है। पुरुष का स्वभाव स्त्री की भाँति कोमल नहीं होता। पुरुष-स्वभाव बालकों को पढ़ाने में, घातक है। इसलिए 'किंडरगार्टेन' और 'माँटेसरी' स्कूलो में स्त्री-अध्यापकों को स्थान दिया जाता है। दूसरे 'व्यापार' और 'उद्योग' की वृद्धि के कारण, पुरुषों का ध्यान अध्यापन-कार्य की ओर अधिक नहीं जाता है। पुरुष अध्यापन-कार्य अधिक पसंद नहीं करते। (भारत में नहीं, ऐसा केवल अन्य देशों में ही होता है।) स्त्रियाँ ही अध्यापन कार्य को अधिक संख्या में अपनाती हैं। स्वयं-ज्ञान-विधि के लिए स्त्री-अध्यापक अनुपयुक्त है। कारण यह है कि स्त्रियों में सभी गुण होते हुये भी तो उनमें एक बहुत बड़े गुण—मौलिकता—का अभाव होता है। इस स्वयंज्ञान-विधि में मौलिक चिंतन और मौलिक क्रिया पर सारी शिक्षा निर्भर होती है। यह गुण पुरुषों में अधिक मिलता है। इसलिये, इस विधि से पढ़ाने के लिए पुरुषों को ही चुनना चाहिये। वही सफलतापूर्वक, इस उत्तरदायित्व का वहन कर सकते हैं।

स्वयं-ज्ञान-विधि पर प्रो० आर्मस्ट्राँग के प्रारम्भिक प्रयोग— प्रोफ़ेसर आर्मस्ट्राँग ने अपने एक लेख, "शिक्षण की स्वयंज्ञान-विधि" (The Heuristic Method of Teaching) में, अपने अनुभवों और प्रयोगों का विवरण दिया है, जिनकी सहायता से अंत में आपने स्वयं-ज्ञान-विधि का निर्माण किया है। आपने उसके नामकरण के लिए एक अपरचित शब्द को ग्रीक-भाषा से चुना। आपने इस शब्द को प्रो० मीकले जान (Meiklejohn) की किसी कृति को पढ़ते समय पसंद किया। उक्त प्रोफेसर ने अपनी कृति में लिखा है कि शिक्षण

की सर्वोत्तम विधि वह है, जिससे पढ़ने में बालक अपने आप को अन्वेषक समझे। कम से कम वैज्ञानिक विषयों की पढ़ाई के लिए तो यह विधि सर्वश्रेष्ट है। आर्मस्ट्राँग ने इस कथन के सत्य का अनुभव स्वयं अपने विद्यार्थी जीवन में किया। अध्यापक होने के बाद आप बार-बार इस विधि को सुचारू रूप देते रहे। अंत में आप अपनी विधि की रूप-रेखा स्थिर करने में सफल हुये।

अपनी विधि का निर्माण करने में, आर्मस्ट्रांग ने स्काउटिंग आंदोलन (Boy Scout's Movement) से भी प्रेरणा ग्रहण की थी। "प्रधानाध्यापकों से एक निवेदन", लेख में आपने लिखा है कि शिक्षणकार्य के मुख्य सूत्र हमें बेडेन पावेल (Baden Powell) की पुस्तकों में मिल सकते हैं। एक स्काउट के लिए, साहस, निर्णय आत्मनिर्भरता और पर्यवेक्षण आदि जिन गुणों की आवश्यकता बताई गई है, और स्काउटिंग द्वारा बालकों में जो गुण उत्पन्न होते हैं, वही गुण स्वयंज्ञान विधि द्वारा अध्यापन से उत्पन्न किये जा सकते हैं। अतः प्रो० आर्मस्ट्रांग ने अपनी विधि में स्काउटिंग के मुख्य तत्व निःसंकोच भाव से अपनाये हैं।

स्वयंज्ञान-विधि की रूपरेखा

(१) **इस विधि के लिए नये प्रकार के स्कूल-भवन और नयी व्यवस्था**—अपने लेख, 'स्वयंज्ञानविधि' (The Heuristic Method) में, आर्मस्ट्रांग ने लिखा है कि स्कूल भवन के बनाने के सम्बन्ध में शिक्षाशास्त्रियों के सुझाव लेना आवश्यक हैं। यह काम केवल कारीगरों के हाथ में नहीं छोड़ देना चाहिए। स्कूल को प्रयोगशाला का रूप दे देना भी अनुचित है। प्रायः इस विधि के नाम से ही कारीगरों (Architects) के मन में यह धारणा उत्पन्न हो गई है

कि इस विधि से पढ़ाई के लिए प्रयोगशाला की तरह का भवन होना चाहिए। वास्तव में इतना अधिक आडम्बर बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। कक्षा में मामूली बेंचें होना चाहिए और पानी के नल तथा गैस के नल लगे होने चाहिए, परन्तु इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि बालक पानी का दुरुपयोग न करें। काँच के ट्यूब, गिलास, प्याले तथा अन्य सामग्री के रखने के लिए खुली अलमारियाँ काम दे सकती हैं। कमरा हवादार हो, ताकि गैस आदि की दुर्गन्ध इकट्ठा न हो। अध्यापक, को प्रयोग दिखाने के लिए अलग एक बड़ी मेज रखनी चाहिए। हर एक बालक की मेज के पीछे दीवार पर छोटे-छोटे श्यामपट लगे रहने चाहिए, जिन पर मौका पड़ने पर लिखा जा सके। प्रयोग के लिए आपरेटस् (Apparatus) स्वयं तैयार करने के लिए सारे औज़ारों, जैसे हथौड़ा, निहाई, रेती, आरी के साथ-साथ भट्टी का भी, प्रबन्ध होना जरूरी है। नाप तौल के लिये, तराजू ,पटरी, T की शक्ल का मापक, साथ रहना चाहिये। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण तराज़ू है। तोलने का काम हर समय पड़ता है, इसलिए छोटे-बड़े बढ़िया किस्म के तराजू, प्रयोग के लिए, रखना चाहिए। संक्षेप में एक छोटी वर्कशाप या कारखाना होना चाहिए जिसमें बालकों को वास्तविक जीवन के चित्र देखने को मिलें। "स्कूल में वर्कशाप" (Workshop in the School) लेख में प्रो० आर्मस्ट्रांग ने इसी बात पर अधिक ज़ोर दिया है। स्कूल को 'वर्कशाप' का रूप देने में एक लाभ यह है कि बालकों को अपने भावी व्यवसायों में सुविधा होगी। भाप और बिजली के आविष्कार के बाद, हमें अपनी शिक्षा, का कार्यक्रम बदलना पड़ेगा। स्कूल में फैक्ट्री की तरह काम होना चाहिए और बालकों को रचनात्मक कार्यों के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये। बालक कोई भी वस्तु बनायें पर अवश्य ही अध्यापक फोरमैन की तरह उनके कार्यों का निरीक्षण करता रहे।

इस विधि से शिक्षण के लिए, स्कूल-भवन की आवश्यकता अवश्य है, परन्तु इतना निश्चय ही ध्यान रखना चाहिये कि पढ़ाई का सारा काम बन्द कमरों में नहीं हो सकता। अन्वेषण का बहुत-सा काम स्कूल के बाहर होता है। बालकों को प्रकृति का पर्यवेक्षण कराना आवश्यक है। साथ ही साथ स्कूल की हद के भीतर प्राकृतिक वातावरण कायम रखना चाहिये। शहरी जीवन, जो 'फैक्ट्री' से उत्पन्न हुआ है, प्रकृति की खोजों की देन है, इसलिए प्रकृति की ओर से शिक्षा का उदासीन होना हानिकारक है।

(२) **पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में**—इस विषय पर हम स्वयं कुछ न लिखकर प्रो० आर्मस्ट्रॉग के विचार उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करते हैं:—

"यह कहना अनावश्यक है कि स्कूलों में प्रायोगिक विज्ञान की पढ़ाई के लिए पुस्तकों का प्रयोग करना ही चाहिये—हरएक विद्यार्थी को अपनी एक पुस्तक स्वयं लिख लेना चाहिए; उसे सरल भाषा में लिखना चाहिए ताकि घर के लोग भी इसे पढ़ लें और यह समझ लें कि अमुक वस्तु की जानकारी कैसे प्राप्त की गई और उसे कैसे पूरा किया गया। आजकल हजारों की संख्या में पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित की जा रही हैं और उनके प्रयोग से भीषण हानि हो रही है।"

(Central Motive in Schools से)

"इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं बालकों की प्रयोगों द्वारा परिणाम निकालने की रुचि पढ़ने से नष्ट न हो जाय। प्रारम्भिक दशा में पुस्तकों के प्रयोग से बचना चाहिये, ताकि जो ज्ञान प्रयोग द्वारा प्राप्त हो सकता है, पहले से ही बालकों को न मालूम हो जाय (पुस्तको द्वारा)—जो वास्तव में शिक्षण की दृष्टि से विचार उत्पन्न करने की, सबसे बुरी विधि है।"

(B. A. Address से)

"पुराने ज़माने में कविताएँ और गीत आदि इसलिए रटाये जाते थे कि उन्हें लिखा नहीं जा सकता था । (लिखने की भाषा के अभाव के कारण) पाठ्य-पुस्तकों को हटाने में वही पुरानी प्रवृत्ति दिखाई देती है । क्या उसे कायम रखना उचित है ?......आजकल स्कूलों में, बालक-बालिकाओं को केवल याँत्रिक ढंग से पढ़ना सिखाया जाता है । पुस्तकों में भरा हुआ ज्ञानरूपी अत्यन्त गरिष्ट भोजन करते-करते, बालकों की पाचन शक्ति इतनी निर्बल हो जाती है कि उसका इलाज ही नहीं हो सकता। आधुनिक पाठ्य-पुस्तकें और प्राइमर-पुस्तकें शत्रुओं की रचनाएँ हैं, जिनका उद्देश्य स्वयं-ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति को नष्ट करना है । हम वास्तव में, यह अनुभव भी नहीं करते कि जिस प्रकार मशीन के आविर्भाव से हाथ के कारीगर नष्ट हो गये, उसी तरह पुस्तकों के चलन से 'विद्यार्थी' नष्ट हो गया ।"

(Need of Practical Studies से)

प्रोफेसर आर्मस्ट्राँग का कथन है कि स्कूलों में, लिखने, पढ़ने और गणित के साथ-साथ तर्क करने की पढ़ाई करना उचित है । बालकों को स्वयं उन बातों का पर्यवेक्षण करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, जो पुस्तकों में लिखी होती हैं । यह ठीक है कि पुस्तकों में जो लिखा होता है, वह आकर्षक होता है, परन्तु वह इतने विशेष ढंग से (Technical) लिखा होता है कि बालक उसे समझ नहीं पाते । यदि पुस्तकों का प्रयोग भी किया जाय, तो पुस्तकें ऐसी होनी चाहिएँ जिनमें तमाम देशों, वहाँ के निवासियों और उनके रहन-सहन का वर्णन बड़ी ही सरल और बोधगम्य भाषा में लिखा हो। प्रोफेसर महोदय ने पढ़ाई के लिये बेडेनपावेल की 'Aids to Scouting' या डारविन (Darwin) की 'Origin of Species' जैसी पुस्तकें पाठ्यक्रम में रखने की सलाह दी है ।

(३) **समय-चक्र** (Time-Table) **का अभाव**—स्वयंज्ञान-विधि की पढ़ाई समय-चक्र के बंधन में नहीं हो सकती। समय-चक्र अस्वाभाविक भी है, क्योंकि दुनिया के दूसरे सारे काम घंटों में बाँट कर नहीं किये जाते। हम जब चाहें काम करें और जब चाहें काम न करें। प्रयोगादि में परिणाम निकालने के लिए एक निश्चित अवधि नहीं कायम की जा सकती। बहुत से काम स्कूल के बाहर करने पड़ते हैं। इसलिए इस विधि के लिए समय-चक्र का आयोजन किसी भी प्रकार से उपयुक्त नहीं सिद्ध हो सकता।

स्वयंज्ञान विधि में पाठ-विस्तार (Presentation of Lesson)—

(क) **पर्यवेक्षण**—पाठ का प्रारम्भ किसी समस्या (Problem) को लेकर होना चाहिए ताकि बालकों को अध्ययन में रुचि हो। वे यह न अनुभव करें कि उन्हें पढ़ने के लिए मजबूर किया जा रहा है। उस संमस्या के सम्बन्ध में, स्कूल के बाहर, बहुत कुछ निरीक्षण करने की आवश्यकता होती है। यदि खेती की समस्या है, तो बालकों को निरीक्षण के लिए खेतों में ले जाना चाहिए। पौधे की जड़, पत्ती, फूल, बीज, मिट्टी, खाद और पानी आदि का बड़ी बारीकी से उन्हें पर्यवेक्षण करना चाहिए। यदि भूगोल की समस्या है, तो बालक अपने जिले भर में घूम-घूम कर, वहाँ के वृक्षों, टीलों, नालों, नदियों पशुओं और पक्षियों का ध्यान से अध्ययन करें। आवश्यकता पड़े, तो नक्शे साथ ले जायँ, उनसे तुलना करें और अपने नक्शे स्वयं तैयार करें। अच्छा तो यह होगा कि वे पहले नक्शा न देखें और अपना नक्शा स्वयं बनाकर, स्कूल में आने पर, छपे हुए नक्शे से तुलना करें।

(ख) **विचारोत्पत्ति**—पर्यवेक्षण करने के बाद, हर एक तथ्य को ठीक-ठीक अंकित कर लेना चाहिए। उससे तुलना और विचार में

सहायता मिलती है। फिर प्रत्येक वस्तु का मानव-जीवन में क्या महत्व है, उसके अभाव को किसी दूसरी वस्तु से पूरा किया जा सकता है या नहीं, आदि ऐसी समस्यायें हैं, जिन पर बालकों को विचार करने के लिए छोड़ देना चाहिए। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। यदि बालक किसी समस्या की गंभीरता समझ गये, तो वे अपनी शक्ति भर आविष्कार करने का प्रयत्न करेंगे। उदाहरण के लिए कोयले की समस्या लीजिये। कोयला, हमारे औद्योगिक-जीवन का प्रधान आधार है। सारे कल-कारखाने इसी की शक्ति से चलते हैं। एक दिन जब कोयला समाप्त हो जायगा, तो क्या होगा? यह गंभीर समस्या सोचने के लिए बाध्य करती है। बस, इसी से मनुष्य का ध्यान पेट्रोल या परमाणु शक्ति की ओर गया। बालकों का भी ध्यान इसी तरह से आविष्कारों कौर अनुसंधानों की ओर जायगा। बालक विचार करेंगे। गृह-विज्ञान, पाकविज्ञान आदि भोजन की समस्या से उत्पन्न हुए हैं। अतः 'भोजन' का विषय ऐसा हैं, जिससे बालिकाओं में विज्ञान के प्रति अभिरुचि जाग्रत की जा सकती है।

(ग) **लेखक-कार्य**—पर्यवेक्षण के पश्चात् और विचारोत्पत्ति के सम्बन्ध में बालकों को भाषा-प्रयोग की आवश्यकता पड़ेगी। दृश्य-वर्णन, या किसी वस्तु का विवरण देने में, निबंध-लेखन का अभ्यास हो सकता है। परिणाम लिखने और और तुलना करने में, विषय-सामग्री को तर्कपूर्ण ढंग से सजा कर लिखने का अभ्यास बालक कर सकते हैं।

(घ) **वैज्ञानिक विषयों की पढ़ाई**— भौतिक और रसायन-विज्ञान का जन्म प्रकृति के गर्भ हुआ है, इसलिए प्रकृति का अध्ययन करना सबसे अधिक आवश्यक है। हक्सले ने कहा है कि प्रकृति का ज्ञान हमें दैनिक जीवन में मार्ग प्रदर्शन करता है......कोई भी व्यक्ति जो प्राकृतिक नियमों का ध्यान किये बिना जीवनयापन करता है,

उसका जीवन केवल थोड़े दिन ही चल सकेगा।...इसलिए हमें प्रकृति के नियमों की जानकारी प्राप्त करनी ही चाहिए। आर्मस्ट्रांग का मत है कि भौतिक विज्ञान द्वारा हमें प्रकृति का ठोस ज्ञान प्राप्त होता है और उससे विचार-शक्ति, जितनी प्रबल होती है, उतनी गणित और साहित्य से नहीं होती। विज्ञान की पढ़ाई के लिए स्वयंज्ञान-विधि के अतिरिक्त दूसरी कोई विधि काम में लाना ठीक नहीं। प्राचीन-विधि द्वारा विज्ञान को पढ़ना विज्ञान के महत्व को नष्ट करना है। स्कूलों में प्रायः रसायन, जीव-विज्ञान या एक और कोई विज्ञान पढ़ाया जाता है। वास्तव में, विज्ञान की सभी शाखायें जैसे वनस्पति, भौतिक, रसायन, शरीर, जीव, भूगर्भ, खगोल आदि तथा अन्य सभी प्रकार के विज्ञान की बातें, जो दैनिक जीवन में काम आती हैं, बालकों की पढ़ाई में आ जानी चाहिएँ। इन सब विज्ञानों के पढ़ाने में क्रम होना उचित है, जैसे सबसे पहले बनस्पति विज्ञान को पढ़ाना चाहिये। पाठ को सफल बनाने के लिए अध्यापकों का सहयोग आवश्यक है। बालकों में छानबीन करने की प्रवृत्ति हर तरह से विकसित करने का प्रयत्न करते रहना अध्यापक का कर्तव्य है।

प्रारम्भिक कक्षा के लिए विज्ञान के पाठ में जिन पदार्थों की पढ़ाई होती है, उनका चुनाव दैनिक-जीवन में काम में आनेवाले पदार्थों से होना चाहिये, जैसे हवा, पानी, नमक, शकर, आदि। उनके तत्व, मिश्रण और घोल तथा एक-दूसरे पर उनका प्रभाव बालकों को स्वयं बनाकर देखना चाहिये। पाठ का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

(Method of Teaching Chemistry से उद्धृत)

पाठ—पानी कैसे बना ?

संकेत Instructions—(१) गर्म लाल लोहे पर भाप छोड़ो। उड़ती हुई गैस को इकट्ठा करके उस पर प्रकाश डालो। (यह गैस

हाइड्रोजन कहलाती है) बालक को सभी साधारण अपरेटस देना चाहिए—जैसे पानी से भरा गिलास, जो झुकी हुई शीशे की नली द्वारा एक लोहे की नली से जुड़ा होता है, जिसमें ब्रैडस रक्खे होते हैं, लोहे की नली जो वर्नर पर रक्खी जाती है । पानी उवलता है, भाप उत्पन्न होती है । (बालक यह प्रयोग करते हैं और देखते हैं कि कैसे हाईड्रोजन पैदा होती है ।) (२) फिर बालक सल्फ्यूरिक एसिड में जिंक घोल कर हाइड्रोजन पैदा करें ताकि वे यह समझ लें कि इस गैस में कौन से तत्व मिलते हैं । (३) ठंडी सतह के नीचे ग्लास जेट के पास सूखी हाइड्रोजन जलाकर देखो कि क्या चीज बन गई । यह पानी है । (४) फिर बालक देखें कैसे ताँबा लोहा और फासफोरस जलकर हवा में आक्सीजन से मिल जाते हैं । वे अनुमान करते हैं कि हाइड्रोजन भी जलकर, पानी पैदा करता है और शायद यह आक्सीजन से मिल जाता है अतः पानी में आक्सीजन की भी कुछ मात्रा होनी चाहिये । । फिर बालक देखें कि हाइड्रोजन नाइट्रोजन से मिल जाता है या नहीं । (५) अंत में आक्सीजन, गर्म ताँबे और हाइड्रोजन के प्रयोग द्वारा बालक पानी में, हाइड्रोजन और आक्सीजन की मात्रा निश्चित करें ।

पढ़ाई के दौरान में बालकों को सूक्ष्मातिसूक्ष्म तोल (weight) का ज्ञान कराना आवश्यक है । इससे आगे चल कर 'मात्रा' का ज्ञान उन्हें आसानी से हो जाता है ।

तुरा –

आलोचना

स्वयंज्ञान-विधि इतनी स्वाभाविक है, कि इसे चमत्कार के रूप में लेना उचित न होगा । प्रारंभ में मनुष्य ने ज्ञानार्जन करना इसी विधि से प्रारंभ किया होगा । हाँ, इसको व्यवस्थित रूप देने का श्रेय प्रो० आर्मस्टाँग को अवश्य है । इस विधि के प्रयोग के कुछ प्रमाण

हमें भारतीय इतिहास में भी मिलते हैं। तक्षशिला विश्वविद्यालय के एक छात्र जीवक ने चिकित्सा-शास्त्र पर, इसी विधि द्वारा खोज की थी। उसने लगभग पन्द्रह कोस के घेरे में उत्पन्न होने वाली वनौषधियों का अन्वेषण करके उनके गुण-दोषों की मीमांसा की थी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसमें कोई नयी बात नहीं है। यह बहुत कुछ योजना-विधि से मिलती-जुलती है। प्रारंभमें 'समस्या' के होने और प्रक्रिया में, पर्यवेक्षण, तुलना और निष्कर्ष आदि निकालने में यह विधि, योजना-विधि से मिलती है। 'क्रिया द्वारा शिक्षा के सिद्धांत' का इसमें समावेश हुआ है। 'स्वशिक्षा का सिद्धांत' भी इसकी प्रमुख विशेषता है, जो नया नहीं है। 'मॉंटेसरी' और 'किंडरगार्डेन' विधियों में स्वशिक्षा का आयोजन बहुत पहले किया जा चुका है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वैज्ञानिक विषयो की पढ़ाई के लिये स्वयंज्ञान-विधि उपयोगी है। इस विधि के प्रयोग से बचपन में ही बालकों का ऐसा दृष्टिकोण बन जाता है कि वे भविष्य में अच्छे वैज्ञानिक बन सकते हैं। बालकों को वही संतोष और आनन्द प्राप्त होता है, जो गैलीलियों या न्यूटन को अपने अन्वेषणों में मिला होगा। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने अपने आविष्कारों में इसी विधि का प्रयोग किया है इस विधि में, बालकों को प्रयत्न और भूल (Trial-and-error) के सिद्धांत द्वारा सीखना पढ़ता है परन्तु इसमें अध्यापक की सहायता परोक्षरूप से मिलती रहती है। स्वप्रयत्न और परीक्षण द्वारा प्राप्त ज्ञान स्थायी होता है। साथ ही वह उपयोगी होता है। पुस्तकों द्वारा प्राप्त ज्ञान निष्क्रिय होता है, उसे शायद ही कोई विद्यार्थी-जीवन में प्रयुक्त करता हो। सबसे बड़ी बात यह है कि बालक भावी-जीवन में सामाजिक संघर्ष में सफल होने योग्य बन जाते हैं। इस विधि द्वारा शिक्षा प्राप्त किये हुये विद्यार्थी में स्वस्थ रुचियाँ बनती हैं। जो कुछ ज्ञान वे प्राप्त करते हैं, वह पच जाता है। क्रियात्मक शिक्षा होने के

कारण, बालकों को स्वयं सत्य का अनुभव प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होता है ।[1]

इस विधि की त्रुटियाँ स्पष्ट हैं । यह ठीक है कि प्राचीन विषय और प्राचीन शिक्षण-विधि, आज की भौतिक समस्या के प्रतिकूल है; परन्तु हम उन्हें समूल नष्ट तो नहीं कर सकते। मनुष्य के वर्तमान का अतीत से बहुत बड़ा संबंध है । अतः साहित्य, दर्शन और धर्म हमारे लिये आवश्यक बने रहेंगे । शिक्षा के क्षेत्र से उनका बहिष्कार नहीं किया जा सकता । यदि प्राचीन विधि, वैज्ञानिक विषयों के लिये अनुपयुक्त है, तो यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि यह नवीन विधि प्राचीन विषयों को पढ़ाने के लिये उतनी ही अनुपयुक्त है। प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग ने यद्यपि इस विधि का प्रयोग साहित्यिक विषयों की पढ़ाई में, करने पर जोर दिया है और कहा भी है कि वे विषय इस विधि से पढ़ाये जा सकते हैं, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनका कथन युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता । साहित्य, धर्म, दर्शन और गणित को प्रयोगात्मक ढंग से पढ़ाना संभव नहीं । दूसरी बात यह है कि इस विधि से एक साधारण सिद्धांत को पढ़ाने में बहुत अधिक समय लगता है । मानव-जीवन इतना अल्प है, ज्ञान का भंडार इतना असीम, और यह विधि इतनी लम्बी है, कि शिक्षा का वास्तविक अर्थ ही नष्ट हो जाता है। न्यूटन या एडीसन को जिस खोज में जीवन भर लगा रहना पड़ा, उसकी शिक्षा यदि बालक को स्वयंज्ञान-विधि से दी जाय तो उसका सारा बहुमूल्य जीवन एक तथ्य को सीखने में नष्ट हो जायगा, वह आविष्कारक बनने की पूरी दीक्षा प्राप्त कर चुकने के बाद, कुछ भी कर सकने में अपने को असमर्थ पावेगा । ज्ञात तथ्यों को बताने की सीधी-सीधी विधि होनी चाहिये, जिसमें कम समय

---

१. सीताराम चतुर्वेदी : शिक्षा-प्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक, अध्याय २०, पृष्ठ २६१-२६२ ।

लगे। स्वयंज्ञान-विधि की भूलभुलैया में पड़कर बालक की अपार क्षति होगी। व्यावहारिकता की दृष्टि से तीसरा दोष यह है कि इस विधि से केवल चुने हुए कुशाग्र बुद्धि वाले विद्यार्थी ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह कैसे संभव है कि जिन आविष्कारों और शोधों को कर सकने में न्यूटन जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति सफल हो सके हैं, उन्हें साधारण बुद्धिवाले बालक अपने आप कर सकेंगे। यह विधि व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धांत का अतिक्रमण करती है। जो बालक समान रूप से इसमें रुचि नहीं ले सकते, उनका मन थोड़े ही दिनों में ऊब जायगा। साथ ही इसमें निष्कर्ष निकालने में बहुत अधिक समय लगता है, परिश्रम का फल देर में मिलने पर उसका आनन्द नष्ट हो जाता है। बहुत से विद्यार्थियों की रुचि बीच में ही नष्ट हो सकती है और वे बीच में ही पढ़ना बन्द कर सकते हैं। कुछ विद्यार्थी ऐसे भी हो सकते हैं, जो अपने आप निष्कर्ष निकालने में असमर्थ रहें। ऐसी दशा में घोर निराशा होगी, जो उनके व्यक्तित्व पर बुरा प्रभाव डालेगी। इस विधि से पढ़ाने के लिए उत्साही और योग्य अध्यापक प्राप्त करना, उसके अनुकूल स्कूल-भवनों का निर्माण कराना और सारी सामग्री इकट्ठा करना आदि सरल काम नहीं है। इन सबके लिए बहुत धन चाहिये। भारत जैसे निर्धन देश के लिए यह विधि बड़ी मँहगी है।[1]

---

१. सीताराम चतुर्वेदी : शिक्षा-प्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक, अध्याय २०, पृष्ठ २६४।

(११)

खेल द्वारा शिक्षण की विधि
(Playway method)

प्राचीनकाल से लेकर अब तक 'खेलकूद' को बुरी दृष्टि से देखा जाता रहा है। आज भी बूढ़े लोग बच्चों को यह कहावत सुनाते हुए पाये जाते हैं, 'पढ़ोगे-लिखोगे, होगे नवाब, खेलोगे-कूदोगे, होगे खराब।'' प्रायः लोगों ने यह धारणा बना रक्खी है कि खेलने से लड़के बिगड़ जाते हैं। 'पढ़ना' और 'खेलना', दो अलग-अलग और विरोधी बाते हैं। आज शिक्षा में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, उनके परिणाम-स्वरूप 'खेल' का महत्व बढ़ता जा रहा है। पढ़ने के साथ-साथ खेल को उतना ही महत्वपूर्ण स्थान दिया जा रहा है जितना पुस्तक को। कुछ शिक्षाचार्यों ने, तो खेल को पढ़ाई का माध्यम मानने की सलाह दे डाली है और अब तो एक ऐसी शिक्षण-विधि का जन्म हो गया है, जिसके द्वारा बालक खेल के सहारे पढ़ते हैं।

फ्रोबेल ने अपनी शिक्षण-विधि में, खेलों का समावेश किया है। खेल द्वारा बालक के शरीर और मन में स्फूर्ति उत्पन्न होती है। खेल की क्रिया द्वारा बालक को आनंद प्राप्त होता है। फ्रोबेल ने खेलों का समर्थन इसलिए किया कि खेल द्वारा आध्यात्मिक तत्वों का ज्ञान बालकों को प्राप्त हो जाता है। मेरिया मांटेसरी ने भी 'खेल' को इंद्रिय-शिक्षा में महत्व पूर्ण स्थान दिया है। वर्तमान शताब्दी में मनोवैज्ञानिक खोजों ने, 'खेल' की उपयोगिता सिद्ध कर दी है और खेल के संबंध में कई सिद्धांत (Theories of Play) निर्धारित हो गये हैं। इस प्रसंग में उनका संक्षिप्त विवरण अपेक्षित है।

(१) **'अनावश्यक शक्ति' का सिद्धांत** (Superfluous Energy Theory)—भाप के इंजन में हर समय शक्ति तैयार होती रहती है। यदि वह शक्ति इंजन में भर दी जाय तो, इंजन के फट जाने का भय है। इसलिये इंजन में एक ऐसा स्वचालित ढक्कन लगा होता है, जो भाप के बढ़ने पर अपने आप हट जाता है और अनावश्यक भाप को निकल जाने देता है। उसी तरह बालकों में अत्यधिक शक्ति उत्पन्न होती रहती है। उन्हें कोई भी भारी शारीरिक या मानसिक कार्य नहीं करना पड़ता। ऐसी स्थिति में 'खेल' ही एक ऐसा साधन है, जिसमें उनकी संचित शक्ति व्यय होती है और वे स्वस्थ बने रहते हैं। बालकों के स्वास्थ्य के लिए खेल बहुत जरूरी है। इसे 'अनावश्यक शक्ति' का सिद्धांत कहते हैं। हरबर्ट स्पेंसर ने इस सिद्धांत की रचना की है।

(२) **'पुनरावृत्ति' का सिद्धांत** (Recapitulatory Theory) स्टैनले हाल (Stanley Hall) नामक विद्वान ने बालकों के खेल को इसलिए महत्व पूर्ण बताया कि खेल के द्वारा हमें उनके मानसिक विकास का अन्दाज़ा मिलता है। मानव-जाति ने अपने विकास-काल में जिन-जिन चरणों को पार किया है उन्हीं को प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में दुहराता है। बाल्यकाल के स्वाभाविक खेलों में हमें, आदिम मनुष्य की क्रियायें देखने को मिलती हैं। जिस प्रकार आदिम मनुष्य खानाबदोश था, निरुद्देश्य इधर-उधर मारा-मारा फिरता था, उसकी ध्वंसात्मक-प्रवृत्ति प्रबल थी, उसी प्रकार बालक घूमा करते हैं और तोड़फोड़ करने में अत्यधिक आनंद प्राप्त करते हैं। अतः बालकों की पढ़ाई का प्रबंध, उनके वैकासिक नियमों के आधार पर होना चाहिए। कहने का तात्दर्य यह है कि खेल, बालक के मानसिक विकास के अनुकूल खेल एक ऐसा सामाजिक माध्यम है जिसके द्वारा बालकों को शिक्षा दी जानी चाहिये।

(३) **पूर्वाभास का सिद्धांत** (Anticipatory Theory)—कार्ल-ग्रूस (Karl Groos) का कथन 'हाल' के कथन से विपरीत है। उसका कहना है कि खेल, बालक के भावी जीवन का पूर्वाभास देते हैं। खेलों के द्वारा ज्ञात होता है कि अमुक बालक भविष्य में क्या बनने जा रहा है। खेल भावी जीवन की तैयारी है। महान पुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ने के बाद इस सिद्धांत की सत्यता बहुत कुछ अंशों में सिद्ध हो जाती है। चंद्रगुप्त अपने बाल्यकाल में पशुओं को चराते हुए, अपने साथियों के साथ राजा का अभिनय किया करता था। विश्वविख्यात जलसेनानायक नेलसन भी बचपन में जहाजों के मॉडेल बनाकर खेलता था। इसलिये बालकों को खेलने से मना करना अनुचित है। बालक को, यदि किसी खेल में अत्यधिक रुचि हो, तो उससे, उसकी शिक्षा में लाभ उठाना उचित है।

(४) **'रेचन' का सिद्धांत**—(Cathartic Theory)—जिस प्रकार औषधि खाने से जुलाब द्वारा, रोगी का पेट साफ हो जाता है, उसी प्रकार खेल द्वारा बालकों की भावात्मक उत्तेजना (Emotional Tension) और आवेग को शांत होने का अवसर मिलता है। यदि खेल न हो, तो बालकों को शांति न मिले और उनका मानसिक संतुलन बिगड़ जाय। पढ़ाई में खेल का समावेश, इस दृष्टि से आवश्यक है।

उपर्युक्त सिद्धांतों द्वारा खेलों का महत्व बढ़ा[1]। यह सिद्धांत जिन तर्कों पर आधारित हैं, वे बहुत-कुछ अनुमान द्वारा स्थिर किये गये हैं। पढ़ने और सुनने में वे आकर्षक जरूर मालूम पड़ते हैं परन्तु वैज्ञानिक ढंग से उन्हें सिद्ध करना संभव नहीं है। इनसे इतना लाभ

---

1. Wood, Walter : Children's Play and its Place in Education.

अवश्य हुआ कि खेल के प्रति शिक्षा-शास्त्रियों का दृष्टिकोण बदल गया। जॉन ड्यूवी ने आगे चलकर खेलों का मनोवैज्ञानिक महत्व निर्धारित किया। इस सम्बन्ध में उनके विचार उल्लेखनीय है[1]।

'खेल' पर ड्यूवी के विचार—ड्यूवी ने अपनी पुस्तक 'प्रजातंत्र और शिक्षा' में लिखा है कि 'फैकल्टी' (Faculty) पर विश्वास रखनेवाले मनोवैज्ञानिकों ने बौद्धिक विषयों और मानसिक कार्य का इतना अधिक सम्मान बढ़ा दिया कि शारीरिक कार्य को नीची दृष्टि से देखा जाने लगा था। वे लोग 'खेल' को केवल एक शारीरिक क्रिया मानते थे और बौद्धिक कार्य के बाद, उसे केवल मनोरंजन के रूप में, ग्रहण करने की अनुमति देते थे। अब यह बात नहीं रही। इन्द्रिय-ज्ञान का महत्व बढ़ जाने से, और इंद्रियों की शिक्षा का चलन होने से, खेलों का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। पुराने समय में खेलों का महत्व इसलिये भी कम था कि लोग खेल को सीखनेवाली क्रियाओं में स्थान नहीं देते थे। खेल तो एक ऐसा मामूली काम था, जिसे सीखने में कोई कठिनाई न होती थी। दूसरी ओर बौद्धिक विषय केवल स्कूल में और बड़े परिश्रम करने पर ही सीखे जा सकते थे। आज वह भी स्थिति बदल गई है। छापेखाने के आविष्कार ने पुस्तकों को हर एक मनुष्य के लिए सुलभ बना दिया है। यदि मनुष्य चाहे तो घर बैठे, शिक्षा प्राप्त कर सकता है। दूसरी ओर 'खेल' अब कला के रूप में सम्मान पाने लगा है। यही कारण है कि शिक्षा के समस्त कार्यक्रम में खेलों को सम्मानपूर्ण स्थान मिल गया है।

अब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, खेलों के महत्व पर विचार कीजिये। खेल में केवल शारीरिक क्रिया ही नहीं होती, वरन् मान-

---

1. Dewey : Democracy and Education.

सिक शक्ति का पूरा प्रयोग करना पड़ता है। खेल में भविष्य के बारे में सोचना, योजना बनाना ध्यान से लगकर, योजना पूरा करने का प्रयत्न करना, खोज करना और वस्तुओं का सूक्ष्म अध्ययन करना आदि सभी प्रकार के मानसिक कार्य करने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त खेलों का सामाजिक और आर्थिक पहलू भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है।

खेल और शिक्षण—अब इस संबंध में प्रायः सभी शिक्षाशास्त्री एक मत हैं कि शिक्षण में खेलों का प्रयोग होना चाहिए। 'खेल' के समावेश से शिक्षण का आकर्षण बढ़ जाता है। पढ़ाई जैसा नीरस कार्य सरस, हृदयग्राही और मनोरंजक बन जाता है।

खेल के संबंध में पुरानी धारणा यह थी कि यह कार्य का विरोधी समझा जाता था। काम से बचने के लिये प्रायः खेल का आश्रय, इसी उद्देश्य से लिया जाता था। अब यह धारणा गलत मानी जाती है। खेल भी एक प्रकार का कार्य है और वह शिक्षण का साधन बनाया जा सकता है।[1] अब प्रश्न यह है कि शिक्षा जैसे गंभीर कार्य का खेल के साथ कैसे संयोग हो? यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शिक्षा में खेलों के प्रयोग से यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि फुटबाल या टेनिस के खेलों के द्वारा शिक्षा दी जाय। वास्तव में शिक्षा में खेल की भावना (Spirit of play) का प्रयोग वांछनीय है। खेल की भावना का तात्पर्य है, कार्य में **लगन, उत्साह, रुचि और**

---

1. Adams, John : Modern Development in Educultural Practice, Chap. on "The Play Way" p. 205-208.

,, Plate, William : The Joy of Education.

तन्मयता। इन मानसिक गुणों के समाविष्ट होते ही काम 'खेल'-सा प्रतीत होता है अर्थात् बालक बड़ी सरलता से वे काम कर डालते हैं और उसमें आनन्द का अनुभव करते है। इसी भावना को शिक्षा में भरने का प्रयत्न किया जा रहा है।

बर्टेन्ड रसेल[1] ने लिखा है कि "यौवन प्राप्त समस्त जीवों में चाहे वे मनुष्य हों या पशु, खेल के प्रति प्रेम की मुख्य विशेषता पाई जाती है। मनुष्य के बालकों को खेल के साथ कल्पना का अपूर्व और अनन्त आनन्द प्राप्त होता है। अतः इनके लिए बालकों को सुअवसर प्रदान करना ही चाहिए, यदि उन्हे स्वस्थ और सुखी देखना है। अस्तु शिक्षण से खेल का संयोग करने में दो मुख्य प्रश्न हैं—(१) परिवार तथा स्कूल में यह अवसर कैसे दिया जाय और (२) खेलों की शैक्षिक उपयोगिता कैसे बढ़ाई जाय।"

खेल द्वारा शिक्षण के सबसे बड़े समर्थक कैल्डवेल कुक (H Caldwell Cook) महोदय हैं। वे इस विधि के प्रशंसक हैं और उन्होंने 'खेल-विधि' (Play-way) नामक पुस्तक लिखी हैं। अतः इस संबंध्र में उनके विचारों से अवगत होना आवश्यक है। उनके विचारों का सारांश हम नीचे देते हैं।

—कैल्डवेल कुक के 'खेल द्वारा शिक्षण' के सिद्धांत—

बालकों की पढ़ाई का स्वाभाविक साधन 'खेल' है। यदि किसी बालक या छोटे पशु को अकेले छोड़ दिया जाय, तो खेल द्वारा शिक्षण की प्रवृत्ति हमें देखने को मिलेगी। 'खेल' का मूल्य इसलिए अधिक है कि, बालक जो कुछ सीखता है, उसका अभ्यास भी वह कर लेता है। मौखिक कथन द्वारा पढ़ाई निरर्थक है, या यदि इसका कुछ

1. Russell. B. : On Education. Chap. V Play and Fancy, p. 97.

मूल्य है, तो यह कि वह खेल द्वारा शिक्षा की पूरक है। दूध का जला बालक ही मट्ठा फूक-फूक कर पीता है। यदि उसे पहले जबानी किसी चीज़ को बताया जाय, तो उसकी समझ में कभी नहीं आयेगा। खेल से सच्चा अनुभव प्राप्त होता है, और खेल द्वारा प्राप्त ज्ञान स्थायी होता है।

खेल क्या है? खेल एक ऐसा नाटक है, जिसमें बालक वही पार्ट अदा करते हैं, जिसे उन्हें अपने वृहत् जीवन में निभाना है। प्रातःकाल जब बालक बिस्तर पर ही होता है, वह दिन भर के खेल की योजना बनाने लगता है। वस्तुओं से खेलने में, वह सच्चे जीवन का आनंद लेता है। इसे मनोवैज्ञानिकों ने 'मेक बिलीव' (Make-believe) भाव कहा है। बालक एक छड़ी को अपनी टाँगों के बीच डालकर घसीटता है। वह उस छड़ी को घोड़ा मान लेता है, और उसे छड़ी के सहारे वही आनंद प्राप्त होता है, जो एक वयस्क को घुड़सवारी में प्राप्त होता है। गुड़िया-गुड्डों के खेल, योजना बनाने के खेल, और राजा-रानी के खेल, बालक को कल्पित जीवन का आनंद दिलाते हैं।

जब बालकों के लिए 'खेल' ही, जीवन है, तो स्कूलों में खेल की उपेक्षा क्यों की जाती है। खेल को 'हँसी' 'तुच्छ' या 'बुरा' समझना बड़ी भूल है। खेल का एक पहलू गंभीर भी है। क्या खेल के अतिरिक्त और भी कोई ऐसा काम है जिसे बालक, इतने स्वाभाविक ढंग से, आजादी से, सच्चे मन से और अपने आप करते हों? खेल में, वे अपना उत्तरदायित्व जितनी ईमानदारी से निभाते हैं, उतना फ़ौज का सिपाही भी नहीं करता है। बात यह है कि जब बंधन होता है, तो मनुष्य का उत्साह मंद हो जाता है, वह पूरे दिल से काम नहीं करता। इसके विपरीत खेल एक ऐसी क्रिया है जिसे बालक बंधन के कारण नहीं करते; वे खेल केवल खेल के लिए

खेलते हैं। अतः बालक की तुलना, केवल कवि या कलाकार से की जा सकती है, वह खेल में अपनी सारी शक्तियों का खुलकर प्रयोग करता है। खेल से बालकों को विरत करना उल्टी गंगा बहाने का प्रयत्न करना है। वास्तव में खेलों का महत्व कम करने में अध्यापकों का हाथ है। वे बालकों की रुचियों और स्वभाव का ध्यान करके अपने ढंग और विचार उन पर लादने का प्रयत्न करते हैं।

खेल और कार्य को अलग-अलग समझना अनुचित है। खेल भी एक काम है, जिसके द्वारा बालक जीवन बिताने की कला सीखता है। जिस प्रकार जीवन में, मनुष्य को आचरण-संबंधी नियमों का पालन करना पड़ता है, उसी प्रकार खेल में भी आचरण और व्यवहार के लिये कुछ नियम निश्चित होते हैं। खेल में, न्याय, कर्तव्य-पालन, सच्चा प्रयत्न और सहयोग आदि गुणों की उसी तरह आवश्यकता पड़ती है, जिस तरह जीवन में। इसलिये खेल एक गंभीर कार्य है।

खेल द्वारा बालक को अपनी सहज प्रवृत्तियों और रुचियों का बोध होता है। ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य को एक न एक विलक्षण गुण प्रदान किया है। यदि मनुष्य उसे पहचान सके और उसे ही विकसित कर डाले, तो एक दिन वह महानता के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है। यह गुण मनुष्य की सहज चित्तवृत्ति से उत्पन्न होता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सहज चित्तवृत्तियों का उद्गम--'हृदय'--अधिक महत्वपूर्ण है। सच तो यह है कि मनुष्य 'हृदय' (Heart) के बल पर ही मनुष्य कहलाता है। यदि उसमें दया, करुणा, उल्लास और प्रेम आदि के भावों का अभाव हो जाय तो, वह मनुष्य ही न रह जाय। जीवन में 'विवेक' और 'विचार' को जो इतना ऊँचा स्थान दिया गया है, उसका कारण यह है कि, इसके द्वारा चित्तवृत्तियों का संयम होता है, परंतु हृदय

ही प्रेरक शक्ति (Motive force) है, विचार या विवेक नहीं। विवेक तो केवल संतुलन बनाये रखता है। हृदय के गुणों को समुन्नत बनाने में खेलों का बहुत बड़ा योग होता है। आनंद, हास्य, उल्लास, स्नेह तथा अन्य भावों का अनुभव खेलों द्वारा होता है। इसे सभी मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं।

जीवन में 'वर्तमान' का उचित महत्व स्वीकार करना चाहिए। (यहाँ कुक और डिवी के विचारों में समानता है) धर्मोपदेशकों ने और संयम प्रेमियों (Puritans) ने 'स्वर्ग', 'परलोक' आदि की कल्पना करके साधारण जनता को भुलावे में डाल दिया। सुखद भविष्य की आशा में वर्तमान का बलिदान करना, एक आदर्श बन गया। क्या यह उचित है? जो वर्तमान के सुख को खो देता है, वह सुखद भविष्य को पाएगा? ऐसे मनुष्य के लिये 'स्वर्ग' आकाश-कुसुम मात्र है। 'वर्तमान का सुख' यदि अनुभव करना हो तो खेल खेलें। खेल द्वारा बालकों का वर्तमान जीवन सुखमय वनता है। खेलों से सवसे वड़ा लाभ यह कि वालक जो कुछ वर्तमान में करते हैं, उसमें आनंद प्राप्त करना सीखते हैं। खेल, नीरस काम को भी रुचिकर और सुखमय बना देता है। अतः खेल द्वारा शिक्षण जरूरी है। खेल से शिक्षा प्राप्त करने में न केवल रुचि और आनंद का अनुभव होता है, वरन् बहुत से उपयोगी कार्य आसानी से हो जाते हैं।

स्कूलों में पुस्तकों की गुलामी क्यों प्रचलित है? पुस्तकों में जो कुछ ज्ञान भरा है, उसी को हम 'इति' समझ बैठे हैं। इससे हमारी हीनता प्रकट होती है। हम ऐसा अनुभव करते हैं, कि इससे आगे हम कुछ सोच ही नहीं सकते। कभी-कभी ऐसा भी होता कि कोई ऐसी पुस्तक हाथ में आ जाती है, जिसमें नवीन विचार होते हैं; उसे हम बहुत पसंद करते हैं, परंतु फिर भी **मौलिकता** का महत्व

हमारी समझ में नहीं आता। पुस्तकों के समुद्र में गोते लगाते रहना, मनुष्य का अभ्यास हो गया है। हम अन्यायपूर्वक बालकों पर पुस्तकें लादते जाते हैं। पुस्तकों का वास्तविक महत्व केवल इतना है कि उनके रचयिताओं में सृजनात्मक शक्ति थी। घटनाओं के लेखे (Record) के रूप में पुस्तक का कोई महत्व नहीं। पुस्तक मनुष्य की क्रिया को कुंठित करती है। इसके विपरीत मनुष्य की 'क्रिया' को खेल उत्तेजना प्रदान करते हैं। यह मानवीय क्रियायें ही 'जीवन' है। इन्हीं के सहारे जीवन बढ़ता और विकसित होता जा रहा है। इसलिये 'कर्मण्य शक्ति' (Power of action) को पुष्ट करना आवश्यक है। खेलों से यह शक्ति बढ़ती है।

पुस्तकों की पढ़ाई बालकों के स्वभाव के विपरीत है। बालक में अपूर्व शक्ति होती है, जिसके कारण वह चुपचाप बैठ नहीं सकता। स्वभाव से वह जिज्ञासु तथा उत्सुक होता है, हर एक बात के बारे में वह जानना चाहता है। ऐसी दशा में पुस्तकों की नीरस पढ़ाई में क्या आनंद उसे मिल सकता है। पुस्तकों पर बहुत ज्यादा जोर देना, पुस्तकों का दुरुपयोग करना है। यदि यह कहा जाय कि पुस्तकों में ज्ञान भरा पड़ा है, तो उसके जवाब में कहा जा सकता है कि बालक में स्वभाव से ही स्वर्गीय गुण होते हैं। यदि खेलों द्वारा उन्हें विकसित किया जाय, तो पुस्तकों की अपेक्षा कहीं ज्यादा लाभ बालकों को होगा।

राजनीति, धर्म, साहित्य और दर्शन में जो भारी क्रांति हो रही है, उसका असर शिक्षा पर पड़े बिना नहीं रह सकता। प्रत्येक क्षेत्र में पुरानी व्यवस्था बदल रही है, और उसकी जगह नयी व्यवस्था स्थापित हो रही है। ऐसी दशा में शिक्षा के क्षेत्र में नई व्यवस्था का उत्पन्न होना अवश्यंभावी है। शिक्षा में पहले 'विचार' पर बड़ा जोर दिया जाता था। क्या भारतीय और क्या पाश्चात्य,

सभी जगह कहा गया है—"विचारान्मोक्षो भवति तस्मात् सदा विचारयेत्।" विचार से मनुष्य को मुक्ति मिलती है। अब इस विचार धारा में आमूल परिवर्तन हो रहा है। विचार की अपेक्षा अब 'क्रिया' (Acting) पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा है। क्रिया द्वारा मनुष्य की मानसिक शक्तियों में एकत्व स्थापित होता है। सारी शक्तियाँ अपना-अपना काम करने में समर्थ होती हैं। क्रिया के बिना विचार का कोई मूल्य नहीं। पुरानी कहावत—"बिना सोचे कुछ मत करो" को सुधार कर यों कहना चाहिए "बिना कुछ किये सोचना-विचारना व्यर्थ है।" क्रिया और खेल में बड़ा संबंध है। आदि से अंत तक खेल 'क्रिया' के सिवा और कुछ नहीं है। शिक्षण में आज 'क्रिया' का महत्व बढ़ता ही जा रहा है और उसी के साथ खेलों को स्कूलों में सम्मानपूर्ण स्थान मिल रहा है।

खेल में विचारों और सिद्धांतों का व्यवहार होता है, इसलिये खेल कोरे आदर्श से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। उदाहरण के लिए धर्म को लीजिये। धर्म बहस-मुबाहसे की चीज नहीं है। धर्म का मूल तत्व भावना (Spirit of Emotion) है। जहाँ तक-वितर्क है, वहाँ धर्म नष्ट हो जाता है। जहाँ धर्माचरण है, वहीं सच्चा धर्म है। खेल के भीतर धर्म का यही भाव देखने को मिलता है। खेलते समय बालकों में, एक धार्मिक जोश दिखाई देता है। बालकों में वही श्रद्धा, वही विश्वास और वही अटूट लगन दिखाई देती है, जो धर्मोपदेशक में। इसलिये खेल उतना ही पवित्र है, जितना धर्म।

कैल्डवेल द्वारा कथित, 'खेल द्वारा शिक्षण-विधि के' साधारण सूत्र (**Maxims**)

(१) पाठन-विधि उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी पाठ्य-

सामग्री—कोई भी स्थान न तो स्वर्ग है और न नर्क। कविवर मिल्टन (Milton)ने ठीक ही कहा है कि 'स्वर्ग' और 'नर्क' की रचना मन करता है। वही स्थान एक विशेष मनोदशा में स्वर्ग, और किसी दूसरी मनोदशा में नर्क जान पड़ता है। स्कूल को स्वर्ग बनाने के लिये, बालकों कीं मनोदशा में परिवर्तन करना आवश्यक है। यह परिवर्तन पढ़ाई के ढंग द्वारा लाया जा सकता है। पाठन-विधि से पाठ्य-सामग्री रोचक बनाई जा सकती है। इसके लिये शिक्षण में खेलों का प्रयोग करना उचित है। खेद की बात है कि शिक्षक, शिक्षण-विधि की ओर ध्यान नहीं देता। उसका कर्तव्य है कि कक्षा में, वह बालकों का हर समय ध्यान रक्खे। उसे सबसे पहली बात यह याद रखना चाहिए कि बालकों के लिए पाठ्य-सामग्री का उतना ही महत्व है जितना पाठ्य-विधि का। उदाहरण के लिए 'सुमन' पर लिखी हुई कविता यदि अध्यापक शब्दार्थ बताते हुए कक्षा में पढ़ाये तो बालकों को रुचिकर न प्रतीत होगा, परन्तु यदि बालकों को पहले फूल चुनने के लिए कहा जाय, फिर उनसे मालाएँ तैयार कराई जायँ, जिन्हें देवता पर चढ़ाया जाय आदि। फिर 'सुमन' की कविता पढ़कर सुनाई जाय, बालकों को सब-कुछ तुरंत याद हो जायगा। केवल विधि में अंतर हो जाने से परिणाम में बहुत बड़ा अंतर हो जाता है। इसी तरह गणित का एक विषय भी खेल द्वारा सरस बनाया जा सकता है।

(२) **कक्षा में जितना कुछ बालकों की पढ़ाई के लिये किया जा सकता है मौखिक शिक्षण उसका केवल एक तुच्छ अंशमात्र है**— खेद की बात है कि मौखिक शिक्षण के अलावा अध्यापक और कोई विधि जानते ही नहीं। मौखिक शिक्षण, तो ओस चाटने के समान हैं। ओस चाटने से बालकों की प्यास नहीं जा सकती। शिक्षक को यह विश्वास करना पड़ेगा कि मौखिक शिक्षण से भी उत्तम पढ़ाने

की विधियाँ हैं और खेल द्वारा शिक्षण उनमें से एक है। पुस्तकों की पढ़ाई के अतिरिक्त, खेलों का स्कूलों में आयोजन आवश्यक है। अच्छा होगा यदि बालकों को एक खाली घंटा मिला करे और एक कुशल अध्यापक खेलों द्वारा पढ़ाने का प्रबन्ध करे। बालक को इस बात का अभ्यास हो जाय कि वे खेलों द्वारा सीखने लगें।

(३) **स्वायत्तशासन** (Self-government) **केवल अनुशासन नहीं है, वरन् यह एक ऐसी परिस्थिति है, जिसमें बालक अपने आप बहुत कुछ व्यावहारिक ढंग से स्कूल के पाठ सीख सकते हैं**—अनुभव बताता है कि यदि बालकों को एक बार कोई काम करना बता दिया जाय, तो वे अध्यापक के न रहने पर भी, उस प्रकार के दूसरे काम स्वयं कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि वे एक वार कोई नाटक खेल चुके हैं, तो दूसरे नाटकों के अभिनय में कोई कठिनाई न पड़ेगी। जिस प्रकार स्कूलों में 'परिषद्' बालकों द्वारा चलाई जा सकती हैं, उसी तरह वे व्याख्यान द्वारा पढ़ाई का भी अपने आप आयोजन कर सकते हैं। इस प्रकार के शिक्षण की हँसी, अध्यापक प्रायः उड़ाते हैं परन्तु उन्हें याद रखना चाहिए कि खेलों द्वारा शिक्षण से अधिक सफलता मिलती है, और उसका कारण है, इस विधि की स्वाभाविकता। खेल एक प्रकार की स्वशिक्षा (Self-Education) है। खेल-विधि को स्कूल में चालू करना कठिन भी नहीं है, इसके लिए केवल अध्यापक की रुचि होनी चाहिए।

(४) **यदि बालकों को खेल-विधि द्वारा पढ़ाना हो, तो पहले अध्यापक को खेल से सच्चा प्रेम करना उचित है**——यदि अध्यापक खेल का बिरोधी है और खेल को समय नष्ट करने का साधन मानता है, तो खेल-विधि से पढ़ाने में उसे आनंद न आयेगा और वह पढ़ाने में कभी सफल न होगा। एक कक्षा के सब बालकों में कुछ समान गुण अवश्य होते हैं, परन्तु सभी बातों में, दो बालक भी

समान नहीं हो सकते । इसलिये अध्यापक को बालकों की व्यक्तिगत भिन्नता का ध्यान रखना चाहिये । साथ ही बालकों के समुदाय को एक संगठित समाज का रूप देना भी जरूरी है । यह सब खेलों द्वारा अध्यापक उत्पन्न कर सकता है, जैसे समूह-गान, या समूह-नृत्य में सब बालकों को अपना-अपना काम करते हुये भी, एक दूसरे से सहयोग करना पड़ता है । यह स्थिति पैदा करना, अध्यापक का काम है । उसे बालकों के साथ, एकाकार होकर काम करना पड़ेगा, अन्यथा, वह सफल नहीं हो सकता । यह तभी हो सकता है, जब अध्यापक को खेल उतना ही पसंद हो, जितना बालकों को होता है । अगर ऐसा नहीं है, तो दूर तटस्थ भाव से खड़ा हुआ अध्यापक, खेल के आनन्द को नष्ट कर देगा । यही नहीं, इसका परिणाम और भी बुरा हो सकता है, बालक खेल और अध्यापक दोनों से घृणा करने लगेंगे । इसलिये अध्यापक को सच्चा खिलाड़ी होना चाहिये । खेल-विधि बालकों के लिये उपयुक्त है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं । परन्तु इस बात में अवश्य संदेह है कि सभी अध्यापक इस विधि से पढ़ा सकते हैं । खेल-बिधि से पढ़ाना हर एक अध्यापक के लिये संभव नहीं है । जो अध्यापक खिलाड़ी नहीं रहा है, उसमें कुछ ऐसी आदतें पैदा हो जाती हैं, जिन्हें किसी प्रकार की ट्रेनिग दूर नहीं कर सकती ।

(५) **अध्यापक का सबसे बड़ा गुण है नीतिकुशलता**—— सभी बालकों को वश में रखने के लिए, अध्यापक को नीतिकुशल होना चाहिए । कक्षा में अनेक प्रकार के बालक होते हैं, उद्धत, दब्बू, निर्बल, सबल, सीधे और शरारती, सभी से काम लेना है । इसके लिए अध्यापक को बाल-स्वभाव का पारखी होना चाहिये, ताकि जिस बालक का जैसा स्वभाव हो, वैसा ही उसके साथ व्यवहार वह कर सके ।

(६) **शिक्षण-विधि का आधार है—बालक की रुचि का**

ध्यान——बालक स्वभाव से सहनशील होता है, वह कठिनाइयों को झेल भी सकता है, केवल शर्त यह है कि जो काम उससे कराया जाय, उसकी रुचि के अनकूल हो । चूँकि पाठ्य-विषय, जबरदस्ती उसके ऊपर लाद दिये जाते हैं, वह कष्ट नहीं उठाता । बहुत से अध्यापक यही भूल करते हैं कि वे बालक की अपेक्षा 'विषय' का अधिक ध्यान रखते हैं। अगर बालकों की रुचि को प्रमुखता दी जाय, तो बालक खुशी-खुशी सब प्रकार से परिश्रम करने के लिये तैयार हो जाँय । खेल में बालकों को रुचि होती है, इसी से वे कितना परिश्रम करते हैं। यहाँ रुचि का अर्थ 'मनोरंजन' न समझ लेना चाहिये । पढ़ाई में जिन खेलों का प्रयोग होता है, उनका उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं है । रुचि 'मनोरंजन' से कहीं ज्यादा व्यापक शब्द है। किसी ऐसे काम में रुचि हो सकती है जिसमें कष्ट ही कष्ट हो ।

(७) **स्वाभाविक शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत अनुशासन का कोई निश्चित आदर्श नहीं होता। मौके (Occasion) के अनुसार अनुशासन और आचरण का आदर्श बदलता रहता है**——कक्षा में जिस प्रकार बालक चुपचाप बँधे बैठे रहते हैं, यही सच्चा अनुशासन हो, ऐसी बात नहीं । किसी दशा में, चुपचाप एकाग्र भाव से बैठे रहना 'अनुशासन' कहला सकता है परंतु किसी दूसरी दशा में, यही बंधन कहलायेगा । खेल में 'चुप रहना' अनुशासन नहीं है । जो लोग पुराने ढंग के अनुशासन के पक्षपाती हैं, वे खेल-विधि को पसंद नहीं कर सकते । बालकों का सच्चा अनुशासन स्वतंत्रता से उत्पन्न होता है। उन्हें अपने आप काम करने की, जहाँ वे जाना चाहें, जाने की, और प्रश्न करने की पूरी छूट होनी चाहिए। खेलों द्वारा सच्चा अनुशासन उत्पन्न होता है। खेलों में कहीं अधिक नियम-पालन, आज्ञा-पालन, संयम और त्याग करना पड़ता है । बालक-

समुदाय की प्रशंसा या आलोचना द्वारा बालक की समझ में अनुशासन का मर्म, कहीं अधिक समझ में आ जाता है। वह समझने लगता है कि अनुशासन द्वारा काम में सुविधा होती है। खेल में यदि अनुशासन न हो, तो खेल का सारा आनन्द ही नष्ट हो जाय। यह भाव, बालक के निजी अनुभव से उत्पन्न होता है। इसलिये वह अनुशासन का महत्व ठीक तरह से समझ लेता है।

खेल द्वारा शिक्षण में अध्यापक का भाग——शिक्षक के विषय में हम उपर्युक्त सूत्रों के प्रसंग में लिख चुके हैं। अध्यापक में मुख्य गुण 'सखाभाव' (Friendliness) होना चाहिए। वह बालकों से मित्रवत् व्यवहार करे, तभी उसे खेल द्वारा शिक्षण में सफलता मिलेगी। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार के व्यवहार से अध्यापक का आदर-सम्मान समाप्त हो जायगा, तो ऐसा कथन भ्रमात्मक है। यदि अध्यापक मित्रवत्, बालकों की रुचियों का ध्यान रक्खे, तो बालक उसका सच्चा सम्मान करेंगे। अध्यापक का दूसरा काम है, बालकों की व्यक्तिगत समस्याओं में रुचि लेना। यदि ऐसा हो सके तो अध्यापक और बालकों के बीच आत्मीयता होने में कोई संदेह न रहेगा। इस आत्मीयता को उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि दोनों उच्छृंखलतापूर्वक बातचीत करें, या हँसी-मजाक करें। आत्मीयता का केवल तात्पर्य है कि बालकों और अध्यापक के बीच में संकोच का भाव दूर हो जाय। बालक अपने अध्यापक के निकट पहुँचने में कठिनाई का अनुभव न करें। अध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों को प्रश्न करने का मौका दे, चाहे प्रश्न कितने ही मूर्खतापूर्ण क्यों न हों। उनकी हँसी उड़ाना या चिढ़ाना अनुचित है। ऐसा मैत्रीपूर्ण और स्नेहयुक्त वातावरण उत्पन्न करने के लिए, अध्यापक को खिलाड़ी होना चाहिए। खेलों में भाग लेते समय जितना निकट सम्पर्क विद्यार्थियों से होता है, उतना कक्षा में

पढ़ाते समय हो ही नहीं सकता। अध्यापक न तो विद्यार्थियों को फुसलायें; न खुशामद करें और न उनके ऊपर कोई बात जबरदस्ती लादे। यदि अध्यापक बालक का सर्वत्र ध्यान रक्खे, तो कोई समस्या ही न उत्पन्न हो।

अब अध्यापक के कार्यों की बात लीजिये। खेल द्वारा शिक्षण में उसे अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। कक्षा-शिक्षण में अध्यापक को अधिक से अधिक एक-दो घण्टे पाठ की तैयारी में खर्च करने पड़ते हैं। कक्षा में आकर वह एक व्याख्यान दे देता है, बस छुट्टी। खेल द्वारा शिक्षण में अध्यापक को चौबासों घंटे व्यस्त रहना पड़ता है क्योंकि खेल जैसे मनोरंजन-प्रधान माध्यम द्वारा एक गंभीर कार्य करना पड़ता है। यदि अध्यापक तनिक भी चूक जाय, तो पढ़ाई का कार्य रुक जाय। पढ़ाई के लिये, खेलों की योजना बहुत पहले से तैयार करनी पड़ती है। प्रत्येक बालक के स्वभाव का अध्ययन करना पड़ता है। सब प्रकार की सामग्री इकट्ठी करनी पड़ती है। इन सब बातों से खेल-विधि से पढ़ाने वाले अध्यापक के घोर परिश्रम का पता चलता है।

खेलों की मनोवैज्ञानिकता—मनोवैज्ञानिकों ने नाना प्रकार से खेलों का महत्व सिद्ध करने की चेष्टा की है। मनोविश्लेषकों (Psycho-analysts) ने यह बताया है कि बालक खेलों द्वारा अपनी कामवृत्ति सन्तुष्ट करते हैं। डा० केमरन[1] के मत में बालकों की सहजवृत्ति यह है कि वे वयस्कजनों की भाँति शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं और खेलते समय वे इसी प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। हर छोटा बच्चा खेल में यही इच्छा प्रकट करता है कि वह वयोवृद्ध जनों की भाँति क्षमताशाली और कार्यकुशल बन जाय। इसका

1. Cameron, Dr. H. C.: The Nervous child p. 32.

परिणाम यह होता है कि वे हर बात सीखने की कोशिश करते हैं और शक्तिशाली व्यक्तियों का अनुकरण करने में उन्हें अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। बर्टेन्ड रसेल[1] भी इसी विचार के समर्थक हैं क्योंकि इन गुणों के कारण ही खेल, शिक्षा का साधन बनाए जा सकते हैं। इनके मत में खेल बालकों के मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त उपयोगी साबित होते हैं। बच्चा बड़ा ही निर्बल प्राणी है और वह अपने वातावरण में अपनी हीनता अनुभव करता है। खेलों में शक्ति का अनुभव करते हुए (जैसे राजा, या शक्तिशाली डाकू आदि का अभिनय करके) उसे इस हीनता के भाव से मुक्ति मिलती है।

शिक्षण में प्रयुक्त होने वाले खेलों का विवरण

(१) **स्वायत्तशासन** (Self-Government)—किसी भी स्कूल में खेल द्वारा पढ़ाई का प्रारंभ स्वायत्तशासन की स्थापना से होता है। स्कूल के कार्यों और अनुशासन का प्रबंध बालकों के हाथों में सौंप दिया जाता है। इसका उद्देश्य यह है कि बालकों में स्वशिक्षण की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाय। खेल द्वारा शिक्षण में, अध्यापक की अपेक्षा विद्यार्थी की जिम्मेदारी ज्यादा रहती है। इस जिम्मेदारी को निभाने का अभ्यास स्वायत्त शासन द्वारा कराया जाता है। अपने आप सीखने की आदत, स्वायत्त शासन द्वारा उत्पन्न होती हैं।

इस स्वायत्तशासन का जन्म, शिक्षा के क्षेत्र में चलने वाले सुधारवाद से हुआ। प्रायः सभी शिक्षा शास्त्री इस बारे में एकमत हैं कि बालकों को पूर्ण स्वतंत्रता का अनुभव कराना चाहिए। प्रजातांत्रिक व्यवस्था का यह प्रतिरूप—स्वयत्तशासन—स्कूलों में बालकों के आगे प्रस्तुत किया जाता है। प्रत्येक कक्षा के

1. Russell. B. : On Education, p. 98-99.

बालक अपने प्रतिनिधि चुनते हैं, और एक परिषद् बनाते हैं। यह परिषद् बालकों के सभी प्रकार के कार्यों का आयोजन करती है। यह एक ऐसा उपाय है जिसके द्वारा बालकों को हर एक काम अपने आप करने का अभ्यास कराया जाता है। यहां तक कि बालक अपने आप पढ़ाई का प्रबंध करने लगते हैं। यहाँ 'स्वायत्तशासन' शब्द का प्रयोग विस्तृत रूप से किया जा रहा है। इसका अर्थहै, प्रत्येक कार्य को चलाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना। जैसे स्कूल में, बहुत से पाठ बालक मिलकर आपस में पढ़ लेते हैं, अनुशासन के लिए नियम बनाते हैं और खेल आदि का प्रबंध करते हैं। अनुभव वताता है कि प्रारंभ में ऐसी व्यवस्था लाने में कठिनाइयाँ आती हैं परन्तु धैर्य के साथ यदि प्रयत्न करता जाय, तो स्वायत्त शासन की व्यवस्था स्थापित की जा सकती है। प्रारंभिक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने पर ही, शुभ परिणामों की आशा की जा सकती है। स्वायत्तशासन एक प्रकार का गंभीर खेल है, यह ऊपर के वर्णन से प्रकट हो जायेगा।

स्वायत्तशासन का अभ्यास वालकों की पढ़ाई के लिये हितकर है। इससे बालकों को प्रेरणा मिलती है। जो वालक अपना उत्तरदायित्व निभा सकते हैं, उन्हे सफलता मिलती है, इससे उनके मन में उत्साह ओर स्वाभिमान उत्पन्न होता है। यह सब प्रेरक 'शक्तियाँ' हैं, जिनसे स्फूर्ति प्राप्त होती है। कक्षा में जिस समय अध्यापक पढ़ाता है, वालक उसे धोखा दे सकता है, परन्तु खेल में इस तरह धोखा देना संभव नहीं है, क्यौंकि यदि वह पूरा प्रयत्न न करे, तो खेल ही रुक जाय। इसी तरह खेल द्वारा बालक को अनुभव हो जाता है कि यदि वह पढ़ने में स्वयं प्रयंत्न नहीं करता, तो उसे ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता।

(२) **बच्चों के व्याख्यान**—कक्षा में प्रत्येक बालक को, कुछ

मिनट तक बोलने के लिये कहा जाता है । प्रत्येक बालक अपनी पसंद के विषय पर भाषण देता है । यह भाषण पहले से तैयार किया हुआ, या बिना तैयार किया हुआ, हो सकता है । कक्षा का एक विद्यार्थी सभापति का आसन ग्रहण करता है और वह जिस बालक का नाम पुकारता है, वह बोलने कें लिये आता है । एक विद्यार्थी पूछ-ताँछ करता रहता है कि कौन बालक किस विषय पर भाषण देने के लिये तैयार है । एक विद्याथी निर्णायक का काम करता है । सर्वश्रेष्ठ भाषण का अंतिम निर्णय, कक्षा में हाथ उठाकर मतदान द्वारा प्रकट किया जाता है ।

इन व्याख्यानों द्वारा निबंध-लेखन में बड़ी सहायता मिल सकती है। बालकों को अपने विचार प्रकट करने, तर्क करने और शुद्ध उच्चारण चरने का अभ्यास हो जाता है । बालकों की आलोचनात्मक शक्ति भी विकसित होती है क्योंकि उन्हे 'अच्छा' या 'बुरा' व्याख्यान कहकर निर्णय देना पड़ता है । व्याख्यानों को तैयार करने में बालकों को स्वत: अध्ययन करना पड़ता है । पुस्तकालय में जाकर वे, अपने विषथ तैयार करने के लिये, दस-पांच पुस्तकें पढ़ते हैं और सामग्री इकट्ठा करते हैं ।

भूल सुधार के लिये, एक छात्र बैठा रहता है । व्याख्यान के समय, शब्द-प्रयोग की भूल या अशुद्ध उच्चारण का अवसर आते ही, वह एक हथौड़े से मेज पर चोट लगाता है । उसकी आवाज़ से वक्ता चौकन्ना हो जाता है और भूल सुधार देता है । कभी-कभी, अगर यह छात्र होने वाली भूल नहीं पकड़ पाता, तो कक्षा का दूसरा विद्यार्थी वक्ता को टोक देता है और इस विद्यार्थी को हथौड़ा पकड़ा दिया जाता है । भूल सुधार की यह विधि बड़ी कारगर साबित हुई है । कुछ लोग इस विधि का विरोध यों करते हैं कि, इससे व्याख्यान के प्रवाह में बाधा उत्पन्न होती है। साथ ही भूल

सुधार का काम केवल बालकों के द्वारा ठीक से नहीं हो सकता। बहुत सी ऐसी भूलें हैं, जिन्हें बालक नहीं पकड़ सकते। ऐसी स्थिति में अध्यापक भूल की ओर इशारा कर सकता है या व्याख्यान के अंत में उस भूल के बारे में कक्षा को समझा सकता है।

व्याख्यान के विरोधियों का कहना है कि, जितना लिखने से भाषा पर अधिकार हो जाता है, उतना बोलने से नहीं। दूसरे, व्याख्यानों द्वारा केवल कुछ बालकों का लाभ होता है। दब्बू और शर्मीले स्वभाव के बालक बोलते ही नहीं। वास्तव में यह दोष ऐसे नहीं हैं, जिन्हें दूर न किया जा सकता हो। बारी-बारी से बालकों को भाषण देने के लिए कहना उचित नहीं। क्योंकि संभव है, जिस बालक की बारी हो, वह तैयार न हो और जिसकी बारी न हो, वह बोलने के लिए तैयार हो। ऐसी स्थिति में जो बोलने के लिए उत्सुक हो, उसी बालक को मौका देना उचित है। हाँ, जो बालक लगातार कई सप्ताह तक न बोले, उनकी सूची तैयार करके कक्षा के सामने रखना आवश्यक है।

व्याख्यानों का लिखित विवरण रखना जरूरी है। इसके लिए शीघ्र-अंकन लिपि (Shorthand) का प्रयोग वांछनीय है। व्याख्यानों को लिखकर रखने में लाभ यह है कि बालक अपनी भूलों को और अच्छी तरह समझ सकते हैं।

(३) **कल्पना प्रधान साहस की कहानियाँ**—यह बात प्रायः सभी जानते हैं कि बचपन में बालकों की कल्पनाशक्ति अत्यधिक तीव्र होती है। कक्षा में बैठे हुए वे दिवास्वप्न (Day-dreams) देखा करते हैं। रात में वे अपनी बूढ़ी दादी या नानी को कहानियाँ सुनाने के लिए तंग किया करते हैं। कागज पर पेंसिल से जंगल, पहाड़ और नदियों के चित्र खींचने में उन्हें अपूर्व आनंद का अनु-

भव होता है। बालकों में कल्पनात्मक कहानियों के पात्रों के साथ अपने को लय कर देने (Identify) की विचित्र शक्ति होती है। पढ़ाई में इस मनोवैज्ञानिक तत्व से लाभ उठाना चाहिए। प्रत्येक बालक अपने लिए नोट बुक रखता है और उसमें वह उन कहानियों को सरल और स्पष्ट भाषा में लिख लेता है, जो उसे बहुत पसंद आती हैं। सप्ताह में एक दिन कक्षा के सब बालक एकत्र होते हैं और किसी कमरे में या बाग में बैठकर एक दूसरे से कहानियाँ सुनते हैं। पढ़ते समय भाषा और व्याकरण की भूलों पर वे निशान लगा देते हैं, जो बाद में ठीक जा सकती हैं।

(४) **नकली नगर**—नकली नगर का उद्देश्य लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त दूसरी बातों का अनुभव कराना है। स्कूल के आस-पास बेकार पड़ी हुई जमीन का उपयोग इसके लिए किया जा सकता है। ऐसे स्थान पर ग्रामीण वातावरण तैयार कर दिया जाता है। मिट्टी, कंकड़, पत्थर लाकर पहाड़ की शक्ल तैयार कर दी जाती है। नल का फालतू पानी नदी की शक्ल में इस स्थान में लाया जाता है। पानी को अपने स्थान पर रखने के लिए सीमेंट का प्रयोग किया जा सकता है। पतली सड़कें बना दी जाती हैं और खिलौनेवाली रेलगाड़ी का प्रबंध कर दिया जाता है। छोटे-छोटे स्टेशन, प्लेटफार्म, पुल आदि भी बना दिये जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अध्यापक और बालकगण मिलकर नकली नगर की रचना करते हैं। इस नगर-निर्माण के कार्य में हर एक बालक भाग ले सकता है।

नकली नगर का बसाना, एक प्रकार का गंभीर खेल है। इसमें बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति संतुष्ट होती है। साथ ही उसे नदी, जंगल, पहाड़, नगर, सड़क, रेल, यातायात, भवन तथा अन्य वस्तुओं का ज्ञान खेल में, अनायास प्राप्त हो जाता है। इस नकली नगर में बाजार, दूकानें,

डाकखाने तथा अन्य व्यापार के काम चलाए जाते हैं। इसका प्रत्यक्ष अनुभव वालकों को हो जाता है। नागरिकता का व्यावहारिक रूप यहाँ देखने को मिलता है। नकली नगर में जुटे हुए बालकों को देखकर बड़ा हर्ष होता है। चारों ओर उत्साह और स्फूर्ति नजर आती है। बालकों को इतना आनन्द आता है, कि वे भोजन करना और चाय पीना तक भूल जाते हैं। नकली नगर के खेल को अधिक आकर्षक वनाने के लिये अन्य योजनाएँ भी बनाई जा सकती हैं, जैसे बाढ़ से बचाने के लिये बाँध का प्रबन्ध, तैरने के लिये झील बनवाना, शत्रुओं से रक्षा के लिये दुर्ग और परकोटा बनवाना आदि।

नकली नगर का खेल, एक गंभीर शिक्षा का साधन है जिसके लिए अध्यापक को परिश्रम करना पड़ता है। इसमें कक्षा-शिक्षण की अपेक्षा अधिक जागरुक रहने की आवश्यकता है। कम से कम, इस खेल में अध्यापक का उत्तरदायित्व बहुत ही ज्यादा है।

(५) **नाटकों का अभिनय**—बालकों को सबसे अधिक आनंद नाटकों के अभिनय में आता है। कारण यह है कि इसके द्वारा वे यथार्थ जीवन का अधिक अनुभव कर सकते हैं। राम-लक्ष्मण या किसी भी आदर्श पात्र का अभिनय करता हुआ बालक अपने व्यक्तित्व को अपने प्रिय पात्र के व्यक्तित्व में तिरोहित कर देता है। इस दशा में उसे अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, उसे प्रेरणा मिलती है। उसकी अनुभूति-शक्ति बढ़ती है। पढ़ने से केवल बात बुद्धिगम्य होती है; परन्तु अभिनय द्वारा वह भावगम्य हो सकती है। इसलिए यदि हर बात को नाट्यशैली द्वारा पढ़ाया जाय तो पाठन-विधि अधिक प्रभावशाली जान पड़ेगी। 'नगर' और 'ग्राम', 'कोयला' और 'हीरा', 'मेघ' और 'समुद्र' जैसे विषय नाटकीय ढंग से पढ़ाये जा सकते हैं। कक्षा के सामने जिस समय एक विद्यार्थी 'नगर' और दूसरा 'ग्राम' के रूप में, खड़ा होकर वार्तालाप प्रारंभ

करता है, तो ऐसा रूखा विषय भी इतना सरस हो जाता है, कि सभी बालक उत्सुकतापूर्वक, दोनों का संवाद सुनने लगते हैं। आज लोग भूल से नाटकों को केवल मनोरंजन के लिये देखते हैं। प्राचीन काल में नाटकों का प्रयोग शिक्षा के लिये होता था। उपदेश की अपेक्षा नाटक, शिक्षा का अधिक प्रभावोत्पादक ढंग माना जाता था।

अभिनय को सफल बनाने के लिये नियोजन और निर्देशन की आवश्यकता है। यह आवश्यक नहीं कि अध्यापक इसके लिये ट्रेनिंग ले। नाटक की पुस्तक पढ़ कर ही अभिनय की कला के बारे में बहुत कुछ जाना जा सकता है। एक बार, दो बार शभिनय करने के बाद 'रंगमंच' संबंधौ कठिनाइयों का ज्ञान प्राप्त हो जाता जाता है। अब नाटक की बात लीजिये। बालकों के लिए शुद्ध साहित्यिक नाटक पहले नहीं चुनने चाहिए। छोटे बालकों के लिए अनेक नाटक लिखे हुए मिल सकते हैं। हिंदी में बाल-नाटकों की कमी है। अध्यापक उनमें से कुछ अच्छे नाटक चुन ले और कक्षा में पढ़ने के लिये बालकों को बाँट दे। कौन नाटक पहले खेला जाय, यह निश्चय करने का भार विद्यार्थियों पर ही डाल देना उचित है। अभिनय से पहले यह निश्चित करने का भार बालकों पर डाल देने से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

(१) आदि से अंत तक नाटक पढ़कर बालकों को कहानी का आनन्द प्राप्त होता है।

(२) अध्यापक या किसी आलोचक की राय से प्रभावित हुये बिना, वे नाटक के बारे में अपनी निज़ी राय बनाते हैं।

(३) उन्हें अपने आप अध्ययन करने की आदत पड़ती है।

(४) बिना किसी बाधा के, आपस में मिलकर एक उद्देश्य के लिये प्रयत्न करने का उन्हें अभ्यास होता है।

(५) उन्हें अपने आप यह ज्ञात हो जाता है **सीखने में भी आनंद** मिल सकता है।

(६) वे यह भी समझ जाते हैं कि मनोरंजन के अतिरिक्त, नाटक का एक और भी गंभीर उद्देश्य है—वह है शिक्षण । भावी जीवन में उन्हें इससे लाभ होगा ।

अभिनय-विधि से अच्छी तरह लाभ उठाने के लिए आवश्यक है कि नाटक कई बार खेला जाय। नाटक के अंत में, यह स्वाभाविक है कि बालक, आपस में विचार-विमर्श करें । इस दशा में सच्ची पढ़ाई होती है। यदि नाटक ऐतिहासिक है, तो इतिहास के संबंध में बहुत-कुछ बताया जा सकता है । तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक समस्याओं के संबंध में, बालकों को अच्छी जानकारी हो जाती है। 'संगीत' और 'नृत्य' आदि कलात्मक विषय नाटक में आ ही जाते हैं। 'भाषा' का विषय तो मुख्य होगा। शब्दों, मुहावरों और वाक्य-रचना आदि का ज्ञान कराया जा सकता है ।

(६) **आँगिक चेष्टाओं और मुखमुद्राओं का खेल** (Miming)—यदि मनुष्य मुख से कुछ न बोले, तो भी अपने अंगों की सहायता से अपने हृदय के भावों को व्यक्त कर सकता है । हाथ-पैरों के संचालन, आँखों की गति तथा मुख की रेखाओं से वही काम लिये जाते हैं जो शब्दों से। अतः बालकों को इनके प्रयोग में बड़ा आनंद आता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु का बोध कराने के लिये कुछ संकेत (Signs) निश्चित कर लिये जाते हैं, उन संकेतों की सहायता से बिना बोले हुये दो आदमी बांतचीत कर सकते हैं । 'स्काउटिंग' में ऐसा प्रयोग होता भी है । मूक अभिनय (Dumb show) में इसके द्वारा सारे भाव व्यक्त किये जाते हैं। कुछ उदाहरणों से यह विषय स्पष्ट हो जायेगा। सर के हिलाने से 'अनुमति' या 'असहमति' प्रकट

करते हैं। मुख की भावभंगिमा से 'प्रश्न' व्यक्त करते हैं, ओंठ दबाकर या दाँत पीस कर क्रोध प्रकट करते हैं। भावों के अतिरिक्त वस्तुओं का बोध भी बंधे हुये संकेतों द्वारा कराया जाता है। जैसे 'राजा' का बोध सर पर हाथ घुमाने से होता है, उँगली से हवा में वृत्त खींचने से 'दिन' का, पैर से जमीन छूने से 'यहाँ' का, सर पर हाथ रखने से 'पुरुष' का, कमर पर हाथ रखने से 'स्त्री' का बोध होता है। अपनी सुविधा के अनुसार यह संकेत निश्चित किये जा सकते हैं।

इन संकेतों का अच्छी तरह अभ्यास हो जाने के बाद, अभिनय किया जा सकता है और कहानियाँ कही जा सकती हैं। इन खेलों में बालकों को अपूर्व आनंद आता है। 'संकेतों' और 'मुद्राओं में जरा भी भूल होने से अस्पष्टता आ जाती है। इसलिए दूसरे बालक तुरंत ही भूल पकड़ लेते हैं। इससे बालकों में आलोचनात्मक शक्ति उत्पन्न होती है। बालकों को यह खेल इतना पसन्द आता है कि वे स्वयं बिना किसी सहायता के इसे खेलने लगते हैं। आँगिक चेष्टाओं के खेल में अध्यापक की सहायता की आवश्यकता है। उसे कहानियों का चुनाव करना चाहिये, जो संकेतों द्वारा सरलता से कही जा सकती हैं।

(७) **पद्योबद्ध कहानियों के खेल**—पद्योबद्ध कहानियों का उपयोग भी, मूक अभिनय द्वारा किया जा सकता है। इस कार्य में प्रयुक्त की जाने वाली, कहानी बालकों को अच्छी तरह मालूम होनी चाहिए। इसलिये अच्छा तो यह है कि बहुत प्रसिद्ध कहानियाँ इसके लिए चुनी जायँ। इसके बाद एक बालक चुनी हुई पद्योबद्ध कहानी को कक्षा में उच्च स्वर से सुनाये। कई बालकों द्वारा दुहराये जाने से, बालक उससे और भी अच्छी तरह परिचित हो जाते हैं। इस बीच में यदि कोई बालक कुछ पूछना चाहे, तो उसे पूछने की अनुमति अवश्य देना चाहिये। कभी कभी एक कहानी, कई कवियों

द्वारा अपनी-अपनी शैली से लिखी जाती हैं । ऐसी दशा में तुलना के लिए कई शैलियों का परिचय बालकों को देना उचित है । अधिक रोचकता उत्पन्न करने के लिए, कहानी को कई टुकड़ों में बाँट देना चाहिये ताकि कई छात्रों को पढ़ने का अवसर मिले । कविता के एक-आध अंश ऐसे भी हो सकते हैं, जिन्हें कई बालक मिलकर पढ़ सकते हैं । पढ़ते समय मूक अभिनय द्वारा भाव प्रकट करने से प्रभाव बढ़ जाता है ।

(८) **रचनात्मक खेल**—पहले बालक नाटकों का अभिनय, मूक अभिनय, करते हैं या कहानियों के खेल खेलते हैं । धीरे-धीरे वे स्वयं अपने आप नाटक की रचना करना चाहते हैं । उनकी इस मौलिक रचना-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलना चाहिये । संभव है, वे पहिले कथानक या पात्रों की कल्पना न कर सकें । इसलिये यदि वे परिचित नाटकों की घटनायें लेना चाहें, तो उन्हें ऐसा करने की छूट देनी चाहिए । कुछ लोगों का कहना है कि बालकों की भापा इतनी संयत और व्यवस्थित नहीं होती कि उन्हें नाट्य-रचना करने दिया जाय परन्तु ऐसा विचार गलत है । कारण यह है कि बालकों की आरम्भ की भूलों को स्थायी भूलें न समझना चाहिए । पहले वे भूलें करेंगे परन्तु इसी से धीरे-धीरे उनका भाषा पर अधिकार हो जायगा । उनकी रचना-शक्ति इतनी विकसित हो जायगी कि वे स्वयं लिखने लगेंगे । आजकल के युग में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से प्रत्येक व्यक्ति को इतनी सुविधा प्राप्त है कि वह अपनी रचना प्रकाशित करा सकता है । स्कूलों में बालकों से छोटी छोटी कहानियाँ लिखाना और फिर उन्हें विद्यालय-पत्रिका में प्रकाशित कराना, उनके लिए लाभदायक है । कम से कम वे इस योग्य हो जायँगे कि वे अपने विचार अच्छी तरह प्रकट करने लगें । अभिनय के लिए बालक जो नाटक या एकांकी लिखें, उनमें कई बातों का

ध्यान रखना चाहिए। उनकी रचनाओं में यथार्थवाद की अपेक्षा कल्पनात्मक चित्रण पर जोर दिया जाय, क्योंकि बाल्यकाल में बालकों में कल्पना-शक्ति प्रस्फुटित होती है। यदि यथार्थवाद पर जोर दिया जायगा, तो लिखने में बहुत से बन्धन आ जायँगे। स्वाभाविकता पर बहुत अधिक ध्यान रखने से, अनेक घटनाओं की काट-छाँट करनी पड़ती है। अतः बालकों की स्वतन्त्रता में यह बाधक सिद्ध होगा। जहाँ तक हो सके, इन नाटकों के कथानक कल्पनात्मक, तथा शैली काव्यात्मक हो।

नाट्य-रचना का खेल, इतिहास और साहित्य की पढ़ाई के लिए उपयोगी हो। निबन्ध लेखन, इतिहास का अध्ययन, और आलोचना आदि बिषय इसकी सहायता से पढ़ाये जा सकते हैं। बालकों को छोटी कक्षा में ही रामायण, महाभारत, पृथ्वीराजरासो, पद्मावत तथा अन्य प्रबंध काव्यों का प्रारंभिक ज्ञान कराया जा सकता है। ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों के लिए भी यह विधि उपयोगी है। अपनी रचनाओं के लिए कथानक चुनने में, उन्हें अध्ययन करना पड़ता है। 'नाटक' के इतिहास, विभिन्न शैलियों, रंगमंच की कठिनाइयों आदि का उन्हें पूरा ज्ञान नो जाता है। इसी संबंध में वे विभिन्न नाट्यकारों का तुलनात्मक अध्ययन भी कर सकते हैं।

कक्षा में पहले, बालकों से कोई भी पौराणिक कहानी पढ़वानी चाहिए। कथानक के संबंध में वे अच्छी तरह विचार-विमर्श करें और अपने-अपने लिखने का ढंग निश्चित करें। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक बालक अलग-अलग लिखे। कई बालक मिलकर उस कथानक के एक अंश को अपने नाटक के लिए चुन सकते हैं। उन्हीं लोगों को अभिनय करना है, इसलिये हर एक बालक को, जिस पात्र का अभिनय करना हो उसका संवाद या कथन, लिखना चाहिए। इससे अभिनय में अधिक जान आ जाती है। यह एक ऐसा प्रसंग

है, जिसमें अध्यापक बालकों को नाटचकला के अंगों के विषय में पढ़ा सकता है। कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन और शैली आदि के नियम उन्हें बहुत अच्छी तरह समझाए जा सकते हैं।

इस प्रकार इस रचनात्मक खेल में निम्नलिखित पद (Steps) आते हैं:—

(१) कहानी का पढ़ना या कहना।
(२) खुले दिल से विचार-विमर्श।
(३) उपसमिति का चुनाव (जो प्रबंध करेगी)।
(४) कथानक के लिए नोट्स तैयार करना।
(५) प्रारंभिक अभिनय।
(६) अध्यापक द्वारा पाठ।
(७) मुख्य-मुख्य बातों पर विचार-विमर्श।
(८) ध्यान से कथानक की घटनाओं का चुनाव, आवश्यक परिवर्तन, तथा लिखना।
(९) अभिनय तथा 'रिहर्सल।'
(१०) संवादों का अंतिम रूप निश्चित करना।
(११) पूरी तैयारी के साथ अभिनय।

आदि से अंत तक अध्यापक को निर्देश करते रहना चाहिए। बालक बड़े उत्साह से उसके पास आते हैं। उनके भावों को धक्का न पहुँचने पाये। यदि कोई बात उनकी समझ में न आये, तो क्रोधित होना अनुचित है। यदि वे किसी बात पर अड़ जाँय, तो उसका ध्यान रखना चाहिए। यहाँ पर अध्यापक को बालकों के स्वभाव, कार्य और व्यवहार आदि के अध्ययन का पूरा मौका मिलता है। उससे उसे लाभ उठाना चाहिए। विशेषरूप से जहाँ भी बालकों की रचनात्मक-प्रवृत्ति परिलक्षित हो, वहाँ बहुत सतर्क

रहना चाहिए। उसका बालक के भावी-जीवन से बहुत बड़ा संबंध है। उसका किसी प्रकार सें भी हनन न होने पाये।

(९) **बालचर संस्था—**इंगलैड के बेडेन पावेल नामक महान पुरुष ने इस संस्था को किसी दूसरे ही उद्देश्य से जन्म दिया था परन्तु यह अब शिक्षा का प्रमुख अंग बन गयी है। इस संस्था में रहकर बालक सहकारिता, उदारता, सहिष्णुता, लोकसेवा, स्वच्छता, फुर्तीलापन, समयनिष्ठा, सत्यवादिता तथा अन्य बहुमूल्य आदतें सीख लेते हैं, जिन्हें स्कूलों में वे शायद ही सीख पाते हों। खेल ही खेल में बालक जीवनोपयोगी व्यापार जैसे, सामग्री खरीदना, भोजन बनाना, किसी स्थान का भूगोल जानना, दीन-दुखियों की सहायता करना, भूले-भटकों को राह दिखाना आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

बालचरों को बड़े गंभीर उत्तरदायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। उन्हें अनेक सामाजिक समस्याओं को व्यावहारिक ढंग से हल करना पड़ता है। बालचरों की एक समिति होती है, और इसके अधिकारियों का चुनाव होता है। इसमें बड़ी होड़ होती है। बालचर संस्था की प्रमुख विशेषता शिविर-जीवन (Camp Life) है। हरग्रेव (Hargrave) इसके सबसे अधिक प्रशंसक हैं और इसे शिक्षा-संस्था का स्थायी अंग बना देना आवश्यक समझते हैं। वे इसे छोटी आयु के लड़के-लड़कियों तक ही सीमित न रखकर वयस्क तथा विवाहित जनों के लिये भी अनिवार्य बना देने की सलाह देते हैं।

आलोचना

खेल-विधि के प्रयोग ने स्कूल के वातावरण में अभूतपूर्व परिवर्तन पैदा कर दिया है। अब स्कूलों से ज्ञान का व्यापार नहीं

होता । बालक यहाँ जीवन-बिताने की कला सीखते हैं । यहाँ 'विचार' और 'व्यवहार' में समन्वय किया जाता है और विवेक जीवन का प्रधान अंग बन जाता है । शिक्षा में खेलों के द्वारा उत्पन्न यह परिवर्तन कोई नई चीज नहीं है । हज़ारों वर्ष पूर्व भारत-वर्ष में और यूनान में, शिक्षा का यही आदर्श समझा जाता था । वर्तमान काल में प्रो० ड्यूवी ने शिक्षा के क्षेत्र में, करीब-करीब, इन्हीं सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है । उनके मत में भी एक शिक्षित व्यक्ति को विद्वान होने के साथ-साथ व्यवहार-कुशल भी होना चाहिए । भावी-जीवन के लिये तैयारी करने के साथ, जीवन बिताने की कला का जानना भी आवश्यक है । इस संबंध में, खेल-विधि के विधायक कैल्डवेल कुक के और ड्यूवी के विचार समान हैं । जीवन और शिक्षा के संबंध के विषय में ड्यूवी महोदय के विचारों का विश्लेषण हम योजना-विधि के प्रसंग में कर चुके हैं । ऐसा जान पड़ता है कि कुक ने बहुत-कुछ ड्यूवी के विचारों को ग्रहण कर लिया है । कुक का कथन है कि विद्यालय के जीवन और सामाजिक जीवन में साम्य होना चाहिए । यदि ऐसा नहीं है, तो शिक्षा देना व्यर्थ है । वे कहते हैं—"सार्वजनिक विद्यालयों के विद्वान अध्यापकों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे,इस बात को अच्छी तरह मान लें ।... विद्यार्थियों और दफ्तर, खेत, कारखाने, मिलों में काम करनेवाले उनके पिताओं के जीवन में बहुत बड़ा संबंध है, आपके स्कूल की चहारदीवारी से बाहर, सामाजिक वातावरण का जो प्रभाव बालकों पर पड़ रहा है, वह केवल साधारण रूप से विचार-णीय नहीं है, वरन वह सबसे अधिक प्रभावशाली शक्ति है जो बालकों का जीवन बना और बिगाड़ सकती है ।" कुक का मुख्य सूत्र है--स्कूल अपने आप में एक छोटा संसार होना चाहिए (A School must be a little world in itself) या "यह अपने आप में एक छोटा सा राष्ट्र" है (A little state in itself) जहाँ बालक,

अध्यापकों के पथ-प्रदर्शन में जीवन के साधारण, सिद्धांत और व्यवहार-सीखते हैं। यहाँ ठीक समाज की तरह, संगठन, शासन, कला तथा दस्तकारी के व्यापार चलते रहते हैं। कुक के शिक्षा-संबंधी विचार, ड्यूवी के सिद्धांत कि 'स्कूल समाज का छोटा प्रतिरूप है"—(School is the miniature Society)—से मिलते हैं। खेल-विधि से शिक्षण में हमें जीवन का दृश्य दिखाई भी पड़ता है। बालक अपनी परिषद् बनाते हैं, उसका प्रबंध चलाते हैं, खेलों का आयोजन करते हैं और नियमों के अनुसार कर्तव्य-पालन करते हैं।

खेल-विधि के अन्तर्गत हम 'स्वायत्तशासन' का ज़िक्र कर चुके हैं। यह इस विधि का महत्वपूर्ण अंग है और इसकी खास विशेषता है। आज कल विद्यालयों में 'राजनीति' की चर्चा करना बुरा समझा जाता है। इससे विद्यार्थियों में दलबंदी (Party politics) का दुर्गुण उत्पन्न होता है। अध्यापकों को भी इस विषय से दूर रहने के लिए कहा जाता है। आश्चर्य है कि खेल-विधि में 'राजनीति' को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया। 'स्वायत्तशासन' का आधार राजनीति ही है। ऐसा क्यों किया गया ? बात यह है कि स्वायत्तशासन का आयोजन बालकों के भावी नागरिक-जीवन की तैयारी है। यह वह थोथी राजनीति नहीं सिखाता, जिससे आपस में फूट पड़ती हो। यहाँ 'राजनीति' वादविवाद तक सीमित नहीं; वरन् यहाँ राजनीति का उपयोगी ढ़ंग से व्यवहार होता है। वे सच्चे नागरिक बनते हैं। प्राचीन और नवीन विधानों का तथा अनेक प्रकार की शासन-विधियों का अध्ययन वे सरलता-पूर्वक कर सकते हैं।

खेलविधि द्वारा शिक्षण से, बालकों में उच्चकोटि की सामाजिक भावना उत्पन्न होती है। उनमें पारस्परिक प्रेम, सहयोग और उदारता के भाव पुष्ट होते हैं। उनके चरित्र का विकास होता है। परन्तु उनके स्वभाव में सबसे बड़ा गुण वह आ जाता है, जिसे

जागरुकता कह सकते हैं। जागरुक बालक देश, काल और समाज में आने वाले नवीन परिवर्तनों को पहचानने की शक्ति रखता है। यह गुण सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक है। औद्योगीकरण, व्यवसाय, वैज्ञानिक उन्नति और महायुद्ध—इनके कारण समय अपना चोला बदल रहा है। वर्तमान-युग बहुमुखी क्रांतियों से पूर्ण है। थोड़े ही दिनों में देश की काया पलट हो जाने की संभावना है। इन गंभीर परिवर्तनों को सँभालने की शक्ति शिक्षित व्यक्तियों में होनी चाहिए। शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे इस मौके पर अपना कर्तव्य पूरा करें। यदि मनुष्य उसी प्रकार रहता रहे, जैसे आज रह रहा है, तो जीवन का आगे चलना कठिन हो जायगा। इसलिए बालकों को जागरुक बनाने की आवश्यकता है। खेलविधि का प्रयत्न इसी दिशा की ओर है।

खेलविधि का आधार पूर्णरूप से मनोवैज्ञानिक है, इसमें कोई संदेह नहीं। हम बार-बार दुहरा चुके हैं कि बालकों की सभी प्रवृ-तियाँ जैसे जिज्ञासा, रचना, सामाजिकता और प्रेम आदि संतुष्ट होती हैं। इससे उनके सुप्तमन में कोई विकार संचित नहीं हो पाता और उनका व्यक्तित्व संतुलित ढंग से विकसित होता है। फ्रायड ने जिस दृष्टि से दमन का विरोध किया है और पुनःशिक्षा (Re-education) पर ज़ोर दिया है, उसी का ध्यान खेलविधि में भी रक्खा गया है। बालकों को हर प्रकार की स्वतन्त्रता रहती है। उनके मन को, किसी तरह भी ठेस नहीं पहुँचायी जाती। खेलों में संलग्न बालकों की रुचियों और गुणों का अध्ययन करने में अध्यापकों को पूरी सुविधा प्राप्त होती है। मनोवैज्ञानिकों ने बालकों के स्वभाव का अध्ययन करने में खेलों का अनेक प्रकार से प्रयोग किया है, जिन्हें प्रोजेक्टिव टेकनीक (Projective Technique) कहते हैं। बालकों के स्वभावों का अध्ययन करने के बाद अध्यापक उन्हें शैक्षिक-

पथप्रदर्शन (Educational Guidance) में सहायता पहुँचा सकता है। खेल द्वारा शिक्षण में प्रत्येक बालक की ओर ध्यान दिया जा सकता है, क्योंकि प्रायः सभी बालक अपने-अपने काम में लगे रहते हैं। अध्यापक कभी एक की सहायता करता है और कभी दूसरे की। यह विधि व्यक्तिगत भिन्नता (Individual differences) के सिद्धान्त के अनुकूल है। अभिनयों तथा दूसरे खेलों में बालकों को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भाग लेने की सुविधा प्राप्त है। खेलविधि में क्रिया का सिद्धान्त (Principle of Activity) सबसे अधिक प्रधान है। बालकों को शारीरिक और मानसिक क्रियायें हर समय करनी पड़ती हैं। इसमें बालकों को चुपचाप निश्चल भाव से कभी बैठना नहीं पड़ता। इस विधि में "कार्य और खेल" (Work and play) का बहुत सुन्दर समन्वय हुआ है। बालक, इस विधि से पढ़ चुकने के बाद, किसी काम से जी नहीं चुराते। वे कार्य को खेल समझते हैं और साधारण से साधारण काम को भी, वे उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से करते हैं।

खेलविधि द्वारा 'अध्यापन' का एक नया अर्थ प्रतिपादित हुआ है। बालकों के जीवन में अध्यापक 'भय' की मूर्ति के रूप में स्थान पाता था। आज यह बात नहीं है। अध्यापक मित्र के रूप में दिखाई देता है। साथ ही अध्यापक और छात्रों के बीच में, किसी प्रकार का दुराव न होते हुए भी, एक श्रद्धा का भाव होता है। वह उन्हें प्रेरित करता है, समय-समय पर सहायता करता है और खुद भी सहायता पाता है, इसलिये बालक उसका सच्चा सम्मान करते हैं। आज का अध्यापक विषय की अपेक्षा 'मनुष्यत्व' को ऊँचा स्थान देता है। वह अपना विषय पढ़ाता है परन्तु बालकों के मानवीय गुणों के परिवर्धन पर वह ज्यादा ज़ोर देता है। धीरे-धीरे विशेष विषयों के अध्यापकों (Special Subject Teachers) का महत्व कम होता जा रहा है।

खेल द्वारा शिक्षण मे 'सानुबन्ध' (Correlation) पर अधिक ध्यान दिया जाता है । एक साथ कई विषय पढ़ाये जा सकते हैं । वास्तव में हरएक विषय का अलग अलग पढ़ाया जाना त्रुटिपूर्ण है क्योंकि यह व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धांत का अतिक्रमण करता है । एक विषय कभी भी सब बालकों को नहीं रुच सकता परन्तु वह जबर-दस्ती सबको पढ़ाया जाता है । खेल-विधि में बालक अपना प्रिय विषय अपनी रुचि के अनुकूल सीखते हैं ।

खेलविधि शिक्षण के क्षेत्र में एक नया प्रयोग है । इससे लाभ हुए हैं, इस बात से तो इनकार नहीं किया जा सकता परन्तु इसमें कुछ दोष भी हैं । देखने में यह जितना आसान है, व्यवहार में यह उतना ही कठिन, इसको प्रयोग में लानेवाले अध्यापक को कहीं अधिक समय और शक्ति व्यय करनी पड़ती है । आर्थिक स्थिति से असन्तुष्ट तथा अनुदार अध्यापक इसके द्वारा पढ़ाने में कभी सफल नहीं हो सकता । सफलता के लिए अध्यापक को शिक्षण में असाधारण रुचि होनी चाहिए । वर्तमान परिस्थितियों में ऐसे अध्यापक बहुत कम मिलेंगे। खेलविधि छोटे बालकों के लिए अधिक उपयोगी हैं परन्तु प्राथमिक कक्षाओं के अध्यापक इतना कम वेतन पाते हैं कि वे इस अध्यापन के व्यवसाय से असंतुष्ट हैं । वे इतना समय और शक्ति व्यय करना कभी भी न स्वीकार करेंगे।

खेलों में बालक कल्पित जीवन का आनन्द लेते हैं । छड़ी को घोड़ा मानकर खेलना, दीवार पर बैठ कर रेलगाड़ी के सफर के आनन्द का अनुभव करना, राजा बन कर शक्ति का प्रदर्शन करना आदि ऐसी बाते हैं, जिनमें वास्तविकता का अंश नहीं रहता । इसका दुष्परिणाम यह होता है कि बालकों में दिवा-स्वप्न (Day-dreaming) की आदत पड़ जाती है । इस दृष्टि से खेलों के द्वारा बालकों का मानसिक संतुलन नष्ट होता है । यही कारण है कि मॉंटेसरी स्कूलों में अध्यापक खेल

की वस्तुओं को कल्पनात्मक जीवन का साधन बनाने में बालकों को प्रोत्साहन नहीं देते। बर्टेन्ड रसेल इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि कल्पना अनिवार्यतः बालक को वास्तविकता के प्रति उदासीन नहीं बनाती। बालक कभी भी वास्तविकता की उपेक्षा नहीं करता। वह खेल को खेल ही समझता है। दूसरे कल्पना से वास्तविकता की ओर ले जाना अध्यापक का कर्तव्य है। खेलों का उपयोग यदि उचित ढंग से मिया जाय, तो यह दोष नहीं उत्पन्न हो सकता। वास्तविकता के साथ साथ कल्पना का संयोग होना आवश्यक है। कल्पना ही मनुष्य के आदर्शों को रंगीन और समुज्ज्वल रूप देती हैं।[१]

खेल-विधि के समर्थक, बालकों की रुचियों और प्रवृत्तियों को शिक्षण का केंद्र मानते हैं। इसका कारण वे यह देते हैं कि रुचियाँ सहज और पवित्र हैं। क्या वास्तव में ऐसा है? बालक में अच्छी और बुरी, दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ होती हैं। 'रचना' के साथ-साथ 'विनाश', 'प्रेम' के साथ 'क्रोध' और 'ईर्ष्या' आदि बालकों में मिलते हैं। बालकों की प्रवृत्तियों की हर प्रकार प्रशंसा करना अनुचित है। 'खेलविधि', वास्तव में प्राचीन दमनपूर्ण विधि के विरुद्ध एकांगी प्रतिक्रिया है। बालकों के स्वर्गीय रूप को सामने रखने में यह एकांगी बन गई है। अब रुचियों की बात लीजिथे। रुचियाँ (Interest) सहज नहीं हैं। हरएक बालक जन्म से कोई रुचि लेकर नहीं पैदा होता है। रुचियाँ वातावरण की देन हैं। यदि बालक कुरुचिपूर्ण वातावरण में अपना जीवन व्यतीत करे तो उसकी रुचियों पर प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। उसकी रुचियाँ विषाक्त हो जाँयेगी। स्कूल में, न जाने कितने प्रकार की परिस्थितियों में पले हुए बालक आते हैं। उन सबकी रुचियाँ अच्छी हों, ऐसा नितान्त असंभव है। फिर कैसे उनकी रुचियों को शिक्षण का सूत्र माना जाय।

---

1. Russell, B: On Education, pp. 101—103.

और यदि रुचियाँ पवित्र हों, तो स्कूल का काम क्या रहा ! पवित्र और उपयोगी रुचियों की प्राप्ति के लिए ही, तो बालक स्कूलों में आते हैं। उदाहरण के लिए, बालकों को शिक्षा इसलिए दी जाती है कि वे सुयोग्य, कर्तव्यपरायण, कर्मनिष्ठ नागरिक बन सकें। यह गुण शिक्षा पूरी करने के बाद उनमें उदय होते हैं। खेल-विधि में सबसे पहले स्वायत्त शासन की व्यवस्था सबसे पहले की जाती है यह एक विचित्र विरोधाभास दिखाई देता है। शिक्षा प्राप्त करने के पूर्व बालक असंस्कृत, विवेकहीन और अपटु होता है। यह 'स्वायत्तशासन' की गंभीरता नहीं समझता। फिर वह इसे कैसे चलाएगा ? यह बात तो कुछ ऐसी है, जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। क्या बिना सड़क पर कदम रक्खे हुये, अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँच जाना संभव है ? 'साधन' के बाद 'साध्य' आता है; 'कारण' के बाद 'परिणाम' आता है। परन्तु खेल-विधि में साध्य पहले आ जाता है, परिणाम पहले हो जाता है, साधन और कारण बाद में आते हैं। यह तो वैसे ही है, जैसे तने पर कदम रक्खे बिना पेड़ की चोटी पर पहुँचना। स्वायत्तशासन की क्षमता उत्पन्न करने के लिए, हम बालकों को शिक्षा देते हैं और यहाँ खेलविधि में बालक शिक्षा प्राप्त करने के पूर्व ही प्रजातंत्र के सिद्धान्त सीख लेते हैं। आश्चर्य होता है इस बात पर।

कुछ आलोचकों का कथन है कि इस विधि से बालकों में साहित्यिक गुण नहीं उत्पन्न होते, परन्तु यह आक्षेप निराधार है। बालकों को यहाँ हर प्रकार से साहित्यिक ज्ञान कराया जाता है। हाँ, यदि असली कमी है, तो वैज्ञानिक बिषयों की पढ़ाई की। कुक ने अपनी इतनी बड़ी पुस्तक में केवल साहित्यिक विषयों की पढ़ाई में खेलों के प्रयोग के उपाय बताए हैं पर वैज्ञानिक बिषयों की ओर उन्होंने संकेत तक नहीं किया। हम सभी जानते हैं कि अब वैज्ञानिक

विषयों का महत्व अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है । खेल द्वारा इन्हें कैसे पढ़ाना संभव होगा, इसके लिए अभी तक मार्ग नहीं सुझाया गया है ।

अब मनोरंजन की बात लीजिये । जहाँ खेल-विधि की प्रशंसा में यह कहा जा सकता है कि इसके द्वारा गंभीर और कठिन कार्य भी खेल जान पड़ते हैं, वहाँ, खेल-विधि का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि, इसके द्वारा खेल जैसी क्रिया की मनोरंजकता नष्ट होगई । खेल में पढ़ाई-लिखाई का समावेश कर देने से, बालक खेलों से भी भागने का प्रयत्न करेंगे । पढ़ाई का भाव आ जाने से कुछ न कुछ बन्धन और जोर दबाव का भाव आ ही जाता है । बालकों के लिए खेल आमोद-प्रमोद की वस्तु है । वे काम कर चुकने के बाद इन्हीं से अपना मन वहलाते हैं । पढ़ाई में, जब उनका प्रयोग होने लगेगा, तो खेलों को वह मनोरंजन का साधन न समझेंगे । इस प्रकार खेल-विधि से एक उपयोगी वस्तु नष्ट होती है । 'मनोरंजन' और 'कार्य-व्यस्तता' दोनों में अलग-अलग मानसिक स्थिति होती है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोनों मनोदशाओं का एक-दूसरे पर आरोप करना अनुचित है और अस्वाभाविक है । इस दृष्टि से खेलों का पढ़ाई सें प्रयोग कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता ।

खेलों के समर्थक यदि यह कहते हैं कि बालक, अपने भावी जीवन में, इस विधि से पढ़ाई कर चुकने के बाद, हर एक 'काम' को खेल की भावना (Spirit of Plav) से करेंगे, तो उसके जवाब में कहा जा सकता है कि इससे उनकी हानि होगी । संसार में जितनी भी समस्यायें और कठिनाइयाँ आती हैं उन्हें खेल समझना भूल है । मुसीबतें उठाने में, खेल का भाव पैदा हो ही नहीं सकता और यदि मनुष्य उन्हें खेल समझे तो, वह मुसीबत का सामना कर भी नहीं सकता और न उनकी चोट

सहन करने योग्य बन सकता है। फिर पढ़ाई को खेल बनाना, शिक्षक की कला है । स्कूल में शिक्षण को खेलों के रूप में प्रस्तुत करना अध्यापक का काम है; बेचारे बालक इसे समझ नहीं पाते । व्यापार, दफ्तर, फैक्ट्री, या कारखाने के काम तो खेल के रूप में नहीं किए जाते । इस तरह खेल-विधि के समर्थकों को एक ओर विचार-वैषम्य (Paradox) का सामना करना पड़ता है जिसका उत्तर देने में वे असमर्थ हैं । वे स्कूल और समाज— दोनों के जीवन में साम्य लाना चाहते हैं परन्तु परिणाम उल्टा होता है । स्कूल का जीवन इतना सुखद जान पड़ता है, कि बालक सामाजिक-जीवन के दुखद संघर्ष का सामना कर नहीं पाते । "अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्ततोगत्वा अरुचिकर का सामना करना ही पड़ेगा । जिस कार्य में हमें निपुणता प्राप्त करनी है, उसे किसी भी विधि से रोचक बनाना संभव नहीं है । प्रत्येक काम की एक ऐसी दशा आ जाती है, जिसमें वह काम एक बोझ सा प्रतीत होने लगता है[1] ।" शिक्षा का कार्य ऐसा है कि उसे खेल का रूप देना संभव नही है ।

कुछ सुझाव —

खेलों को शिक्षोपयोगी बनाने के लिए कुछ बातों का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। खेलों में व्यक्तिगत स्वार्थ और होड़ की भावना न आने देना चाहिए । यथासंभव खेल सामूहिक हों और बालकों को मिलजुल कर खेलने का आनन्द प्राप्त करने का अवसर मिले। साथ ही उनमें सहयोग करना अनिवार्य बना दिया जाय। खेल में व्यक्ति को प्रधान मानकर अच्छे खिलाड़ी को पारितोषिक देना हानिकर है, इससे शत्रुता और ईर्ष्या का भाव प्रबल होता है। खेलों में निपुणता प्राप्ति मुख्य उद्देश्य होना चाहिए

---

1 Bain : Education as a Scienee. p. 184.

बालक किसी काम को सीखें और उनमें रचनात्मक शक्ति प्रस्फुटित हो। फुटबाल या हाकी के खेलों की अपेक्षा मशीन, रेल, या हवाई-जहाज़ आदि के बनाने के खेल कहीं अधिक हितकर हो सकते हैं। अक्सर कुछ लोग खेलों में दलगत भावना (Team spirit) की बड़ी प्रशंसा करते हैं परन्तु एक दल का दूसरे दल से प्रतियोगिता करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। साम्राज्य-वाद के युग में यह दृष्टिकोण भले ही उचित रहा हो; आज के अन्तर्राष्ट्रीय युग में अब इसका कोई महत्व नहीं है। अतः रचनात्मक शक्ति का विकास ही खेलों का ध्येय होना चाहिए।[1]

---

1. Russell, B. On Education, P. 104-109

(१२)

बुनयादी शिक्षणविधि

Method of Basic Education

संक्षिप्त इतिहास—

बुनियादी शिक्षाविधि के प्रणेता महात्मा गाँधी को आज कौन नहीं जानता? राष्ट्रपिता ने देश की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का अन्तिम हल बुनियादी शिक्षा के रूप में प्रस्तुत किया। महान व्यक्ति सदैव अपने युग की सभी समस्याओं पर कुछ न कुछ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कह डालते हैं। गाँधीजी ने भी यही किया है। उनका जीवन-चरित्र पढ़ते समय हम उन्हें भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के अमर सेनानी के रूप में ही देखते हैं। उनका यह रूप इतना देदीप्यमान है कि उसकी चकाचौंध में उनके व्यक्तित्व का एक पहलू कितने ही लोगों की नजरों से छिपा रह जाता है। कितने ही लोग शिक्षाशास्त्री के रूप में गाँधी जी को देख ही नहीं पाते[1]। राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में जितने भी आन्दोलन हुए, उनमें किसी न किसी रूप में गाँधीजी ने योग दिया है; जैसे श्रद्धानन्द का गुरुकुल, कर्वे का महिला-विद्यापीठ, रवीन्द्र की विश्वभारती, तथा जामिया-मीलिया आदि। भारतीय शिक्षा के इतिहास में गाँधीजी का नाम इसलिये अमर रहेगा कि वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह अनुभव किया कि भारत की मुक्ति स्वस्थ-शिक्षा पर निर्भर है। सन् १९३६ तक दो

---

1. Pate, M. S.: The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi, Preface, p. IX.

देश-व्यापी सत्याग्रह-आन्दोलन चलाने के बाद उन्होंने अंत में यह निष्कर्ष निकाला कि शिक्षा में क्रांति किये बगैर काम न चलेगा। अतः उन्होंने 'हरिजन' में अपने शिक्षा-संबन्धी विचार प्रकट करने आरम्भ किये। कुछ सम्मानित लोगों (जैसे अध्यापक शाह) ने उनकी आलोचना की। पूरे तौर से भावी शिक्षा के संबंध में हरिजन में गाँधीजी ने "आलोचनाओं का जवाब" शीर्षक से एक लेख लिखा। उस लेख का एक अंश हम नीचे उधृत करते हैं जिसमें बुनियादी-शिक्षा की कुछ रूपरेखा हमें देखने को मिलती है—

"रचनात्मक कार्य-संबंधी अपनी सारी प्रतिष्ठा खो बैठने की जोखिम उठाकर भी मैंने यह कहने का साहस किया है कि शिक्षा स्वावलंबी होनी चाहिये। सच्ची शिक्षा वही है, **जिसे पाकर मनुष्य अपने शरीर, मन और आत्मा के उत्तम गुणों का सर्वांगीण विकास कर सके** और उन्हें प्रकाश में लगा सके। **साक्षरता न तो शिक्षा का अंतिम ध्येय है,** न उससे शिक्षा का आरम्भ ही होता है। वह तो स्त्री-पुरुषों को शिक्षित बनाने के अनेक साधनों में एक साधन मात्र है। अपने आप में साक्षरता कोई शिक्षा नहीं है। इसलिये मैं तो बच्चे की शिक्षा का आरंभ उसे कोई उपयोगी दस्तकारी सिखाकर अर्थात् जिस क्षण से उसकी शिक्षा शुरू होती है, उसी क्षण से कुछ न कुछ **नया सृजन करना** सिखाकर ही करूँगा। इस तरीके से हर एक पाठशाला स्वावलंबी बन सकती है।। शर्त सिर्फ यह है कि इन पाठशालाओं में **तैयार होने वाले माल को सरकार खरीद लिया करे।** मैं मानता हूँ कि इस पद्धति द्वारा मन और आत्मा का उच्च से उच्च विकास किया जा सकता है, इसके लिए आवश्यक यह है कि जो उद्योग-धंधे आजकल केवल यंत्रवत् सिखाये जाते हैं, वे वैज्ञानिक ढंग से सिखाये जायँ, यानी बच्चों को यह समझाया जाय कि कौन सी क्रिया किसलिए की जाती है।...इस तरीके में इतिहास-भूगोल के ज्ञान का बहिष्कार नहीं किया

गया है। लेकिन मेरा तजरबा यह है कि बातचीत के जरिये जबानी जानकारी देकर ही ये विषय अच्छी से अच्छी तरह सिखाये जा सकते हैं। वाचन-लेखन की अपेक्षा इस श्रवण-पद्धति से दसगुना ज्यादा ज्ञान दिया जा सकता है। जब लड़के-लड़की भले-बुरे का भेद समझने लगें और रुचि का थोड़ा विकास हो जाय तभी उन्हें लिखना-पढ़ना सिखाना चाहिये। यह सूचना मौजूदा शिक्षा-प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तनों की सूचक है, लेकिन इसके कारण मेंहनत बहुत ही बच जाती है और जिस चीज़ को सीखने में विद्यार्थी को बरसों बीत जाते हैं, उसे वह इस तरीके से एक साल में सीख सकता है। इसके कारण सब तरह की बचत होती है। और इसमें कोई शक नहीं कि दस्तकारी के साथ-साथ विद्यार्थी गणित भी अवश्य सीख लेगा।"[1]

गांधी जी की इन पंक्तियों में बुनियादी-शिक्षा का एक साधारण चित्र हमें देखने को मिलता है। उसी वर्ष लगभग दो मास तक अन्य शिक्षाशास्त्रियों ने इस योजना के पक्ष और विपक्ष में अपने विचार व्यक्त किए। संयोग से अक्टूबर में एक ऐसा अवसर आ गया कि बुनियादी शिक्षा के आन्दोलन को नया रूप मिल गया। मारवाड़ी विद्यालय के प्रबन्धकों ने, अपनी संस्था की रजतजयंती मनाने का निश्चय किया। विद्यालय को नया नाम देने की बात चल पड़ी। इस समारोह के अवसर को सार्थक बनाने के लिए, संचालकों ने गांधी जी के सभापतित्व में अन्य प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रियों का सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया। गांधी जी तैयार हो गये। लगभग ९० प्रतिष्ठित शिक्षाशास्त्री और विद्वान एकत्रित हुए। सम्मेलन की चार बैठकें हुई जिसमें महात्मा गाँधी द्वारा प्रस्तावित योजना के पक्ष और विपक्ष में डा० ज़ाकिर हुसेन, अध्यापक खुशाल तलकशी शाह, डा० सैयद महमूद, आचार्य विनोबा भावे, काका साहब कालेलकर,

---

१. हरिजन—'आलोचनाओं का जवाब'—३१ जूलाई १९३७

किशोरलाल मशरूवाला, श्री महादेव देसाई, बाबू राजेन्द्र प्रसाद जैसे विद्वानों ने भाषण दिये। इस प्रकार की स्वावलंबी शिक्षा का जोरदार समर्थन विशेषरूप से उन लोगों ने किया जिन्होंने कुछ संस्थायें चलाकर अनुभव प्राप्त किया था; जैसे तिलक-विद्यालय, नागपूर के आचार्य श्री तिजोर जी; नाड़वाड़ी-आश्रम वर्धा के आचार्य विनोबा भावे; गुजरात विद्यापीठ के आचार्य दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर; गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य श्री देवशर्मा, रामकृष्ण-मिशन-विद्यालय, कोयंबटूर के मंत्री श्री अविनाशलिंगम् चेट्टियर आदि। विरोध करने वालों में जामियामिलिया, दिल्ली के प्रधान डा० जाकिर हुसेन और प्रोफेसर शाह थे। सम्मेलन के अंत में बुनियादी शिक्षा पर अधिक विस्तार से छानबीन करने के लिये डा० जाकिर हुसेन के सभापतित्व में एक समिति नियुक्त हुई, जिससे एक मास के बाद अपनी रिपोर्ट पेश करने के लिए कहा गया।

जिस समय पूरी योजना बनकर तैयार हुई और वह देश के सामने आयी, लोगों ने उसे एक महान् आश्चर्य के रूप में लिया। इस बुनियादी शिक्षा के सिद्धांतों और व्यवहार में कुछ ऐसी नवीनता थी कि प्राचीन परिपाटी से पढ़े-लिखे लोगों को एक गहरा धक्का-सा लगा। वे यह न समझ सके कि वह ज्ञान, जिसे उन्होंने पोथियों को घोट-घोट कर प्राप्त किया था, कैसे इस दस्तकारीवाली विधि से प्राप्त हो सकता है। विशेषज्ञों को इसलिए परेशानी हुई कि उन्होंने जिस प्रकार से पढ़ाने की ट्रेनिंग प्राप्त की थी, वह इस विधि में, काम में नहीं लायी जा सकती थी। तथाकथित क्रांतिकारी भी एक बड़ी उलझन में पड़ गये, क्योकि उन्होंने यह समझ रक्खा था कि विदेशी शिक्षाशास्त्रियों से कुछ उधार लेकर, भारतीय-शिक्षा में कांति का सूत्रपात किया जा सकता है। ऐसी दशा में

गांधी जी की योजना को चारो ओर से, प्रतिक्रियावादी, रूढ़िवादी, मध्ययुगीन, अव्यावहारिक, आध्यात्मिक आदि कह कर, विद्वान लोग इस विधि का विरोध करने लगे।

इस प्रकार की आलोचना का कारण क्या था ? बात यह है कि प्रायः विद्वान लोग इसे समझ न सके। आचार्य कृपलानी[1] का कथन है कि गांधी जी किसी भी बात को विस्तार से कहने के आदी नहीं थे। प्रत्येक योजना का सार-मात्र पत्रों में देते थे, वे पुस्तक नहीं लिखते। वे न तो अपनी बात के सिद्ध करने के लिए प्रमाणों का ढेर लगाते हैं, न अधिक तर्क देते हैं और न आँकड़े प्रस्तुत करते हैं। इसके विपरीत दूसरे विचारक, अपनी योजना जनता के सामने एक मनोवैज्ञानिक वातावरण उत्पन्न करने के बाद प्रस्तुत करते हैं। इससे उन्हें इतना विरोध नहीं सहना पड़ता, जितनी गांधी जी को सहना पड़ा। अंत में जब गांधी जी ने इस संबंध में काफी विस्तार से लिखा, तो लोग कायल हो गये और सबको उनकी मौलिकता की धाक माननी पड़ी। स्वयं डा० ज़ाकिरहुसेन, आचार्य नरेन्द्रदेव और आर्यनायकम जैसे शिक्षाशास्त्रियों ने बाद में, इसका अनुमोदन किया।

गाँधीजी का जीवन-दर्शन

आचार्य कृपलानी ने लिखा है—"किसी भी शिक्षण-पद्धति को अच्छी तरह समझना तथा उसका मूल्यांकन करना संभव नहीं होता, जब तक कि उन विचारों और आदर्शों का अध्ययन न किया जाय, जो उस पद्धति में समाविष्ट हैं, जैसे सोवियट रूस की शिक्षा पद्धति को समझने के लिए रूस की राज्यक्रांति और समाज की

---

1. Kriplani, A : The Latest Fad—Basic Education. p. 5, 6.

पृष्टभूमि को जानना जरूरी है।"[1] गाँधी जी की बुनियादी शिक्षा की पूरी जानकारी तभी प्राप्त हो सकती है, जब हम उनकी विचार-धारा तथा, उनके जीवन-दर्शन का पूरा ज्ञान प्राप्त करलें।[2]

गाँधी जी आध्यात्मवादी दार्शनिक थे। उनके मत में, समाज की अपेक्षा व्यक्ति का मूल्य अधिक है। समाज केवल व्यक्ति के विकास का साधन है। उनका ईश्वर पर पूर्ण विश्वास है। मनुष्य उसी ईश्वर का अंश है। उसी से उसकी उत्पत्ति होती है और मृत्यु के बाद वह उसी ईश्वर में लीन हो जाता है। गाँधी जी अद्वैतवादी थे। उन्हें ईश्वर के एकत्व पर पूर्ण विश्वास था। जिस प्रकार सूर्य की किरणें असंख्य होती हैं, परन्तु उनका स्रोत एक मात्र सूर्य हैं, उसी प्रकार घास से लेकर जीवमात्र तक में वही ईश्वर की शक्ति समाई हुई है। अस्तु, संसार में दिखाई देने वाला भेदभाव केवल नाममात्र का है। उनके इस विचार से ही मानवता की एकता का भाव उत्पन्न हुआ। ईश्वर के अस्तित्व के लिए वह कोई प्रमाण नहीं चाहते, वह तो केवल अनुभव का विषय है। फिर भी ईश्वर की परिभाषा देने के लिए उन्होंने यह कहा कि सत्य का ही दूसरा नाम सत्य है। सत्य पर डटे रहना ही ईश्वर की उपासना है। सत्योपासना का साधन अहिंसा द्वारा हो सकता है। इस प्रकार ईश्वराराधना को गाँधी जी ने एक व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

प्रत्येक व्यक्ति का जीवन किसी दैवी उद्देश्य के कारण, बना है। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपनी शक्ति को पहचाने, और उस दैवी उद्देश्य को पूर्ण करे। समाज की रचना इसलिए की

---

1. Kriplani, Acharya : The Latest Fad—Basic Education, Preface, P. 3.
2. Patel. M. S. : The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi, P. 10

गई कि, उसके द्वारा व्यक्ति को अपने उद्देश्य-प्राप्ति में सहायता मिलती है। अतः समाज का निर्माण कुछ ऐसे सिद्धांतों के आधार पर हुआ है, और होना चाहिए, जो शाश्वत और मंगलमय हैं। वे हैं—प्रेम, अहिंसा, सत्य और न्याय। ऐसे सिद्धांतों पर निर्मित समाज में आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक, किसी भी प्रकार का शोषण संभव न होगा। तब, मनुष्य अबाधगति से अपनी उन्नति कर सकेगा। मनुष्य का शोषण, मनुष्य की गुलामी—ऐसे भाव भौतिकवाद के कारण उत्पन्न हुए हैं। भौतिकवादियों ने समाज को दैवी सत्ता मान रक्खा है और व्यक्ति को उसका गुलाम बनाने की सलाह दी है। यह विचार भ्रमात्मक है। समाज तो व्यक्ति की उन्नति का साधन है, व्यक्ति स्वयं साध्य है।

'व्यक्ति' को ध्यान में रखकर गाँधी जी ने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की है, जिसमें किसी प्रकार का शोषण न हो। यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक व्यक्ति को यह अभ्यास हो जाय कि वह अपने परिश्रम का फल स्वयं चखे, और उसी से तृप्त होकर सीखे। यदि मनुष्य में यह प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाय तो न्याय, प्रेम और सत्य का कभी भी वह उल्लंघन न करे। इस मूलमन्त्र को व्यावहारिक बनाने के लिए गाँधी जी ने हाथ के काम को ऊँचा बताया और मशीन, का बहिष्कार किया। मशीन से, समाज के चन्द लोग लाभ उठाते हैं; एकाधिकार पैदा करके, दूसरों को गुलाम बनाते हैं। वे चाहते हैं, समाज में एक भी पूँजीपति न हो, सभी श्रमिक की तरह हाथ से काम करें, तभी वर्गहीन समाज बन सकता है। उत्पादन के साधनों का समाजीकरण (Socialisation) शोषण का अंत नहीं कर सकता। इसलिए गाँधी जी ने कुटीर-उद्योग और गामोद्योग का मार्ग अपनाना श्रेयस्कर बताया है। उद्योग के बड़े बड़े साधनों पर राष्ट्र का अधिकार होना चाहिए, परन्तु इस परिवर्तन को लाने के लिए हिंसा और रक्तपात का मार्ग अपनाना अनुचित है।

व्यक्तिगत जीवन में, गांधी जी, ने पारिवारिक संस्था को ऊँचा स्थान दिया है। 'परिवार' और 'ग्राम', दोनों व्यक्ति के विकास के लिए जरूरी हैं क्योंकि इनके मूल में स्नेह की स्वाभाविक प्रवृत्ति छिपी है। जीवन को सुखी बनाने के लिए भौतिक वस्तुओं की आवश्यकता हैं परन्तु जीवन का ध्येय इन्हीं को समझना भूल है। आध्यात्मिकता और सादगी जीवन का श्रृंगार है। भौतिक वस्तुओं से तृष्णा, और शक्ति-लोलुपता बढ़ती है। मनुष्य को इनका गुलाम नहीं बनना चाहिए। जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण, गांधीजी ने 'गीता' से प्राप्त किया है। वस्तुओ के स्मरण से 'आसक्ति' बढ़ती है, आसक्ति से, इच्छा, इच्छा से क्रोध, क्रोध से भ्रम, भ्रम से स्मरणशक्ति का नाश, स्मरणशक्ति के नाश से विवेक का नाश होता है और अन्त में मनुष्य स्वयं नष्ट हो जाता है।[1] इसलिए गांधीजी ने वैराग्य, संयम, निग्रह और सादगी को व्यक्तिगत जीवन का आदर्श माना है। इससे समाज में संघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता, और असमानता आदि दूर होंगे। जब भोग की लालसा न रहेगी, तो छूत-छात, जाति-पांति, ऊँच-नीच का भेद न रहेगा। प्राचीन भारतीय आदर्श "वसुधैव कुटुम्बकम्" की पुनः स्थापना होगी।

गांधीजी के मत में, 'चरित्र' को बहुत ऊँचा स्थान मिलना चाहिए। आज की राजनीति में छल-कपट, धूर्तता, और कूटनीति को प्रमुख स्थान मिलने से व्यक्तिगत चरित्र का पतन होने लगा है। जब राजनीतिज्ञ लोग, धोखे और फरेब से काम लेते हैं, तो साधारण जन क्यों न लें? राजनीति ने राष्ट्र का अपार अहित किया है। वास्तव में साध्य और साधन दोनों पवित्र होने चाहिएँ। किसी भी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सही मार्ग ही अपनाना उचित है, चाहे उसके लिये प्राणों का त्याग ही क्यों न करना पड़े। इसी को

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता–अध्याय २, श्लोक ६२, ६३, ६४.

हम गांधी का सत्याग्रह कहते हैं। इस सिद्धांत को गाँधीजी ने राजनीति, समाज, शिक्षा, धर्म तथा अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त किया और सफलता प्राप्त की। अहिंसापूर्वक सत्य पर डटे रहना, एक ऐसा सिद्धांत है, जिसके सहारे गाँधी जी के सारे कार्यक्रम, टिके हैं। खादी-उत्पादन, अछूतोद्धार, नशाबंदी, स्वराज्य के लिए आँदोलन, बुनियादी शिक्षा और ग्रामसुधार आदि कार्यक्रम देखने में कितने भिन्न-भिन्न हैं परन्तु इनके मूल में, एक ही सिद्धांत दृष्टिगोचर होता है—वह है अहिंसापूर्वक सत्य पर डटे रहना। व्यक्ति के चरित्र का यह एक विशेष गुण है और यह आसानी से मनुष्य को नहीं प्राप्त होता। अहिंसक सत्याग्रही बनने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। गांधी जी शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों से यही अभ्यास कराना चाहते थे। यह एक ऐसा गुण है, जिससे व्यक्ति को प्रत्येक क्षेत्र में सफलता मिल सकती है।

गाँधीजी के उपर्युक्त शिक्षादर्शन से, उनकी बुनियादी शिक्षा का जन्म हुआ है। जिस प्रकार इससे अनेक कार्यक्रमों की सृष्टि हुई, उसी तरह शिक्षा का कार्यक्रम भी इसीसे निकला है। इस शिक्षा का उद्देश्य बालकों को इस योग्य बनाना है कि वे नई सामाजिक व्यवस्था में अपना उचित स्थान ग्रहण कर सकें। ऐसे समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, शिक्षण-विधि को यह रूप, गाँधीजी ने प्रदान किया है। बुनियादी शिक्षा वह आधार-शिला हैं, जिस पर नवभारतीय आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का महल खड़ा होगा।

बुनियादी शिक्षा के आधारभूत सिद्धांत

वर्तमान शिक्षा के दोष—वर्तमान भारतीय-शिक्षा अँगरेजों की देन है। वह हमारे देश की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परम्परा के प्रतिकूल है। कारण यह है कि शिक्षा-पद्धति में विदेशी

आदर्शों का अनुकरण किया गया है। सबसे बड़ी बात यह है इस शिक्षा ने देश की समस्याओं को घटाने के बजाय बढ़ा दिया है। सामाजिक क्षेत्र में, भारतीय समाज को इस शिक्षा द्वारा काफी गहरी क्षति पहुँची है। पढ़े लिखे लोग अंगरेज़ी समाज का अंधानुकरण करने लगे। इससे सामाजिक व्यवस्था के नष्ट होने का भय पैदा हो गया है। आर्थिक क्षेत्र में इस शिक्षा द्वारा बेकारी की समस्या उत्पन्न हुई है। पढ़े-लिखे लोग केवल बाबूगीरी कर सकते हैं, नौकरी के अतिरिक्त कोई भी धंधा करके पेट भरने की शक्ति उनमें आती ही नहीं। इसका परिणाम राजनैतिक क्षेत्र में भी घातक सिद्ध हुआ है। भारतीय-समाज में गुलामी की प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी। इन भारी बुराइयों को दूर करने के लिए, शिक्षा को सुधार का साधन गाँधी जी ने मान लिया और शिक्षा का पुनः संगठन करने की आवाज उठाई। वह कहते हैं—"अगर मेरा बस चले तो कालेज की **शिक्षा को जड़-मूल से बदल दूँ**। और देश की आवश्यकताओं के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ दूँ।[1]

वर्तमान भारतीय शिक्षा में अनेक दोष हैं। बुनियादी शिक्षा के समर्थकों की राय में, यह विज्ञान, शिक्षाशास्त्र तथा मनोविज्ञान के प्रतिकूल है। यह आडम्बरपूर्ण तथा जीवन और वास्तविकता से परे है। इसके द्वारा, बालकों का व्यावहारिक ज्ञान तो बढ़ता नहीं, हाँ वे सिर्फ जबानी जमा-खर्च करने लायक बन जाते हैं। जो कुछ भी ज्ञान उन्हें प्राप्त होता है, वह संगठित नहीं होता। न तो उन्हें मानसिक और न शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। जो विद्यार्थी कक्षा में प्रतिभाशाली जान पड़ते हैं, वही वास्तविक जीवन का सामना करते ही वे असफल हो जाते हैं। दूसरी ओर पुस्तकों की पढ़ाई में फिसड्डी

---

१. हरिजन : लेख–'आलोचनाओं का जवाब'–३१ जूलाई, १९३७

लड़के जीवन में चमक उठते हैं। वास्तव में इस प्रकार की शिक्षा पर व्यय किया जाने वाला धन बेकार जाता है।

इस विषमयी शिक्षा से पीड़ित समाज का उपचार बुनियादी शिक्षा द्वारा हो सकता है। यह बुनियादी शिक्षा दस्तकारी और श्रम को ऊँचा स्थान देती है। इससे मनुष्य आत्मनिर्भर और स्वावलंबी बनता है। इससे बालकों का व्यावहारिक ज्ञान बढ़ता है।

बुनियादी शिक्षा, 'प्राकृतिक जीवन' की ओर—वर्तमान शिक्षण-विधि, अस्वाभाविक और अप्राकृतिक होने के कारण अपना प्रभाव खो बैठी है। आदिमानव जिस ढंग से सीखता था, वही शिक्षा प्राप्त करने का स्वाभाविक तरीका होना चाहिए। मनुष्य ने आज जो इतनी वृहत् संस्कृतिरूपी सम्पति इकट्ठा की है, उसे **उसने पर्यवेक्षण** और **प्रयोग** द्वारा प्राप्त किया है। प्रकृति **का निरीक्षण करके** और उसे **सुधार करके ही**, उसने ज्ञानार्जन करना आरंभ किया था। इस कार्य को करते-करते उसने यंत्रों का आविष्कार तथा व्यवहार करना सीखा। समस्त ज्ञान और विज्ञान के मूल में **हाथ का काम**, दिखाई पड़ता है। इसलिए ज्ञान प्राप्त करने में हाथ का काम ही आधार होना चाहिए। दुर्भाग्य से, लोग इस मूल तत्व को भूल गये और ज्ञानार्जन में **भाषा** को मुख्य साधन बना बैठे। हाथ के काम द्वारा ज्ञान प्राप्त करना ही स्वाभाविक और प्राकृतिक है। आज स्कूलों में भाषा का जिस प्रकार प्रयोग हो रहा है वह पढ़ाने का पूर्णतया अप्राकृतिक ढंग है।

शिक्षण-विधि को प्राकृतिक रूप देने के लिए, गाँधीजी ने हाथ के काम को, ऊँचा स्थान दिया है। आज तक मनुष्य ने जो कुछ उन्नति की है, दस्तकारी की बदौलत की है। कलायें, आविष्कार और दर्शन आदि का जन्म मनुष्य की हस्तक्रिया से हुआ है। भवनों और नगरों का निर्माण, असंख्यक वस्तुओं का उत्पादन, सभी प्रकार की कलायें,

इसी प्रकार उत्पन्न हुई । अपने आप को समझने की क्रिया से, मनोविज्ञान, धर्म और तत्वज्ञान उत्पन्न हुये; आत्मचिंतन भी तो एक क्रिया है। समाज-निर्माण की क्रिया से राजनीति, आचरणशास्त्र, अर्थशास्त्र और नागरिक शास्त्र का जन्म हुआ। अतः इन सबका ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'क्रिया' को आधार मानना उचित होगा। ज्ञान के इस क्रमिक विकास की सीढ़ी को मनुष्य भूल गया है, इसी से वर्तमान शिक्षण-विधि त्रुटिपूर्ण हो गई है। व्यक्तिगत जीवन में, विकास, क्रिया द्वारा ही पूरा होता है। इसलिये भी शिक्षण में, बालकों की ज्ञानेंद्रियों, कर्मेन्द्रियों, और मानसिक शक्तियों की क्रिया को हर प्रकार से उपयोग में लाना आवश्यक है। इसी दृष्टि से बुनियादी-शिक्षा में 'क्रिया' को मुख्य स्थान दिया गया है।

बालकों की क्रिया का उपयोग करने के लिए एक व्यवस्थित विधि होनी चाहिए। हाथ का काम और क्रिया—इन दो प्राकृतिक नियमों का यों ही उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि थोड़े से समय में, बहुत-सी बातें बालकों को बतानी पड़ती हैं। 'भूल और प्रयत्न' के आधार पर चलने से तो बड़ा समय नष्ट होगा। इसलिये, प्रकृति का अंधानुकरण अनुचित है। गाँधी जी ने कोमेनियस की तरह अपने शिक्षा-सिद्धांत प्रकृति से ग्रहण किये हैं, परन्तु उन्हें परिमार्जित करके ही उन्होंने स्वीकार किया है। शिक्षा में प्रकृति का अनुसरण करते हुए उन्होंने, पुस्तकों और अध्यापकों को हटा देने की राय कभी नहीं दी। पथप्रदर्शन के लिए इनकी आवश्यकता है और शिक्षा में इनका स्थान हमेशा बना रहेगा। **आचार्य कृपलानी का** कथन है:—

"जब शिक्षण का माध्यम, भाषा और विधि, दस्तकारी होगी, तो उससे न केवल बालक की मानसिक शक्तियाँ प्रस्फुटित होंगी, वरन् उसे काम में, स्कूल में, साथियों में और अध्यापकों के साथ में वह आनन्द मिलेगा, जो उसे अभी तक कभी नहीं मिलता। अध्यापक

तब, एक निष्ठुर काम लेने वाला व्यक्ति न रह कर, बालकों का मित्र, नेता और पथप्रदर्शक बन जायेगा।"

बुनियादी-शिक्षा द्वारा राष्ट्रोत्थान—प्रत्येक राष्ट्र का भला इसी में है कि वह अपने नागरिकों के लिए एक राष्ट्रव्यापी शिक्षा-नीति सोच समझकर निर्धारित कर ले। इसके बिना राष्ट्र की उन्नति नहीं हो सकती। गाँधी जी ने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया और भारत के लिए राष्ट्रव्यापी बुनियादी-शिक्षा का आयोजन करने का प्रयत्न किया। इस योजना के समर्थन में डा० एरंडेल ने, "ओरियंटल इलस्ट्रेटेड वीकली", में एक लेख लिखा, जो हरिजन, २ अक्तूबर १९३७, में प्रकाशित हुआ। इन्होंने वताया कि समस्त शिक्षा का मूलमंत्र होना चाहिए, **कुछ करना, करके दिखाना**। राष्ट्र का भला तभी हो सकता है, जब उसके नौजवान कर्मठ हों, उनमें चरित्र हो और वे कुछ व्यावहारिक कार्य कर दिखाने में समर्थ हों। कोरे विचारों से कोई लाभ नहीं। शिक्षा द्वारा बालकों की सृजनात्मक शक्ति (Creative power) जाग्रत नहीं होती, तो ऐसी शिक्षा देने से कोई लाभ नहीं। उद्योग-प्रधान शिक्षा द्वारा राष्ट्र का जितना भला होगा, उसका अंदाजा लगाना कठिन है। इसके द्वारा नौजवानों की प्रसुप्त शक्तियाँ जाग उठेंगी और उनके परिश्रम से राष्ट्र पल्लवित हो उठेगा। इसी संबंध में श्रीं दिलखुश दीवान जी का एक पत्र 'हरिजन बंधु' में प्रकाशित हुआ, उसका एक अंश निम्नांकित है:—

"उद्योगों द्वारा राष्ट्रीय और सामाजिक आंदोलनों में बराबर हाथ बटाते रहने के कारण विद्यार्थी-वर्ग बचपन ही से जन-समाज की अथवा सरकार की सहायता करने लगता है··· इस बारे में जितना ही अधिक सोचता हूँ, उतना ही मुझे अधिकाधिक स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वराज्य-साधना और स्वराज्य-संलालन की हमारी खादी, ग्रामोद्योग, शराबबंदी, हरिजन-सेवा, और गाँवों की सफाई वाली

(सर्वोदय) प्राणपोषक प्रवृत्तियों के लिए उद्योग-प्रधान प्राथमिक पाठशालायें बहुत ही सहायक सिद्धि होंगी। विद्यार्थी ही राष्ट्र का सच्चा निर्माण कर सकते हैं, इस सूत्र का नई योजना (बुनियादी शिक्षा) द्वारा कितना सुन्दर प्रयोग होने वाला है।"[१]

बुनियादी शिक्षा केवल दिखावे के लिए नहीं हैं, वरन् यह वैयक्तिक और राष्ट्रीय-जीवन के उत्थान के लिए बनी है। वह मनुष्य को इस योग्य बनायेगी, कि वह भावी भारतीय राष्ट्र का योग्य नागरिक बने, देश की योजनाओं को कार्यान्वित करे और देश की समस्याओं को हल करने में सहायता करे। एक चीनी शिक्षाशास्त्री जेम्स येन(James Yane) का कथन है कि "आज संसार की तीन चौथाई जनता भूखी, नंगी, बेघरबार और अशिक्षित है, दूसरे शब्दों में संसार का तीन चौथाई भाग निराधार है। जब तक यह दशा बनी रहेगी, नव-निर्माण-कार्य की नीव कमज़ोर रहेगी।' आज हम चाहते हैं कि रचनात्मक कार्यों द्वारा शिक्षा दी जाय और शिक्षा द्वारा रचनात्मक और पुनर्निर्माण के कार्य चलाये जायँ। डा० पट्टाभि सीतारमैया ने बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन, सेवाग्राम के अवसर पर, ३० अक्तूबर १९५२ को अपने भाषण में बताया कि बुनियादी शिक्षा द्वारा ग्रामोत्थान में पूरी सहायता की जाय। इसके लिए उन्होंने तीन बातें[२] आवश्यक बताईः—

(१) नागरिकों का समाज इस प्रकार संगठित हो कि उनमें आपस का साधारण परिचय ही न हो, वरन् उनके बीच गहरी आत्मीयता हो।

---

१. हरिजन बधु, १६ अक्तूबर १९३७, दिलखुश जी दीवान का पत्र।
2. Sitaramayya, Dr. B. Pattabhi, : Basic Education, the Need of the Day, p. 19.

(२) कृषि के साथ-साथ छोटे-छोटे कुटीर-उद्योगों का विकास किया जाय, जिससे गाँव की प्रत्येक इकाई, राष्ट्र संघ में, रह कर स्वावलंबी बने।

(३) गाँवों में बिजली जहाँ तक संभव हो पहुँचाई जाय और उसे, कम से कम परिश्रम द्वारा अधिक से अधिक उत्पादन का साधन बनाया जाय।

गाँवों की सम्पन्नता से अनैतिकता दूर होगी। आज सब जगह राजनीति, व्यापार, तथा व्यक्तिगत जीवन में, जो धोखाधड़ी दिखाई देती है, उसे इसी तरह दूर किया जा सकता है। डा० पट्टाभि का मत है कि बुनियादी शिक्षा द्वारा न केवल भारतीय राष्ट्र का भला होगा, वरन् 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श की फिर से स्थापना होगी। इस आदर्श के लिए, एक ऐसे समाज की स्थापना करनी है जिसमें हर विद्यार्थी को विश्वप्रेम और विश्वबंधुत्व का भाव सिखाया गया हो।

आज राष्ट्र को अनुप्राणित करने के लिए, शिक्षा का प्रयोग सभी देशों में हो रहा है। अमरीका में प्रोफेसर ड्यूवी ने शिक्षा द्वारा समाजोत्थान का उपाय बताया है। एक व्यक्ति के कार्यों का समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी और मानसिक दृष्टि से कुशाग्रबुद्धि है, तो समाज को लाभ पहुँचता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा देना आवश्यक है। आज की दुनिया में इतनी अधिक औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति हो चुकी है कि प्रत्येक व्यक्ति को, रेल, जहाज, वायुयान, कारखाना, और खेत आदि का ज्ञान होना चाहिए। इन सबका सामाजिक महत्व भी बताने की आवश्यकता है। कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने इसी दृष्टि से (अ) बौद्धिक विकास, (ब) शारीरिक विकास, (स) और कलपुर्जों के साधारण ज्ञान के लिए शिक्षा की आवश्यकता बताई है।

व्यक्ति की इस शिक्षा का मूल उद्देश्य यह है कि ऐसे व्यक्तियों द्वारा ही राष्ट्र का भला हो सकता है। रूसी शिक्षाशास्त्री पिंकेविश ने लिखा है—"सोवियत राष्ट्र में आर्थिक और सांस्कृतिक पुनर्निमाण में, अधिक से अधिक जनता का सहयोग प्राप्त करना एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। अतः स्कूल छोड़ने के पहले बालकों को इस बात का स्पष्ट ज्ञान हो जाना चाहिए कि श्रमिकों का राष्ट्र कैसे बनाया जा सकता है।" पिंकेविश की बात, भारतीय शिक्षा के लिए ठीक बैठती है। गाँधी जी ने इस तथ्य को समझ लेने के बाद ही बुनियादी शिक्षा का आयोजन किया ताकि इस विधि से शिक्षाप्राप्त व्यक्ति राष्ट्र का निर्माण कर सकें।

आधुनिक युग में शिक्षा का अर्थ पूरी तरह बदल गया है। आज शिक्षा परलोक की तैयारी नहीं कहला सकती। अब तो शिक्षा का उद्देश्य सुयोग्य उपयोगी नागरिक तैयार करना, माना जाता है। जैफरसन (Jafferson) का कथन है—"मेरे मन में यह ध्रुव सत्य जम गया है कि स्वयं जनता ही राष्ट्र की स्वतंत्रता की रक्षा कर सकती है, और यह रक्षा केवल वही जनता कर सकती है, जो शिक्षित है।" हमारा भारतीय राष्ट्र तो अभी शैशवकाल में है। स्वतंत्रता प्राप्त किये हुये केवल थोड़े दिन हुए हैं। विश्व-व्यापी संघर्ष के बीच में राष्ट्र को जीवित रखने के लिए शिक्षित नागरिकों की आवश्यकता है। दूसरे, आज राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान और नई कलायें आदि उत्पन्न होकर विकसित हो रही हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्राचीन शिक्षणविधि पर्याप्त नहीं है। इन सामाजिक और सांस्कृतिक माँगों को पूरा करने के लिए बुनियादी शिक्षा की विधि प्रस्तुत की गई है।

द्वैतवाद (Dichotemy) का अंत और नवीन सामाजिक व्यवस्था—प्राचीन काल से लेकर, लगभग दो शताब्दी पूर्व तक ज्ञान

के क्षेत्र में एक विचित्र प्रकार का द्वैतवाद देखने को मिलता है। यह द्वैतवाद क्या है? पहले मनोवैज्ञानिक क्षेत्र को लीजिए। दार्शनिकों ने 'आत्मा' और 'शरीर', दो अलग अलग वस्तुओं की सत्यता मान ली। भारतीय दर्शन (जैसे गीता) में यही बात मानी गई है। यूरोपीय दार्शनिक डेकार्ट (Decartes) का भी यही मत है। आत्मा, अजर, अमर और सर्वकालीन है; शरीर अनित्य और विनाशशील। आत्मा श्रेष्ठ है; शरीर हेय। मनुष्य की मानसिक शक्ति का आधार आत्मा है, अतः मानसिक कार्य श्रेष्ठ है। शरीर अधम है, इसलिए शारीरिक कार्य का भी कुछ मूल्य नहीं। इस विचारधारा का सामाजिक क्षेत्र में परिणाम देखिये। मानसिक कार्य करने वाले उच्च जाति के माने गए (जैसे भारत में ब्राह्मण) और हाथ से काम करने वाले, दास, अनुचर, शूद्र। यूरोपीय समाज भी इसी आधार पर श्रेणीबद्ध (Stratified) हो गया। यह विचारधारा किसी न किसी रूप में सब जगह प्रचलित है। यहाँ तक कि आर्थिक क्षेत्र में पूंजीपति और मजदूर-वर्गों का जन्म इसी से हुआ। शिक्षा के क्षेत्र में भी मानसिक कार्य का अधिक महत्व माना गया। या यों कहिए कि शिक्षा में केवल मानसिक कार्य ही सब कुछ मान लिया गया। जब भारत में शिक्षा का प्रचार हुआ तो यहाँ के समाज में ऊँच-नीच का भाव दूसरे रूप में पनपने लगा। पढ़े-लिखे लोग, अनपढ़ लोगों को नीची निगाह से देखने लगे। यह स्थिति ठीक न थी। इसे बदलने के लिए, गांधी जी ने शिक्षा में हाथ और मस्तिष्क (Hand and Head) का संतुलित समन्वय करके यह भाव उत्पन्न करने की चेष्टा की, कि मानसिक और शारीरिक कार्यों में पारस्परिक संबंध है। गेस्टाल्ट (Gestalt) के दृष्टिकोण को उन्होंने पूर्ण रूप से अपना लिया। हरिजन में डा० एरेंडेल ने इसके समर्थन में लिखा है :—

"दिमाग का संबंध जितना सर से है, उतना हाथ से भी है।

एक लम्बे अर्से से हमने मस्तिष्कगत बुद्धि को ईश्वर रूप माना है। बुद्धि ने हम पर अत्याचार किया है, उसने जिधर हमें हाँका है हम उधर ही हँक गये हैं। आज नई परिस्थिति उत्पन्न हुई है। उसमें इस बुद्धि का स्थान, एक सेवक का स्थान होना चाहिए। और हमें सादगी को, प्रकृति के सादे सौंदर्य को, हाथ के कला-कौशल को, अर्थात् कलाकार, कारीगर, किसान आदि के हाथ-पैरों के परिश्रम को उच्च और उन्नत मानना सीखना चाहिए"।

हमारे यहां कहा गया है—बुद्धिः कर्मानुसारिणी—अर्थात् कर्म के अनुसार बुद्धि बनती है। यदि शिक्षा में दस्तकारी और कलाओं को स्थान दिया जाय, तो अवश्य ही इससे बालकों की बुद्धि विकसित होगी। बुनियादी शिक्षा में हाथ और मस्तिष्क के कार्य का ऐसा सुन्दर प्रबन्ध इसीलिए किया गया है कि मनोविज्ञान, शिक्षा, समाज तथा आर्थिक क्षेत्र में सभी से यह द्वैतवाद नष्ट हो जाय। जाति-पांति, छुआछूत, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब और विद्वान तथा मजदूर का भेदभाव नष्ट हो जाय।

बुनियादी शिक्षा द्वारा संगठित समाज की स्थापना होगी। वही समाज सच्चा वर्गहीन समाज होगा। सामाजिक और आर्थिक वैषम्य से ही रूस में साम्यवाद का जन्म हुआ और उससे नई सामाजिक व्यवस्था उत्पन्न हुई। यह साम्यवाद भी इस वैषम्य को दूर नहीं कर सका। समाजवाद और साम्यवाद ने आगे चलकर पूंजीवादी चोला धारण कर लिया। पूंजीवाद को मिटाने में वे असफल रहे हैं। विल्फ्रड वेलॉक (Wilfred Wellock) का कहना है कि पूँजीवाद को दूर करने के लिए कोई मार्ग ढूँढ़ना है और हमारा मत है कि वह उपाय है गाँधी जी की बुनियादी शिक्षणविधि। मानवता को विनाश से बचाने के लिए उसी का सहारा लेना होगा। तभी **राम-**

राज्य बनेगा; रामराज्य-व्यवस्था ही उन दोषों को दूर कर सकेगी, जो साम्यवाद द्वारा दूर नहीं हो सके हैं ! संसार के मानव समाज में में अब भी 'शासक' और 'शासित' दो वर्ग बने हुए हैं। यदि शासित देशों में बुनियादी शिक्षा द्वारा ऐसे नागरिक उत्पन्न कर दिये जायँ, जो स्वावलम्बी हों, तो शोषण का अपने आप अंत हो जायगा और सारे संसार में वर्गहीन समाज वन जायेगा। शिक्षा द्वारा मनुष्य शांतिप्रिय और संतोषी बनता है। अतः युद्ध की आशंका नष्ट हो जायगी। शस्त्रास्त्रों की भाग दौड़ का अंत होगा।[1]

टुकड़ों-टुकड़ों और फिरकों में छिन्न-भिन्न समाज को संघटित बनाने का काम शिक्षा पूरा कर सकती है। प्रिंस क्रोपाटकिन (Prince Kropatkin) नामक एक क्रांतिकारी लेखक ने आजकल की पुरानी शिक्षण-विधि में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता वताते हुए कहा है कि समाज को मानसिक कार्य करने वालों और शारीरिक कार्य करने वालों—दो वर्गों में बाँटने से बचाने के लिए हम दोनों क्रियाओं को अलग-अलग मानने का विरोध करते हैं! मानसिक शिक्षा या मशीन की शिक्षा, दो अलग-अलग वातें नहीं हैं। इससे घातक विषमता पैदा होती है। शिक्षा सर्वांगीण होनी चाहिए। अठारह या बीस साल के बालक जब पढ़ाई के बाद स्कूल से निकलें तो उन्हें हर बात का साधारण ज्ञान होना चाहिए ताकि वे संसार में अपना महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर सकें।

वर्ण-व्यवस्थावाला समाज एक विशेष परिस्थिति के अनुकूल था। व्यक्ति की योग्यता के आधार पर यदि वर्ण-व्यवस्था रहे तो शायद उससे लाभ भी हो, परन्तु जन्म के आधार पर वर्णों का

---

1. Wellock, Wilfreed—Nai Talim and The Social Order, pp 12 to 20.

बनना हानिकारक सिद्ध हुआ है। इससे व्यक्ति का विकास रुक गया और ऊँच-नीच का भाव पैदा होने से समाज का एक बड़ा अंग निकम्मा हो गया। आगे चलकर उन्हें गुलाम बनाने और उनका शोषण करने की प्रवृत्ति जोर पकड़ गई। इससे भारतीय-समाज अधोगति को प्राप्त हो गया। बुनियादीशिक्षा द्वारा इस दोष का परिहार करना होगा।

सम्पूर्ण व्यक्ति (Whole Man) की शिक्षा—प्राचीन ढंग की शिक्षा से मनुष्य का जीवन एकांगी हो जाता है। साहित्य, दर्शन और धर्म की यदि प्रधानता है, तो मनुष्य इस लोक से उदासीन हो जाता है और यदि वैज्ञानिक विषय अधिक पढ़ाये जायँ तो उसमें भौतिकता की भावना अधिक बलवती हो जाती है। दोनों दशाओं में मनुष्य का जीवन एकांगी हो जाता है। प्राचीन साहित्यिक शिक्षा के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आज व्यावसायिक और यांत्रिक शिक्षा का प्रचार हो रहा हैं। शिक्षा का इस दिशा में जाना उतना ही बुरा है, जितना, पहले की शिक्षा में परलोक के महत्व का अधिक होना बुरा था। विल्फ्रेड वेलॉक का मत है कि शिक्षा में हर प्रकार के ज्ञान का समन्वय होना चाहिए। ऐसी शिक्षा से ही 'सम्पूर्ण व्यक्ति' बनता है। ज्ञान को टुकड़ों में विभाजित करके बताना बहुत बड़ी भूल है। विज्ञान और धर्म, दर्शन, अर्थ, नीत्ति तथा आध्यात्म में जो चौड़ी खाई उत्पन्न हो गई है, उसे पाटना पड़ेगा। वैज्ञानिक प्रगति से आज मनुष्य 'मशीन' बन बैठा है। क्या मनुष्य मशीन है ? वास्तव में उसे यंत्र समझना मनुष्यत्व का अपमान है। मनुष्य में अगणित रचनात्मक शक्तियां हैं। वह सृष्टा है। उसे निर्जीव यंत्र मानना अनुचित है। यदि शिक्षा मनुष्य को यंत्रवत् काम करना सिखाती है, तो उसे दूर से ही प्रणाम करना चाहिए। 'सम्पूर्ण मनुष्य' उत्पन्न करने के लिए ऐसी शिक्षा की आवश्यकता

है, जो मनुष्य की आध्यात्मिक और शारीरिक शक्तियों का अभिवर्धन करे।

ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति होती जा रही है, वैसें-वैसे वैशेपिक ज्ञान (Specialization) की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति वढ़ती जाती है। विशेपज्ञ (Specialist) का जीवन एकांगी होता है। उदाहरण के लिए डाक्टर को लीजिये। एक डाक्टर, सबेरे से शाम तक, अपने पेशे (Profession) में लगा रहता है। विद्यार्थी-जीवन में, उसने केवल चिकित्सा-शास्त्र को छोड़कर और कुछ नहीं पढ़ा है। धर्म, न्याय, दर्शन, साहित्य और व्यवसाय आदि का उसे साधारण ज्ञान भी नहीं होता। इससे समाज विघटित (Disintegrated) होता जाता है। यदि विशेषज्ञ बनने की यही गति रही, तो सारा मानव-समाज अनेक खंडों में बँट जायगा। इस कमी को दूर करने के लिये 'सम्पूर्ण व्यक्ति' बनने की शिक्षा देनी होगी। बुनियादी शिक्षा, इसी उद्देश्य को लेकर चालू की गई है। इसमें एक ओर हाथ के काम का प्रबंध तथा दूसरी ओर चिंतन और मनन का भी अवसर दिया जाता है। कताई और बुनाई के काम में न केवल हाथ का अभ्यास होता है, वरन् एकाग्रता और एकांत-सेवन की आदत भी पड़ती हैं। इन अभ्यासों से सम्पूर्ण व्यक्ति का निर्माण होता है और ऐसे व्यक्तियों से ही संघटित जमाज वनता है।

सानुवंध का सिद्धांत—स्कूलों में प्रत्येक विषय इस प्रकार अलग-अलग पढ़ाये जाते हैं, कि उनमें परस्पर कोई भी संबंध नहीं जान पड़ता। पढ़ाने की यह विधि बड़ी हानिकारक है। मानव-संस्कृति एक समष्टि है, जो संघटित (Organic) है। स्कूल के प्रत्येक विषय उसके अंग हैं। यह तत्व बालकों की समझ में कभी नहीं आता। टुकड़े-टुकड़े करके ज्ञान को सिखाना अनुचित है। इस दोष को दूर करने के लिये गांधीजी ने सानुबंध के सिद्धांत (Correlation) का समावेश किया। इसका प्रयोग ड्यूवी ने प्रोजेक्ट के द्वारा

किया। हरबार्ट ने भी इतिहास को केन्द्र मान कर सब विषयों को उससे सम्बन्धित करके पढ़ाने का ढंग बताया था। गांधीजी ने किसी ग्रामीण-उद्योग को केन्द्र मान कर सभी विषयों को पढ़ाने का मंत्र बताया। वे कहते हैं:—

"मैं मानता हूँ कि प्राइमरी स्कूलों को स्वावलंबी बनाने के लिए हमारी पहली नजर कताई वगैरा के उद्योग पर पड़ती है। इसमें कपास की बिनाई से लेकर बेलबूटेदार यानी नक्काशीदार खादी बनाने तक की क्रियाओं का समावेश हो जाता है। इसके लिए फी घंटा कम से कम दो पैसे की मजदूरी गिनी जानी चाहिए। स्कूल का काम पांच घंटे का रहे, जिसमें चार घंटे मजदूरी के और **एक घंटा उस उद्योग के शास्त्र को और दूसरे विषयों को**, जो उद्योगों के साथ न सिखाये जा सकते हों, सिखाने का रहे। उद्योग सिखाते समय जो विषय सिखाये जायेंगे, उनमें एक हद तक या पूर्ण हद तक इतिहास, भूगोल और गणित शास्त्र का समावेश रहेगा। इसमें भाषा के ज्ञान का, उसके अंगरूप व्याकरण का, और शुद्ध-शुद्ध उच्चारण का भी समावेश होगा। क्योंकि शिक्षक उद्योग को सब प्रकार के ज्ञान का वाहन समझेगा और उसके द्वारा बालकों की की बोली को शुद्ध और स्पष्ट बनायेगा। इस प्रयत्न में व्याकरण का ज्ञान वहं सहज ही करा सकेगा। गिनने की क्रिया तो बालकों को शुरू से ही सीखनी होगी। अर्थात् ज्ञान का प्रारम्भ गणित से होगा। सफाई और सुघराई कोई अलग विषय नहीं रहेगा। बालकों के प्रत्येक काम में सफाई और सुघराई होनी ही चाहिए। साफ-सुथरे-पन के साथ ही वे स्कूल में प्रवेश करेंगे। इसलिए इस वक्त मेरी कल्पना में ऐसा एक भी विषय नहीं आता, जो उद्योग के साथ-साथ बालकों को न सिखाया जा सके।[1]

---

१. हरिजन बंधु, १९ सिसम्बर १९३७।

सम्पूर्ण मनुष्य की शिक्षा का जिक्र हम पहले कर चुके हैं। गांधीजी ने विषयों को सानुबंध द्वारा पढ़ाने का आयोजन सम्पूर्ण व्यक्ति की शिक्षा के लिए ही किया है। डा०पट्टाभि[1] कहते हैं कि बुनियादी शिक्षा द्वारा जब आप सम्पूर्ण पुरुष और सम्पूर्ण स्त्री बना लेंगे, तभी संगठित समाज की रचना आप कर सकेंगे। जागरुक, बुद्धिमान, विवेकी, तथा मनुष्यत्वपूर्ण व्यक्ति कैसे तैयार किया जा सकता है।? क्या पुस्तकों की रटाई से ऐसा हो सकता है? यह तो सानुबंधपूर्ण शिक्षण द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। सानुंवध का केन्द्र 'श्रम' होना चाहिए। श्रम के सम्बन्ध में हम आगे कहेंगे। श्रम मनुष्य-मनुष्य में, राष्ट्र-राष्ट्र में एकत्व स्थापित करता है। किसी हाथ के काम को लेकर, सारी शिक्षा पूरी की जा सकती है। उदाहरण के लिए रुई लीजिए। रुई की गर्द साफ करके, बिनौला दूर करके, सूत कातना, फिर सूत से कपड़े बुनना, कोई साधारण खेल नहीं है। इस क्रिया के सहारे कृषि उद्योग, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति और इतिहास आदि विषय पढ़ाये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य कृपलानी ने लिखा है:—

"सर्वोत्तम शिक्षण-विधि वह है, जो जीवन से मिलती-जुलती हो। इस विधि द्वारा कई विषय जो परस्पर संबद्ध हैं और जो वास्तविक जीवन में मिले-जुले ढंग से आते हैं, पढ़ाये जाने चाहिए। प्रारम्भ में पढ़ाई इसी तरह होनी चाहिए, आगे चलकर भले ही विशेष-ज्ञान के लिए, हर एक विषय को अलग-अलग पढ़ाया जाय। यह विशेष ज्ञान भी अत्यधिक प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के लिए होना चाहिए।…खेद की वात है कि शिक्षण-कार्य में विषयों को अलग-अलग माना जाता है।…इसी से शिक्षा जीवन से अलग हो गई है।

1. Dr. Pattabhi : Basic Education : The Need of the Day.

"...दस्तकारी को केन्द्र मानकर दी जाने वाली शिक्षा में विषयों का बनावटी और कृत्रिम अलगाव नहीं रह जाता।"[1]

समवाय पद्धति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि विषयों को स्वाभाविक ढंग से पढ़ाने में सुविधा हो जाती है। "जिस प्रकार एक चुम्बक लोहे के अलग-अलग टुकड़ों को अपनी ओर खींच लेता है, उसी प्रकार बालक की रुचि दस्तकारी में केन्द्रित होकर इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, सामान्यविज्ञान, भाषा, गणित और कला आदि विविध विषयों की जानकारी उसे स्वाभाविक ढंग से प्राप्त होती रहती है।"[२]

'यंत्र' के स्थान पर 'दस्तकारी'—गाँधी जी की बुनियादी शिक्षा और रूसी शिक्षण-पद्धति में बहुत बड़ी समानता है। लेनिन ने उद्योग-प्रधान शिक्षा पर बहुत जोर दिया था। गाँधीजी की भाँति लेनिन का भी यही विचार था कि उद्योग-प्रधान शिक्षा द्वारा ही, वर्गहीन समाज कायम किया जा सकता है। रूसी शिक्षा की ज्ञाता बीट्रिस किंग (Beatrice King) ने एक स्थल पर लिखा है कि उद्योग-प्रधान शिक्षा से ही जीवन का ज्ञान प्राप्त होता है। बालक श्रमिक-समाज का सदस्य इसी शिक्षा द्वारा बन सकता है। बालक एक सच्चा श्रमिक बनता है क्योंकि उसे न केवल वस्तुओं को बनाना आता है वरन् वह वस्तुओं का सांस्कृतिक महत्व भी समझने लगता है। यहाँ तक रूसी शिक्षा और बुनियादी शिक्षा में बहुत बड़ी समानता है। परन्तु एक बात में, दोनों एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। रूस में उद्योग प्रधान शिक्षा, 'यंत्रों' का प्रयोग सिखाने के लिए है।

1. Kriplani, Acharya : The Latest Fad—Basic Education.
२. मिलापचन्द्र दुबे : बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त, अध्याय १९, पृष्ठ १०८।

गाँधीजी दस्तकारी के समर्थक हैं। वे यंत्रों का बहिष्कार करने के समर्थक हैं। उन्होंने यन्त्र-युग (Machine age) के विरुद्ध भीषण प्रतिक्रिया करना आरम्भ कर दिया। गाँधीजी ने बुनियादी शिक्षा में 'यंत्र' के स्थान पर 'दस्तकारी' का प्रयोग किया। ऐसा उन्होंने क्यों किया, इस बात को ज़रा विस्तार से समझने की आवश्यकता है।

कार्लमार्क्स ने शोषण का अन्त करने के लिए, जो मार्ग सुझाया, वह पूर्णरूप से, इस समस्या का अंत नहीं है। उत्पादन के साधन चाहे राष्ट्र के हाथ में रहें या पूँजीपतियों के, मनुष्य का दुख दूर नहीं हो सकता। जहाँ उत्पादन बहुत बड़ी मात्रा में होता है, वहाँ हाथ से श्रम करने में जो आध्यात्मिक सुख मिलता है, वह एक श्रमिक को यन्त्र द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता। वेलॉक का मत है—"मनुष्य केवल धन के लिए श्रम करता हैं। वह भौतिकतावादी हो जाता है। वह यही समझता है कि वह सब प्रकार का सुख और आनन्द पैसे के द्वारा खरीद सकता है। इससे इच्छायें और आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं और (यन्त्र द्वारा जल्दी काम समाप्त करने से बचा हुआ) समय मनुष्य उन आवश्यकताओं को पूरा करने में लगा देता है।"[1] इसलिए यन्त्र की उपासना करना केवल भ्रम है। साम्यवाद यंत्र की उपासना करके, मनुष्य का कष्ट दूर करने में सफल नहीं हो सका है। गाँधीजी नें उस कमी को पूरा करने की चेष्टा की है। इन्होंने मानव-मात्र से, यन्त्र का बहिष्कार करने और दस्तकारी को अपनाने की सलाह देकर एक नया क़दम उठाया है। उन्होंने यंत्रयुग के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक आंदोलन को जन्म दिया। वर्तमान काल में, यंत्र ही मनुष्य के सारे कष्टों की जड़ है। यंत्रों के रहते हुए मनुष्य का कष्ट दूर नहीं हो सकता।

---

1. Wilfred Wellock : Nai Talim and the Social Order, pp. 1 to 5.

यंत्रों के आविष्कार के बाद ही औद्योगिक क्रांति आरम्भ हुई। ग्रामोद्योग और दस्तकारी का विनाश, इसी क्रांति के कारण हुआ। गांवों का प्राचीन सांस्कृतिक जीवन, जो सीधा-साधा, सरल और सस्ता था, नष्ट होने लगा और गांवों के स्थान पर औद्योगिक नगरों का महत्व बढ़ गया। कारीगर के स्थान पर मशीन की पूजा की जाने लगी। दस्तकारी के नष्ट होने से पारिवारिक जीवन विघटित होने लगा। कल-कारखानों और नगरों में आबादी बढ़ गई। मनुष्य प्रकृति से धीरे-धीरे हटकर, अप्राकृतिक जीवन बिताने का आदी हो गया। मनुष्य को नयी आवश्यकताओं का अनुभव होने लगा और उन्हें पूरा करने के लिए, उत्पादन बढ़ाने का प्रश्न आया। उत्पादन बढ़ने से अत्यधिक लाभ का लोभ बढ़ा। यह आवश्यक था कि यह निर्णय हो कि यह लाभ किस की जेब में जाय। जहाँ यह कुछ लोगों के हाथों में गया, वहाँ पूंजीवाद का रोग फैला। वहाँ के समाज में ऐसी व्यवस्था कायम हो गयी जिसमें मनुष्य को निर्जीव मशीन की तरह अधिक से अधिक काम में लगाये रखने और उसके श्रम से लाभ उठाने की शोषण-प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी। अक्षय संपति का स्वामी बनने के लोभ से ये पूंजीवादी स्वार्थी बन गये और उन्होंने उद्योग-धंधों और व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करके, निम्नवर्ग के लोगों को **गरीबी और अज्ञानता** के गढ़े में ढकेल दिया। यहीं नही मशीनों के जरिये, जब उत्पादन इतना अधिक बढ़ जाता है कि देश के भीतर उसकी खपत नहीं हो पाती तो ऐसे पूँजीवादी, अपने पड़ोसी राष्ट्रों पर अपनी नजर डालते हैं। पहले वे अपने देश का शासन हथिया-कर, दूसरों को गुलाम बनाने का स्वप्न देखने लगते हैं। बस, इसी प्रवृत्ति से देश के भीतर और बाहर संघर्ष का जन्म होता है। जहां उत्पादन के साधन राष्ट्र के हाथ में हैं (जैसे रूस में) वहां भी मनुष्य सुखी नहीं हैं। वहाँ अधिनायकतंत्र और नौकरशाही का बोलबाला है। वहां मनुष्य न तो स्वतंत्र है और न प्रगतिशील।

वहाँ व्यक्तित्व-विकास का अवसर नहीं मिलता क्योंकि वह व्यवस्था स्थायी बनाये रखने के लिए समाज में एक ही प्रकार की विचार-धारा को प्रश्रय देना पड़ता है। पूंजीवादी और साम्यवादी, दोनों व्यवस्थाओं का जन्म यंत्र से हुआ है और दोनों व्यवस्थायें मनुष्य की उन्नति करने में सफल नहीं हुई हैं। जब तक यंत्र रहेगा, 'शोषक' और 'शोषित' दोनों बने रहेंगे। इस संबंध में कालेलकर ने स्वयं कहा है:—

"आज हमारे देश में आधा यंत्रयुग तो आ ही गया है। हम कलों की चीजें बनाते तो नहीं, किन्तु खरीदते अवश्य है। इसलिए हम एक 'एक्सप्लायटेड नेशन' यानी शोषित राष्ट्र हैं। अगर हम कलों द्वारा चीजें वनाने लगें, तो हम 'एक्सप्लायटिंग नेशन' यानी शोषक राष्ट्र भी बन जायेंगे। इस प्रकार अगर पैंतीस करोड़ की आबादी वाला एक संस्कारी और उद्योगी राष्ट्र एक्सप्लायटिंग राष्ट्र बन गया, तो एक भगवान ही उससे दुनियाँ को बचा सकता है। फिर तो हमें अपनी बनाई हुई चीजें दुनियाँ के सब बाज़ारों में जबरदस्ती बेचनी होंगी।"

आवश्यकता और उत्पादन के बीच, जो प्राकृतिक संतुलन है, उसे यंत्र नष्ट करता है। प्रकृति ने मनुष्य को सीमित शक्ति दी; उसके पास केवल इतनी शक्ति है जिननी निज की आवश्यकताओं को पूरी करने में आ सकती है। मशीन की सहायता से, उत्पादन आवश्यकता से कहीं अधिक होता है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन से 'युद्ध' की आशंका बढ़ती है। इस दृष्टि से यंत्र 'हिंसा' को जन्म देता है। इस तत्व को समझ कर ही गांधी जी ने मशीन का बहिष्कार करने और उसके स्थान पर चरखे को अपनाने की सलाह दी। इसलिए उन्होंने शिक्षा में ग्रामोपयोगी हाथ के धंधों को स्थान दिया है। उद्योगमयी शिक्षा और अहिंसा का अभिन्न सम्बन्ध है।

इस दोनों के द्वारा वैचारिक क्रान्ति (Intellectual revolution) होगी जो फ्रांस तथा रूस की क्रांतियों से कहीं अधिक व्यापक तथा अद्भुत होगी। अखिल भारत-शिक्षा-परिषद् के प्रारम्भिक भाषण (Opening Speech) के अन्त में गांधी जी कहते हैं:—

"हम तो उन्हें (बालकों को) अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपने देश की सच्ची प्रतिभा का प्रतिनिधि बनाना चाहते हैं। और मेरे ख्याल में, स्वावलंबी प्राथमिक शिक्षा के सिवा दूसरे किसी ढंग से उन्हें ऐसा बना नहीं सकते। इस मामले में **यूरोप** हमारा आदर्श नहीं बन सकता क्योंकि वह हिंसा में विश्वास करता है और इसीलिए उसकी तजवीजें और काररवाइयाँ हिंसा पर बनी रहती हैं। **रूस** ने जो कामयाबी हासिल की है, उससे मैं कभी इन्कार नहीं करता। लेकिन मानना होगा कि उसका सारा दारोमदार जोर-जबर और हिंसा पर रहा है। **अगर हिन्दोस्तान ने हिंसा को छोड़ देने का निश्चय कर लिया है, तो उसे जिस अनुशासन में होकर गुजरना पड़ेगा, शिक्षा का यह तरीका उसका एक खास अंग होगा।** हमसे कहा जाता है कि इंगलैंड शिक्षा पर लाखों रुपया खर्च करता है और अमेरिका का भी यही हाल है, मगर कहने वाले भूल जाते हैं कि उनका यह धन लूट का धन होता है। **लूट या शोषण की इस कला को उन्होंने** विज्ञान का रूप दे रक्खा है, और यही वजह है कि आज वे अपने बालकों को इतनी मँहगी शिक्षा दे सकते हैं। लेकिन हम शोषण की बात न तो सोच सकते हैं और न सोचना पसंद ही करेंगे इसलिये हमारे पास शिक्षा की इस अहिंसात्मक योजना के सिवा और कोई उपाय रह भी नहीं जाता।"[1]

भारत के लिये यह शिक्षा उपयुक्त है। हम इंगलैंड, रूस या अमेरिका का अनुकरण भूल कर भी न करें क्योंकि हम शोषण का

---

1. Educational Reconstruction, PP. 52-53.

विनाश करना चाहते हैं और बिना शोषण के खर्चीली शिक्षाविधि चालू नहीं की जा सकती।

यंत्रों के कारण मानव-जीवन का रूप बदलता जा रहा है। जीवन अधिकाधिक 'याँत्रिक' होता जा रहा है। हर एक व्यक्ति मशीन की तरह, बँधे हुए ढंग से काम करने लगा है। जीवन से 'मौलिकता' 'नवीनता' और 'सृजन' मानों नष्ट होते जा रहे हैं। शिक्षा द्वारा जिन गुणों का अभिवर्धन होना चाहिए, यंत्र उन्हीं को नष्ट करते हैं। इसलिए 'शिक्षा' और 'यंत्र' दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। यंत्र हमारी भावना और विचारशक्ति का हनन करते हैं। आज मनुष्य का जीवन इतना नीरस और शुष्क क्यों है? यंत्रों ने यह स्थिति पैदा कर दी है। दस्तकारी से मानसिक संतोष तथा सामाजिक संगठन दोनों प्राप्त होते थे। यंत्र ने उन्हें नष्ट कर दिया। यंत्रों से सामाजिक वर्ग बने। अमीर-गरीब का भेद इसी से पैदा हुआ। अमीरों की शिक्षा का महत्व बढ़ा। उनकी शिक्षा में बौद्धिक और मौखिक कार्य अधिक था, वही शिक्षा श्रेष्ठ मानी जाने लगी। गरीबों की शिक्षा, जिसमें दस्तकारी प्रधान थी, त्याज्य तथा हेय बन गई। यंत्रों से इतनी अधिक बुराइयों का जन्म हुआ है कि मानव समाज में हलचल मची हुई है। अतः यंत्र के स्थान पर दस्तकारी द्वारा शिक्षा का आयोजन होना चाहिए। इस शिक्षा द्वारा नई आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था उत्पन्न होगी। इस व्यवस्था में व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता और मौलिकता का पूरा ध्यान रक्खा जायगा।

शारीरिक श्रम का महत्व—फ्रोबेल और मांटेसरी के विचारों से मिलते-जुलते गाँधीजी के विचार हैं। उनका विश्वास है कि शारीरिक श्रम द्वारा बौद्धिक शारीरिक और आध्यात्मिक, तीनों प्रकार का विकास आसानी से हो जाता है। श्रमयुक्त काम करने से कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों, दोनों का विकास होता रहता है। काम द्वारा

मस्तिष्क पुष्ट होता है और विकसित मस्तिष्क द्वारा काम में कुशलता आती है। "भोजन में जैसे चूना हमारी हड्डियों को बनाता है, नमक रक्त को शुद्ध करता है, प्रोटीन माँसपेशियों को बनाते हैं और शकर आदि पदार्थ शक्ति देते हैं; वैसे ही काम भी अपने आखंड स्वरूप में मनुष्य के स्नायुओं का विकास करता है और उसकी कल्पना-शक्ति, तथा उसके विवेक और साहस की वृद्धि करता है।"[१] उद्योग द्वारा पढ़ाई से यही लाभ है।

स्कूल में उद्योग द्वारा जो पढ़ाई होगी उसमें केवल सादे ढंग से औजारों का प्रयोग नहीं बताया जाता, वरन् उस उद्योग का शास्त्र (Theory) भी बताया जाता है। यह शास्त्र बालक की बौद्धिक शक्ति को बढ़ाने में सहायता देता है। हाथ से काम करते हुये, इस शास्त्र का जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह पूरा होता है। दूसरी ओर शारीरिक श्रम द्वारा ही कोई ठोस कार्य किया जा सकता है। बालक उत्पादक के रूप में राष्ट्र की संपत्ति बढ़ाने में योग देते हैं। राष्ट्र उनके लिये जो कुछ करता है उसके बदले में उत्पादन बढ़ाकर वे राष्ट्र का ऋण चुका देते हैं। प्रत्येक विद्यार्थी जब शारीरिक श्रम करेगा तो श्रम का मूल्य समझने लगेगा। आज श्रमिक वर्ग को जिस तरह नीची निगाह से देखा जाता है, और शोषण तथा छुआछूत की जो समस्यायें पैदा हैं, उनका अंत हो जायगा। गाँधी जी कहते हैं—

"हमारी आदत हो गई है कि हम गाँवों के उद्योग-धंधों को कोई चीज नहीं समझते। क्योंकि हमने शिक्षा को शारीरिक श्रम से अलग रक्खा है। शारीरिक श्रम को कुछ हल्का स्थान दिया गया है, और वर्णसंकरता के प्रचार के कारण आज हम कतिनों, जुलाहों, बढ़इयों और मोची वगैरा को, हलकी या गुलाम जाति का समझने

---

१. मिलापचन्द्र दुबे : बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त, अध्याय १६, पृष्ठ ९३-९६।

लगे हैं। चूंकि हमने उद्योग को कुछ हलका समझा, यानी बुद्धिमानों की शान के कुछ खिलाफ समझा, इसीलिये हमारे यहां **काम्पटन और हारग्रीव** के समान यंत्र-शास्त्री उत्पन्न न हुए। यदि हमने इन धंधों की स्वतंत्र प्रतिष्ठा मानी होती, और इनके दर्जे को विद्वत्ता के समान ऊँचा समझा होता, तो हमारे कारीगरों के अंदर से भी बड़े-बड़े आविष्कारक अवश्य पैदा होते।[१]"

परिश्रम करने से शोषण की प्रवृत्ति बढ़ती है। उसी से हिंसा का जन्म होता है। विनोबा भावे का विचार है—"असलियत यह है कि आज दुनिया के ज्यादातर दुख शरीर के परिश्रम को छोड़ देने से पैदा हुए हैं।......आज हम लोगों में बहुतेरे ऐसे हैं, जो खुद तो परिश्रम छोड़ बैठे हैं मगर दूसरों के परिश्रम से लाभ उठाते हैं। गरीब लोग मेहनत करते हैं और हम उनकी मेहनत का फल चखते हैं।" बस, यहीं से शोषण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। जिस शिक्षा में हाथ का स्थान नहीं, वह शोषकवर्ग तैयार करती है।

आजकल शारीरिक श्रम से बचने की एक प्रथा सी चल पड़ी है। मशीनों का निर्माण इसी दृष्टि से किया जा रहा है। मनुष्य ने पहले पशुओं और अब मशीनों का प्रयोग करके श्रम से बचने का निरंतर प्रयत्न किया है आजकल उसी व्यक्ति को सबसे अधिक चतुर मानते हैं जो स्वयं कम से कम काम करे और दूसरों से अधिक से अधिक काम ले! यही प्रवृत्ति शोषण का आधार है। इससे समाज में असंतुलन पैदा होता है। धन-संचय का उद्देश्य भी जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के स्थान में दूसरों पर अधिकार जमाना और उनको दासत्व के बंधन में बांधना ही बनता जा रहा है जिससे राष्ट्र की संस्कृति का ह्रास हो रहा है।[२] दूसरी ओर

---

1. Educational Reconstructon, p. 48
२ मिलापचन्द्र दुबे:—बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त, पृष्ठ ९५।

बुनियादी शिक्षा में शारीरिक श्रम का ऊँचा स्थान है। सभी बालक, चाहे जिस जाति के हों, शारीरिक श्रम और बौद्धिक कार्य साथ-साथ करते हैं।

हाथ द्वारा काम करने वाला श्रमिक अपने काम में अपनी आत्मा और अपने हृदय का चरित्र उतार देता है। उसकी आत्मा का सौन्दर्य श्रम द्वारा विकसित होता है। श्रम, आंतरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से सृजनात्मक है। श्रम करने से शोषण का अंत भी होता है क्योंकि मनुष्य, मनुष्य के लिये काम करता है और एक दूसरे के प्रति 'स्नेह' उत्पन्न हो जाने से, किये गये कार्य का उचित मूल्य मनुष्य को मिल जाता है। इस प्रकार श्रम समाज को, प्रेम द्वारा, एक सूत्र में बाँधता है। जब तक श्रम का महत्व नहीं बढ़ता, समाज की उन्नति की आशा करना व्यर्थ है। गाँधीजी ने शैक्षिक कार्यक्रम में चरखा और खादी का समावेश केवल बालकों को पैसा पैदा करने के योग्य बनाने के लिए नहीं किया है। शारीरिक श्रम से, गाँधीजी का विचार है कि, बालकों में त्याग और सादगी आती है। उनमें लोकेषणा का भाव प्रबल होता है। बालक न केवल आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होते हैं वरन् उनकी सामाजिक दासता का भी अंत होता है। आज कितने ही लोग ऐसे हैं जो अपने काम को अपने आप न कर सकने के कारण 'नाई' 'धोबी' 'मेहतर' आदि के गुलाम बने हुए है। बुनियादी शिक्षा द्वारा 'सर्वोदय' समाज की स्थापना होगी। जब हर एक मनुष्य अपने घरेलू काम, जैसे सफाई, धुलाई आदि अपने आप करने लगेगा तो सामाजिक वैषम्य अपने आप दूर हो जायगा।

गांधीजी को देश में प्रचलित विदेशी प्रणाली पर आधारित श्रमविहीन शिक्षा से बड़ा असंतोष था। भारत जैसे देश में जहां पर सत्तर प्रतिशत से अधिक लोग कृषि तथा अन्य श्रम के कार्य करते

हैं, बाबूगीरी सिखाने वाली शिक्षा कैसे सफल हो सकती है ? वर्तमान बेकारी की समस्या का मूल कारण यह बुरी शिक्षा है। श्रम से ही मनुष्य का गौरव बढ़ता है और जब श्रम करके विद्यार्थी अपने बल से उपार्जित धन द्वारा अपनी शिक्षा स्वयं पूरी करता है, तो उसे बड़ा संतोष प्राप्त होता है और साथ ही इस बात की स्मृति भावी जीवन में सतत प्रेरणा प्रदान करती रहती है।[1]

सोवियट रूस की साम्यवादी व्यवस्था में 'श्रम' को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। इसका कारण यह है कि 'श्रम' द्वारा ही धन उत्पन्न होता है। गाँधी जी के विचारों की मौलिकता इस बात में है, कि वे श्रम को, मनुष्य की आध्यात्मिक शक्तियों के विकास का साधन मानते हैं। इसीलिए उन्होंने 'श्रम' को शिक्षा में समाविष्ट करके, जन-समाज का बहुत बड़ा कल्याण किया है। जहाँ तक श्रम द्वारा पढ़ाई में सुविधा का प्रश्न हैं, कार्लमार्क्स ने अपनी पुस्तक 'कैपिटल' (Capital) में लिखा है कि बालकों की प्रारंभिक शिक्षा में, श्रम को स्थान मिलना चाहिए। इससे शिक्षा अधिक सफल होती है। कलाओं की सफलता से हमें इस बात का प्रमाण मिल जाता है कि शारीरिक श्रम और संस्कृति का मेल हो सकता है। अध्यापकों और फैक्ट्री के निरीक्षकों की रिपोर्ट से पता चलता है कि बालक श्रम द्वारा कक्षा की पढ़ाई से कहीं अधिक ज्यादा सीखते हैं। इसलिए स्कूलों में, कक्षा-शिक्षण के साथ-साथ, कुछ शारीरिक श्रम का भी प्रबंध होना चाहिए। बौद्धिक कार्य से शरीर और शारीरिक कार्य से बुद्धि का विकास होता है।

वास्तव में बालकों की शिक्षा में श्रम और स्वावलंबन का समावेश करने की प्रेरणा, गाँधीजी को रूसो तथा रस्किन से प्राप्त हुई

---

1. Patel, M. S:—The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi. p. 103–104 and quotations from 'Young India' of 1—9—21 and 2—8—28.

है। श्री महादेव देसाई ने इस बात का उल्लेख करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि गाँधी जी श्रम और हाथ के काम से विहीन शिक्षा को अपूर्ण मानते थे।[1] अफ्रीका में टाल्स्टाय फार्म पर प्राप्त उनके अनुभवों ने भी उन्हें इन्हीं विचारों को मानने पर बाध्य किया।

शिक्षा में स्वावलम्बन—गाँधी जी एक ऐसे डाक्टर के समान थे जो अपने रोगी को अच्छी तरह समझ कर इलाज करता है। उन्होंने देश की असली हालत समझकर, उसी के अनुसार शिक्षा में सुधार करने का प्रयत्न किया। उस समय देश परतन्त्र था। स्वतंत्रता के लिए लड़ाई जारी थी। स्वतंत्रता के विरोधी अँगरेज महाप्रभुओं से 'शिक्षा' में सुधार करने की आशा, केवल आकाश-कुसुम के समान थी। वे यहाँ की आम जनता को पढ़ाकर अपने पैरों पर कुल्हाड़ी क्यों मारते? दूसरी ओर जनता थी निर्धन। पैसे के बिना शिक्षा-प्रसार होना असम्भव था। गाँधीजी ने कठिनाई को समझ लिया। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—"लेकिन एक राष्ट्र के नाते शिक्षा में हम उतने पिछड़े हुए हैं कि अगर शिक्षा-प्रचार के कार्यक्रम का आधार पैसा रहे, तो इस विषय में जनता के प्रति अपने कर्तव्य-पालन की आशा हम कभी नहीं रख सकते।"

इस आर्थिक समस्या को हल करने का उपाय उन्हें सूझ गया। वह है, शिक्षा में 'स्वावलम्बन का भाव' (Self-Sufficiency) प्राथमिक शिक्षा (Primary Education) सबसे ज्यादा जरूरी है। इस क्षेत्र में गाँधीजी ने किसी घरेलू उद्योग (Craft) को केन्द्र मानकर शिक्षण का प्रबन्ध करने की सलाह दी। इससे लाभ यह होता है कि बच्चे स्कूल में कुछ ऐसी वस्तुएँ तैयार करते हैं (जैसे कपड़ा, निवाड़, मिट्टी के खिलौने, चटाई, डलिया आदि) जो बाजार में बिक सकती हैं और इस

---

1. The Year Book of Education—1940, pp. 442-443.

विक्रय के लाभ से अध्यापकों का वेतन और आम खर्चे निकल आते हैं। अतः प्राथमिक शिक्षण के लिए (धन लेने के लिए) न तो सरकार का मुँह ताकने की जरूरत पड़ती और न जनता से चंदा लेने की।

उच्च शिक्षा में होने वाले खर्च का भार सरकार या जनता पर न पड़े, इसके लिए उन्होंने एक दूसरा सुझाव पेश किया। टेकनिकल और विशेषज्ञों की शिक्षा का प्रबन्ध कारखानों, बड़ी व्यावसायिक फर्मों और मिलों पर छोड़ दिया जाय। वही इसका खर्च उठायें और उसके बदले वे योग्य तथा अनुभवी विशेषज्ञ प्राप्त कर लें। वे कहते हैं:—

"मैं चाहता हूँ कि मिकेनिकल और सिविल इञ्जिनियरों के लिए उपाधि परीक्षायें रक्खी जायँ और भिन्न-भिन्न कल-कारखानों के साथ उनका संबंध स्थापित कर दिया जाय। इन कारखानों को जितने ग्रैजुएटों के जरूरत हो, उतनों को ये अपने ही खर्च से तालीम दिलाकर तैयार कर लें। उदाहरण के लिए, टाटा कम्पनी से यह आशा की जाय कि जितने इञ्जिनियरों की उसे जरूरत हो, उतनों को तैयार करने के लिए वह राज्य की निगरानी में एक कालेज का संचालन करे। इसी तरह मिल मालिकों के मंडल भी आपस में मिल कर अपनी जरूरत के ग्रैजुएटों को तैयार करने के लिए एक कालेज का संचालन करें। दूसरे अनेक धंधों के लिए भी यही किया जाय। व्यापार के लिए भी एक कालेज हो। इसके बाद आर्ट्स, मेडिकल और कृषि कालेज रह जाते हैं। आज कई आर्ट्स कालेज अपने पैरों पर खड़े होकर चल रहे हैं। इसलिए राज्य अपनी ओर से 'आर्ट्स' कालेज चलाना छोड़ दे। मेडिकल कालेजों को प्रमाणित अस्पतालों के साथ छोड़ दिया जाय। कृषि कालेज तो अपने नाम को तभी सार्थक कर सकते हैं, जब वे स्वावलम्बी हों।[१]"

---

१. हरिजन : ३१ जुलाई १९३७ · लेख अलोचनाओं का जवाब।

शिक्षा के सभी अंगों को स्वावलम्बी बनाने पर गाँधीजी ने जोर दिया, यद्यपि उनका विशेष ध्यान प्राथमिक शिक्षा की ओर रहा।

शिक्षा में स्वावलम्बन के भाव का समावेश करने में गाँधी जी को अफ्रीका में प्राप्त अपने पूर्व अनुभव से बड़ा बल मिला है। हरिजन[1] में उन्होंने लिखा है—"मैं तो अपनी बात अनुभव के बल से कह सकता हूँ। दक्षिण अफ्रीका के टाल्स्टाय फार्म पर जिन लड़कों और लड़कियों की शिक्षा के लिए मैं प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार था, उनका सर्वांगीण विकास करने में मुझे किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा था। करीब आठ घंटों का उद्योग ही वहाँ की शिक्षा का केन्द्र था। उन्हें एक अथवा अधिक से अधिक दो घन्टे लिखने-पढ़ने के लिए मिलते थे। उद्योगों में खोदना, रसोई बनाना, पाखानों की सफ़ाई करना, झाड़ना, बुहारना, चप्पल बनाना, बढ़ईगीरी और चिट्ठी-पत्री या संदेश लाने-ले जाने का काम आदि का समावेश था। बालकों की उम्र ६ से लेकर १६ वर्ष तक की थी। उसके बाद तो यह उद्योग बहुत ही फला फूला है।"

निजी अनुभव के अतिरिक्त गाँधी जी ने पत्र-व्यवहार द्वारा अन्य विद्वानों के अनुभवों की जानकारी प्राप्त की। नाड़वाड़ी-आश्रम, वर्धा के आचार्य बिनोवा भावे[2] ने अपने यहाँ, करीब-करीब इसी आधार पर ठोस शिक्षण-कार्य किया था। उनके आश्रम में सूत कताई की शिक्षा दी जाती थी। डॉ० लक्ष्मीपति[3] ने एक पत्र द्वारा संकेत किया कि "मैंने मिशनरियों द्वारा संचालित कुछ संस्थायें देखी हैं। इनमें मदरसे

---

१. हरिजन; २ अक्टूबर १९३७।

२. हरिजन बंधु, १० अक्टूबर १९३७—अखिल-भारत-शिक्षा-परिषद, वर्धा की दूसरी बैठक में आचार्य विनोबा का भाषण।

३. हरिजन, ११ सितम्बर १९३७—डा० लक्ष्मीपति का पत्र।

सिर्फ़ सुबह लगते हैं और शाम को विद्यार्थियों से खेती अथवा किसी दस्तकारी का काम लिया जाता है। जैसा और जितना जिसका काम होता है, उसके अनुसार उसे मजदूरी भी दी जाती है। इस प्रकार संस्था को न्यूनाधिक परिमाण में स्वावलंबी बनाया जाता है। विद्यार्थी जब स्कूल से पास होकर निकलते हैं तो उन्हें इस बात की चिंता नहीं रहती कि कहाँ जायँगे और क्या करेंगे।" अतः डाक्टर साहब ने गाँधीजी के स्वावलंवन सूत्र का अनुमोदन किया। गाँधीजी की इस योजना से मिलती-जुलती शिक्षा-विधि जापान में बहुत पहले पनप चुकी थी और जापान ने काफ़ी उन्नति भी की। वहाँ विद्यार्थियों को घड़ियाँ, जूते और रबड़ के खिलौने बनाना आदि सिखलाया जाता था और इसी दस्तकारी के द्वारा, वहाँ बेकारी की समस्या का अंत हुआ।

स्वावलंबन का सूत्र, तात्कालिक तथा दीर्घकालीन दो उद्देश्यों को लेकर बनाया गया है। तात्कालिक लाभ का अर्थ यह है कि दस्त-कारी के कामों से, इतना लाभ हो जाय कि स्कूल का खर्च उस मुनाफ़े से पूरा हो जाय। इस उद्देश्य से कहीं ऊँचा दीर्घकालीन उद्देश्य है। स्कूल में बालक भले ही अच्छी तरह स्वावलंवी न बन सकें परन्तु उन्हें स्वावलंबन का अभ्यास हो जाता है। इससे आगे चलकर कई लाभ होंगे। एक तो इसका असर परिवार पर पड़ेगा। शान्ता नैरुलकर[1] ने लिखा है कि आज का पारिवारिक जीवन धनाभाव के कारण नष्ट हो रहा है। एक परिवार में एक आदमी कमाता है और दस बैठ कर खाते हैं। परिवार तभी चल सकता है, जब हर एक आदमी काम करे और अपनी आय का सुख उठावे। ऐसे परिवारों से ही स्वस्थ समाज बनता है। परिवार में दो-चार बच्चों को छोड़ कर सभी सदस्यों को

---

1. Shanta Narulkar : Plan and Practice, chap 1. pp. 1 to 4.

स्वावलंबी होना चाहिए। बुनियादी शिक्षा द्वारा स्वावलंबन का पाठ पढ़कर बालक भी कुछ न कुछ पैदा करते हैं। इससे पारिवारिक सुख की वृद्धि होगी।

दस्तकारी को जीवित रखने के लिए भी, स्वावलंबन का सूत्र आवश्यक है। यदि देश का औद्योगीकरण पूरी तेज़ी से किया भी जाय तो इस कार्य में वर्षों लग जायँगे। एक ओर दस्तकारी नष्ट हो जाय और दूसरी ओर यांत्रिक उद्योगों का विकास न हो, यह देश के लिए कितना घातक होगा। कृपलानी जी ने स्वावलंबन के सहारे दस्तकारी को जिंदा रखने पर बड़ा ज़ोर दिया हैं।[1] जब तक उद्योग अच्छी तरह न जम जायँ दस्तकारी को बनाये रखना हितकर है। बुनियादी शिक्षा द्वारा कुटीर उद्योगों और दस्तकारी की रक्षा की जा सकती है। आचार्य कृपलानी का मत है कि, बिजली के आविष्कार से एक लाभ यह उठाया जा सकता है कि भारी उद्योगों के स्थान पर कुटीर-उद्योग नये प्रकार से चलाये जा सकते हैं। पहले भाप की शक्ति से बड़े-बड़े इंजन चलाये जा सकते थे, इसलिये बड़े पैमाने पर मिलें खड़ी की जाती थीं। अब बिजली की शक्ति के सहारे इन झंझटों से बचा जा सकता है। घरेलू उद्योग-धंधों में बिजली का प्रयोग करके, उत्पादन भी बढ़ाया जा सकता है, जो मिलों के बराबर होगा और मिलों में, उत्पन्न होनेवाले अनेक दोषों से भी बचा जा सकता है। ऐसी स्थिति में 'स्वावलंबन' बढ़ाने और सिखाने में बड़ा लाभ है। शिक्षा प्राप्त करने के बाद विद्यार्थी बिजली से चलनेवाली मशीनों का प्रयोग घर में कर सकता है। यह काम थोड़ी पूंजी से हो सकेगा और उत्पादन भी बढ़ेगा। यदि बड़े उद्योगों को भी लिया जाय, तो उनकी शिक्षा के लिए छोटे-छोटे दस्तकारी के

---

1. Kriplani. A, : The Latest Fad—Basic Education chap, pp. 58-65.

कामों को सिखा कर ट्रेनिंग देनी पड़ती है। बुनियादी शिक्षा-प्राप्त बालक मिलों के लिए भी, कुशल कारीगर सिद्ध हो सकते हैं।

नव समाज के निर्माण की दृष्टि से स्वालंबन का सूत्र एक महत्व रखता है। बुनियादी शिक्षा प्राप्त नवयुवक व्यक्तिगत रूप से आत्मनिर्भर तो होंगे ही; साथ ही उनमें हमारे संविधान के अनुकूल "समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्व एवं न्याय और इन्हीं अहिंसक आदर्शों को लेकर एक शासनमुक्त और शोषणमुक्त समाज का निर्माण करने की" योग्यता भी होगी। ऐसे समाज में न कोई विषमता होगी और न परंपरागत जाति और सम्प्रदाय के भेद। अब व्यक्तिगत स्वावलम्वन की बात लीजिए। बुनियादी शिक्षाप्राप्त विद्यार्थी न केवल आर्थिक दृष्टि से स्वावलंम्वी होगा, वरन् वह अपने स्वास्थ्य, सामाजिक सम्पर्क, ज्ञानवर्धन, सृजन-कार्य तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दूसरों का या सरकार का मुंह न ताकेगा। वास्तव में यह स्थिति ऐसी होगी कि शिक्षा की पूर्ण सफलता इसी को समझा जायगा। बुनियादी शिक्षा में "स्वावलंबन के लिए शिक्षा" और "स्वावलंवन द्वारा शिक्षा" के सूत्रों का बड़ा ही सुन्दर समन्वय है।[१]

भारत की वर्तमान स्थिति को देखते हुए, स्वावलम्वन का सूत्र हर तरह से उपयोगी है। हमारे देश में अब भी अन्न-वस्त्र तथा दैनिक जीवन में काम आनेवाली दूसरी सैकड़ों वस्तुओं की आवश्यकता है। करोड़ों रुपयों का माल बाहर से आयात होता है। इसलिए स्वावलंबन द्वारा भारतवासियों को आत्मनिर्भर बनने की आवश्यकता है। इस विषय में दो मत हो नहीं सकते। जो लोग यह आलोचना करते हैं कि स्कूलों में दस्तकारी का स्थान दे देने

---

१. मिलापचन्द्र दुबे : बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त, अध्याय ४८, पृष्ठ २६७—२७०

से, मिलों और कारीगरों से प्रतिद्वन्दिता होगी और देश की आर्थिक व्यवस्था चौपट हो जायगी, वे इस बात को भूल जाते हैं कि अभी इस समस्या को उठाने का कोई प्रश्न ही नही होता, जब तक देश में जीवनोपयोगी वस्तुओं का अभाव है। बेकारी की समस्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है, विशेष-रूप से साक्षर व्यक्ति अधिक परेशान हो रहे हैं। दस्तकारी के काम इस समय लाभप्रद होंगे, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। जब एक ओर बेकारी की समस्या हो, दूसरी ओर अभाव को दूर करने की पुकार हो तो दस्तकारी-प्रधान स्वावलंबी बनानेवाली बुनियादी शिक्षा को बुरा बताना अन्याय नहीं तो क्या है ? स्वावलंबन वास्तव में हमारी अनेक वर्तमान समस्याओं का हल है।

शैक्षिक दृष्टि से स्वावलंबन का सिद्धान्त अत्यंत महत्वपूर्ण है। यदि शिक्षा स्वावलंबी नहीं बनती अर्थात् स्कूल में उत्पादित वस्तुओं का कोई आर्थिक मूल्य नहीं रहता, तो फिर दस्तकारी को शिक्षा का माध्यम बनाने से कोई लाभ नही होता। दस्तकारी ही बुनियादी शिक्षा का केन्द्र है और आर्थिक दृष्टि से दस्तकारी महत्वहीन बन जाने पर अस्वाभाविक प्रतीत होगी। धीरे-धीरे विद्यार्थी और अध्यापक उसे छोड़ बैठेंगे और बुनियादी शिक्षा का आधार ही नष्ट हो जायगा। इसलिए दस्तकारी के आर्थिक पहलू को उपेक्षा की दृष्टि से देखा नहीं जा सकता। जब शिक्षा हर प्रकार से स्वावलंबी होगी अर्थात् उससे बालकों और अध्यापकों को मुनाफा होगा, तभी उनकी दिलचस्पी दस्तकारी में बढ़ेगी। तभी उत्पादन की मात्रा बढ़ेगी और वे उत्पादित वस्तु को अधिक से अधिक सुन्दर बनाने की चेष्टा करेंगे।[1]

---

1. Kriplani, Acharya : The Latest Fad—Basic Education pp. 59-60

बुनियादी-शिक्षा में मनोविज्ञान—

(क) **बचपन पर गाँधी जी के विचार**—शिक्षाशास्त्रियों में, मेरिया माँटेसरी को छोड़कर ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं दिखाई देता, जिसके हृदय में बच्चों के प्रति इतना अधिक स्नेह हो जितना गाँधी जी को था। बच्चों के साथ रहने और खेलने में उन्हें अपूर्व आनन्द आता था। वे सदैव बच्चों के साथ अपना मन बहलाते थे। वे उनको हर प्रकार से सुखी बनाने के पक्षपाती थे। एक बार शांता नैरुलकर के प्रश्न का उत्तर देते हुए गाँधी जी ने कहा था—जहाँ तक हो सके, हमें अधिक से अधिक संख्या में बालकों को एकत्र करना चाहिए। यदि वे हमारे पास नहीं आते, तो दोष हमारा है। हमें अपने आपको (अध्यापकों को) आकर्षक बनाना चाहिए, कि वे स्वयं हमारे पास आ जायँ। हमें सब बालकों को अपना पुत्र समझना चाहिए। यदि उनका स्वास्थ्य सुधरे, उनकी बुद्धि विकसित हो, उनकी आदतें और व्यवहार अच्छे बन जायँ, तो हमारा उद्देश्य पूरा होगा। उनकी विनाशात्मक प्रवृत्ति को रोकना चाहिए और उनकी सृजनात्मक शक्तियों का अभिवर्धन करना चाहिए। बालक जन्म के समय न तो अच्छे होते हैं और न बुरे। उनकी सहज शक्ति में अंतर हो सकता है। अतः हमें उनके विकास में योग देना चाहिए।[1]

गाँधी जी के इन विचारों को यदि हम आधार मानें, तो हमें बच्चों की शिक्षा जन्म से ही प्रारंभ करनी पड़ेगी। इससे दूसरा परिणाम यह निकलता है कि हमें प्रौढ़-शिक्षा पर भी विशेष ध्यान देना होगा क्योंकि बचपन में बालक परिवार के प्रौढ़-जनों से ही सब कुछ सीखता है। इस दृष्टि से प्रौढ़-शिक्षा का सारा कार्यक्रम बुनि-

---

1. Shanta Narulkar : Plan and Practice, Chap.II pp5-6

यादी-शिक्षा के अन्तर्गत आ जाता है। आजकल परिवारों की गिरी हुई दशा और वहाँ के असंस्कृत वातावरण के कारण बालकों में दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं; और स्कूल में, इन बालकों का सुधार होना तो दूर रहा, उनके सम्पर्क से दूसरे बालक भी बिगड़ जाते हैं। इसलिए वर्तमान शिक्षा-विशारद बालकों को छोटी आयु में ही परिवार के वातावरण से पृथक करके स्कूलों में रखने का सुझाव देते हैं। मॉंटेसरी और किंडरगार्टेन स्कूलों का मुख्य उद्देश्य भी यही है, अर्थात बालकों का परिवार के विषैले वातावरण से दूर रखना। गाँधी जी इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि परिवार का स्नेहमय वातावरण बालक के विकास के लिए बहुत जरूरी है। परिवार को सुधारने के लिए उन्होंने प्रौढ़-शिक्षा-आन्दोलन को जन्म दिया। प्रौढ़-शिक्षण को, बुनियादी-शिक्षा की तैयारी मानना उचित होगा। यदि वयस्कजनों को इस योग्य बनाया जा सके कि वे बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का महत्व समझने लगें, तो शिक्षा की एक बहुत बड़ी समस्या हल हो जायगी। वे बच्चों का भाग्य-निर्माण करने में अध्यापकों की सहायता करेंगे। उनके सहयोग से बुनियादी-शिक्षा का मार्ग और भी अच्छी तरह प्रशस्त किया जा सकेगा। परिवार और स्कूल के कार्यों में कोई भी विरोध न होना चाहिए। बुनियादी-शिक्षा की पूरी सफलता समाज, परिवार, और स्कूल पर निर्भर है।

(ख) **"स्थूल से सक्ष्म की ओर" का सिद्धांत**—मनोविज्ञान हमें बताता है कि चौदह-पंद्रह वर्षों तक की आयुवाले बालक सूक्ष्म विचारों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होते। उनकी बुद्धि स्थूल वस्तुओं को ग्रहण करने में ही समर्थ होती है। इसलिए प्रारंभिक शिक्षा में सूक्ष्म विचारों की प्रधानता अहितकर है। खेद है कि आधुनिक शिक्षा में; अभी भी विचारों और नियमों को पहले पढ़ाया जाता है। यह सूक्ष्म बातें बालक समझ नहीं पाते। वास्तव में यह प्रणाली बड़ी अस्वाभाविक

है। इसीलिए, गाँधीजी ने बुनियादी-शिक्षा में स्थूल-वस्तुओं के सहारे पढ़ाई का आयोजन करके, शिक्षण-विधि को मनोविज्ञान के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया।

(ग) **'क्रिया का सिद्धान्त' (Activity Principle)**—— प्राचीन काल में शिक्षण-कार्य, पर्यवेक्षण और शारीरिक क्रिया द्वारा किया जाता था। शिकार करने, और खेती करने आदि के काम ठोस कार्य द्वारा सिखाये जाते थे। 'विचार' और 'वस्तु' का सम्पर्क कभी भी नहीं छूटने पाता था। प्राचीन काल में धर्म भी विचार-प्रधान न होकर कर्म-प्रधान था। मध्यकाल में, विचारात्मक शिक्षा ने, उस स्वाभाविक शिक्षा का स्थान छीन लिया। धर्म-प्रचार के साथ-साथ, मनन और चिंतन का इतना महत्व बढ़ गया कि लौकिक शिक्षा को नीची निगाह से देखा जाने लगा। विचार और वस्तु का सम्पर्क नष्ट हो गया। एक समय ऐसा आ गया, जब केवल वाद-विवाद को छोड़ कर, 'क्रिया' द्वारा शिक्षण, शिक्षा के क्षेत्र से पूर्ण रूप से समाप्त हो गया। विचार के मृगजाल में फँसकर वास्तविकता की अवहेलना अध्यापक करने लगे। यह शिक्षा, प्रत्यक्ष जीवन से बिल्कुल अलग हो गयी। वर्तमान काल में उस शिक्षा के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरंभ हुई और अब तो शिक्षा में प्रत्यक्ष सत्य और स्थूल वस्तुओं को, सूक्ष्म विचारों के उत्पन्न करने की प्रथम सीढ़ी माना जाता है। अब क्रिया द्वारा शिक्षा देना बहुत आवश्यक समझा जाता है। जाता है। गाँधी जी ने बुनियादी शिक्षा में 'क्रिया', और 'स्थूल से सूक्ष्म की ओर' जैसे सिद्धांतों का व्यावहारिक ढंग से उपयोग किया है।

क्रिया द्वारा बालकों को व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। वालकों में क्रियात्मक प्रवृति सहज होती है। इसलिए गाँधी जी ने बालकों की शिक्षा में इसका उपयोग आवश्यक बताया। हाँ उनके विचार पाश्चात्य शिक्षाचार्यों से थोड़ा भिन्न अवश्य हैं। वे लोग 'क्रिया' को केवल क्रिया के लिए या खेल के लिए प्रयोग में लाने के पक्षपाती हैं, परन्तु गाँधी जी

क्रिया को आर्थिक दृष्टि से भी उपयोगी बनाना चाहते थे।[1] इस प्रकार यदि पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री शिक्षण में 'क्रिया द्वारा ज्ञानार्जन' (Learning by doing) को महत्व देते हैं, तो गाँधीजी 'धनार्जन द्वारा ज्ञानार्जन' (Learning by earning) को प्रमुखता देते हैं।

शिक्षा में क्रिया के समावेश से और भी कई लाभ है। इससे बालकों की शारीरिक शक्ति बढ़ती है, वे काम करते थकते नहीं, उन्हें जीवनोपयोगी वस्तुओं को स्वयं बनाने का ज्ञान प्राप्त होता है। साथ ही उन्हें भावात्मक आनन्द भी प्राप्त होता है।[2] गाँधी जी ने बालकों के बालकों के, शारीरिक बौद्धिक तथा नैतिक विकास को ध्यान में रखते हुए 'क्रिया' का समावेश शिक्षा में किया है।[3]

मातृभाषा तथा स्वसंस्कृति से प्रेम—विदेशी ढंग की शिक्षा का सबसे बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि भारतीय अपनी मातृ-भाषा और अपनी संस्कृति के प्रति उदासीन हो गये। अँगरेज़ी के मोह में पड़कर, हिंदी तथा अन्य देशी भाषाओं का वे तिरस्कार करने लगे। हिंदी पढ़े-लिखे और निरक्षर व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं समझा जाता था। अँग्रेज़ी पढ़ने में इतना अधिक समय नष्ट होता है, इस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता था। गाँधीजी ने इस बात का अनुभव किया और बुनियादी शिक्षा में हिन्दुस्तानी को सर्वोच्च स्थान देकर अँग्रेज़ी का बहिष्कार किया। इससे भारतीयों में मातृ-भाषा के प्रति आदर पैदा होने की सम्भावना बढ़ गई। थोड़ी अँग्रेज़ी पढ़कर, विद्यार्थी का बुरा

---

1. Patel, M.S. : Educational Philosophy of Mahatma Gandhi, p. 181
2. Adolph Ferriere : The Activity School pp. 96--97
3. Patel, M.S. : Educational Philosophy of Mahatma Gandhi, pp. 182--189

हाल हो जाता था। उसे ग्रामीण-वातावरण की सादगी पसंद न आती थी। शहर में जाते ही या तो वहाँ के खर्च न बर्दाश्त कर सकने पर शिक्षा ही रुक जाती थी, या वहाँ के विलासपूर्ण जीवन में पड़ कर अपने चरित्र से उन्हें हाथ धोना पड़ता था, या यदि पढ़ भी गये, तो सिवा गुलामी के वे क्या करते। इन सब दोषों का परिहार इस नवीन शिक्षा द्वारा सम्भव था। घरेलू और ग्रामोपयोगी उद्योग के द्वारा पढ़ने पर बालकों को भारतीय परम्परा, और संस्कृति के प्रति अनुराग पैदा होना स्वाभाविक है। किताबी पढ़ाई के कारण विद्यार्थी घरेलू-जीवन से अलग हो जाता है, पारिवारिक प्रेम शिथिल होने से भारतीय समाज जर्जर होता जाता है। इसके विपरीत "जब शिक्षा उद्योगमयी होगी तो उसका सम्बन्ध गाँवों के उद्योगों से अर्थात् माता-पिता के धंधों से सीधा और घनिष्ट हो जायगा।" इस शिक्षा द्वारा समाज की पृष्ठभूमि इतनी मजबूत हो जायगी कि उसे सदियों तक कोई न हिला सकेगा।

पुस्तक के स्थान पर शिक्षक का महत्व—वर्तमान शिक्षण-विधि में पुस्तकों का इतना अधिक महत्व है कि पुस्तकों के विना, जान पड़ता है, पढ़ाई चल ही नहीं सकती। वास्तव में यह विधि बड़ी खर्चीली है। पुस्तकों के स्थान पर यदि **श्रुत-शिक्षण** द्वारा काम लें तो खर्च भी कम हो जाता है, समय की भी बचत होती है। विद्यार्थी की प्रत्येक कठिनाई जितनी आसानी से अध्यापक दूर कर सकता है, पुस्तक द्वारा ऐसा संभव नहीं। शिक्षक और विद्यार्थी के सम्बन्ध भी मधुर हो जाते हैं।

महात्मा गाँधी ने शिक्षक के महत्व को बढ़ाने के लिए प्राचीन आदर्श—सादा जीवन, उच्च विचार—को ही सामने रक्खा। उनकी दृष्टि में, विश्वविद्यालयों और कालेजों के उच्च डिग्रीधारी अध्यापक जो केवल धारा-प्रवाह से बोल सकते हैं और बड़े ठाट-बाट से रहते

हैं, इस बुनियादी शिक्षा को सफल बनाने में असमर्थ रहेंगे। जिस प्रकार प्राचीन युग में, ऋषिकुलों में गुरुजनों के सान्निध्य में रह कर विद्यार्थी जीवनोपयोगी कार्य सीखते थे, वही विधि भारत के लिए अनुकूल है। अतः उन्होंने कारीगरी जाननेवाले अध्यापकों को महत्व दिया। बुनियादी पद्धति को माननेवाले अध्यापक के विशेष गुण लगन और परिश्रम-प्रेम है। उसके विचारों और व्यवहारों में पूरी क्रान्ति होना आवश्यक है।[1] "शिक्षक में चाहिए माता का प्रेम, किसान का उद्योग, वैज्ञानिक की सूझ-बूझ, कलाकार की अनुभूति, तपस्वी की लगन तथा विद्यार्थी का मन। बुनियादी शिक्षक का चरित्र आदर्श, व्यवहार पितृवत् तथा स्वभाव परिश्रमशील होना चाहिए, तभी वह बुनियादी शिक्षा को सफल बना सकेगा।"[2]

बुनियादी-शिक्षा द्वारा पढ़ाई की विधि

गाँधी जी की बुनियादी शिक्षा की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह सम्पूर्ण मानव-जीवन में व्याप्त है। जन्म से लेकर, मृत्यु तक, मनुष्य की शिक्षा चालू रहती है। अतः बुनियादी शिक्षा का कार्य-क्रम विस्तृत है। उस कार्य-क्रम को सरलतापूर्वक समझने के लिए, हम इसे चार भागों में विभक्त करते हैं।

(१) **पूर्व बुनियादी शिक्षण**—इसके अन्तर्गत सात वर्ष से छोटे बालकों की शिक्षा आ जाती है।

(२) **बुनियादी शिक्षण**—इसकी अवधि ७ वर्ष की आयु से आरम्भ होकर १५ वर्ष की आयु पर समाप्त होती है।

---

१. गुरुशरणभाई : बुनियादी शिक्षा—एक अध्ययन, पृष्ठ ६६-७२।

२. मिलापचन्द्र दुबे : बूनियादी शिक्षा के सिद्धान्त, अध्याय "शिक्षक का स्वरूप", पृष्ठ १४२-१४८।

(३) **उत्तर बुनियादी शिक्षण**—इसके अन्तर्गत १८ वर्ष की आयु से लेकर विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों की आयु तक के नवयुवकों की शिक्षा शामिल है।

(४) **प्रौढ़-शिक्षा**—इसका संबंध पूर्णवयस्क लोगों से है।

(१) पूर्व-बुनियादी-शिक्षण
(Pre-basic Education)

जनसाधारण, प्रायः बुनियादी शिक्षा से ही परिचित हैं, जिसका काल ७ वर्ष से लेकर १५ वर्ष तक माना गया है। इसका कारण यह है कि इस शिक्षा का प्रबंध स्कूलों में होता है और स्कूल, प्रमुख शिक्षा-संस्था होने के कारण, शिक्षा-विशारदों और जनता का ध्यान पहले आकर्षित करते हैं। अतः शिक्षण-विधि के विद्यार्थियों को पूर्व-बुनियादी-शिक्षा का महत्व समझ लेना चाहिए। बचपन पर गाँधी जी के विचारों के संबंध में हम पहले लिख चुके हैं। बुनियादी-शिक्षा का प्रारंभ होने के पहले, बालकों के मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखना आवश्यक है। पूर्व-बुनियादी-शिक्षा का यही उद्देश्य है। वास्तव में यह भावी बुनियादी-शिक्षा की तैयारी है। बच्चों की यह पूर्व-बुनियादी-शिक्षा जितनी अच्छी होगी आगे की शिक्षा भी उतनी ही सफल होगी। "नई तालीम यह मानती है कि शिक्षा की इमारत अगर पक्की करनी है तो नींव गहरी होनी चाहिए। घर, स्कूल और गाँव में बच्चे के शरीर और मन का सर्वांगीण विकास नागरिकता की पहली तैयारी है। नयी तालीम की योजना में पूर्व-बुनियादी या बच्चों की तालीम का कार्यक्रम है...... इस पूर्व-बुनियादी तालीम के कार्यक्रम में बच्चों का शारीरिक पोषण, तन्दुरुस्ती की देखभाल, व्यक्तिगत और सामाजिक सफाई और आरोग्य, अपना काम खुद करने की आदतें, सामाजिक तालीम

काम और खेल की सृजनात्मक व रंजनात्मक प्रवृत्तियाँ, भाषा, कला और संगीत में आत्मप्रकटन, सादा हिसाब, प्रकृति-निरीक्षण आदि बच्चों की जिन्दगी से संबंध रखने वाली सभी बातें शामिल हैं।"—('आठ सालों का सम्पूर्ण शिक्षा-क्रम' से) पूर्व बुनियादी शिक्षण को भी चार खंडों में बाँटा गया है:—

(क) गर्भाधान से जन्म तक का काल।

(ख) जन्म से लेकर ढाई वर्ष तक का काल।

(ग) ढाई वर्ष से लेकर चार वर्ष तक का काल।

(घ) चार से लेकर सात वर्ष तक का काल।

(क) **गर्भाधान से जन्म तक**—इस काल में गर्भवती माता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। बच्चे का स्वास्थ्य अधिकतर माता के स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। इसलिये माता को शिशु-पालन की शिक्षा दी जाती है। उसे साफ हवादार कमरे में लेटने और बैठने के लिए कहा जाता है। भारतीय परिवारों में मातायें बालिका-शिशु के प्रति उदासीन रहती हैं। वे भूल जाती हैं कि यही बालिकायें, भावी जननी बनेंगी। मानव-नस्ल को सुधारने के लिए, लड़कियों को सब प्रकार से शिक्षित और स्वस्थ बनाने की आवश्यकता है। प्रत्येक बालक-बालिका के स्वास्थ्य की दृष्टि से यह काल बड़े महत्व का है। गर्भावस्था के समय सादा पौष्टिक भोजन करना, सफाई से रहना, छूतछात की बीमारियों से बचना और नियम तथा संयम से रहना, आदि स्त्रियों को सिखाया जाता है।

(ख) **जन्म से ढाई वर्ष तक**—इस काल में शिशु के लालन-पालन पर अच्छी तरह ध्यान रक्खा जाता है। जन्म के पूर्व शिशु हर प्रकार के संकटों से दूर रहता है परन्तु जन्म लेते ही, उसे अनेक प्रकार की शक्तियों—हवा, गर्मी, ठंडक और रोशनी आदि का

अनुभव होता है। गर्भ में उसे अपने आप भोजन मिलता था, जन्म के बाद उसे रोकर या मांग कर भोजन प्राप्त करना पड़ता है। बच्चा पूर्ण रूप से एक नये वातावरण में आता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह काल बड़े महत्व का है। इस आयु में यदि बालक को किसी निराशा (Frustration)का अनुभव होता है, तो उसका जोवन-व्यापी प्रभाव पड़ता है। फ्रायड ने इस काल को वहुत ही महत्वपूर्ण बतलाया है। यह 'मौखिक काल' (Oral period) कहलाता है। बालक प्रत्येक वस्तु को चूस कर अत्यंत अधिक संवेदनात्मक आनंद (Organic sensations) का अनुभव करता है। कभी वह हाथ चूसता है और कभी पैर का अँगूठा। स्तनपान करने में उसे सबसे अधिक सुख मिलता है। माताओं को शिक्षा दी जाती है कि वे जल्दी स्तनपान कराना न छुड़ावें क्योंकि इससे बच्चे निराश होते हैं और जीवन भर उनका हृदय अतृप्त रहता है। सफाई भी बड़ी जरूरी है। गंदा दूध पिलाने से बच्चों को दस्त आने लगते हैं। माता को इन सब भूलों से बचना सिखाया जाता है। जन्म से ही बालकों में अच्छी आदतें छोड़नी चाहिएँ जैसे ठीक समय पर दूध देना आदि। इससे बालकों को नियमित समय पर भोजन करने का अभ्यास होता है। आठ मास का होते ही बच्चा अपने आस-पास की वस्तुओं में रुचि लेने लगता है। वह बड़ों को जैसा करते देखता है, वैसा खुद भी करता है। यह महत्वपूर्ण अवसर है। यहीं से शिक्षा का आरंभ होता है। दाँत साफ करना, मलमूत्र त्याग करना, चलना और बोलना—इन सबकी शिक्षा इसी समय से आरंभ होती है। इस काल में शिक्षा का पूरा भार माता-पिता पर होता है, परन्तु स्कूल और घर में संबंध स्थापित, इसी समय से हो जाना चाहिए। अध्यापकों को कभी कभी परिवारों में जाना होता है। वहाँ वे छोटे बालकों से उनके स्कूल में जाने से पहले ही, परिचय प्राप्त कर लेते हैं। अतः जब वे बालक स्कूल जाते हैं, तो उन्हें वहाँ हर एक

वस्तु और व्यक्ति अपरिचित नहीं लगते । माता-पिता का अध्यापकों पर विश्वास हो जाता है और अध्यापकों का बच्चों से प्रेम हो जाता है ।

(ग) **ढाई से चार वर्ष तक**—इस काल में बालक-बालिकाओं का सर्वांगीण विकास प्रारंभ हो जाता है । उनकी ज्ञानेंद्रियाँ विकसित होने लगती हैं और उनकी रचनात्मक शक्ति का उदय होता है । बच्चों में फुर्ती आ जाती है और वे हाथ-पैरों का प्रयोग करने लगते हैं । हर एक बात को समझने के लिए **वे** अपने आप बुद्धि लड़ाने लगते हैं । उनकी गति-विधि और मुखाकृति से पता चलता है कि बच्चे भी किसी न किसी योजना के अनुसार काम करते हैं और खेलते हैं । बालकों के इस स्वभाव से लाभ उठाना जरूरी है । स्नेह-पूर्वक बच्चों से काम कराना चाहिए, जैसे बर्तन उठाना-रखना, पानी लाना, मेज पोछना । अनुभव बताता है कि इन कार्यों में बालकों को बड़ा आनंद आता है और वे बड़ी फुर्ती और रुचि के साथ सारे काम कर डालते हैं । इस काल में शिक्षा का कार्य-क्रम इन्हीं बातों तक सीमित रहना चाहिए ।

(घ) **चार से सात वर्ष तक**—इस आयु में बालक घरेलू उद्योग-धंधों में हाथ बँटाने के योग्य बन जाते हैं । किसी घर में बढ़ईगीरी, लुहारी या कुम्हारी का काम हो सकता है । चार से लेकर सात वर्ष तक के बालक इन कामो में पिता को सहायता देते हैं । यह शिक्षा देने का उत्तम अवसर है । खेद है कि यह पुरानी रस्म अब समाप्त होती जाती है । घरेलू उद्योगों द्वारा बालकों को ठोस शिक्षा मिलती थी । वे परिवार और ससाज में काम करना आसानी से सीख लेते थे । इस आयु में शिक्षण का दूसरा महत्वपूर्ण अवसर बालकों के खेलों में मिलता है । छः सात वर्ष के बालक, गाँवों में, खेत-खलिहान, बाग़ और बाजारों में जाने लगते हैं । इस आयु में उनकी रचना रचनात्मक शक्ति इतनी विकसित हो

जाती है कि वे मिट्टी के खिलौने, झोपड़ी, तथा फूल के छप्पर आदि बनाने लगते हैं। इन सब क्रियाओं की अवहेलना या दमन न करके, इन्हें शिक्षा का साधन बनाना चाहिए। गाँव में बालकों को सफाई, शिष्टाचार और नियमित जीवन की आदतें यदि सिखा दी जायँ तो उनकी उपर्युक्त क्रियायें शिक्षा का उत्तम अंग बन सकती हैं।

पूर्व-बुनियादी-शिक्षण में चारित्रिक-गुणों की ओर ध्यान—प्रारंभ में ही बालकों में अच्छी आदतें उत्पन्न करने का प्रयत्न होना चाहिए। सफाई, स्नान, भोजन ओर सोना—इनके सम्बन्ध में उन्हें अच्छी तरह समझाना पहला काम होगा क्योंकि इनका बालकों के स्वास्थ्य पर गहरा असर पड़ता है। भावों और विचारों के नियन्त्रण की आदत का मुख्य स्थान है। संयम का अभ्यास दैनिक जीवन में भी जरूरी है। मामूली बातों द्वारा यह अभ्यास कराया जा सकता है, जैसे प्रार्थना के पहले भोजन न करना, पानी लिए बिना भोजन न करना आदि। यही अच्छी आदतें स्नेह और प्यार से सिखाना परमावश्यक है। अपना काम अपने हाथ करने का प्रोत्साहन देना चाहिए। इससे बालक आगे चलकर आत्मनिर्भर बनते हैं। आज्ञा-पालन का भाव बालकों में उत्पन्न करना आवश्यक है, पर आज्ञा-पालन कराने में बल-प्रयोग वर्जित है। बल प्रयोग से उनकी दृढ़ता-शक्ति और स्वयं सोचकर काम करने की शक्ति, दोनों नष्ट हो जाती हैं। साथ ही बालकों को मनमानी करने से रोकना भी उचित है। नियम-पालन करने में उन्हें तत्पर होना सिखाया जाय। यदि वे प्रेम से कहना मान लें, तो उन्हें मजबूर न करना चाहिए। उनसे वही काम करने को कहा जाय जिसमें उनकी रुचि हो और जिसे वे थोड़े परिश्रम से पूरा कर सकते हों। चारित्रिक गुणों के विकास के लिए सबसे जरूरी बात यह है कि उनके परिवार में, समाज में और आस-पास में, जितने भी व्यस्क हों, चरित्रवान हों। उनके आचरणों से बालक बहुत-कुछ सीखते हैं।

पूर्व-बुनियादी-शिक्षा के लिए उपयोगी सहायक उपकरण—इस पूर्व-बुनियादी शिक्षाकाल में, शिक्षा का भार बालक पर ही होता है। वह अपने आप सीखता है। तरु, डाली, पत्तियाँ, मिट्टी, बालू, पानी, पक्षी-पशु आदि जो भी वह देखता है, उससे कुछ न कुछ सीखता है। सबसे अच्छे शिक्षोपकरण तो आप बालक की जेब में ढूँढ़ सकते हैं। बच्चे कंकड़-पत्थर, बीज और टुकड़े बीन कर जेब में रख लेते हैं। क्यों? इन सब पर वे विचार करते हैं। उनकी विचार-शक्ति का केन्द्र यही वस्तुएँ हैं। उन्हें निरर्थक नहीं समझना चाहिए। मांटेसरी और फ्रोबेल की विधियों में काम में लाया जाने वाला तमाम कीमती उपकरण बाजार से खरीदना पड़ता है। बुनियादी शिक्षण में, पैसा खर्च करने की कोई आवश्यकता नहीं है। गाँवों में बच्चे जिन वस्तुओं से खेलते हैं, वही सर्वश्रेष्ठ शिक्षोपकरण हैं। वे बिना कौड़ी खर्च किये मिल सकते हैं। केवल अध्यापक को विचारपूर्वक सोचने की आवश्यकता है। ऐसा उपकरण स्वाभाविक वातावरण उपस्थित करता है। बालक जिन वस्तुओं को जिज्ञासा-पूर्वक एकत्र करते हैं, उन्हें पढ़ाई के समय काम में लाना चाहिए।

पूर्व-बुनियादी-शिक्षा का पाठ्यक्रम पाँच विषयों में बाँटा जा सकता है; (१) स्वास्थ्य और सफाई; (२) भोजन; (३) पानी; (४) रचनात्मक क्रियाएँ; (५) बागवानी। स्वास्थ्य और सफाई के लिए, मंजन, कंघी, तेल, साबुन, तौलिया की आवश्यकता है। ये सब शरीर की सफाई के पाठ पढ़ाने में काम आते हैं। घर की सफाई के पाठ के लिए, झाड़ू और डलिया काम में लाये जाते हैं। इनका प्रयोग करना, बालकों को सिखाया जाता है। भोजन और पानी का ज्ञान कराने के लिए, सभी प्रकार के बर्तनों, थाली, गिलास, कटोरी, बटुई, चम्मच और तश्तरी; सभी प्रकार के अन्नों और तरकारियों का संग्रह करना पड़ता है। रचनात्मक क्रियाओं को सिखाने के लिए

बढ़ई, लोहार, जुलाहे और कुम्हार आदि के औज़ार इकट्ठे कर लिए जाते हैं। खिलौने तैयार करने के लिए गीली मिट्टी, सूत बिनने के के लिए तकली, तस्वीरें बनाने के लिए अनेक प्रकार के रंग, बाँस की सीढ़ियाँ और चटाइयाँ बनाने के लिए बाँस तथा खजूर के पत्ते पढ़ाई में प्रयुक्त होते हैं। बागवानी में, प्रायः जो भी औजार काम में आते हैं—जैसे डोल, रस्सी, खुरपी और फावड़ा, उन सभी को शिक्षोपकरण के अंतर्गत समझना चाहिए।

सहायक उपकरणों का प्रयोग तथा विधि—उपर्युक्त सहायक उपकरण शिक्षा का साधनमात्र हैं। उन्हें केवल एकत्र करने से कोई लाभ नहीं होता। इसलिए बालकों की अवहेलना करके इनका संचय करना बुरा है। अध्यापक का ध्यान बालक पर केंद्रित रहना चाहिये, उपकरणों पर नहीं। जब बालक इनका प्रयोग करें, तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे उचित ढंग से काम करते हैं या नहीं। जैसे, यदि बालक एक गिलास में पानी पीता है, तो वह जूठा गिलास न छोड़ने पाये। नहाने-धोने और भोजन करने के बाद प्रयुक्त उपकरण यथास्थान रख दिया जाय। हर एक वस्तु को सजाकर रखने का अभ्यास कराना पहली आवश्यकता है। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी वस्तु का दुरुपयोग बालक न करने पायें। वस्तु-प्रयोग के समय, उन्हें आवश्यक आदेश दिये जा सकते हैं। हाँ, प्रयोग करने के लिए उन्हें मजबूर तो कभी नहीं करना चाहिए। छोटे बच्चों को पूर्ण स्वतंत्रता देना आवश्यक है। वे जिस वस्तु से खेलना चाहें, खेलें। छोटी अवस्था के बालकों को उपकरणों के प्रयोग में, अध्यापक को अधिक सहायता देनी पड़ती है। विशेष रूप से सहायक उपकरणों के सजाने का काम अध्यापक ही करता है। उसे सारा प्रवन्ध इस चतुराई से करना पड़ता है कि बच्चे सारा काम नियोजित ढंग से करने लगें क्योंकि वे अपने आप सोच-समझकर

कोई काम नहीं कर सकते । इस अवस्था में अध्यापक को बच्चों के स्वभाव का गहन और सूक्ष्म अध्ययन करते रहना चाहिए । बच्चे कभी अकेले एकांत में काम करना पसंद करते हैं और कभी अपने समुदाय में । इसलिए उनके लिए निश्चित नियमावली नहीं बनाई जा सकती ।

चार-पाँच वर्ष के बालकों के लिए पढ़ाई का कुछ कार्यक्रम निश्चित किया जा सकता है । नियमित समय पर कमरे की सफाई करना, बर्तन-धोना, पौदों में पानी देना, रूई साफ करना और नापना आदि सिखाने का पूरा मौका मिलता है । बालकों की शक्ति, रुचि और योग्यता के अनुसार अलग-अलग काम भी दिये जा सकते हैं । किसी को रूई से बिनौला दूर करने का काम दे सकते हैं । यह खेल है, साथ ही बालक को यह कारीगर बनाता है । दूसरे को स्कूल का कूड़ा ढोकर एक स्थान पर इकट्ठा करने का काम बताते हैं । इसी की खाद बनती है । तकली द्वारा सूत कातने का काम दूसरे बच्चे करते हैं । इससे उनकी एकाग्रता और ऐंद्रिक शक्ति बढ़ती है । खुद कपड़े धोने का एक विशेष कार्यक्रम है, जिसे सभी बच्चे करते हैं । स्कूल में सभी बच्चे मिलकर नाचते और गाते हैं । श्रम करने और समाज में रहने का ज्ञान उन्हें प्रारंभ से होने लगता है । काम करने की विधि बालकों को अच्छी तरह समझा देने से वे अपने आप सारे काम करने लगते हैं । अध्यापक का काम केवल इतना रहता है कि जब वे काम में अटक जायँ, तो उनकी सहायता, वह कर दे । बालकों को आनन्द मिल रहा है या नहीं, वे थक गये हैं, और ऊब गये हैं, या नहीं, इन सब बातों पर अध्यापक का ध्यान हर समय रहना चाहिए । सहायक उपकरणों का प्रयोग, कार्य की प्रक्रिया (Process) के समझाने में, समझ-बूझकर करना चाहिए । उदाहरण के लिए दाँत साफ़ करने में ब्रुश या दातून का प्रयोग घर में माताएँ कराती हैं

परन्तु बालक दाँत साफ करने की विधि या महत्व को नहीं समझते। इसी तरह बालक घर में भी साबुन का प्रयोग कपड़ों की सफाई में कर सकते हैं; परन्तु सफाई के महत्व की बात उन्हें कभी भी बताई नहीं जाती। पूर्व-बुनियादी शिक्षण में, प्रक्रियाओं के विषय में विस्तार से बताया जाता है। नीचे, हम एक संक्षिप्त विवरण द्वारा (श्री शांता नारुलकर के प्रयोगों के आधार पर) प्रक्रिया, उपकरण और पाठ्य-विषयों का सम्बन्ध बताने की चेष्टा करेंगेः—

	प्रक्रिया	उपकरण	पाठ्य-विषय
(१)	शरीर, दाँतों, हाथ पैरों की सफाई।	पानी से भरा बर्तन तौलिया, मंजन, दातून, कंघा, चाकू, कैंची।	सफाई और स्वास्थ्य-विज्ञान बीमारियों, का ज्ञान, साधारण उपचार आदि।
(२)	वस्त्रों, घर, बाहर की सफाई।	साबुन, सोडा, मिट्टी, झाड़ आदि।	बालों की सफाई, केश - रंजन, वस्त्र धारण, वातावरण का महत्व, व्यायाम आदि।
(३)	अनाज, पानी को कायदे से रखना।	सूप, डलिया, चलनी, तराजू, बाँट, बर्तन आदि।	गृह-विज्ञान, गार्हस्थ-जीवन का ज्ञान, कृषि विज्ञान, प्रकृति का अध्ययन आदि।
(४)	रुई की सफाई कताई, बुनाई की प्रक्रिया।	चटाई, रुई, धुनने के औजार, तकली, चरखा, तुला, बाँट, करघा तथा बुनाई के यंत्र।	साधारण ज्ञान, अंक-गणित के प्रारंभिक नियम, गिनती, पहाड़े, समाज विज्ञान, सह-योग आदि।

प्रक्रिया	उपकरण	पाठ्य-विषय
(५) रचनात्मक खेल।	खपड़े, रंगीन पत्थर और लकड़ी के टूकड़े, खिलौने (मिट्टी और लकड़ी के) फूल पत्तियाँ, बाँस, बोरे आदि।	खिलौनों को कायदे से रखना, खिलौने बनाना, माला बनाना, घर बनाना आदि।
(६) बागवानी।	फावड़ा, बाल्टी, रस्सी, खुरपी, डलिया।	वृक्षों, फलों और तरकारियों का ज्ञान, जुताई, बोना, सिंचाई का ज्ञान।
(७) संगीत।	ढोलक, खँझड़ी, मँजीर एकतारा, करताल।	गीत, भजन, नकल करना।
(८) चित्रकला।	तख्ते, प्याले, कूची, रंग, कागज, रुई, रंगीन डोरे।	हाथ से चित्र खींचना रंग व डिजाइन बनाना आदि।

पूर्व-बुनियादी-शिक्षा में पढ़ाई का समय--उपर्युक्त सारा कार्य-क्रम स्कूल में ही नहीं होता। अध्यापकों को बच्चों के घर पर शाम-सबेरे जाना पड़ता है। घर पर ही वह बच्चों को सफाई और वस्त्रधारण आदि के पाठ पढ़ाता है। उसे हर एक परिवार के माता-पिता से संपर्क स्थापित करना पड़ता है। प्रातःकाल का समय पूर्व-बुनियादी-शिक्षा की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण होता है। स्कूल में बच्चों की आयु के हिसाब से विषयों की पढ़ाई में कम और ज्यादा समय दिया जाता है। जब तक बालक की रुचि किसी काम में बनी रहे, तब तक उसे वह काम करते रहने की सुविधाएँ मिलती है।

पूर्व-बुनियादी-शिक्षा में क्रिया शीलता—छोटे बच्चों की शिक्षा में 'क्रियाशीलता' को प्रमुख साधन बनाना उचित है। इसके लिए चार बातों[1] का ध्यान रखना आवश्यक है।

(क) बच्चों को काम चुनने की पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। उन्हें अपनी रुचि के अनुसार काम करने के लिए छोड़ दिया जाय। हाँ, इस बात का अवश्य ध्यान रक्खा जाय कि पढ़ाई के काम में उपयोग करने वाली चीजें और साधन बच्चों की शक्ति से परे न हों।

(ख) बच्चों को अपने प्रयत्नद्वारा ही हाथ में लिए काम को पूरा करने के लिए छोड़ देना चाहिए। शिक्षक केवल अटकने पर ही सहायता देने के लिए तत्पर रहे। यदि उन्हें सहायता की आवश्यकता नहीं होती और अध्यापक हस्तक्षेप करता है, तो उनका आनन्द नष्ट हो जाता है।

(ग) बच्चों को अपनी सूझ-बूझ और निर्णय से काम लेने देना चाहिए। उनकी कार्यशैली और विचार-शैली अपनी होती है। उनकी बाल-बुद्धि की सीमा से अध्यापक को कभी भी असंतुष्ट न होना चाहिए।

(घ) बालकों की आन्तरिक प्रेरणा को यथा समय जाग्रत करना चाहिए और जब वह जाग्रत हो तभी उनसे काम करने के लिए कहा जाय।

पूर्व-बुनियादी शिक्षक की योग्यताएँ—इस काल का अध्यापक उच्च शिक्षा प्राप्त हो, यह जरूरी नहीं है। वास्तव में इस कार्य के लिए दूसरे प्रकार के गुणों की आवश्यकता है। पूर्व-बुनियादी शिक्षा

---

१. मिलापचंद्र दुबे : बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त, पृष्ठ २५८-२५६।

का अध्यापक विनयी, स्नेही, और मृदु स्वभाव का हो, तभी वह सफल हो सकता है। उसे हर तरह का काम गाँवों में हाथ से करना पड़ता है। उसके अंदर इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह बालकों के माता-पिता तथा अभिभावकों का विश्वास प्राप्त कर सके। इसके लिए उसे स्वयं आदर्श बनना पड़ेगा। गाँवों में सफाई और साक्षरता के आन्दोलन का नेतृत्व उसे ही करना पड़ेगा। उसे स्वभाव से परिश्रमी, उद्यमी और क्रियाशील होना चाहिए। उदार-हृदयता उसके चरित्र का खास गुण होगा। उसके बिना वह सभी प्रकार के लोगों के बीच में हिलमिल कर नहीं रह सकेगा। वह अमीर-गरीब, निर्बल-सबल, ब्राह्मण और शूद्र सभी से समदृष्टि रखकर व्यवहार करता है। जिस गांव या स्थान में वह पहुँचता है, उसकी उपस्थिति से वहां स्वस्थ वातावरण उत्पन्न होता है। यदि उसमें मैत्री-भाव नहीं है, तो ग्रामीण-जन अपने बच्चों की शिक्षा का भार उसे कैसे सौंप सकते हैं? बच्चों के स्वभाव की परख करने की योग्यता का उसमें होना अनिवार्य है। उनके भोजन, वस्त्र, स्वास्थ्य, सफाई और रोगों आदि का पूरा ज्ञान उसे होना चाहिए। बालकों के साथ उसका व्यवहार पितृवत् होना चाहिए, तभी उनके साथ वह घुलमिल सकेगा।

पूर्व-बुनियादी शिक्षण के अन्य सूत्र—इंगलैंड की एक सलाहकार समिति ने पूर्व बुनियादी शिक्षा को सफल बनाने के लिए निम्न-लिखित सुझाव दिये हैं:—

(१) बच्चों के समुचित विकास के लिए स्कूल में स्वास्थ्यप्रद वातावरण, ताज़ी हवा, सूर्य की रोशनी और खुली जगह का प्रबंध अवश्य ही होना चाहिए।

(२) उनको स्वास्थ्यप्रद, आनन्दवर्धक और सयंमित जीवन के अनुकूल यथेष्ट साधन मिलें और डाक्टरी सहायता का प्रबंध हो।

(३) बच्चों में अच्छी आदतें डालने का प्रयास किया जाय।

(४) बच्चों की रुचि के अनुकूल कार्य करने के साधन उपलब्ध हों और उनकी कल्पनाशक्ति के विकास का अवसर मिले।

(५) बच्चों को आपस में मिलजुल कर काम करने और सामाजिक जीवन विताने का अवसर दिया जाय।

(६) बच्चों का घर के जीवन से संवंध न टूटने पाये।

(७) इसके अतिरिक्त बच्चों को विविध प्रकार के अनुभव कराने का भरसक प्रयत्न किया जाय, जैसे खेलकूद, कसरत, नृत्य, संगीत, अभिनय, वागबानी, पशु-पक्षी-पालन, चित्रकला तथा विभिन्न वस्तुएँ वनाना आदि।

(२) बुनियादी शिक्षण

सात वर्ष से लेकर पंद्रह वर्ष की आयु तक बुनियादी शिक्षण का काल माना गया है। यह काल आठ वर्षों का है। आठ वर्षों में क्रम से आठ कक्षाएँ पास कर लेने के बाद एक विद्यार्थी की बुनियादी शिक्षा पूरी होती है। हिंदुस्तानी तालीमी संघ, वर्धा, ने इस आठ वर्ष की बुनियादी शिक्षा को अनिवार्य वनाने की सिफारिश की है। इन पूरे आठ वर्षों में किसी दस्तकारी को केन्द्र बनाकर प्रत्येक कक्षा में, मातृभाषा, राष्ट्रभाषा, गणित, नागरिकता, सामान्य विज्ञान और चित्रकला आदि पाठ्य विषयों की शिक्षा दी जाती है। बुनियादी शिक्षण की एक साधारण रूपरेखा अवश्य तैयार कर ली गई थी परन्तु भिन्न-भिन्न प्रांतों में जिस प्रकार इसका प्रयोग हुआ है, उससे कुछ अंतर पैदा हो गया है, तथापि सारे कार्यक्रम में साधारणतया एकरूपता तो है ही। विधि को अच्छी तरह समझने के लिए समूचे कार्यक्रम पर एक विहंगम दृष्टि डालना जरूरी है।

(क) बालकों की सफाई और स्वास्थ्य का कार्यक्रम—इसके अन्तर्गत बालकों के सर्वांगीण विकास का ध्यान रक्खा जाता है। बालक को शारीरिक श्रम करना, फुर्तीला बनना, घर-बाहर, स्कूल और गाँव में सफाई के काम में योग देना आदि सिखाते हैं। शरीर के विभिन्न अंगों का ज्ञान; तन्दुरुस्ती के नियम; भोजन और पानी के विषय में जानकारी, साधारण रोग, उनकी रोकथाम, प्राथमिक चिकित्सा और रोगी की सेवा आदि बातें बताई जाती हैं।

(ख) अन्न, वस्त्र और घर—इन तीन प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता पैदा करने का कार्यक्रम—इसमें कई बातों का समावेश है, जैसे अपने लिए वस्त्र बनाना, भोजन के लिए आवश्यक अन्न पैदा करना, भोजन बनाना, खर्च का हिसाब-किताब रखना, घरेलू औज़ारों का प्रयोग करना आदि।

(ग) बुनियादी दस्तकारी (जो स्कूल के आसपास के प्रदेश में वहाँ के लोगों की जीविका का साधन हो) का अभ्यास—यों तो भारत जैसे विशाल देश में अनेक घरेलू उद्योग-धंधे मौजूद हैं, जैसे लकड़ी, धातु, मिट्टी, और रूई आदि से विभिन्न वस्तुओं का बनाना। परन्तु मुख्य रूप से बुनियादी शिक्षा में, विशेष रूप से उन उद्योगों को महत्व दिया गया है, जिनका संबंध (१) मिट्टी (जैसे खेती, मिट्टी के खिलौने आदि) (२) रुई (जैसे कपड़े बनाना) (३) लकड़ी (जैसे खिलौने, दरवाजे, फर्नीचर आदि) और (४) धातु (जैसे बर्तन) से है। इसका कारण यह है कि भारत के सारे घरेलू उद्योग-धंधे किसी न किसी रूप में, इन्हीं वस्तुओं से निकले हैं। दूसरे, इनमें से एक न एक पदार्थ प्रत्येक स्थान पर बड़ी सुगमता से सुलभ हो सकता है। तीसरे, इन पदार्थों की सहायता से साधारण से साधारण वस्तु से लेकर बड़ी ही कलात्मक वस्तुएँ तैयार की जा सकती हैं।

बुनियादी दस्तकारी का अर्थ भी यही है। वास्तव में दस्तकारी की शिक्षा ही बुनियादी शिक्षा का मुख्य अंग है।

(घ) **नागरिक जीवन की शिक्षा**—आज का युग व्यक्तिवाद का नहीं है। अब तो ऐसा समय आ गया है, जब हम विश्वबन्धुत्व का स्वप्न देखने लगे हैं। इसलिए हमारे बच्चों के लिये, सहकारिता और सहजीवन की शिक्षा उतनी ही आवश्यक बन गई है, जितनी आवश्यक जीविकार्जन की शिक्षा मानी जाती है। प्रजातंत्र का भाव, नागरिकता के भाव से उत्पन्न होता है। इसलिये भारत के नव-प्रजातंत्र में जो भी शिक्षा-व्यवस्था चालू हो, उसमें नागरिक जीवन की कला का भी मुख्य स्थान रहना चाहिए। बुनियादी शिक्षा में विशेष रूप से बालकों को घर, स्कूल, गाँव और आमतौर से समस्त देश तथा मानव जाति में घुल-मिलकर रहना तथा सहयोगपूर्ण ढंग से काम करना सिखाया जाता है। इतिहास और अर्थशास्त्र के विषय इसी प्रकाश में, बालकों के सामने प्रस्तुत किये जाते हैं।

(ङ) **रचनात्मक एवं सांस्कृतिक कार्यों का अभ्यास**—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत खेलकूद, वादविवाद, व्याख्यान, काव्य-चर्चा, पत्रिका, नृत्य, संगीत, नाटक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक उत्सव आदि आ जाते हैं। बुनियादी शिक्षा में बालकों की सृजनात्मक प्रवृत्तियों का समुचित रूप से विकास करने के लिए बड़ा ही अच्छा प्रबंध किया जाता है। इनसे बालकों का मनोरंजन भी होता है और ज्ञानवर्धन भी। इनका उद्देश्य बालकों के शिक्षाकाल को रसमय तथा आकर्षक बनाना है। साथ ही साथ मातृभाषा का ज्ञान कराने में भी सहायता मिलती है।

इस समूचे कार्यक्रम पर निगाह डालने के बाद स्पष्ट हो जाता है कि बुनियादी-शिक्षा में दस्तकारी के अंग को ही महत्व देकर उसे

एकांगी नहीं बना दिया गया है। दस्तकारी का उद्देश्य बालकों की कार्य-क्षमता तथा व्यावहारिकता का अभिवर्धन करना है, साथ ही बौद्धिक पक्ष पर उतना ही ज़ोर दिया गया है जितना शारीरिक कार्य पर।

इस कार्यक्रम के अनुसार आठ वर्षों तक विद्यार्थियों को पढ़ना पड़ता है और सम्पूर्ण शिक्षा पूरी कर लेने के बाद, विद्यार्थी जो भी योग्यताएँ प्राप्त करता है, उसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है:-

(१) **साफ और स्वच्छ जीवन बिताने की योग्यता**—शरीर स्वस्थ बन जाता है और बालक फुर्ती और चुस्ती से काम करने लगता है। अपने शरीर और कपड़ों की सफाई का ही नहीं, वरन अपने गाँव, मोहल्ले और आसपास के स्थानों को साफ रखने में उसकी रुचि हो जाती है। सफाई के लिए वह उचित कार्यक्रम बना सकता है। स्वास्थ्य को स्थायी रखने के लिए आहार-विहार में संयम करना वह सीख लेता है। सभी बीमारियों का साधारण ज्ञान, उसके फैलने के कारण, उनकी रोकथाम, प्राथमिक उपचार तथा व्यावहारिक ज्ञान उसे हो जाता है। श्रम और विश्राम के बारे में भी उसे जानकारी हो जाती है।

(२) **अन्न, वस्त्र, और आश्रय के स्वावलम्बन की योग्यता**—विद्यार्थी को खेती का साधारण ज्ञान हो जाता है। विशेष रूप से अन्न, शाक और कपास को उगाने का तरीका उसे मालूम हो जाता है। अपने और अपने परिवार के लिए भोजन बनाना, हिसाब-किताब रखना और मास भर के अनुमानित व्यय का हिसाब निकालना, घरेलू औजारों का प्रयोग तथा उनकी रक्षा करना और साइकिल की सवारी—इन सब कार्यों का पूरा ज्ञान उसे हो जाता है।

(३) **बुनियादी दस्तकारी में योग्यता**—एक विशेष दस्तकारी का इतना अच्छा ज्ञान विद्यार्थी को हो जाता है, कि वह बाजार में

बिकने के योग्य वस्तुएँ तैयार करने लगता है और उन्हें बेचकर जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सामग्री वह खरीद सकता है ।

(४) **सामान्य विज्ञान और गणित में योग्यता**—कृषि और दस्तकारी का ज्ञान प्राप्त करने में, बालक का प्रकृति से सम्पर्क हो जाता है। उसे वृक्षों, पौधों, पत्तियों और पशुओं के विषय में पूरी जानकारी होती है। दस्तकारी में प्रयुक्त होनेवाले औजारों की सहायता से यंत्र-शास्त्र का भी उसे ज्ञान होता है। कृषि में काम आनेवाले पदार्थों के विषय में उसे बहुत कुछ मालूम हो जाता है। तैयार वस्तुओं के बेचने और कच्चा माल खरीदने और नाप-तौल से उसे गणित का ज्ञान होता है।

(५) **नागरिकता में योग्यता**—विद्यार्थी सहकारिता के मूल तत्व को भलीभाँति हृदयंगम कर लेता है। गाँवों की आर्थिक स्थिति, विकेन्द्रित शासन, तथा प्रत्येक इकाई का स्वावलंबन, ग्राम और नगर का सम्बन्ध, सहकारी सम्मितियों का संगठन एवं संचालन, हिन्दुस्तान और दुनिया के भूगोल और इतिहास आदि का ज्ञान उसे हो जाता है। विद्यार्थी में धार्मिक उदारता उत्पन्न हो जाती है और वह जाति, धर्म, भाषा और संस्कृति आदि की संकीर्णता से मुक्त हो जाता है।

(६) **भाषा की योग्यता**—स्कूल, गाँव और स्थानीय समाज की समस्याओं पर स्कूल की खुली सभा में विचार प्रकट करने की योग्यता विद्यार्थी में आ जाती है। शुद्ध तथा साफ भाषा का बिना किसी हिचकिचाहट के बोलना, और लिखकर भाव प्रकट करना भी उसे आ जाता है। मातृभाषा के साहित्य से वह अच्छी तरह परिचित हो जाता है। पत्र-पत्रिकाओं को पढ़कर निष्पक्ष भाव से विचार की शक्ति उसमें आ जाती है।

(७) **सृजनात्मक और कलात्मक-रुचियों का विकास**—संगीत,

साहित्य और कला में विद्यार्थी को स्थायी रुचि उत्पन्न हो जाती है और वह शुद्ध और सात्विक मनोरंजन का वास्तविक महत्व समझने लगता है। अपने इलाके में प्रचलित कलाओं, लोकगीतों और लोकनृत्य आदि से वह परिचित हो जाता है। उसे सौंदर्योपासना में आनंद आने लगता है।

उपर्युक्त योग्यताओं को प्राप्त कराने के लिए प्रत्येक प्रकार की शिक्षा जैसे स्वास्थ्य, स्वावलंबन, दस्तकारी, भाषा, गणित, नागरिकता आदि की शिक्षा देने का (जिनका संक्षिप्त विवरण हम ऊपर दे चुके हैं) आठ वर्षों तक लगातार प्रयत्न किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त कार्यक्रम प्रत्येक कक्षा में कक्षा १ से ८ तक प्रतिवर्ष दुहराया जाता है। हाँ, बालकों के शारीरिक और बौद्धिक विकास के अनुसार, आरंभ की कक्षाओं में विषय सरल ढंग से पढ़ाये जाते हैं और वे उत्तरोत्तर कठिन होते जाते हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए हम प्रत्येक कक्षा में होनेवाली पढ़ाई का विवरण देंगे।

कक्षा १ और २—आयु ६ से ८ वर्ष तक

(क) **सफाई और स्वास्थ्य**—छोटे बच्चों की इस प्रथम कक्षा में सफाई का कार्यक्रम मुख्य होता है। अध्यापक बालकों के घर जाकर उनके स्वास्थ्य की देखरेख करता है। बालकों को पाखाना-पेशाब के लिए नियत स्थान पर नियत समय पर रोज ले जाना; नाक, कान दाँत और बालों की सफाई करना, स्नान करना, कपड़े धोना, अपने बर्तनों को माँजना, पानी और भोजन को ढक कर रखना, नियत समय पर भोजन करना, दोपहर में विश्राम करना, रात्रि में ठीक समय सोना, कितने घंटे सोना, खुली हवा में सोना आदि बातें सिखाई जाती हैं। इसी प्रकार कमरों, अलमारी, बाग, आँगन, खेल तथा दस्तकारी के सामान और औजारों की सफाई बालकों से कराई जाती है। बालक स्वयं कूड़ा-कचरा उठाकर फेंकते हैं।

(ख) स्वावलंबन—बागवानी और खेती के लिये बालकों को खेत और बाग में काम करना, काम में लाये जाने वाले औजारों की मरम्मत करना, कताई और बुनाई करना आदि क्रियायें सिखाई जाती हैं ।

(ग) दस्तकारी, (१) खेती—छोटे बालकों के लिए जमीन का एक छोटा टुकड़ा अलग कर दिया जाता है, जिसमें वे अध्यापक की सहायता से फल-फूल पैदा करते हैं। उनके उपयोग के लिए छोटी खुरपियाँ और टोकरियाँ लाई जाती हैं । पहली कक्षा में खोदी या जुती हुई जमीन तैयार करना, बीज बोना, रोप लगाना, पौधों की देखभाल करना, खाद इकट्ठा करना, खेत में खाद डालना, सिंचाई करना, कीड़े निकालना, तरकारियाँ तोड़ना, तौलना, और बेचना आदि सिखाया जाता है। इन क्रियाओं के साथ-साथ बालकों को वृक्षों और पौधों की पहचान, उनके अंगों का निरीक्षण, पौधों के बीज, तने, पत्ते, जड़ें, फूल और फल आदि की बाढ़ का ज्ञान, उनके लिये मिट्टी, पानी, हवा और रोशनी की आवश्यकता, और उपज में कीड़े-मकोड़ों तथा पक्षियों का योग आदि के विषय में भी बताया जाता है। दूसरी कक्षा में यह क्रियायें कुछ कठिन बना दी जाती हैं ।

(२) कताई बुनाई—जहाँ तक सम्भव होता है, स्कूल में ही कपास पैदा कराई जाती है । कपास चुनना, साफ करना और ओटना बताया जाता है । बुनाई के बाद पूनियाँ बनाना, और तकली पर सूत कातना बताते हैं। प्रथम कक्षा के लिए काम का औसत नियत है । दूसरी कक्षा में उससे अधिक काम लेना चाहिए। कताई-बुनाई का परिमाण बढ़ने के साथ-साथ सूत बढ़िया होता जाय, इसका ध्यान रक्खा जाता है । कक्षा दो में ओटाई, तुनाई, धुनाई, कताई आदि क्रियायें चालू रहती हैं ।

(घ) **भाषा और साहित्य**—कक्षा एक के बालकों को वार्तालाप के द्वारा घरेलू और स्कूली जीवन के संबंध में बताया जाता है। शब्दों के स्पष्ट और शुद्ध उच्चारण पर जोर दिया जाता है। गाँव, घर तथा स्कूल से सम्बन्धित वस्तुओं और वातावरण से शब्द-संग्रह करके पाठ तैयार किए जाते हैं। इससे बालकों का शब्द-भांडार सरलता से बढ़ जाता है। शिक्षक लोक-कथायें, पौराणिक कथायें, पशु-पक्षियों की कहानियाँ, या विदेशों की कहानियाँ, जिनमें हास्य का विशेषरूप से पुट हो, बालकों को सुनाता है, बालक स्वयं भी कहानियाँ कह सकते हैं। सरल कवितायें कंठस्थ करा दी जाती हैं। लिखने और पढ़ने का काम प्रारंभ कर दिया जाता है। कक्षा दो के पाठ्यक्रम में कोई खास अंतर नहीं होता। मौखिक-कार्य, कविता, कहानी, पढ़ाई, लिखाई और साहित्य में थोड़ी-सी प्रगति दिखायी जाती है।

(ङ) **गणित**—प्रथम कक्षा में १०० तक गिनती, वजन-मन, सेर-छटांक, नापने का काम, समय की माप, आदि सभी साधारण पैमाने बता दिए जाते हैं। सरल जोड़-बाकी, रुपये-पैसे के हिसाब-किताब की सहायता से, बालक जान जाते हैं। रेखागणित की सरल आकृतियाँ आदि भी उन्हें बता दी जाती हैं। दूसरी कक्षा में गिनती लिखना, और रेखागणित को छोड़कर और अधिक प्रगति नही होतीं।

(च) **सामान्य ज्ञान**—प्रथम कक्षा से ही बालकों की जिज्ञासा प्रवृत्ति को बढ़ने दिया जाता है। सूर्योदय और सूर्यास्त, अँधेरा और उजेला पक्ष, महीने और मौसम, आस-पास के पशु-पक्षी, पौधों की पहचान आदि के बारे में उन्हें अच्छी तरह बताया जाता है। कक्षा दो में केवल ऋतु-परिवर्तन और उसका पौधों पर प्रभाव, यह प्रसंग जुड़ जाता है।

(छ) **नागरिकता**—कक्षा एक और दो में, बालकों को अपने आस-पास की खबरें सुनने और सुनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। फिर उन्हें शिष्टाचरण की शिक्षा दी जाती है, जैसे गुरुजनों को नमस्कार करना, बीच में न बोलना, धीमे बोलना, मृदुभाषण करना, अतिथि-सत्कार करना, घर में माता-पिता, स्कूल में गुरू, खेल में साथियों के साथ सहयोग करना सिखाया जाता है। इस बात पर जोर दिया जाता है कि बालक शाँत भाव से बैठें और सभूह में खड़े हों, खाना बनाने और परोसने में सावधान रहें, खेलते वक्त ईमानदारी और न्याय के साथ खेलें, स्कूल के प्रत्येक कार्यक्रम में नियमानुसार भाग लें और कर्तव्य-पालन में तत्पर रहें। यही सच्ची नागरिकता की व्यावहारिक शिक्षा है। वे नागरिक जीवन बिताने का प्रारंभ से ही अभ्यास करने लगते हैं।

(ज) **रचनात्मक कार्य**—कविताओं और गीतों को कंठस्थ कराया जाता है। चित्र खींचने में, रंग-प्रयोग, आसन, पेंसिल पकड़ना, आदि भलीभांति सिखाये जाते हैं। बालक पहले वृक्ष, नदी, आकाश और धरती आदि देखकर उन्हीं के चित्र खींचते और रँगते हैं। रंगों की तुलना कराने पर विशेष ध्यान रक्खा जाता है।

कक्षा ३—आयु ८ से ९ तक

(क) **सफाई और स्वास्थ्य**—बालकों की आदतों का सुधार हो चुकने पर अब स्वास्थ्य के नियम उन्हें बताये जाते हैं। घर के छोटे बच्चों और अन्य जनों की देखभाल, रोग की रिपोर्ट तैयार करना और शरीर के अंगों की जानकारी आदि उन्हें कक्षा तीन में कराई जातो है। गाँव, स्कूल और घर की सफाई के सामूहिक कार्यक्रम में वे भाग लेने लगते हैं। सफाई के साधनों—जैसे कुएँ, नाली और कूड़े का जमा करना आदि के बारे में उन्हें ज्ञान कराया जाता है और इनके बनाने में वे सहायता करते हैं।

(ख) **स्वावलंबन**—खेतों, रसोईघर, और बाग में काम करना यही मुख्य काम होते हैं।

(ग) **दस्तकारी**—(१) **खेती**—बाग या खेत में बालक अपने आप काम करने लगते है। फावड़ों और कुदाली का प्रयोग उन्हें बताया जाता है। जमीन तैयार करना, सींचना, निराना, खाद डालना, साग-सब्जी निकालना—ये व्यावहारिक कार्य तो होते ही हैं, साथ ही बालकों को बौद्धिक कार्य भी करना पड़ता है, जैसे अंकुर, बीजदल, जड़ों, तने, पत्ते आदि के काम, टिड्डी और तितली का जीवन, फसल को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों को रोकने की विधि, और खाद की आवश्यकता—इन विषयों का ज्ञान प्राप्त करना। निरीक्षण करने पर विशेष जोर दिया जाता है।

(२) **कताई-बुनाई**—इस कक्षा में चरखे पर कताई का काम प्रारम्भ हो जाता है; परन्तु तकली का काम जारी रहता है। जितना काम हो, उसका दैनिक, साप्ताहिक और मासिक लेखा रखना बालकों के लिए आवश्यक है। कक्षा दो तक होने वाले सारे अमली काम चालू रहते हैं। हाँ, सूत और कपास का शास्त्रीय अध्ययन यहीं से प्रारंभ होता है, जैसे चरखे के अंगों का सामान्य ज्ञान, अच्छी बुरी धुनाई, पोल की पहचान आदि।

(घ) **भाषा और साहित्य**—मौखिक अभ्यास के लिए कक्षा दो का कार्यक्रम चालू रक्खा जाता है। सरल पुस्तकें पढ़ना, जोर से और मन में पढ़ना, शिक्षकों के बोलने पर लिखना, नकल करना, अपने मन से छोटी-छोटी कहानी या वर्णन लिखना, पत्र लिखना, कविता पाठ करना, रोज मौसम का विवरण लिखना और अभिनय करना—इतने कार्य बढ़ जाते हैं। बालक सभायें करते हैं, वादविवाद और व्याख्यान आदि का स्वयं प्रबन्ध करते हैं।

(ङ) **गणित**—१००० तक गिनती और १६ तक पहाड़े, जोड़, बाकी गुणा-भाग और साधारण भिन्न आदि का ज्ञान कराया जाता है।

(च) **सामान्य ज्ञान**—आसपास के कीड़ों के जीवन का अध्ययन, उनके घर, भोजन, आदतें, अंडे और विकास का ज्ञान, विशेषरूप से मक्खी और मच्छर के विषय में; पानी की सफाई की विधि, जैसे छानना, उबालना और निथारना; पौष्टिक भोजन और उसकी मात्रा; ऋतुओं का परिवर्तन, कुतुबनुमा की सहायता से दिशाज्ञान; नक्षत्रों का उदय और अस्त होना; साधारण पदार्थों के भौतिक गुण-धर्म, हल्का-भारीपन, खुरदरा और चिकनापन, तैरने और डूबने का गुण आदि के विषय में बताया जाता है।

(छ) **नागरिकता**—सार्वजनिक स्थानों, जैसे कुएँ, पोखर, बाजार-हाट आदि के प्रयोग में संयम; धार्मिक और सांस्कृतिक उत्सवों में भाग; स्कूल के निकट के बाजार, स्टेशन, मेले और ऐतिहासिक स्थानों का ज्ञान; भारत के नक्शे का प्रयोग, सामाजिक संगठन, जैसे पंचायत, सहकारी समिति, पशुओं के प्रति दया, रोगोपचार आदि के कार्य—का ज्ञान कराया जाता है।

(ज) **रचनात्मक कार्य**—कक्षा और स्कूल के वाचनालय में बालक जाकर पढ़ते हैं। एक पत्रिका चलाई जा सकती है। संगीत, नाटक, नृत्य आदि का भी प्रबंध होता है। घरेलू जीवन के चित्र बनाने पर जोर देते हैं।

कक्षा ४—आयु ९ से १० वर्ष

(क) **सफाई और स्वास्थ्य**—पिछली कक्षाओं में दिये गये कार्य-क्रम के साथ-साथ नयी बातें यह हैं:—अपनी कक्षा के सभी बालकों का शारीरिक वज़न जानना, घटती-बढ़ती का कारण समझना;

शरीर के अंगों की जानकारी प्राप्त करना, साफ़ हवा, पानी और उपयुक्त भोजन की आवश्यकता का कारण जानना; हर समय प्रसन्न रहना, मामूली बीमारियों जैसे, मलेरिया, खुजली, फोड़े, बदहज़मी आदि का ज्ञान तथा उपचार की विधि; आस-पास के स्थानों से पानी निकालने की नालियों की सफ़ाई, गोशाला की सफाई जहाँ मच्छर, मक्खी तथा अन्य कीटाणु पैदा होते हैं, आदि।

(ख) स्वावलंबन—कताई, बुनाई, सिलाई, झाड़ू, खरोटे, टोकरे, बनाना, अनाज संग्रह; भोजन पकाना आदि।

(ग) दस्तकारी—(१) खेती—व्यावहारिक कार्यों के अन्तर्गत नयी बातों में, मौसम और जमीन के मुताबिक खेती का कार्यक्रम बनाना, खेत में क्यारी और पानी की नालियाँ बनाना; फल के पेड़ों के थाले खोदना; मुर्गी पालना और अंडों की देखभाल, रक्षा करना; सारे कार्यों का लेखा रखना और चार्ट बनाना आदि शामिल हैं। बौद्धिक कार्य के लिए हर प्रकार की मिट्टी, खाद, बीजों और पौधों के रोगों तथा उपचार का अध्ययन कराया जाता है।

(२) **कताई-बुनाई**—प्राथमिक कक्षाओं में होने वाले कार्यों के अतिरिक्त चरखे पर कताई; रुमाल, झाड़न, और तौलिये की बुनाई; औजारों का बनाना आदि सिखाया जाता है। बौद्धिक कार्य के लिये उत्पादित माल का लेखा-जोखा रखना, मूल्य लगाना, हिन्दुस्तान के कपास के क्षेत्रों का अध्ययन, आदि पर जोर दिया जाता है।

(घ) भाषा और साहित्य—पुस्तकालय से पुस्तकें लेकर पढ़ना और अखबार द्वारा समाचारों की जानकारी, जबानी याद करना, लेख आदि लिखना—यही कार्य मुख्य हैं।

(ङ) गणित—गुणा, भाग, मिश्र, औसत, ग्राफ़, बहीखाता,

क्षेत्रफल निकालना, व्यवहार-गणित, आदि के सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाती है।

(च) **सामान्य-ज्ञान**—पशु-पक्षियों, पौधों, कीड़ों, मौसम आदि के अध्ययन और उनको डायरी में लिखना, पर्यवेक्षण करना, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, बिच्छू, साँप, जहरीले कीड़ों के उत्पन्न होने के स्थान तथा उनके विकास का ज्ञान कराया जाता है। ग्रह-नक्षत्रों, दिशाओं, दिन-रात के बारे में बताते हैं। उद्योग में उपयोगी वस्तुओं जैसे नमक, कागज, तथा यंत्रों के बारे में बताया जाता है।

(छ) **नागरिकता**—पिछली कक्षाओं का कार्यक्रम बड़े पैमाने पर लागू किया जाता है। धार्मिक, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक उत्सवों की सहायता से भारत के इतिहास का ज्ञान कराते हैं। जिले का भूगोल विशेष रूप से और प्रांत तथा भारत का भूगोल प्रासंगिक तौर पर पढ़ाया जाता है। कुछ बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। जैसे प्रारम्भ से पाषाणकाल तक का इतिहास, भारतीय शासकों का जीवन जिन्होंने भारतीय संस्कृति के उत्थान में योग दिया हो, और भारत तथा विदेशों के संबंध।

(ज) **रचनात्मक कार्य**—कक्षा तीन के कार्यक्रम के साथ, राष्ट्रीय गान, भजन, और लोक-गीतों की प्रधानता होती है। पौराणिक गाथाओं को नाटकों के द्वारा बताया जाता है। बालकों को चित्र खींचने में मौलिकता और घर की सजावट के विषय में बताया जाता है।

कक्षा ५—आयु १० से ११ वर्ष तक

इस कक्षा में प्रत्येक विषय के अन्तर्गत नयी उल्लेखनीय क्रियाओं की पढ़ाई का विवरण हम संक्षेप में नीचे दे रहे हैं:—

(क) **स्वास्थ्य और सफाई**—व्यायाम की आवश्यकता; हड्डी,

खून और माँस को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक भोजन; हवादार मकान की आवश्यकता; स्कूल और घर के पाखानों, पेशाबघरों की सफाई तथा सोकपिट का निर्माण; गोशाला की सफाई से खाद बनाना जैसे सोनखाद, पेशाब की खाद, संयुक्त खाद आदि; सफाई के औजारों जैसे टोकरी, फावड़े, और झाड़ू आदि का संग्रह; बीमारों की सेवा—परिचर्या, टेम्परेचर लेना, पथ्य देना, चार्ट बनाना, चेचक और मलेरिया जैसे रोगों का प्रतिरोध; प्राथमिक चिकित्सा आदि।

(ख) **स्वावलंबन**—बाँस से सलाई, अटेरन और चर्खा बनाना; स्कूल और घर की दीवारों की मरम्मत; लकड़ी के दरवाजों की रँगाई आदि।

(ग) **दस्तकारी**—(१) **खेती**—पिछले अनुभवों के आधार पर वर्ष भर की खेती की योजना बनाना; फसल की हिफाजत; अगली फसल के लिए, कपास, ज्वार, चने, आलू, अदरख आदि के बीज सुरक्षित रखना; निराई में हानिकर पौधों का अध्ययन, गहरी उथली जुताई; मिट्टी पर ठंडक और उष्णता का प्रभाव; स्पर्श, वजन, विश्लेषण, भौतिकगुणों नमी की सहायता से अच्छी-बुरी मिट्टी की पहचान; अच्छे-बुरे बीजों की जाँच।

(२) **कताई-बुनाई**—ओटाई, तुनाई और कताई में गति की तेजी; उत्पादन की अधिकता पर जोर तथा सबका विवरण।

(घ) **भाषा और साहित्य**—शास्त्रीय साहित्य की पढ़ाई का प्रारंभ; मातृभाषा के साहित्य का आनन्द लेना; साहित्य-सभा का आयोजन; मौलिक रचनाओं का पत्रिका में प्रकाशन, राष्ट्र-भाषा का ज्ञान; व्याकरण की जानकारी।

(ङ) **गणित**—लघुत्तम समापवर्तक, व्यवहार-गणित, प्रतिशत, ऐकिक - नियम, बहीखाता—रोकड़बही, मासिक - पत्रक, हानि-लाभ आदि।

(च) **सामान्यज्ञान**—बीमारियों के कारण; कीटाणुओं की उत्पत्ति, हवा पानी की रचना तथा तत्व; पाचन-प्रणाली का विस्तृत ज्ञान, बीज का ज्ञान; सौर मंडल का परिचय; मकान में उपयुक्त होने वाली सामग्री का अध्ययन; पदार्थों की तीन अवस्थायें, वाष्प के इंजन, रोशनी तथा आवाज़ की चाल, पहिया और धुरी का ज्ञान।

(छ) **नागरिकता**—भारत का भूगोल—गेहूँ, धान, कपास, मिलें और खनिज-पदार्थों के क्षेत्र; धर्मों का परिचय, भाषायें तथा लिपियाँ, वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति; नक्शे खींचना; स्वायत्तशासन, सभा-समितियों का संगठन आदि।

(ज) **रचनात्मक कार्य**—कक्षा ५ के समान।

कक्षा ६—आयु ११ से १२ वर्ष तक

(क) **सफाई और स्वास्थ्य**—विभिन्न व्यायाम तथा आसन; ब्रह्मचर्य का महत्व; दैनिक भोजन की मात्रा; शरीर के लिए विटैमिन्स की मात्रा; मलमूत्र का कम्पोस्ट खाद बनाने में उपयोग; शरीर के अंगों के कार्य जैसे माँस-संस्थान, रक्त-संस्थान, ज्ञानतंतुसंस्थान, ज्ञानेन्द्रियाँ, मलमूत्र-विसर्जन-संस्थान; कुएँ, धर्मशाला, बरातघर, चौपाल, मंदिर और मस्जिद की सफाई; दुर्घटनाओं में प्राथमिक उपचार, तथा उसमें नमक, गंधक, आयोडिन और पानी का प्रयोग; देशी जड़ी-बूटियों का परिचय; जलने, कटने, छिलने में चिकित्सा आदि।

(ख) **स्वावलंबन**—अपने लिए सभी आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन और संग्रह का आयोजन करना।

(ग) **दस्तकारी**—(१) **खेती**—रेतीली, मटयारी और दूमट मिट्टी का अध्ययन; उसे उपजाऊ बनाने में केंचुए का प्रयोग; समतल बनाने की विधि; मिट्टी के ढेले तोड़ने और यंत्रों का शास्त्रीय उपयोग; सजीव खाद, हरी खाद की तैयारी; फलीदार पौधों की रक्षा; बीज बोने के अनेक ढंग जैसे छेदने, खोसने, जखीरा लगाने आदि के ढंग; पक्षियों से बीज की रक्षा, मेंड़ें और नाली बनाकर; अँखये फूटने पर बीज का अध्ययन; वर्षा, नहर, कुएँ, नदी, पोखर आदि से सिंचाई का ज्ञान; निकाई से प्राप्त पौधों का चारे में उपयोग; खेती को हरिण, साही, बंदर, चूहे, कीड़ों और कीटाणुओं से बचाने के लिए आड़, छप्पर, बाड़ आदि का प्रबन्ध तथा दवाइयों का प्रयोग; अन्न पकने की पहचान; अन्न-संग्रह आदि।

(२) **कताई-बुनाई**—कपड़ों का मूल्य के अनुसार विभाजन; उद्योग की प्रक्रियाओं जैसे कपास उपजाना, कपास चुनना, संग्रह करना, सफाई, ओटाई, धुनाई, कताई, सूत का वर्गीकरण, टूटन निकालना, ताना-फैलाना खोलना, माड़ी लगाना, बुनाई आदि का पूर्ण अध्ययन।

(घ) **भाषा-साहित्य**—कक्षा ६, ७ लौर ८ के लिए प्रायः एक-सा कार्यक्रम यों हैं :—शुद्ध, स्पष्ट तथा निर्भीक भाव से बोलना; गाँव की समिति में भाषण; सभाओं का कार्यक्रम लिखना; मेले, प्रदर्शनी, उत्सव, प्रौढ़ शिक्षा के लिए विज्ञापन लिखना; आस पास की ग्रामीण भाषाओं का ज्ञान।

(ङ) **गणित**—दशमलव, साधारण ब्याज, समय-काम-गति; घनफल, अनुपात, आदि।

(च) **सामान्य ज्ञान**—कुछ विशेष अनाजों, भाजियों और फलों का जीवन वृत्तांत; पशुओं की रीड़ की हड्डी के होने न होने और

दूध पिलाने के आधार पर वर्गीकरण; जानवरों और पौधों में समता-विषमता; हवा का भार; पानी के भौतिक गुण-धर्म; प्रकाश और गर्मी का उत्पादन और नाप; अम्ल और क्षार के तत्व, यौगिक तथा मिश्रण; पेट्रोलियम का उद्‍गम-स्थान तथा उपयोग; गिर्री का उपयोग ।

(छ) **नागरिकता**—कक्षा ६, ७ और ८ के लिए कार्यक्रम प्रायः समान हैं:—गाँव के स्वास्थ्य-आयोजन, जैसे हैजे, ताउन, चेचक, और मलेरिया की रोकथाम तथा प्राथमिक चिकित्सा में सहायता देना; सहकारी धान्यभंडार, गोशाला तथा समितियों का संगठन, सामाजिक तथा धार्मिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न; प्रौढ़-शिक्षा में सहायता; खादी का प्रचार; मानव की कहानी—मानव और प्रकृति का संबंध. जंगली, मैदानी, रेगिस्तानी, समुद्रतटीय, घास के मैदानों के और खनिज पदार्थों वाले स्थानों में जीवन की विशेषताएँ; खाद्यपदार्थों, वस्त्र, मकान, औजारों, यात्रा के साधनों जैसे रेल, तार, जहाज और मोटर आदि के क्रमिक विकास का अध्ययन; भारत और विश्व का संबंध—धर्मप्रचार, व्यापार, आक्रमण द्वारा; आविष्कार—भाषा, लिपि, छापाखाना, रेडियो, टेलीविजन । विभिन्न सभ्यतायें—जैसे आर्य, द्रविड़, मंगोल आदि; बड़े-बड़े साम्राज्य—यूनानी, मौर्य, गुप्त, इस्लामी, ब्रिटिश आदि ।

(ज) **रचनात्मक कार्य**—साहित्य-सभा, पत्रिका, भारतीय संगीत का सम्पूर्ण ज्ञान कक्षा ६, ७ और ८ में कराया जाता है; शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त भजन, राष्ट्रीयगान, भातखंडे, और कर्नाटकी पद्धति का ज्ञान कराया जाता है । चित्रकला में पेंसिल, चाक और वाटरकलर का उपयोग; खिलौने, चटाई, टोकरी, डिजाइन बनाना; प्रदर्शनी का आयोजन, रंग-मंच आदि तैयार करना ।

कक्षा ७—आयु १२ से १३ तक

(क) **सफाई और स्वास्थ्य**—रोग से बचने के लिए, रोध-प्रतिरोध की शक्ति का बढ़ाना; सफाई और आरोग्य का प्रचार करने के लिए, रिपोर्ट; चार्ट, प्रदर्शनी, तसवीरें और अभिनय का आयोजन, प्राकृतिक चिकित्सा का ज्ञान; खांसी, बुखार, तपेदिक, और निमोनिया के कारण तथा उनके उपचार का ज्ञान; कुत्ते या सियार के काटने, डूबने, आकस्मिक दुर्घटना के घटित होने पर प्राथमिक उपचार एवं चिकित्सा ।

(ख) **स्वावलंबन**—परिवार भर की आवश्यकताओं को ध्यान रखते हुए उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न ।

(ग) **दस्तकारी**—(१) **खेती**—पहाड़ी स्थानों पर खेती के योग्य जमीन तैयार करना; जमीन के पदार्थों का अध्ययन; हल और उसके अंगों का शास्त्रीय अध्ययन; खाद बनाने के रासायनिक तरीके जैसे हड्डी की खाद; पौधों की छटाई और कलम लगाना, कब, कैसे और क्यों; सिंचाई के लिए रहट और पुड़ का ज्ञान; सिंकाई में परोपजीवी पौधों का अध्ययन; पौधों की महामारी रोकने के लिए रासायनिक घोल तैयार करना; सूखे छिड़कने वाले मसाले बनाना और मशीनों का प्रयोग; अनाज कटने पर माँड़ना और ओसाना; अनाज को तौलकर बोरों में भरना; घरेलू पशुओं का अध्ययन आदि ।

(२) **कताई-बुनाई**—कक्षा ७ और ८ के लिए कार्यक्रम एक है:—दुपट्टा और दुसूती की बुनाई; धोती, साड़ी, रंगीन कपड़े, किनारीदार और नक्शेदार बुनाई; निवाड़-दरी की बुनाई; रेशम और ऊन का ज्ञान; कपड़ों की धुलाई और रंगाई आदि ।

(घ) **भाषा-साहित्य**—पिछली कक्षा का विवरण देखिए ।

(ङ) **गणित**—कक्षा ७ और ८ का कार्यक्रम एक है:—पहले की कक्षाओं का कार्य दुहराना; साधारण समीकरण और बीज-गणित; आलेख वर्गमूल, रेखागणित की प्रमेयों का सिद्ध करना।

(च) **सामान्य विज्ञान**—पृथ्वी की उत्पत्ति, गुरुत्वाकर्षण, ज्वार-भाटा, सौरमंडल, पौधों और वनस्पति की उत्पत्ति और उनका गर्मी, हवा और प्रकाश के अनुकूल रूप धारण करना; वायु, भाप, आक्सीजन, कार्बन, थर्मामीटर, ध्वनि का कम्पन, साधारण धातुएँ और उनके गुण, मकान बनाने के साधनों, ईंट, चूना, सीमेंट, कंकरीट और कांच का ज्ञान; हर प्रकार के जोड़ों का अध्ययन।

(छ) **नागरिकता**—पूर्व कक्षा के समान।

(ज) **रचनात्मक कार्य**—पूर्व कक्षा के समान।

कक्षा ८—आयु १३ से १४-१५ वर्ष तक

(क) **सफाई और स्वास्थ्य**—पिछले कार्यक्रम को दुहराना; घर और गाँव की सफाई के लिए सार्वजनिक और सरकारी संस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करना, जैसे स्वास्थ्य-विभाग, अस्पताल, प्रसूतिगृह और शिशु मंगल-केंद्र आदि; चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियों जैसे यूनानी, वैद्यक, होम्योपैथिक और घरेलू आदि का ज्ञान तथा प्रत्येक पद्धति के महापुरुषों की जानकारी; महामारी की दशा में स्वयं-सेवक का कार्य, घायलों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना।

(ख) **स्वावलंबन**—गाँव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वयं प्रयत्न तथा दूसरों को सहयोग देना।

(ग) **दस्तकारी**—(१)—उन तत्वों का ज्ञान जिनसे भूमि ऊसर बन जाती है; सब प्रकार के हलों का ज्ञान; निर्जीव खादों का ज्ञान,

जैसे नत्रजन युक्त खाद, फासफोरस की खाद और क्षारमय खाद और उनका खास मौकों पर प्रयोग, तथा अधिक प्रयोग से हानि; पम्प द्वारा सिंचाई तथा विद्युत का प्रयोग; तरकारियों और फलों का संचय करने के लिए सुखाना या मुरब्बा बनाना; वृक्षों का लगाना तथा उत्सव; पशु-संवर्धन का कार्य।

(२) **कताई-बुनाई**—कक्षा ७ के अनुसार।

(घ) **भाषा-साहित्य**—पूर्व कक्षा के अनुसार।

(ङ) **गणित**—पूर्व कक्षा के अनुसार।

(च) **सामान्य ज्ञान**—सूर्य-चन्द्रमा तथा राशिचक्र; सूर्य के धब्बे, उल्का और पुच्छल तारे का ज्ञान; सूर्य से प्रकाश, गर्मी का संचालन, संवाहन और विकीरण, प्रकाश का दर्पण में परावर्तन, छितराना और छोटा-बड़ा दिखाना, दीपशक्ति, वायु और पानी से विद्युतशक्ति की उत्पत्ति, अणु और परमाणुशक्ति, वायु की पेटियाँ और जलधारायें, पौधों का वर्गीकरण, शक्कर में खमीर उठना आदि का ज्ञान।

(छ) **नागरिकता**—पूर्व कक्षा के अनुसार।

(ज) **रचनात्मक कार्य**—पूर्व कक्षा के अनुसार।

समस्त कार्य-क्रम की पूर्णता के लिए कुछ आवश्यक प्रबन्ध और सावधानियाँ

(१) सफाई और आरोग्य के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए पाठशाला में बालकों के लिए एक समय के भोजन का प्रबन्ध होना चाहिए। उसके लिए पाठशाला की अलग पाकशाला हो और उसमें उन्हीं वस्तुओं से भोजन बनाया जाय, जो विद्यार्थी कृषि द्वारा स्वयं पैदा करें। जिस वस्तु की कमी हो, उसे घर से भी लाया जा सकता है।

भोजन बनाने और खाने में सफाई का बहुत ध्यान रखना चाहिए जिस गांव में बुनियादी पाठशाला हो, वहां एक आरोग्य-केंद्र होना बहुत अवश्यक है। यह केन्द्र अध्यापक और विद्यार्थी मिल कर चलायें। इससे विद्या-र्थियों का लाभ तो होगा ही, साथ ही सारे ग्रामीण-समाज का भला होगा और डाक्टरों की कमी की समस्या बड़ी आसानी से हल हो सकेगी। स्वास्थ्य-विभाग के कार्यकर्ताओं को भी यहां से पूरी सहा-यता मिल सकती है।

बुनियादी पाठशाला की कक्षाओं में सफाई की पूर्ण व्यवस्था रहनी चाहिए। कमरों की दीवारों, छतों तथा कोनों में जाले न लगने पायें। श्याम पट भी साफ रहे। शिक्षक को चाहिए कि बच्चों के कपड़ों और अंगों की सफाई का पूरा ध्यान रक्खे। यदि बच्चे घर से साफ होकर नहीं आते तो पाठशाला में सफाई का प्रबंध होना उचित है। बच्चों के बैठने के आसनों पर विशेष दृष्टि आदि रखनी चाहिए ताकि उन्हें देखने या सुनने में कोई असुविधा न हो। कमरों में प्रकाश का समुचित प्रबंध अत्यन्त आवश्यक है। उद्योगशाला के यंत्रो की सफाई तथा उनको ठीक से अपने स्थान पर सजाने का पूर्ण प्रबंध हो। पाठशाला के आस-पास का वातावरण शांत और आकर्षक होना चाहिए।[१]

(२) शिक्षाक्रम में जिस दस्तकारी का चुनाव किया जाय, वह ऐसी होनी चाहिए, जिसमें ऐसे प्रसंग आसानी से मिल सकें, जिनकी सहायता से भाषा और गणित की पर्याप्त शिक्षा दी जा सके। उसके अभ्यास से बालकों की आदतें सुधरें और दस्तकारी ऐसी हो, जिसका अभ्यास आठ वर्षों तक कर लेने के बाद विद्यार्थी अपनी दैनिक

---

१. श्री द्वारिका सिंह : बुनियादी शिक्षा में विभिन्न विषयों की शिक्षण-विधि, पृष्ठ ११-१७।

आवश्यकताओं को पूरा करने भर के लिए धनार्जन कर सकें। इसी दृष्टि से 'कृषि' और 'वस्त्र-उत्पादन' को मुख्य दस्तकारी के रूप में लिया गया है। उत्पादन की रोजाना, हफ्तेवार, माहवारी और वार्षिक योजना बनाकर उसके अनुसार काम किया जाय और उत्पादन का ठीक-ठीक हिसाब रक्खा जाय। दस्तकारी में काम आनेवाले औजारों का उचित प्रबन्ध हो और जहाँ तक हो सके, उनमें निरन्तर सुधार करते रहने पर ज़ोर दिया जाय। उनकी रक्षा करना और मरम्मत करना बालकों को अवश्य सिखाया जाय। दस्तकारी को उत्तरोत्तर कलात्मक रूप देने का प्रयत्न करते रहना चाहिए और उसमें सिद्ध-हस्त कारीगरों के सुझावों से पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। उस दस्तकारी के साथ-साथ उसके सहायक धन्धों का भी अभ्यास कराना उतना ही जरूरी है, जितना दस्तकारी का। उसके बिना आगे उन्नति नहीं हो सकती।

मूलोद्योग के चुनाव के संबन्ध में निम्नलिखित सिद्धांतों[१] का ध्यान रखना चाहिए:—

(क) बुनियादी दस्तकारी का चुनाव देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार करना चाहिए। (ख) वह दस्तकारी व्यक्ति तथा समाज की बुनियादी आवश्यकताओं (जैसे भोजन, वस्त्र और आवास) को पूरा करने में समर्थ हो। (ग) उसके लिए कच्चा सामान आस-पास में सुलभ हो। (घ) वह कच्चा माल सस्ता हो तथा उत्पादन करने में जो यंत्र काम में लाये जाँय, वे भी सस्ते हों। (ङ) दस्तकारी की प्रक्रिया सरल हो जो बालक की बुद्धि से परे न हो। (च) दस्तकारी को चलाने में व्यय कम हो और पाठशाला के प्रबंधक उसका भार उठा सकें। (छ) कच्चा माल साल भर प्राप्त होता रहे। (ज) दस्तकारी

---

१. मिलापचंद्र दुबे: बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त, पृष्ठ १०१ से १०५ तक।

बालकों की रुचि के अनुकूल हो।(झ)बालकों की मानसिक शक्ति के अनुकूल हो। (ञ) उस दस्तकारी के द्वारा अधिक से अधिक विषय समवाय द्वारा पढ़ाये जा सकें। (ट) बालक का शारीरिक, बौद्धिक, और भावात्मक--सर्वांगीण विकास उसके द्वारा संभव हो (ठ) जैसे-जैसे बालक की आयु बढ़े उसी के अनुकूल दस्तकारी में सरल से सरल और कठिन से कठिन अंग पढ़ाई के लिए प्राप्त हो सकें। बीच में उसे बदलना न पड़े। उच्च कक्षाओं विकसित बुद्धि वाले विद्यार्थियों को अन्वेषण का अवसर प्राप्त हो सके। (ड) आध्यात्मिक एवं नैतिक गुणों की अभिवृद्धि का अवसर मिले।

(३) भाषा की पढ़ाई में शुद्ध वाक्य-रचना सिखाते समय व्याकरण पर ध्यान देना आवश्यक है, परन्तु अध्यापक को याद रखना चाहिए कि व्याकरण पर अधिक ज़ोर देने से ही भाषा पर अधिकार नहीं हो जाता। उसके लिए भाषा को निरन्तर पढ़ते रहना आवश्यक है। व्याकरण के नियमों को तोते की तरह रटाने से कोई लाभ नहीं। मातृभाषा की पढ़ाई के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं की वर्ण-माला का ज्ञान कराना लाभदायक होता है।

(४)सामान्य ज्ञान की पढ़ाई में बालकों की जिज्ञासा-प्रवृत्ति से लाभ उठाना आवश्यक है। प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण करने का अभ्यास कराना चाहिए। तभी बचपन से ही बालक वैज्ञानिक बनने का प्रयत्न करेंगे। विज्ञान का उद्देश्य केवल यंत्रों, शक्ति तथा रसायन की जानकारी मात्र नहीं है। उसका उद्देश्य जीवन को अधिक से अधिक व्यवस्थित और नियमित बनाना है, इस तथ्य का ध्यान विज्ञान की पढ़ाई में अवश्य रक्खा जाय। इसके लिए, घर और पाठ-शाला की आवश्यकताओं को पूरा करने लिए विज्ञान कहाँ तक सहायता करता है, यह व्यावहारिक रीति से दिखाना चाहिए।

(५) नागरिकता की शिक्षा देते समय बालकों का ध्यान 'सहजीवन' और 'सहकारिता' के पहलू पर विशेष रूप से आकर्षित करना चाहिए। व्यावहारिक कार्यों द्वारा नागरिक जीवन के गुणों का अभ्यास बालकों को जितनी अच्छी तरह होता है, उतना पुस्तक पढ़ने से नहीं। अतः पुस्तक के स्थान पर क्रियाओं को स्थान देना उचित है।

(६) संगीत-शिक्षा का समुचित प्रबन्ध होना आवश्यक है। शास्त्रीय संगीत का साधारण ज्ञान बालकों को करा देना चाहिए। सादे देहाती बाजों का उपयोग वांछनीय है। हारमोनियम का उपयोग करना अनुचित है।

बुनियादी-शिक्षा में सानुबंध (Correlation)

बुनियादी शिक्षण में प्रत्येक विषय की पढ़ाई सानुबंध द्वारा होती है। विषय अलग-अलग नहीं पढ़ाये जाते। ज्ञान और कर्म का अभिन्न संबंध है अर्थात कक्षाओं में जो कुछ भी क्रियायें बालक करते हैं, उन्हीं के द्वारा हमें ज्ञान भी प्राप्त होता है। प्राप्त ज्ञान का वे उपयोग अपने भावी जीवन की प्रत्येक क्रिया में कर सकते हैं। यही 'सानुबंध' या 'समवाय' कहलाता है। पुराने ढंग के स्कूलों में भूगोल, इतिहास और गणित आदि विषय बालक पढ़ते हैं परन्तु जीवन में उनके सिद्धांतो का कैसे उपयोग करें—यह बात नहीं सीख पाते। इसलिए बुनियादी शिक्षण में सानुबंध द्वारा पढ़ाई की जाती है। सानुबंध-प्रस्थापन के लिए निम्नांकित सूत्रों का ध्यान रखना चाहिए:—

(क) किसी मूलोद्योग का चुनाव।

(ख) उस उद्योग को पढ़ाने की योजना।

(ग) उस उद्योग से संबंधित बहुमुखी क्रियाओं की सूची।

(घ) प्रगति का सिंहावलोकन।

(ङ) प्राप्त अनुभवों को लिपि बद्ध करना।

(क) मूलोद्योग का चुनाव—आठ वर्षों की पढ़ाई के लिए किसी ऐसी मुख्य दस्तकारी को केंद्र मानकर शिक्षा का आयोजन करना पड़ता है जो स्थानीय हो, अर्थात् जिस प्रदेश में स्कूल स्थित हो, वहाँ उसका आम तौर से चलन हो। साथ वह दस्तकारी ऐसी हो, जिसमें अनेक प्रकार की क्रियाओं का समावेश हो ताकि सभी विषय पढ़ाये जा सकें। इसके लिए वर्धा के हिन्दुस्तानी संघ ने खेती, कपड़ा-उद्योग और काष्ठोद्योग को मुख्य बताया है। इन तीनों में कपड़ा-उद्योग को गाँधी जी ने प्राथमिकता दी है। आचार्य कृपलानी ने कताई-बुनाई के उद्योग को पढ़ाई का केंद्र बनाने की सलाह दी है, क्योंकि यह भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। इसकी सहायता से भारत के प्राचीन और आधुनिक इतिहास, भूगोल, वाणिज्य, राजनीति, आर्थिक-संगठन और गणित आदि सभी विषयों को सानुबंधित ढंग से पढ़ाया जा सकता है।

(ख) उस उद्योग को पढ़ाने की योजना—प्रत्येक कक्षा के लिए एक वर्ष का कार्य नियत होना चाहिए। यह काम अध्यापक का है। एक कक्षा के लिए वह वर्ष भर की पढ़ाई की योजना बना लेता है। फिर इस योजना को कई हिस्सों में बाँट कर कई त्रैमासिक योजनायें बनेंगी। एक त्रैमासिक योजना को तीन खंडों में बाँटकर एक-एक मास के लिए योजना बनेगी, मास की योजना, साप्ताहिक खंडों में और साप्ताहिक योजना, दैनिक खंडों में बनेगी। इस प्रकार की योजना का उद्देश्य शिक्षणकार्य को सुचारु रूप से चलाना है और दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक और वार्षिक प्रगति का सिंहावलोकन करना है। समस्त वार्षिक योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित बातें आ जानी चाहिएँ:—

(१) वर्ष भर में कितने कार्य करने होंगे,
(२) वर्ष भर में छुट्टियों को निकाल कर कितने दिन मिलेंगे।
(३) कुल कितनी क्रियायें मूलोद्योग से सम्बन्धित हो सकती हैं।
(४) प्रत्येक क्रिया के लिए कितना समय देना पर्याप्त है।
(५) प्रत्येक क्रिया के लिए कौन-कौन उपकरणों की आवश्यकता है।
(६) अनुमानित व्यय।
(७) उत्पादित माल से अनुमानित आय।
(८) उन क्रियाओं की सहायता से बौद्धिक विकास तथा वैशेषिक ज्ञान।
(९) विशिष्ट ज्ञान के लिए उपयोगी पुस्तकों की सूची।
(१०) समय समय पर मूलोद्योग के किन विशेषज्ञों की सहायता लेनी है।
(११) सतर्कता।

(ग) उस उद्योग से संबंधित बहुमुखी क्रियाओं की सूची—किसी भी दस्तकारी की शिक्षा देने में अनेक प्रकार की क्रियाओं का समावेश होता है। उनमें एक मुख्य क्रिया होती है और दूसरी अनेक सहायक क्रियायें। जैसे भोजन बनाना एक मुख्य क्रिया है, और लकड़ी, दाल चावल, शाक-भाजी का संग्रह; पानी का प्रबन्ध; बर्तनों की सफाई; चूल्हे की तैयारी; तैयार भोजन को कायदे से रखना और परोसना आदि भोजन की सहायक क्रियायें हैं। इस प्रकार, जिस मूलोद्योग के सहारे कक्षा के सारे विषय पढ़ाने हैं, उस उद्योग से संबंधित मुख्य तथा अनेक बहुमुखी क्रियाओं की सूची बना लेनी चाहिए। फिर उन सब क्रियाओं को विषयवार (Subjectwise) वर्गीकरण कर लेना चाहिए। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

"कृषि मूलोद्योग तथा विषयवार क्रियायें" ---(कक्षा ४)

स्वास्थ्य तथा सफाई का विषय---(१) प्रातःकाल उठकर ईश-प्रार्थना, (२) खेत में पहले से बनी नाली में पाखाने जाना, (३) पाखाने के बाद मिट्टी से ढकना, (४) पाखाने के बर्तन की सफाई, (५) मुँह, नाक, कान, दाँत और शरीर की सफाई, (६) घर की सफाई, (७) स्कूल के कमरे और आँगन की सफाई, (८) खेती में प्रयुक्त बैलों का गोबर आदि एक स्थान पर खाद के लिए छोड़ना, (९) अपने या पशुओं के खेती के औजारों से चोट लगने पर प्राथमिक चिकित्सा।

स्वावलंबन का विषय--(१) अनाज का संग्रह, (२) अनाज की बिक्री, (३) भोजन के लिए उसका प्रयोग आदि।

खेती का विषय--(१) खुर्पी, हँसिया तथा छोटे औजारों का प्रयोग (२) जुती हुई भूमि तैयार करना, (३) बीज बोना, रोपना (४) पौधों की देख-भाल करना, (५) खाद इकट्ठा करना, खेत में डालना (६) सिंचाई के लिए नालियाँ बनाना, (७) निकाई करना, (८) कीड़े निकालना, (९) छोटी-छोटी क्यारियाँ बनाना, (१०) इन सारे कार्यों का लेखा रखना, (११) हर प्रकार की मिट्टी के बारे में अध्ययन करना आदि।

भाषा और साहित्य - छोटे छोटे वाक्यों में निम्नलिखित विषयों पर वार्तालाप और थोड़ा-सा लेखन का कार्य :--

(१) खाईदार पाखाना क्या है ? (२) उसका प्रयोग क्यों करना चाहिए ? (३) खेत में पाखाने क्यों जाना चाहिए ? (४) स्नान कैसे और क्यों करना चाहिए ? (५) खेत में पानी क्यों देना चाहिए ? (६) पौधों के बीच में हरी घास से क्या हानि होती है ? (७) किस मौसम में कौन अन्न होता है ? (८) मिल-जुल कर क्यों काम करना चाहिए ? (९) अनाज-संग्रह से क्या लाभ हैं ? आदि।

उपर्युक्त वार्तालाप में प्रयुक्त शब्दों का शुद्ध उच्चारण एवं लेखन, जैसे हाथ, पाँव, आँख, नाक, कान, जीभ, पैजामा, कमीज, गर्म, ठन्डा, टोकरी, खुर्पी बाल्टी, रस्सी, कूड़ा, बहारना, खेत, हल बैल, लोहा, मिट्टी, खाद, पौधे, बीज, कौवा, मैना, तोता, घोड़ा, केचुवा सूर्य, चन्द्रमा, बादल, उत्तर, पश्चिम, पूरब, दक्षिण, गेहूँ, जौ चना, मटर, धान, ज्वार, बाजरा, आदि सैकड़ों शब्द ।

बालकों को छोटे-छोटे शीर्षकों पर निबन्ध लिखने का अभ्यास कराया जा सकता है जैसे गोशालें की सफाई, गेहूँ की खेती, आदि । ऐसी चित्रप्रधान पुस्तकें जिसमें पृथ्वी, पौधों, अनाज, हल, बैल, आदि की कहानी लिखी हो, पढ़ना ।

गणित का विषय – (१) गिनती गिनना, (२) फलों और पौधों को गिनना (३) अन्न को तौल कर लिखना व सबको जोड़ना, (४) मन, सेर छटाँक; रुपये आने और पैसे का ज्ञान, (५) लग्गी, बाँस आदि की गज, फिट, इन्च में नापना, (६) बीघा, बिस्वा की नाप जानना, (७) हिसाब का खाता रखना ।

सामान्य ज्ञान का विषय – (१) शरीर और कपड़ों की सफाई, (२) केचुवा, तितली, मधुमक्खी का खेती से सम्बन्ध, (३) दैनिक जीवन के पशुओं की जानकारी, (४) नियमित समय पर भोजन, विश्राम और व्यायाम, (५) दिशाओं का ज्ञान, (६) वर्षा और इन्द्र-धनुष आदि ।

नागरिकता का विषय—(१) गाँव का सरल इतिहास, (२) गाँव के गुरुजनों का जीवन वृत्त, (३) पर्व और त्योहार, जैसे होली, नवान्न, आदि का खेती से सम्बन्ध, (४) खेतों पर परिवार के सब लोगों का मिलकर काम करना, (५) खेती की उन्नति-सम्बन्धी योजनाओं को अखबार पढ़कर जानना ।

रचनात्मक विषय—(१) पेंसिल या रंगीन वत्तियों की सहायता से आलू, टमाटर, बैंगन, लौकी आदि के चित्र खीचना और रँगना (२) फूलों के चित्र खींचना, (३) हल, बैल, गोशाला, खुर्पी, कुदाल आदि के चित्र खींचना।

उपर्युक्त विषयों के अन्तर्गत आनेवाली क्रियाओं की सूची को, वालकों की आयु और कक्षा के अनुसार घटाना-वढ़ाना, अध्यापक का कार्य है। अनुभवी और ट्रेनिंग-प्राप्त अध्यापक, इस कला को भली-भाँति जानते हैं।

(घ) प्रगति का सिंहावलोकन—प्रत्येक कक्षा में दैनिक, साप्ताहिक, मासिक और वार्षिक कार्य के विषय में, पूरी जानकारी रखने के लिए, सबका विवरण रक्खा जाता है और अनेक उत्सवों, सभाओं और प्रसंगों पर बालकों को अपनी योग्यता का परिचय देना पड़ता है। ऐसे मौके वताते हैं कि वालकों ने शिक्षा प्राप्त करने में कितनी प्रगति की है।

(ङ) प्राप्त अनुभवों को लिपिबद्ध करना—बुनियादी शिक्षण में समस्त कार्यों का विवरण रखने के लिए बहियाँ और नोटबुकें रक्खी जाती हैं। रेकार्ड रखने का काम मुख्य रूप से अध्यापक करता है और बालकों को भी इस कार्य के लिए उत्साहित किया जाता है। मुख्य रूप से तीन प्रकार की बहियाँ काम में लाई जाती हैं:—

(१) शिक्षक की वहियाँ (Records) *और नोटबुक,* जैसे योजना प्रगति, पाठ-टीका, उद्योग, समाज-सेवा आदि की वहियाँ।

(२) कक्षा तथा कार्यालय की बहियाँ—जैसे उपस्थिति, भंडार, दैनिक उत्पादन, क्रय-विक्रय, पत्र-प्रेषण व प्राप्ति, प्रवेश, वच्चों की जाँच, दैनिक खर्च और व्यय, आदेश, वार्षिक रिपोर्ट आदि की बहियाँ।

(३) *बालकों की बहियाँ*—जैसे दैनिक प्रगति, उद्योग-सिद्धान्त, ग्रहकार्य की बहियाँ, प्रत्येक विषय की कापी, समाज सेवा की बही, आदि।

बालकों को बहियों और कापियों का समुचित प्रयोग सिखाना अध्यापक का काम है। प्रारम्भ से ही इसका अभ्यास कराना उचित है।

सानुबंध की रीति—सानुबंध के सही तरीके भी होते हैं और गलत भी। जब सानुबंध जबरन थोपा जाता है, तो उससे हानि ही होती है। बलपूर्वक एक विषय का दूसरे विषय से जोड़ देना पाठ को अस्वाभाविक बना देता है। श्री द्वारिकासिंह ने त्रुटिपूर्ण समवाय की विधि के कई नमूने दिये हैं; यथा अध्यापक को अरब के बारे में पढ़ाना है। रास्ते में खजूर का पेड़ मिला। उसे दिखाते हुए बालकों से पूछा यह वृक्ष कौन सा है? उत्तर मिला—खजूर का। अध्यापक ने कहा—खजूर अरब में पैदा होता है, आज हम अरब के विषय में पढ़ेंगे। वास्तव में इस प्रकार समवाय का प्रयोग करना हास्यास्पद है। सानुबंध को सही तरीके से प्रयोग में लाने के लिए, पहले बालकों के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। फिर उनके वातावरण का अध्ययन करना उचित है। बच्चों के घर और स्कूल की परिस्थितियों का विस्तार से ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् पाठ्य-प्रसंगों का चुनाव करना चाहिए और एक स्वाभाविक योजना तैयार कर लेनी चाहिए। उस पाठ्य-प्रसंग की एक-एक इकाई को जोड़ना और उनमें अभिन्न संबंध स्थापित करना ही सच्चा सानुबंध होगा।[1]

मिलापचंद्र दुबे का विचार है कि "सही अनुबंध तो स्वाभाविक गति से परिस्थिति के अनुकूल 'अवसर' आने पर 'निर्मल निर्झर' के जल की भाँति बहता रहता है। शिक्षक सदा इस चिंता में ग्रसित नहीं

---

१. श्री द्वारिकासिंह : बुनियादी शिक्षा में समवाय, पृष्ट १९ से २२।

रहता कि किस प्रकार तकली से या बागबानी की क्रिया से अन्य विषयसिखा दिए जाँय। यह अनिवार्य नहीं कि एक ही दिन या एक ही समय में बालक को आवश्यकता या अवसर न होने पर भी अनेकानेक विषयों का 'समवायी ज्ञान' दिया जाय। समवायी ज्ञान का संबंध तो बालक से है और बालक की उन उद्योगमयी क्रियाओं से है जिनमें वह तल्लीन है, उन्हीं क्रियाओं के करते हुए संबन्धित ज्ञान के दूसरे जो अवसर आगये हैं उनसे हैं।"[1]

सानुबंध के तीन पहलू हैं एक तो 'समझना' दूसरा 'आनन्द प्राप्त करना' और तीसरे 'उपयोग में लाना।' कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा प्राप्त करते हुए बालक को अपने चारों ओर के वातावरण की वस्तुओं के विषय में भली प्रकार समझना चाहिए अर्थात् वे कहाँ से और कैसे प्राप्त होती हैं। फिर बालक का ध्यान उनके सौन्दर्य की ओर आकर्षित करना चाहिए। तत्पश्चात् उसे यह समझाना चाहिए कि वह अपने जीवन में किस प्रकार उनका उपयोग कर सकता है। इन सब तीनों बातों की जानकारी से ही सानुबंध का काम सफल माना जाता है। अब पाठ्य-क्रम के विषयों को इसी आधार पर पढ़ा सकते हैं। विज्ञान, भूगोल आदि विषयों से वस्तुओं की उत्पत्ति का ज्ञान होता है; चित्रकला आदि से उनके सौन्दर्य का ज्ञान और दस्तकारी से उनके उपयोग का ज्ञान होता है। अतः यह विषय सानुबंध द्वारा पढ़ाये जाते हैं और बालक को संघटित ज्ञान प्राप्त होता है।[2]

बुनियादी शिक्षा में पुस्तक का उपयोग—समस्त कार्यक्रम पर एक दृष्टि डालने के बाद स्पष्ट हो जाता है कि बुनियादी शिक्षा में

---

१. मिलापचन्द्र दुबे : समवायी शिक्षण, पृष्ठ ११
2. Handbook for Teachers of Basic Schools, 1956—Ministry of Education, Govt. of India, Publication No. 212.

पुस्तक को वह स्थान प्राप्त नहीं, जो बौद्धिक-विषय-प्रधान स्कूलों में प्राप्त रहता है। यहाँ तो कर्म की प्रधानता है परन्तु किताबों का मूल्य है। आदिकाल से लेकर अब तक मानव-जाति का समस्त ज्ञान पुस्तकों में ही संचित है। अतः बुनियादी शिक्षा में पुस्तक की उपेक्षा नहीं की जाती। यहाँ बालक पुस्तक पढ़ते हैं, परन्तु साथ में वे पुस्तक द्वारा प्राप्त ज्ञान का व्यवहार भी करते हैं। वास्तव में वे पुस्तकें कम पढ़ते हैं; पुस्तकों के कम पढ़ाने का भार अध्यापकों पर रहता है। वे नाना प्रकार की पुस्तकें पढ़ते हैं, और अपने ज्ञान का विकास करते रहते हैं। पुस्तकों में संचित सारा ज्ञान बालकों को अध्यापक से प्राप्त होता है। श्री द्वारिकासिंह,[१] जिन्होंने बुनियादी शिक्षण पर अनेक प्रयोग किये हैं, कहते हैं --"प्रत्येक शिक्षक और निरीक्षक को साल में कम से कम ५००० पन्ने का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। और यदि औसत ७० वर्ष जीना है, तो कुल मिलाकर अपने जीवन में ३५०००० पन्ने का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। स्वाध्याय दैनिक पंच महायज्ञों में से एक है।" स्वाध्याय के बिना अध्यापक का मानसिक विकास समाप्त हो जाता है। बालकों को समस्त ज्ञान अध्यापक के द्वारा प्राप्त होता है। वे पुस्तक की अपेक्षा, अध्यापक पर अधिक निर्भर रहते हैं।। बालकों और पुस्तकों के सम्बन्ध के बीच की कड़ी अध्यापक है। अब बालक जो पुस्तकें पढ़ते हैं, वे उनके लिए विशेष रूप से तैयार की गई होती हैं। बुनियादी कक्षाओं में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों को तैयार करना एक कला है। पुस्तक के पाठों, और उनमें प्रयुक्त शब्दों का निश्चित करना सरल काम नहीं है। हम कक्षा ४ में पढ़ाये जाने वाले मूलोद्योग और उससे सम्बन्धित सहायक क्रियाओं का एक उदाहरण पहले दे चुके हैं। उससे प्रकट हो जायगा कि प्रत्येक विषय की पढ़ाई के लिए, जो पुस्तक निर्धारित की जायगी, वह उन्हीं

---

१. द्वारिका सिंह : बुनियादी शिक्षा में समवाय, पृष्ठ, १७६-१८९.।

क्रियाओं को आधार मान कर लिखी जायगी। बालकों को पढ़ाने के लिए साहित्यिक लेखकों की रचनाओं के संग्रह पूर्णरूप से अनुपयुक्त हैं। साहित्यिक लेखक, बच्चों या विद्यार्थियों की मानसिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नहीं लिखते। अत: बुनियादी शिक्षा में प्रचलित पाठ्य-पुस्तकें पूर्ण रूप से शिक्षा-विशेषज्ञों द्वारा लिखी जानी चाहिए। पाठ्य-पुस्तकों के लेख, कवितायें, एकांकी, कहानी तथा अन्य रचनाएँ, मूलोद्योग और उससे सम्बन्धित क्रियाओं के विषयों पर लिखी होनी चाहिएँ।

अध्यापक का उत्तरदायित्व—बुनियादी-शिक्षण में अध्यापक का उत्तरदायित्व कहीं अधिक ज्यादा है। उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट हो जायगा कि बालक अपनी कक्षा के लिए पूर्ण रूप से अध्यापक पर निर्भर रहते हैं। अध्यापक का स्वध्यायी और परिश्रमी होना आवश्यक है। पुस्तकें पढ़ना, भोजन बनाना, बहियाँ रखना, पाठ-टीकाएँ तैयार करना, और दस्तकारी के काम में विद्यार्थियों के साथ मिल-जुलकर परिश्रम करना आदि अध्यापक के बड़े ही गंभीर कर्तव्य हैं। बुनियादी शिक्षक किसी विषय का विशेषज्ञ नहीं होता, वरन् उसका विशेष ज्ञान, विषयों में सम्बन्ध स्थापित करने और विषयों को किसी मूल दस्तकारी के सहारे पढ़ाने में प्रकट होता है। दैनिक पाठ में उसे हर समय सानुबन्ध का ध्यान रखना पड़ता है। एक ही अध्यापक सभी विषयों को पढ़ाता है। विषयों के अलग-अलग अध्यापक बहुत ही सम्पन्न पाठशाला में होते हैं। बुनियादी-शिक्षा के प्रारम्भकाल में, अभी साधनों की बड़ी कमी है। विशेष रूप से पाठ्य-पुस्तकों का अभाव है। उस अभाव की पूर्ति अध्यापक ही करता है। इसके लिए उसे पाठ-टीका तैयार करनी पड़ती है। यह काम बड़े परिश्रम का है। वास्तव में पाठ-टीका ही बुनियादी शिक्षण विधि की ऐसी विशेषता है, जिसकी तुलना अन्य विधियों से करके,

हम इस भारतीय विधि की मौलिकता को समझ सकते हैं। अतः पाठ-टीका के सम्बन्ध में साधारण जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

पाठ-टीका (Notes of Lesson) **तैयार करने का ढंग**—पाठ-टीका निम्नांकित अंगों में विभाजित की जाती है:—

१—स्थान, वर्ग, तिथि, समय इत्यादि का विवरण

२—समय का विवरण

३—मूलोद्योग और उससे संबन्धित क्रियाओं का वर्णन,

४—प्रत्येक विषय के अन्तर्गत क्रियाओं का वर्गीकरण,

५—प्रत्येक क्रिया को कराने की विधि,

६—वार्तालाप तथा सिंहावलोकन।

पहले खण्ड के अन्तर्गत केवल खाना पूरी करनी पड़ती है। दूसरे-तीसरे में दैनिक कार्य का ब्योरा, और वे क्रियाएँ जिस समय (जैसे ७।। बजे या १० बजे) की जायेंगी, उसे लिखना पड़ता है। चौथे में, एक दिन में मूलोद्योग से सम्बन्धित जो क्रियायें सिखानी हैं, उनको विषयवार वर्गबद्ध करना पड़ता है—जैसा कि हम पहले "कृषि-मूलोद्योग तथा विषयवार क्रियाएँ" के अन्तर्गत लिख चुके हैं। पाँचवे खण्ड में, प्रत्येक क्रिया को कैसे सिखाया जायगा, यह लिखना पड़ता है। छठे खंड में, पाठ की सफलता ज्ञात करने के लिए प्रश्नों द्वारा बालकों और अध्यापक के बीच वार्तालाप का आयोजन किया जाता है। इससे पाठ का सिंहावलोकन होता है। इससे पाठ-टीका में पूछे जाने-वाले प्रश्न पहले से अध्यापक लिख लेता है।

पाठ-टीका का एक उदाहरण

(१) स्कूल का नाम·········**कक्षा**······५······**विद्यार्थी-संस्था**······ **तिथि**··············**समय प्रातःकाल**

(२) **समय का विवरण**—१॥ घन्टा—वास्तविक क्रिया १ घंटा और बौद्धिक कार्य ३० मिनट।

(३) **मुख्य उद्योग**—खेती, **आज का मुख्य विषय**—खाईदार पाखाना तैयार करना

क्रियायें—(१) १० गढ़े खोदना, (२) प्रत्येक की नाप—९'×९" × १½" (३) गढ़े की मिट्टी अगल-बगल रखना; (४) गढ़ों के स्थान—खेत का निरीक्षण (५) कक्षा भर का एक साथ कार्य।

(४) **विषयों की पढ़ाई**—(१) स्वास्थ्य के लिए नियत समय पर मल-मूत्र त्यागना, उसका ढंग, (४) पाखाने के बाद मलमूत्र को ढकना (३) उसके रासायनिक तत्वों की रक्षा; (५) मलमूत्र की उपयोगिता; उसकी विभिन्न अनाजों और तरकारियों के लिए उपयुक्तता।

(५) **विधि**—बालकों को पहले सूचना दी जायगी। एक स्थान पर एकत्र होकर अध्यापक के साथ वे खेत में जायेंगे। गढ़ों का स्थान पहले से नियत है। आवश्यक औजार जैसे फावड़े, टोकरी और खुरपी आदि आदेशानुसार भंडार से निकलवाकर कक्षा के नाम से बही में चढ़ाकर बालक ले जायें। प्रत्येक गढ़े पर तीन-तीन बालक एक साथ एक समय में काम करें। अध्यापक मार्ग दर्शन करे और स्वयं काम करके बताए। ठीक नाप के अनुसार काम पूरा होने पर, सब बालक हाथ पैर धोकर साफ करें और तौलिए से पोंछकर कुछ समय तक आराम करें। फिर औजारों को भन्डार में जमा करके, कक्षा में सब लोग जा बैठेंगे।

(६) **वार्तालाप और सिंहावलोकन**—वार्तालाप निम्नलिखित प्रश्नों द्वारा होगा:—

(१) पाखाने के गढ़ों को खेत में बनाने से क्या लाभ हैं?

(२) मलमूत्र की खाद कैसे बनती है ?
(३) इस खाद से किन तरकारियों और अन्नों को विशेष लाभ होता है ?
(४) कितने गढ़े खोदे गए ?
(५) उनकी लम्बाई, चौड़ाई और गहराई क्या है ?
(६) मलमूत्र त्यागने के बाद, मिट्टी से क्यों ढकना उचित है ?
(७) गढ़े बहुत गहरे क्यों नहीं खोदे जाते ?
(८) किन-किन औजारों का प्रयोग हुआ ? आदि

उत्तर-बुनियादी शिक्षा

बुनियादी-शिक्षा का असली क्षेत्र ६ से १४ वर्ष की अवधि के भीतर ही है परन्तु साधारण तौर से यह समस्त जीवन में व्याप्त है। उत्तर-बुनियादी शिक्षा का प्रारम्भ १४ वर्ष की आयु के बाद होता है। इस आयु के बाद बहुत से बालक अपने जीवन में पदार्पण करतें हैं; कुछ थोड़े से विद्यार्थी उच्च-शिक्षा के लिए आगे बढ़ते हैं। उच्च-शिक्षा में, बौद्धिक-कार्य की प्रधानता अवश्य हो जाती है, परन्तु इसे बुनियादी आधार देने का तात्पर्य यह है कि उच्च शिक्षा में भी कर्म की प्रधानता हो। कक्षा में बैठकर केवल लेक्चर सुनने से जो ज्ञान प्रात होता है, वह अपूर्ण है। विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को, समाज सेवा के लिए, प्रोत्साहित करना चाहिए। स्वदेश की धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक और औद्योगिक समस्याओं को लक्ष्य में रखकर विषयों की पढ़ाई की जानी चाहिए यही बुनियादी-शिक्षा है। इन समस्याओं का प्रत्यक्ष-ज्ञान, उनके कारणों की खोज और उन्हें हल करने के उपाय––इन पर विशेष ज़ोर दिया जाय और विश्वविद्यालयों के बाहर, इन्हें हल करने के

लिए जनता और सरकार की ओर से जो प्रयत्न हो रहे हों, उनमें वे सहयोग दें।

प्रौढ़-शिक्षा

बुनियादी-शिक्षा को सर्वांगीण और सफल बनाने के लिए, गाँधी जी ने प्रौढ़-शिक्षा की आवश्यकता बताई है। इसलिए यह भी बुनियादी-शिक्षा का एक अंग समझा जाना चाहिए। बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध करके ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये; क्योंकि बालकों की शिक्षा स्कूल तक सीमित नहीं है। बालक पर कहीं अधिक प्रभाव परिवार और समाज का पड़ता है। यदि समाज और परिवार में साक्षरता नहीं है, यदि बालकों के माता-पिता को जीवन बिताने की कला नहीं आती, तो स्कूल में बालक जो कुछ भी सीखते हैं, व्यर्थ जाता है। इसलिए वयस्क और प्रौढ़ लोगों में साक्षरता-प्रचार किया जाता है। माताओं को स्वास्थ्य के नियम, बच्चों के लालन-पालन की विधि, भोजन, संयम, आराम और श्रम आदि का महत्व बताया जाता है। समाज और परिवार में हिलमिल कर रहने; सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों में भाग लेने; सहकारिता; आदि के बारे में सभी स्त्री-पुरुषों की अभिरुचि जाग्रत की जाती है। इस प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध गाँवों और मोहल्लों की समितियों द्वारा होता है। इसके लिए उपयुक्त समय संध्या और प्रातःकाल का है क्योंकि प्रौढ़-जनों को इसी समय कार्य से अवकाश मिलता है। प्रौढ़-शिक्षा का आन्दोलन अभी अपनी किशोरावस्था में है।

प्रौढ़-शिक्षा को अब सामाजिक शिक्षा की संज्ञा दी गयी है और उसका क्षेत्र व्यापक बना दिया गया है। इस क्षेत्र में भी बुनियादी शिक्षण पद्धति को बौद्धिक पद्धति की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। दिल्ली में सामाजिक शिक्षा के प्रसार के दौरान में पता

चला है कि प्रौढ़ जनों को दस्तकारी और धनार्जन के कार्यों द्वारा शिक्षा प्राप्त करने में अधिक आनन्द प्राप्त होता है और शिक्षा प्राप्त करने में सुविधा होती है। गाँवों में तो शिक्षा प्रसार का साधन दस्तकारी ही हो सकती है और बढ़ईगीरी, धातु के बर्तन बनाने की कला, कताई-बुनाई, डलिया बनाना, चमड़े के काम खेती और बागबानी द्वारा बड़े स्वाभाविक ढंग से वयस्क जनों को न केवल अक्षर ज्ञान कराया जा सकता है, वरन् उन्हें नागरिकता और जीवनोपयोगी अन्य कार्यों की भी शिक्षा दी जा सकती है।[1]

आलोचना

जिस समय अखिल भारत-शिक्षा-परिषद के सामने गाँधी जी ने बुनियादी-शिक्षा-विधि की विस्तृत रूपरेखा शिक्षा-शास्त्रियों की उपस्थिति में प्रस्तुत की, उन लोगों ने उनके व्यक्तिगत प्रभाव में आकर अन्ध श्रद्धावश उसे स्वीकार नहीं किया। विधि के गुण और दोषों पर व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों, से बड़ी गहराई के साथ विचार किया गया। उस समय विधि के प्रमुख आलोचक प्रोफेसर शाह तथा डा० ज़ाकिर हुसेन रहे। जिन त्रुटियों का इन लोगों ने उल्लेख किया, उसका समाधान गाँधीजी ने तथा उनके समर्थकों ने किया। उसके बाद भी समय-समय पर विद्वानों ने अपनी सम्मतियाँ दी हैं। उन सब के प्रकाश में हम इस विधि के गुण-दोषों का उल्लेख करेंगे।

गुण—

(१) **यह विधि राष्ट्रीय शिक्षा-नीति का एक प्रमुख अंग है—** ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में भारत पाश्चात्य देशों का मुँह ताकता रहा

---

1. Basic and Social Education, 1956—Ministry of Education, Govt. of India, Publication No. 58.

है। शिक्षा में भी यही दशा रही है। हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति अँगरेज़ी शासन की देन है। उसे राष्ट्रीय-नीति समझ कर काम करना हमारे लिये कलंक की बात है। गाँधीजी की प्रतिभा ने हमें बुनियादी-शिक्षण विधि के रूप में एक राष्ट्रीय शिक्षा-नीति प्रदान की है, जिसे केन्द्रीय सरकार ने सेन्ट्रल एड्वाइज़री बोर्ड आफ एजूकेशन की शिफारिशों के रूप में, स्वीकार कर लिया है, और समस्त भारत में, प्राथमिक शिक्षा का संगठन, इस विधि के आधार पर किया ज्ञा रहा है। सभी प्रान्तीय सरकारों और केन्द्रीय सरकार [मुदालियर कमीशन] ने अभी हाल में इसे अमल में लाने पर ज़ोर दिया है। इससे लाभ यह होगा कि एक तरह की शिक्षा-नीति सारे देश में चलेगी और संगठन तथा व्यवस्था के हित में यह अच्छा होगा। "शिक्षा की कोई भी राष्ट्रीय प्रणाली सदैव उस देश के राष्ट्रीय आदर्शों की प्रणाली का प्रतिबिम्ब होती है। वल्कि और भी आगे बढ़कर कहा जा सकता है कि शिक्षा का रूप व्यक्तियों और समूहों के जीवन के लक्ष्यों द्वारा नियत होता है; और उसके वाद वह शिक्षा ही व्यक्तियों और समूहों के जीवन के लक्ष्यों को नियत है।[1]" गाँधीजी ने इस तथ्य को समझ कर अपने सर्वोदय के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए ही बुनियादी शिक्षा का कार्यक्रम तैयार किया था।

(२) **यह विधि राष्ट्र की ऐतिहासिक परम्परा के अनुकूल है** (अ)—भारत की राष्ट्रीय परम्परा का मुख्य आधार है, सादा जीवन और उच्च विचार। यहाँ प्राचीन काल से शिक्षा में सादगी और आध्यात्मिकता को ऊँचा स्थान दिया गया है। "प्राचीन तपोवनों में भी औद्योगिक शिक्षा अथवा हस्त कौशल उस समय की शिक्षा-पद्धति का एक एक अंग था। उन दिनों बौद्धिक शिक्षा और

---

१. हुमायूँ कबीर : स्वतंत्र भारत में शिक्षा, पृष्ठ ३६।

औद्योगिक-शिक्षा, जैसे शिक्षा के दो अलग-अलग अंग नहीं थे; बल्कि दोनों एक ही शिक्षा के साधन थे। ब्रह्मचारी जहाँ ब्रह्मविद्या का अध्ययन करते थे, तहाँ वनांतरों से समिधाचयन, गुरू की गायों का पालन, और नीवार-धान्य आदि का संग्रह भी करते थे। इन साधनों में ऊँच-नीच की कोई भेद-बुद्धि नहीं थी।" उद्योग द्वारा शिक्षा से ब्रह्मज्ञान तक प्राप्त किया जा सकता है। गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य श्री देवशर्मा अभय ने सत्यकाम का उदाहरण उपनिषद से देते हुए बताया कि उसे गोचारण के कर्म से ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई थी। आज का पशुपालन-उद्योग शिक्षा का साधन बनाया जा सकता है। उसी प्रकार के सादगीपूर्ण जीवन की पुरानी परम्परा को बुनियादी-शिक्षा द्वारा आज फिर से कायम किया जा रहा है।[1]

(ब) अब स्वावलम्बन की बात लीजिये। प्राचीन काल से ही शिक्षा हमारे देश में कम खर्चीली रही है। कारण, शिक्षक का जीवन बड़ा सरल और आडंबरहीन होता था। उसके लिए एक मोटी तनख्वाह की आवश्यकता थी ही नहीं। एक लँगोटी, एक लकुटिया, एक कमंडलु और खड़ाऊँ—उसके जीवन-निर्वाह के साधन थे जो उसे मुफ्त जंगल में मिल जाते थे। ब्रह्मचर्य से रहना होता था। खर्चीला जीवन न था। जहाँ तक आदर का प्रश्न है, राजसभाओं में राजा उनके पैर धोते थे। हाँ, भोजन की समस्या थी, सो, शिष्य अध्यापक के लिये भीख माँग लाते थे। ठीक यही बातें बुनियादी-शिक्षण-विधि में पाई जाती हैं। "हमारी भारतीय-संस्कृति की तो निरंतर यह धारा रही है कि **विद्यार्थी गुरू का निर्वाह करें**। भेद केवल इतना है कि प्राचीन काल में विद्यार्थी **भिक्षान्न से गुरू का और अपना** निर्वाह करते थे, क्योंकि उन दिनोंहमारा समाज छोटा किन्तु समृद्ध था; उसमें उद्वृत्त अन्न बहुत था, इसलिए उद्वृत अन्न से शिक्षा का व्यय

---

१. आत्मानंद मिश्र : शिक्षणकला, पृष्ठ ३१३–३१४।

अर्थात् गुरू-शिष्य की अन्न संबन्धी आवश्यकता का निर्वाह होता था, पर आज हमारी सामाजिक परिस्थिति बदल गयी है; आज हमारे समाज में उद्वृत्त अन्न नहीं है। इसलिए आज विद्यार्थी अपने परिश्रम से गुरू का निर्वाह करेंगे; इसी में उनका गौरव रहेगा; उनकी आत्ममर्यादा की अभिवृद्धि होगी।" श्रीमती आशा देवी,[1] धर्मपत्नी श्रीआचार्य-नायकम्, आचार्य नवभारत-विद्यालय वर्धा, का कथन है—वास्तव में वापू की शिक्षा-योजना और प्राचीन शिक्षा में बड़ा साम्य है। अब भी गाँवों में इस शिक्षा को स्वावलंवी बनाया जा सकता है। गाँवों में अन्न होता है। अन्न देकर आवश्यकता की सारी वस्तुएँ खरीदने की प्रथा गाँववालों ने अब तक जारी रक्खी है। अपने बच्चों की शिक्षा भी तो उनकी एक आवश्यकता है। यदि वे शिक्षक को उसी तरह थोड़ा-थोड़ा अन्न दें, तो उसके पास इतना अन्न हो जायगा कि उस की सारी आवश्यकताएँ पूरी हो जायँगी और शिक्षा के लिए सरकार का मुँह ताकना न पड़ेगा। भारतीय-शिक्षा परम्परा से स्वावलंबी रही है और बुनियादी शिक्षा का स्वावलंबी होना, ऐतिहासिक दृष्टि से स्वाभाविक है।

(३) **इस विधि द्वारा राष्ट्रीय-जीवन के वर्तमान आदर्शों की रक्षा—शांति, अहिंसा और ग्रामोत्थान,** हमारे वर्तमान राष्ट्रीय-जीवन के मुख्य आदर्श हैं। 'यन्त्र-युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया' के अन्तर्गत हम कह चुके हैं, कि भारत शोषण की नीति, पाश्चात्य देशों का अनुकरण करते हुए कभी न अपनायेगा। गाँधी जी ने अहिंसा और शांति का आदर्श सुरक्षित रखने के लिये ही बुनियादी शिक्षा को जन्म दिया है। प्रारम्भ से ही इस विधि द्वारा बालकों में श्रम से प्रेम और शांतिप्रियता आदि के भाव उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी शोषण की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। ऐसे बालकों का राष्ट्र, इन आदर्शों की रक्षा करने में समर्थ

1. Educational Reconstruction. p. 67.

होगा। इस विधि द्वारा ग्रामोत्थान में सहायता मिलेगी। खेती और घरेलू उद्योग-धंधों को इस शिक्षा से प्रोत्साहन मिलेगा। गाँव समृद्ध हो जायेंगे। देश की ८० फीसदी आबादी गाँवों में है, इसलिये इनकी समृद्धि आवश्यक है।[१]

(४) इस विधि द्वारा राष्ट्र की वर्तमान आवश्यकताओं कीपूर्ति—

(क) **यह मातृभाषा के प्रति प्रेम उत्पन्न करती है**—अभी तक देश में विदेशी भाषा, अँग्रेजी का बोलबाला रहा है। मातृभाषा का अभाव एक खटकनेवाली बात है। भारतीय मातृभाषा से घृणा करने लगे थे। मातृभाषा द्वारा बुनियादी शिक्षा मिलने से, मातृभाषा का सम्मान बढ़ता है, और उसके प्रति भारतीयों में प्रेम जाग्रत होता है।

(ख) **निरक्षरता दूर होगी**—अभी तक देश के ८० प्रतिशत निवासी निरक्षर हैं। शिक्षा खर्चीली होने के कारण, निर्धन व्यक्ति अपने बच्चों को पढ़ा नहीं सकते। इस विधि से पढ़ाने में खर्च बिल्कुल ही नहीं या बहुत कम पड़ता है। अब सभी अपने बालकों को पढ़ा सकते हैं। यह विधि साक्षारता-प्रचार में बहुत सहायक सिद्ध होगी।

(ग) **बेकारी की समस्या का हल**—इस विधि द्वारा शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थी भी स्वावलम्बी होते हैं। वे नौकरी का मुँह नहीं ताकते। थोड़ी सी पूँजी से ही वे कोई न कोई धन्धा चलाने लायक बन जाते हैं। घरेलू उद्योग-धन्धे जब मशीन का स्थान ले लेंगे तो, उनमें करोड़ों आदमी खप सकते हैं। आज जिस तरह मजदूर और पढ़े-लिखे लोग मारे-मारे घूमते हैं, यह सब मशीनों की कृपा है। बुनियादी-शिक्षा द्वारा इन मशीनों को जड़ से उखाड़ फेंका जा

---

२. आत्मानन्द मिश्र· शिक्षण कला, पृष्ठ ३१४

सकता है। (सत्याग्रह के दिनों में लंकाशायर और मैनचेस्टर के कारखाने बन्द होने का प्रत्यक्ष अनुभव है) कितने ही लोगों को काम मिल जायेगा। एक दूसरी बात लीजिये। देहात में जो लोग रहते हैं, वे भी आधी बेकारी का संकट उठाते हैं। एक तो खेती से इतना धन नहीं मिलता कि किसान का काम चल सके (अब यह बात नहीं है) दूसरे, खेती का काम मुश्किल से छः महीने चलता है। छः महीने किसान बेकारी में काटते हैं। देहातों में उद्योगों का प्रचार, बुनियादी-शिक्षा द्वारा होगा, इससे किसानों की आमदनी बढ़ जायेगी और उनके खाली समय का उपयोग भी हो जायगा।

(५) **स्वावलंबन द्वारा शिक्षा की कठिनाइयों का तात्कालिक हल**—ज्यों-ज्यों प्रजातन्त्र और समाजवाद की भावनाएँ जड़ पकड़ती जा रही हैं त्यों-त्यों शिक्षा का कार्य, राष्ट्र की जिम्मेदारी समझी जाने लगी है। भारत की दशा, कुछ वर्ष पहले, विचित्र-सी थी। एक ओर यहाँ की सरकार विदेशी थी, जो शिक्षा-सम्बन्धी उत्तर-दायित्व का कम से कम बोझ अपने सर पर लेना चाहती थी; दूसरी ओर जनता में बेहद गरीबी थी और निरक्षता के कारण शिक्षा के प्रति वह उदासीन भी थी। ऐसी दशा में जनता और शासन दोनों शिक्षा का भार उठाना नहीं चाहते थे। 'स्वावलंबी शिक्षा' से यह समस्या हल हो गई। जब खुद स्कूल में उत्पादित माल से शिक्षक का वेतन और अन्य खर्चे निकल आने की सम्भावना बढ़ गयी, तो शिक्षा-प्रसार का काम सरल हो गया। अतः 'स्वावलम्ब' को हम शिक्षा की कठिनाइयों का तात्कालिक हल कह सकते हैं।

(६) **शिक्षा का स्वावलंबी होना व्यावहारिक है**—गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य श्रीदेव शर्मा ने अखिल भारत-शिक्षा-परिषद में भाषण देते हुए बताया कि शिक्षा में स्वावलम्बन हमारी ऐतिहासिक परम्परा

के अनुकूल है और वह व्यावहारिक है। पाठशालाओं में जो भी चीजें तैयार होंगी वह घरेलू जीवन के लिए उपयोगी होंगी। उन वस्तुओं को बनाने में विद्यार्थियों को काफी दिलचस्पी होगी और गाँवों के लोग बिना हिचक के उन्हें खरीद लेंगे। इस क्रय-विक्रय का आधार 'मुद्रा' न होकर 'अनाज' होगा। आज भी गाँवों में जरूरत की सारी चीजें, ग्रामवासी बाज़ार में अनाज देकर खरीदते हैं। शिक्षा भी उनकी एक आवश्यकता है जिसे पाने के लिए वे बड़ी सरलता से अनाज दे सकते हैं। और उससे शिक्षक के परिवार का पालन-पोषण होने में कोई कठिनाई न रहेगी।[1] स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जो अनुभव हुए हैं, उनसे बुनियादी शिक्षा का स्वावलंबी होना निश्चित जान पड़ता है। इन अनुभवों में बिहार प्रान्त सबसे आगे है। वहाँ कुछ विद्यालय तो अपने यहाँ की शिक्षा में होने वाले समस्त व्यय का ५० प्रतिशत से अधिक वहाँ तैयार होने वाली वस्तुओं की बिक्री से पूरा कर लेते हैं। वे कच्चे माल पर व्यय की जानेवाली धनराशि का दुगना भी कमा लेते हैं।[2] जब बिहार में ऐसा संभव है, तो अन्य प्रांत भी उसका अनुकरण कर सकते हैं।

(७) **कलात्मक रुचि तथा सौन्दर्यानुभूति का विकास**—इस विधि द्वारा पढ़ाई के प्रचार से कला की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। गाँधी जी का विचार है कि मशीन के चलने से कला का सर्वनाश होता जा रहा है। वस्तुओं को हाथ से बनाने में कारीगर को जो लोकोत्तर आनन्द का अनुभव होता है, वह मशीन की बनी चीज़ का उपयोग करने में कहाँ रक्खा है। मशीन पर निर्भर रह कर मनुष्य भी निष्प्राण मशीन की भाँति जीवन बिताने लगा है। इसी से पाशविकता इतनी अधिक सबल हो गई है। बुनियादी शिक्षा ने एक बार फिर से कला

---

1. Educational Reconstruction.
२. हुमायूँ कबीर : स्वतंत्र भारत में शिक्षा, पृष्ठ ५३

और सौन्दर्य की परख करने का मूल मंत्र हमें सिखाया है। ज्यों-ज्यों विद्यार्थियों की कलात्मक रुचि तथा सौन्दर्यानुभूति का विकास होगा, हमें अच्छे से अच्छे कारीगर मिलने लगेंगे। अच्छे कारीगरों की कमी से ही, हमारी देशी वस्तुएँ विदेशी माल के मुकाबले में खप नहीं पातीं। करोड़ों रुपया देश से बाहर चला जाता है। जब हमारे कारीगर स्वयं कुशल हो जायँगे और सुन्दर वस्तुएँ बनाने लगेंगे, तो उनकी चीज़ों के लिए नया बाजार खुल जायगा। "आज जिस तरह फैशन-परस्त सभ्य-समाज देहात से दूर भागता है, कल यह बात न रहेगी। देहात आकर्षण का स्थान बन जायेंगे।"

(८) **बुनियादी शिक्षण की मौलिकता**—बुनियादी शिक्षा के विरुद्ध कुछ विद्वानों ने यह आरोप लगाया है कि, यह मौलिक नहीं है। गाँधीजी ने जो कुछ बताया है, वह सब हमें अमरीकी शिक्षाशास्त्री ड्यूवी की रचनाओं में देखने को मिलता है। आचार्य विनोबा भावे का कथन है कि विचारों में मौलिकता भले ही न हो परन्तु ऐसी शिक्षा के प्रयोग में मौलिकता अवश्य है। ड्यूवी की प्रोजेक्ट विधि में मनो-वैज्ञानिक पहलू पर अधिक जोर दिया गया है, बुनियादी शिक्षणविधि द्वारा गाँधी जी ने देश की भावी आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था की नींव डाली है। गाँधी जी के उद्देश्य में मौलिकता है। दूसरे, इस विधि की उत्पत्ति गाँधी जी के अहिंसावाद से हुई है। स्वर्गीय श्री महादेव देसाई का कथन है:—

"बापू जी की योजना को हम उनके सिद्धान्तों से अलग न समझें, बल्कि यह समझें कि वह उनके अहिंसात्मक सिद्धान्तों की ही उपज है। हमने अपना ध्येय अहिंसक स्वराज्य रक्खा है। हमें अपने गाँवों को स्वराज्य दिलाना है। बेकारी मिटानी है। शोषण या लूट का नाश करना है। वर्गकलह और कौमी झगड़ों का अंत

लाना है। और यह सब अहिंसा के जरिये होने को है। बापू जी की जो योजना बनी है, वह इन बातों को ध्यान में रखकर ही बनी है।"[1]

(९) **बुनियादी शिक्षण द्वारा माता-पिता का सहयोग प्राप्त होगा**—आचार्य विनोबा भावे का विचार है कि प्राचीन ढंग की शिक्षा में बालकों के माता-पिता तनिक भी रुचि नही लेते। उद्योग-प्रधान शिक्षा में उन्हें बड़ा उत्साह होता है। नाड़वाड़ी आश्रम में विनोबा जी ने यह देखा कि माता-पिता बड़े उत्साह से अपने बालकों को मीलों दूर से पढ़ने भेजते हैं। कारण यह है कि, ऐसी शिक्षा प्राप्त किए हुए विद्यार्थी अपने माता-पिता की अधिक सहायता कर सकते हैं। माता-पिता का सहयोग मिलने में कोई कठिनाई नहीं होती। शिक्षा में दस्तकारी के प्रयोग से एक लाभ यह है कि परिवार विश्रृंखल न हो सकेगा। वर्तमान औद्योगिक उन्नति के कारण बाद में आनेवाली पीढ़ियों में मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से अपने से पहली पीढ़ियों से दूर होते जाने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। पुत्र और पिता में अक्सर व्यवसाय के प्रश्न को लेकर संघर्ष हो जाता है। इस प्रकार का संकट हमारे देश में बड़ी तीव्रता के साथ बढ़ता जा रहा है। एक ओर बालक अपने को बूढ़ों की अपेक्षा अधिक अग्रगामी समझ कर उनका निरादर करता है और दूसरी ओर वृद्धजन नवयुवकों की प्रगति का विरोध कर नयी वस्तुओं और तौर तरीकों पर अविश्वास प्रकट करते हैं। यही विरोध भयानक है। "बुनियादी शिक्षा की आधारभूत धारणा शिक्षण की प्रक्रिया को किसी परिचित दस्तकारी पर आधारित करने द्वारा यह संकट काफी सीमा तक कम हो सकता है; और यह विश्वास किया जा सकता है कि पिताओं और पुत्रों

---

1. Educational Reconstruction pp. 80-81.

के बीच की खाई बहुत बड़ी नहीं हो पायेगी।[1]" जब माता-पिता को बुनियादी शिक्षा पर ऐसा विश्वास हो जायगा, तो उनका सहयोग अवश्य ही प्राप्त होगा।

(१०) **शिक्षक और विद्यार्थी में मधुर संबंध**—पुरानी शिक्षा में विद्यार्थी और अध्यापक में वह संबंध नहीं रहता जो उद्योग-प्रधान बुनियादी शिक्षा में कायम हो जाता है। विद्यार्थी के मन में ऐसे अध्यापक के प्रति कैसे आदर हो सकता है, जो उसकी समस्याओं को हल करना तो दूर रहा, छूता भी नहीं। बुनियादी शिक्षा में, अध्यापक विद्यार्थी की सबसे बड़ी समस्या—रोजी—का हल निकालने में सहायता देता है, इसलिए उसका आदर वे क्यों न करें? दूसरे, पुराने ढंग की शिक्षा में अध्यापक और विद्यार्थी में भेद-भाव उत्पन्न हो जाता है। शिक्षक कुर्सी पर बैठता है और विद्यार्थी नीचे चटाई पर। उद्योग द्वारा शिक्षण में विद्यार्थी और शिक्षक समान स्तर पर काम करते हैं। यह समान स्तर दोनों के बीच मधुर संबंध स्थापित करता है।

(११) **बुनियादी शिक्षण का आधार मनोविज्ञान है**—शिक्षण की सफलता बहुत कुछ विद्यार्थियों के सहयोग पर निर्भर करती है। प्राचीन शिक्षण में इस सहयोग का अभाव था। बुनियादी शिक्षण में विद्यार्थियों के सहयोग से लाभ उठाया जाता है। इसी सहयोग के आधार पर सामुदायिक जीवन की नींव पड़ती है। उद्योग सीखते समय तीन-चार घंटे एक साथ मिलकर परिश्रम करने से बालक-बालिकाओं में उत्तरदायित्व उत्पन्न होता है। इस प्रकार यहाँ हमें समूह-मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का समावेश देखने को मिलता है। मांटेसरी विधि के समान इस विधि द्वारा बालकों की ज्ञाने-

---

१. हुमायूं कबीर: स्वतंत्र भारत में शिक्षा, पृष्ठ ४७।

न्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की शिक्षा पर जोर दिया जाता है। यह विधि छोटी अवस्था के बालकों के मानसिक और शारीरिक विकास के अनुकूल साबित हुई है। प्रत्यक्ष कार्य, अवलोकन, अनुभव और प्रयोग, इन तत्वों का समुचित उपयोग इस शिक्षण में होता है। सब से बड़ा लाभ तो यह है कि, इस विधि द्वारा शिक्षण की दशा में बालकों को अपने भावी अध्ययन और व्यवसाय कार्य के लिये पथ-प्रदर्शन (Educational and Vocational Guidance) भी मिलता है। बुनियादी शिक्षा द्वारा बालकों का सर्वांगीण विकास पूरा होता है। जब एक बालक किसी दस्तकारी के काम में लगता है तो उसको अपने पूरे शरीर से काम लेना पड़ता है। इससे उसकी माँस पेशियाँ पुष्ट होती हैं। वह प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुकूल बनने में समर्थ होता है। (इस प्रकार बुनियादी शिक्षा से रूसो के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की पुष्टि होती है।)[1]

बुनियादी दस्तकारी को सीखते हुए, बालक की शिक्षा ज्ञानेन्द्रियों की ट्रेनिंग से प्रारंभ होती है। वह बाद में बौद्धिक विषयों को समझने लगता है जैसे विज्ञान, अर्थशास्त्र और समाज-शास्त्र आदि। उसकी विचार-शक्ति तथा कल्पना जाग्रत होती है। उसकी सृजनात्मक शक्ति का पूर्ण विकास हो जाता है। बालक की अनेक प्रवृत्तियों, यथा खेल की प्रवृत्ति, जिज्ञासा तथा अन्वेषण प्रवृत्ति आदि भी संतुष्ट हो जाती है।[2] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बुनियादी शिक्षा बिधि निर्भरशील है। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता।

---

1. Patel, M. S :—Educational Philosophy of Mahatma Gandhi, p. 183
2. Patel, M. S :—Educational Philosophy of Mahatma Gandhi p. 183

खास बात है कि क्रियाशीलता द्वारा शिक्षा और साथ-साथ इस क्रियाशीलता की उपयोगिता, इस विधि की खास विशेषता है। बालकों को सीखने के साथ-साथ धनार्जन का अपूर्व आनन्द मिलता है।[1]

श्री मशरूवाला ने बुनियादी-शिक्षण की प्रशंसा में लिखा है:—

"मौजूदा शिक्षा-पद्धति में तो अधिकांश विद्यार्थी अपनी कालेज की पढ़ाई समाप्त कर लेने पर भी यह निश्चय नहीं कर पाते कि आगे वे क्या काम करेंगे ?···वे वास्तव में इसलिये पढ़ते चले जाते है कि उन्हें कुछ सूझता ही नहीं कि इसके अलावा वे क्या कर सकते हैं। जीविका कमाने के लिए किसी उपयुक्त धंधे के चुनाव की घड़ी को, जहाँ तक बन पड़ता है, वे आगे ठेलते जाते हैं और इस तरह कई-एक इम्तिहानों में बैठते चले जाते हैं। जिस स्त्री अथवा पुरुष को अपने जीवन के प्रारंभिक बीस-पचीस साल इस तरह निरुद्देश्य बिताने पड़ते हैं, उसके अंदर दीर्घ-सूत्रता, संशयवृत्ति, अनिश्चिन्तता और अपने आप किसी निर्णय पर पहुंचने की अक्षमता आये बगैर रह ही नहीं सकती। सेगॉव पद्धति का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक बालक या वालिका का वह जल्दी से जल्दी निर्णय करा दे कि उसे अपने भावी जीवन में कौन सा व्यवसाय करना होगा ; उसे किसी एक धंधे की कम से कम इतनी तालीम भी जरूर दे दे, जिससे वह जीवन के समुचित भरण-पोषण के लिए आवश्यक न्यूनतम कमाई अवश्य कर सके।"

(१२) **समवाय होने से लाभ**—समवायी प्रणाली से पढ़ाने में अनेक लाभ[2] होने हैं, जैसे इससे मानसिक जीवन में दृढ़ता और

---

1. T.N. Siqueira in Journal of Education and Psychology, April 1948

२. मिलापचंद्र दुबे : बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त, पृष्ठ—११५।

अविचल धैर्य उत्पन्न होता है। बालक उपयोगी प्रवृत्तियों का अनुभव करने के पश्चात् ज्ञान की किसी शाखा में रुचि लेने लगते हैं और अनुबंध के कारण बड़ी सरलता द्वारा उस शाखा की सहायता से अन्य शाखाओं की ओर उनकी रुचि मोड़ी जा सकती है। ज्ञान और अनुभव के बीच संयोग होने से ज्ञान अखंड हो जाता है। एक विषय की सहायता से दूसरे विषय का ज्ञान सरलता से प्राप्त होता है। पढ़ी हुई बात स्मृति में स्थायी बन जाती है और प्रत्येक पाठ रोचक होता है। पूर्वज्ञान से संबंद्ध होकर नया ज्ञान सरलता से प्राप्त होता है। "जीवन जीते (बिताते) हुए जिस ज्ञान की खोज होती है और उससे जो शास्त्र हम बनाते हैं, वह ही हमारे जीवन क्रम के साथ अविच्छिन्न रूप से बँधा हुआ होना चाहिए; इसी को हम अनुबंध (समवाय) कहेंगे। जीवन जीते हुए और बनाते हुए जो और जितना ज्ञान आवश्यक है, उतना ज्ञान यदि हमें उपयुक्त अवसर पर पाते जाँय तो उसका बोझ नहीं मालूम होगा, वह वाह्यरूप से थोपा गया न होगा।"[1]

(१३) **बुनियादी शिक्षा में सामाजिकता**—बुनियादी शिक्षा में यह मान कर चला जाता है कि बालक एक सहकारी समूह का सदस्य है। विद्यालय समाज का प्रतिरूप होता है और प्रत्येक कक्षा सहकारी समाज। अतः यहाँ नागरिकता की शिक्षा भली भाँति प्राप्त हो जाती है। बालक को अपने कर्तव्य और अधिकारों का ज्ञान प्राप्त होता है। "इस प्रकार बुनियादी शिक्षा आजकल की व्यक्तिगत स्वाधीनता के नाम पर पारिवारिक और सामाजिक बंधनों को शिथिल करते जाने की प्रवृत्ति को सुधारने का प्रयत्न करती है।[2]" जब अधिकारों पर ही अधिक बल दिया जाता है तो मनुष्य

---

१. मिलापचंद्र दुबे : समवायी शिक्षण, पृष्ठ १०।

२. हुमायूँ कबीर : स्वतंत्र भारत में शिक्षा, पृष्ठ, ३८।

का दृष्टिकोण एकांगी हो जाता है और उससे ऐसे मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं, कि मनुष्य समाज में साम्य (Adjustment) नहीं स्थापित कर पाता। बुनियादी शिक्षा से यह दोष दूर हो जाता है। बालक की स्वच्छंदता और सामाजिकता दोनों के समन्वय से समाज का बड़ा ही स्वस्थ आधार तैयार हो जाता है।[1]

(१४) **समय का सदुपयोग**—कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं, जो बुनियादी शिक्षा पूरी करने के बाद किसी दस्तकारी का काम अपने जीविकोपार्जन के लिए न अपनावें और वे किसी बौद्धिक व्यवसाय में लग जायँ। उनकी यह शिक्षा बेकार न होगी। कलात्मक रुचि के उत्पन्न हो जाने से वे अपने अवकाश के समय का सदुपयोग कर सकेंगे। ऐसा देखा जाता है कि उच्च व्यवसायों में संलग्न व्यक्तियों के पास धन की प्रचुरता होती है और उन्हें पर्याप्त समय भी मिलता है परन्तु वे उस कीमती समय को अनुपयोगी कार्यों में नष्ट करते हैं। ऐसे लोगों को यदि प्रारंभ में बुनियादी शिक्षा मिली होती, तो वे सृजनात्मक कार्यों में अपना खाली समय लगा सकते। जिन लोगों को ऐसी शिक्षा मिलने का सौभाग्य प्राप्त होता है, वे अपने समय का उपयोग, कला, समाज और साहित्य की सेवा में कर सकते हैं।[2]

दोष

(१) **बुनियादी-शिक्षण के मुख्य सिद्धान्त—स्वावलंबन की त्रुटियाँ—**

(क) **प्रजातांत्रिक युग के विपरीत**—आजकल यदि चारों ओर नज़र दौड़कार देखा जाय तो स्पष्ट पता चल जाता है, शिक्षा के

---

१. हुमायूँ कबीर : स्वतंत्र भारत में शिक्षा, पृष्ठ, ५५–५७।

२. विश्वनाथ सहाय और शची माथुर : शिक्षण-प्रविधि पृष्ठ १०३–१०४।

खर्च का सारा भार उठाना राष्ट्र का कर्तव्य है। रूस में बालक-बालिकाओं को मुफ्त शिक्षा दी जाती है। युद्ध के दौरान में इंगलैंड ने माध्यमिक शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य करदी थी। अन्य राष्ट्र इस मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। यदि बुनियादी शिक्षा-विधि पर अमल किया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि भारत ठीक उल्टी दिशा में चलने का प्रयास करेगा। यद्यपि गाँधीजी ने बताया है कि पाश्चात्य राष्ट्र अपने नागरिकों की शिक्षा का भार इसलिये उठाने में समर्थ हैं कि वे दूसरे निर्बल राष्ट्रों का शोषण करके धन प्राप्त करते हैं और अपने यहाँ खर्च करते हैं परंतु भारत के लिए यह संभव नहीं है। परन्तु उनके तर्क का उत्तर यह दिया जा सकता है कि 'रूस' या 'चीन' तो दूसरे का शोषण नहीं करते। उन्होंने अपनी समाजवादी आर्थिक नीति द्वारा शिक्षा के खर्च के लिये तरकीब निकाल ली है।

प्रजातंत्र के युग में 'स्वावलम्बी शिक्षा' सम्भव नहीं है। हिन्दू-विश्वविद्यालय के अध्यापक पुणतांबेकर ने लिखा है कि स्वावलम्बी शिक्षा मध्ययुग के अनुकूल है। "मध्ययुग से मेरा मतलब है, वर्गों और वर्णों की अर्थ-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था के पुराने संकुचित विचारों से चिपटी रहनेवाली। लेकिन आज, जबकि हम पर प्रजातंत्र, राष्ट्रवाद की कल्पनायें प्रभाव डाल रही हैं, **हमारी शिक्षा स्वावलंबी नहीं बन सकती**। शासन-बल और साधन-सामग्री से सम्पन्न और संगठित जो एकमात्र शक्ति आज समाज के पास है, वह शासन या सरकार की शक्ति है। इसलिये इस काम का जिम्मा उसी को अपने सर लेना होगा। शक्ति के पुराने घटकों या समूहों में यानी जातियों, वर्गों, संघों, पाठशालाओं, पंचायतों और धर्मसंघों आदि में, आजकल शक्ति का, शासन-बल का, अथवा साधन-सामग्री का अभाव है; और पुराने जमाने में

जिस व्यापक अर्थ में इनका अस्तित्व था, वह अब नहीं रह गया है। लोगों को भी अब इन पर कोई श्रद्धा नहीं रही है। समाज की सारी शक्ति अब राजनैतिक समूहों के हाथ में चली गयी है। और हिंदुस्तान में भी राजनैतिक शक्ति ही आर्थिक और सामाजिक शक्ति बन गई है। इसलिए दो आदर्श—एक मध्ययुगीन और दूसरा अर्वाचीन एक साथ नहीं चल सकते।"[1]

(ख) **वर्तमान वैज्ञानिक संस्कृति** (Scientific Culture) **के प्रतिकूल**—प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और अध्यापक श्री खुशाल तलकशी शाह ने इस विधि के विरोध में कहा है कि—योजना आकर्षक जरूर है परन्तु यह उल्टी गंगा बहाने के प्रयत्न के समान है। वर्तमान युग विज्ञान का है और हम विज्ञान से जो कुछ प्राप्त कर चुके हैं, और उन साधनों के आधार पर जिस संस्कृति का मार्ग प्रशस्त कर चुके, उससे वापस लौटना असंभव है। कल-कारखानों की उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता। कल-कारखानों से जिस पूँजीवाद का जन्म हुआ है, उसका कारण है गलत आदमियों द्वारा उनका नियंत्रण। यदि आवश्यकतानुसार उत्पादन और वितरण और उपयोग में संतु-

---

१. हरिजन : अक्तूबर, १९३७।

नोट—प्रत्युत्तर में हम कह सकते हैं कि गांधीजी ने 'स्वावलम्बन' को देश की गरीबी के अनुकूल स्थान दिया और वर्तमान में अपनी परम्पराओं को कायम रखते हुए यह सम्भव है। दूसरे यह 'स्वावलम्बन' की नीति राष्ट्र और शासन के संरक्षण में चालू की जा सकती है। शिक्षा का संगठन राष्ट्र का कर्तव्य रहेगा, केवल उद्योगों को स्थान देने से आमदनी का जरिया निकल आयेगा। जापान में व्यावहारिक रूप से यह देखा जा चुका है। गांधी जी के मत में सरकार का काम संरक्षण देना और प्रोत्साहन देना है निकम्मे लोगों को घर बैठे भोजन पहुँचाना नहीं है। वे राष्ट्र के कर्तव्यों को बहुत संख्या में बढ़ाना उचित नहीं समझते थे।

लन कायम कर दिया जाय, तो यह दोष दूर हो सकता है। थोड़े से समय में चंद आदमी लाखों व्यक्तियों के लिए जीवनोपयोगी वस्तुयें तैयार कर सकते हैं। इससे समय मिलेगा और हर एक व्यक्ति साहित्य, कला का आनन्द ले सकता है तथा अन्य अज्ञात ज्ञान के क्षेत्रो में विचरण कर सकता है। हाथ से काम करना जरूरी है पर बुनियादी शिक्षण में जिस प्रकार मशीन का बहिष्कार किया गया है, वह अनुचित है।[1]

दस्तकारी को पुराने ढर्रे से करना सम्भव नहीं है। वैज्ञानिक और यांत्रिक विकास के मार्ग में हम जितना आगे बढ़ आये हैं उससे आगे बढ़ना है न कि पीछे लौटना।[2] यदि देश की तरक्की करनी है तो उसका उपाय देश का यांत्रिक औद्योगीकरण हैं। यंत्रों से जो आर्थिक या सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं उन्हें हल करने का प्रयत्न होना चाहिए न कि यंत्रों को नष्ट कर दिया जाय। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गाँधी जी के अनुयायी जन इसका अनुभव कर रहे हैं और यंत्रों की बाढ़ को रोकना उनके लिए संभव नहीं है। बुनियादी शिक्षा की ओर जो जनता आकर्षित नहीं हो रही है उसका कारण यही है कि यह युग की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं हैं।

(ग) **मानवतावाद के विपरीत**—ज्ञान के विकास के साथ-साथ मनुष्य का मनुष्य के प्रति आदर बढ़ता जा रहा है। स्त्रियों और बालकों से अनुचित और जबरन श्रम लेने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए प्रत्येक देश में कानून बन गए हैं। शैक्षिक दृष्टि से भी बालकों को मानसिक विकास के लिए अधिक से अधिक जीविकार्जन की ओर

---

1. Educational Reconstruction, pp. 56-57
2. Patel, M. S: The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi.

से अलग और उदासीन रखना आवश्यक है। एक ओर तो जहाँ विद्यार्थी को उद्योग का ज्ञान हुआ, वह रुपया कमाने के लोभ में पड़ जाता है और बौद्धिक विकास के प्रति उदासीन हो जाता है और दूसरी ओर स्कूल में उद्योग का स्थान हो जाने पर 'मजदूर' और 'मालिक' की भावना जोर पकड़ेगी। अध्यापक और विद्यार्थी का सम्बन्ध मालिक और मजदूर का-सा हो जाने का खतरा है। हम बुनियादी-शिक्षण द्वारा शोषण का नाश करना चाहते हैं परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से शोषण का पोषण करते हैं। डा० जाकिर हुसेन का कथन है—

"जब हम तकली और चरखा चलवा कर उस्तादों की तनख्वाह निकलवायेंगे और मदरसे की अच्छाई-बुराई और उस्ताद की तरक्की के लिए इम्तिहान के पहले दर्जे की जगह इतने मन सूत और इतने गज कपड़ा रहेगा, तो क्या उस्ताद अपने शागिर्दों से ऐसे काम न लेंगे जैसे ज़ालिम कारखानेदार मुद्दतों से छोटे बच्चों और औरतों से लेते रहे हैं? अल्लाह न करे, अगर ऐसा हुआ तो हमारी तकली किताबों से भी ज्यादा बुरी साबित होगी और इस अच्छी चीज से मुल्क में एक छिपी गुलामी की नींव पड़ जायगी।"[1]

(घ) **व्यावहारिकता का अभाव**—अमरीका के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री ड्यूवी ने भी उद्योग प्रधान-शिक्षण का प्रयोग किया था, परंतु यह विधि खर्चीली होने के कारण चल न सकी। भारत में ऐसी विधि की सफलता संदिग्ध है। हाथ के उद्योगों के लिए भी कच्चा माल चाहिए, और कुछ औजार चाहिए। उनको तो खरीदना ही पड़ेगा और इनमें बहुत ज्यादा धन की आवश्यकता है। दूसरे जो कुछ उत्पादन होगा वह महँगा बैठेगा। बालक सीखेंगे, टूट-फूट में नुक-

---

1. Educational Reconstruction, p. 54-55

सान होगा । तैयार माल भी अच्छा न होगा । सरकार के अतिरिक्त जनता उसे खरीदना न पसन्द करेगी । इससे घाटा होगा, स्कूलो में स्वावलंबन आ ही न सकेगा । अब, इस प्रश्न को लीजिये कि सरकार यह माल खरीद ले। एक विचित्र विरोधाभास है । एक ओर सरकार शिक्षा पर प्रत्यक्ष रूप से कुछ खर्च नहीं करना चाहती परंतु अप्रत्यक्ष रूप से इस विधि पर लाखों रुपया व्यय करेगी । जो माल उसे कल-कारखानों से सस्ते मिल सकता है, उसे वह बुनियादी स्कूलों से दूने भाव पर खरीद कर हानि उठायेगी और एक ऐसी संस्था के चलाने में लाखों रुपया व्यय करेगी जो इन स्कूलों में बने माल का क्रय-विक्रय करे । इससे कहीं अच्छा है कि वह सीधे शिक्षा पर क्यों न खर्च करे ।

बुनियादी शिक्षा को व्यावहारिक बताने की आवश्यकता है । इसके लिए निरन्तर प्रयोग और खोज करना उचित है ताकि समस्त राष्ट्र भर में इसे सरलतापूर्वक लागू किया जा सके । इस बात को मानना ही पड़ेगा कि इसमें दोष हैं और उन्हें दूर करने का समुचित प्रयत्न नहीं किया जा रहा है । उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन वांछनीय है । स्वयं गाँधी जी ने भी इस बात को स्वीकार किया था ।[१]

(ङ) **विद्यार्थियों और पेशेवर** (professions) **कारीगरों के बीच प्रतिस्पर्धा का जन्म**—प्रोफेसर शाह का मत है कि इस विधि द्वारा पढ़ाई का आरम्भ होते ही गरीब पेशेदारों की जान आफ़त में पड़ जायगी और देश की गरीबी भी बढ़ जायगी । ऐसे लोग यों ही मिलों में उत्पादित माल की होड़ के कारण बुरी तरह परेशान हैं । जब स्कूलों में माल पैदा होगा और सरकार के संरक्षण के कारण उसकी बिक्री पहले होगी, तो उनका क्या हाल होगा ।

---

1. Patel, M. S. : The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi, p. 134

(२) **शिक्षकों की कठिनाई**—बुनियादी-शिक्षण को सफल बनाने के लिए बिल्कुल नए प्रकार के शिक्षकों की आवश्यकता होगी । उन्हें नए ढंग से ट्रेनिंग देने की अलग समस्या है । सबसे बड़ी बात तो यह है, कि शिक्षक का जो आदर्श, बुनियादी शिक्षा में रक्खा गया है, वह कहाँ तक, वर्तमान स्थिति में, अनुकरणीय है ।[१] थोड़ी सी आमदनी में, संतोष, सेवा और लगन के साथ काम करनेवाले लोग कहाँ मिलेंगे । आज के आर्थिक वैषम्यवाले समाज में, यह गुण पाये नहीं जाते । एक ओर भर पेट रोटी नहीं मिलती और दूसरी ओर ऊँचे-ऊँचे महलों में कुछ लोग भोग-विलास में मग्न हैं । घूसखोरी और भ्रष्टाचार करके वे लोग मौज करें और सेवा और संतोष का व्रत लेकर शिक्षक अपनी जान दे, क्या यह सम्भव है? प्राथमिक शिक्षकों में विशेष रूप से असंतोष फैल रहा है । गत दो वर्षों में शिक्षकों की हड़तालें इसका प्रमाण हैं । अतः शिक्षकों से थोड़े से वेतन में गुजर-बसर करने की आशा करना व्यर्थ है । कोरे आदर्शवाद से कोई लाभ नहीं हो सकता । अनिवार्य सेवा की योजना भी, जिस पर प्रोफेसर शाह तथा महात्मा जी ने जोर दिया, अधिक व्यावहारिक नहीं जान पड़ती । नवयुवकों को शिक्षक बनने के लिए मजबूर करने से एक तो असंतोष फैलेगा और दूसरे अनिच्छा से काम करनेवाला शिक्षक लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचायेगा । डॉ० जाकिर हुसेन का कथन है कि "इस तरह पढ़ाने और सिखानेवाले उस्ताद हमारे पास नहीं हैं । अगर हमें तकली से सब-कुछ सिखाना होगा तो बेसिखे उस्ताद इस काम को नहीं कर सकेंगे ।" वास्तव में उद्योग को केन्द्र मानकर अन्य विषयों को पढ़ाना उतना सरल नहीं है जितना बाहर से देखने में जान पड़ता है ।

---

1. Patel, M. S.: The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi, pp. 131-132.

(३) **व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धान्त के विपरीत**—एक उद्योग को माध्यम मान कर शिक्षण देने में भय यह है कि सभी बालक उसमें रुचि न लेंगे। प्रायः सबकी रुचियों में अंतर रहता है।[1] इस दृष्टि से बुनियादी शिक्षण की सफलता में संदेह है। यदि एक स्कूल में कई उद्योगों को स्थान दिया जाय, तो खर्च अधिक बैठता है। एक कक्षा के लिये, कई प्रकार से पाठों का नियोजन करना पड़ेगा और पाठ्य-पुस्तकें भी भिन्न-भिन्न होंगी। ऐसी दशा में अव्यवस्था तथा अड़चन पैदा होने का भय है।

(४) **बुनियादी शिक्षा एकांगी है**—बुनियादी-शिक्षण-पद्धति में केवल माध्यमिक स्तर तक ही विशेष ध्यान दिया गया है। उच्च शिक्षा पर न तो व्यापकरूप से विचार किया गया और न उसकी रूप रेखा प्रस्तुत की गयी। शिक्षा सारे जीवन भर के लिए होनी चाहिए; किसी एक अंग को महत्व देना और दूसरे अंगों की उपेक्षा करना अनुचित है। गाँधी जी ने केवल माध्यमिक क्षेत्र पर ही अपनी दृष्टि डाली है। संभव है, उन्हें इतना समय न मिला हो। यदि वे और अधिक दिनों तक जीवित रहते, तो अवश्य ही सभी अंगों की ओर ध्यान देते। उनकी मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों ने भी कोई संतोषजनक ऐसी योजना नहीं प्रस्तुत की जिससे बुनियादी शिक्षा का क्षेत्र संकुचित न रह कर जीवनव्यापी हो जाता।

(५) **एक दस्तकारी द्वारा सभी विषय पढ़ाना संभव नहीं**—एक बात विचारणीय यह है कि किसी एक बुनियादी दस्तकारी के सहारे सभी विषय कहाँ तक पढ़ाये जा सकते हैं। व्यावहारिकता की दृष्टि से सभी विषयों को एक साथ पढ़ाना संभव नहीं जान पड़ता। स्वयं गाँधी जी का कहना था कि सभी विषय **जहाँ तक संभव हो**, एक

---

१. हुमायूँ कबीर : स्वतंत्र भारत में शिक्षा, पृष्ठ—४८–४९।

दस्तकारी द्वारा पढ़ाये जाँय।[1] वार्के का मत है कि मैट्रीकुलेशन के स्तर तक एक बुनियादी दस्तकारी द्वारा, बालकों को सिखाये गये समवायी ज्ञान को, पूर्ण बनाने के लिए अन्य विषयों की (जो नहीं पढ़ाये जा सकते) पढ़ाई का अलग से प्रबन्ध करना आवश्यक है।[2] इससे यह स्पष्ट है कि एक ही दस्तकारी के सहारे हर एक विषय का हर एक अंग पढ़ा सकना संभव नहीं है।

(६) **समवाय का दोष**—बुनियादी शिक्षण की मुख्य विशेषता समवाय है। इस समवाय के लिए विषयों के बीच सह-संबंध स्थापित करना आवश्यक होता है परन्तु यह सह-संबंध बहुत ही स्वाभाविक होना चाहिए। तभी इसका शुभ फल प्राप्त हो सकता है। कुछ अध्यापक यह सह-संबंध स्थापित करने के लिए ज़ोर-जबरदस्ती करते हैं। इससे अध्यापन की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। बुनियादी शिक्षा और समवाय के समर्थकों की यह धारणा कि हर जगह और हर समय समवाय होना ही चाहिए बड़ी ही भ्रांत और हानिकारक है।[3] यदि पूरी सावधानी न रक्खी जाय तो बुनियादी शिक्षा को एक बेहूदगी का ही रूप प्राप्त हो जायगा। उससे बालक की रुचि और बुद्धि पर अनावश्यक बोझ पड़ता है।[4]

(७) **दस्तकारी का संकुचित क्षेत्र**—बुनियादी शिक्षा के समर्थक आम तौर से कृषि या कताई-बुनाई के उद्योग को ही शिक्षा का माध्यम मानते हैं। इन उद्योगों की भी मर्यादाएँ हैं। यदि इन्हीं के आधार

---

1. Patel M. S. : Educational Philosophy of Mahatma Gandhi, pp. 129-130.
2. Vaikey, C. J. : The Wardha Scheme of Education, pp. 68-69.
३. सीताराम चतुर्वेदी : शिक्षा प्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक पृष्ठ— ३४७।
४. हुमायूँ कबीर : स्वतन्त्र भारत में शिक्षा, पृष्ठ—४६-४७।

पर सब कहीं शिक्षा का प्रबंध किया जाय, तो पढ़ाई ही रुक सकती है। यदि शहर में कृषि को माध्यम बनाया जाय तो बालकों के जीवन से इस उद्योग का संबंध न होने से, सारी पढ़ाई अरुचिकर हो जायगी। यदि दस्तकारी परिचित नहीं होती, तो बालकों पर अनावश्यक बोझ बढ़ जाता है। यदि दस्तकारी में विविधता लाने का प्रयास किया जाता है तो अध्यापकों पर बोझ पड़ता है। अनेक प्रकार की पाठ-टीकाएँ तैयार करनी पड़ती हैं और वे उनको अच्छी तरह पढ़ा नहीं सकते।[1]

(८) **जीवन के नैतिक एवं कलात्मक पक्ष की अवहेलना**—उद्योग प्रधान शिक्षा में यह स्वाभाविक है कि बालकों और अध्यापकों दोनों का ध्यान उत्पादन पर ही केन्द्रित रहे। बालक को लाभ होता है; इसलिए वह शीघ्रता से उत्पादन बढ़ाना चाहेगा और दस्तकारी में निपुणता प्राप्त करने का प्रयत्न छोड़ देगा। इस प्रकार दस्तकारी के शिक्षणात्मक पहलू के गौण[2] बन जाने की आशंका है। अध्यापक का खर्चा भी उसी दस्तकारी से निकलना है। इसलिए वह तैयार माल की सुन्दरता की उपेक्षा करके बालकों को शीघ्रता से उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित करेगा। यदि उत्पादन को ही शिक्षा की एकमात्र नाप मानलें तो चरित्र की भी उपेक्षा होती है क्योंकि अध्यापक बालकों के चारित्रिक गुणों की वृद्धि के स्थान पर उनकी उत्पादनशक्ति बढ़ाने की ओर अधिक ध्यान देगा। विद्यालय भावी नागरिकों के प्रशिक्षण का केन्द्र है; तात्कालिक उपयोग का सामान तैयार करवाने का कारखाना नहीं। "यह ठीक है कि बालकों द्वारा तैयार की गई वस्तुओं में से बहुत सी विक्रय के योग्य होनी चाहिए और वे होंगी भी; परन्तु इस बात का प्रयत्न नहीं होना चाहिए कि उनके

---

१. हुमायूँ कबीर : स्वतन्त्र भारत में शिक्षा, पृष्ठ—४६-५०।

२. सीताराम चतुर्वेदी : शिक्षा प्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक, पृष्ठ—४३१।

काम की एकमात्र कसौटी उन वस्तुओं की विक्रय-योग्यता को ही बना दिया जाय।"[1]

(९) **अन्वेषण का अभाव**—बुनियादी शिक्षा को एक महान व्यक्ति ने जन्म दिया। उसके प्रति इतना आदर है कि हम इस पद्धति की त्रुटियों की ओर से आँखें बंद कर लेते हैं। इसी कारण से उनके अनुयायी इस विधि का परिष्कार करने में महात्मा गाँधी का अनादर समझते हैं।[2] इस प्रकार के भावों से खोज कार्य बंद हो रहा है। स्वयं गाँधी जी का कहना था कि केवल मेरे प्रति आदर के आधिक्य के कारण ही मेरी शिक्षा योजना को स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए मैं मृत्यु के द्वार पर हूँ और मैं बलपूर्वक यह योजना जनता के गले नहीं बाँधना चाहता। इसे स्वीकार करने के पूर्व अच्छी तरह ठोक-पीट कर इसे देख लेना चाहिए ताकि इसे थोड़े दिन बाद ही न त्याग दिया जाय।[3] खेद की बात है कि गाँधी जी के आदेशों के विपरीत अन्वेषण कार्य की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया जा रहा है।[4]

आज बुनियादी शिक्षा का सूत्रपात हुए बीस वर्ष से अधिक हो चुके हैं परन्तु उसकी प्रगति सतोषजनक नहीं है। अनेक विचार-विमर्शों और सभा-समितियों की स्थापना के बावजूद व्यावहारिक ढंग से इस शिक्षण-विधि को सफल बनाने का प्रयास कम ही किया

---

१. हुमायूँ कबीर : स्वतंत्र भारत में शिक्षा, पृष्ठ—५१-५२।
2. Patel M. S. : The Ed. Philosophy of Mahatma Gandhi, pp. 127-128.
3. Educational Reconstruction, p. 75.
4. Report of Assessment Committee on Basic Education, p.17-18,published by Ministry of Education, Govt. of India, 1956, Publication No. 234.

गया है। विधि के दोषों को देखते हुए आवश्यकता इस बात की है कि इसके विविध पक्षों पर अधिकाधिक प्रयोगात्मक कार्य किये जाँय। प्रायः देखा यही गया है कि दस्तकारी के चुनाव तथा उससे सम्बद्ध विषयों की सजावट का पक्ष ही शिक्षा-विशारदों का ध्यान आकर्षित कर रहा है परन्तु इस शिक्षा-विधि द्वारा बालकों की सीखने की शक्ति (Learning Capacity) किस प्रकार विकसित की जा सकती है, इस पक्ष की ओर ध्यान कम दिया जा रहा है। इस पक्ष पर ध्यान दिये बिना इस शिक्षण-विधि को पूर्ण बनाना सम्भव नहीं प्रतीत होता। मनोवैज्ञानिक केन्द्रों और शोधशालाओं तथा बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओं में समायोजन किये बिना, इसके दोषों का परिहार कर सकना संभव नहीं है। यदि इस ओर ध्यान न दिया गया तो, बुनियादी शिक्षण का भविष्य अंधकारमय ही रहेगा।

---

(१३)

अमेरिका तथा यूरोप में होने वाले प्रयोग

(१) **यूनिट प्लान** (Unit plan)—अमरीकी शिक्षाशास्त्रियों ने बालकों की सहज प्रवृत्तियों के अनुरूप शिक्षण-विधियों को नया रूप देने का प्रयत्न किया। योजना-विधि की सर्वप्रियता का यहीं एक मूल कारण था। दूसरी ओर शिक्षाचार्यों का एक ऐसा दल भी था जो इस स्वच्छन्दता-प्रधान शिक्षण को अनुचित समझता था। उनके मन में, शिक्षा के अन्तर्गत ऐसी आधारभूत बातें आ जाती है, जिनकी शिक्षा अवश्य ही दी जानी चाहिए। उन्होंने ड्यूवी की योजना विधि और हरबार्ट की पंचपटी विधि के समन्वय पर जोर दिया। इस समन्वय का एक रूप हमें मौरिसन[1] (Henry E. Morrison) की यूनिट प्लान में देखने को मिलता है। उनका विचार है कि बालकों को जो कुछ पढ़ाया जाय, उस पर उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाना चाहिए। इसलिए बालक की पहले परीक्षा लो, फिर पढ़ाओ फिर परीक्षा लो, शिक्षण-विधि में सुधार करो, फिर पढ़ाओ; और परीक्षा लो। यह क्रम तब तक जारी रहे जब तक बालक याद करने में पूर्णतया सफल न हो जाय।

मौरिसन ने पाठ्य-विषय को कई यूनिटों में बाँट दिया। वे

---

1. Henry E. Morrison.—The Practice of Teaching in the Secondary school.

यूनिट लगभग 'योजनाओं' (Projects) से मिलते जुलते हैं। उन्हें पढ़ाने में हरबार्ट और ड्यूवी की विधियों से काम लिया जाता है। मौरिसन ने भी पाँच पद निश्चित किये हैं। (१) **खोज** (Exploration)—इस पद में अध्यापक प्रश्नों द्वारा काम में पाठ्य-विषय का पूर्वज्ञान से संबंध जोड़ता है। (२) **पाठ-विस्तार** (Presentation) इस पद में अध्यापक भाषण द्वारा पाठ की मुख्य रूप-रेखा संक्षिप्त रूप से बालकों के सन्मुख प्रस्तुत करता है और उनकी रुचि जाग्रत करता हुआ है जांच करता कि वे पाठ कहाँ तक समझे हैं। (३) **पाठ-ग्रहण** (Assimilation)—बालक अध्यापक के पथ प्रदर्शन के अनुसार विभिन्न पुस्तकों से पाठ्य-सामग्री इकट्ठा करते हैं। (४) **संघटन** (Organisation)—दूसरे और तीसरे पद का सम्मिलित परिणाम इसमें निकलता है। (५)**सस्वर वाचन या लेखन** (Recitation)—इस पद में बालक, पढ़े हुए पाठ के परिणामों को जबानी या लिखित रूप में अध्यापक के आगे प्रस्तुत करते हैं।

(२) **मैरिएत्ता जानसन** (Marietta Johnson) **का फेयर होप स्कूल**—सन् १९०७ में मैरिएत्ता जानसन ने अलबामा में फेयर होप नामक स्थान पर एक नये प्रकार का स्कूल स्थापित किया। जहाँ पर प्रत्येक बालक की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर नये ढंग से शिक्षा दी जाती है। पहले यहाँ पर केवल एक या दो झोपड़ी दिखाई देती थीं, परन्तु धीरे-धीरे स्कूल की सफलता के साथ-साथ विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती गई और अब तो यहाँ कई भव्य भवन खड़े दिखाई देते हैं। मैरिएत्ता के शिक्षा सम्बन्धी विचार उनकी पुस्तक (Youth in a World of Men) में संग्रहीत है। उनके स्कूल में किन्डर गार्टन से लेकर कालेज तक की पढ़ाई होती है। प्रत्येक बालक को उसके विषय में हर प्रकार की सलाह और सहायता दी जाती है। यहाँ की शिक्षण विधि की नवीनता का परिचय निम्नलिखित बातों से मिलता है:—

(क) स्कूल का फर्नीचर, कुर्सी, टेबेल आदि, इतने हल्के होते हैं कि एक स्थान से दूसरे स्थान तक उन्हें आसानी से ले जा सकते हैं।

(ख) पढ़ाई के विषय बहुत कम हैं। प्रारम्भ में बालकों को पढ़ने-लिखने के लिये बाध्य नहीं किया जाता, जिसमें उनके मस्तिष्क पर दबाव न पड़े।

(ग) बालकों को कुशलतापूर्वक काम करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता।

(घ) बालकों के बौद्धिक तथा भावमय जीवन में एकत्व स्थापित करने के लिए, उनकी रुचियों का सर्वत्र ध्यान रक्खा जाता है।

(ङ) काम में बालकों का उत्साह जाग्रत करने के लिए उनका संकोच तथा उनकी लज्जाशीलता को यथा सम्भव दूर किया जाता है। एक कक्षा में एक ही आयु के बालक रक्खे जाते हैं। खेलने और पढ़ने में, उन्हें उनकी इच्छानुसार पूरी छूट दी जाती है।

(३) **एडवर्ड यौमैन** (Edward Yeoman) **का ओजाई घाटी** (Ojai Valley **स्कूल**—सन् १९११ में योमैन ने अटलांटिक नामक मासिक में कुछ ऐसे लिखे, जिनमें प्राचीन शिक्षण की बुराइयों का उन्होंने उल्लेख किया। उनके वे लेख उनकी एक पुस्तक (Shackled Youth) में संग्रहीत हैं। योमैन महोदय विनेटका स्कूल बोर्ड के सदस्य रह चुके थे। सन् १९२३ में उन्होंने ओजाई घाटी में एक नये ढंग का स्कूल कायम किया। इस स्कूल का उद्देश्य बालकों में जिज्ञासा तथा आलोचनात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न करना है। उन्हें स्वतंत्र विचारक और अन्वेषक बनाया जाता है। उनके शरीर को स्वस्थ तथा मांसल बनाना, नृत्य-कला की शिक्षा द्वारा, प्राचीन यूनानियों की भांति शरीर को कोमल तथा लोचदार बनाना; अन्य कलाओं

और संगीत द्वारा आत्मोत्थान करना; सहयोग, व्यवस्था और स्वावलंब आदि का मूल्य सिखाना, इस स्कूल का उद्देश्य है।

पढ़ाई में, स्कूल के वातावरण को अधिक से अधिक स्वस्थ बनाया जाता है। शान्ति और स्वच्छता का पूरा ध्यान रखा जाता है। इसी दृष्टि से इस स्कूल की स्थापना पहाड़ी प्रदेश में की गई। यहां सामाजिक क्रियाओं का बाहुल्य है। बालकों के आमोद-प्रमोद में वयस्क लोग भी भाग लेते हैं। लोकनृत्य-समाज, और कला केन्द्र यहाँ स्थापित हैं। बुनाई, लकड़ी के काम, डलिया तैयार करना आदि दस्तकारी के काम बच्चों को सिखाये जाते हैं। कभी समूह गान भी होते हैं। बालकों द्वारा अभिनीत नाटकों में, उनके माता पिता और अभिभावकों को भी भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जाता है। यहाँ बहुमुखी क्रियाओं की योजना भली प्रकार की गई है। दूकानदारी, घुड़सवारी, कैम्प, सरस्वती यात्रायें, नाव की सैर आदि जीवन के अनेक दृश्य यहाँ देखने को मिलते हैं। 'परीक्षा' और 'दंड' की व्यवस्था यहाँ विल्कुल नहीं है। शिक्षण में, योजना विधि का प्रयोग किया जाता है। भाषा, गणित और दूसरे बौद्धिक विषयों पर अधिक जोर नहीं दिया जाता है। हाथ के काम को सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखा जाता है। बालक मिट्टी के खिलौने, जिल्दसाजी, बुनाई और चमड़े का काम मन लगा कर सीखते हैं। वे स्वयं कठोर परिश्रम करके, छोटे छोटे मकान, कमरे और पशुशालाएँ तैयार करते हैं। अनेक प्रकार के पौधों, वृक्षों, पशुओं, पक्षियों, कीड़ों-मकोड़ों और धातुओं का सूक्ष्म निरीक्षण करना तथा अध्ययन करना, पढ़ाई के मुख्य अंग हैं। ऋतु-परिवर्तन और भूमि-परिवर्तन का अध्ययन करने पर जोर दिया जाता है। अध्यापक और विद्यार्थी, सप्ताह में दो बार एक स्थान पर एकत्र होते हैं और विचार विमर्श करते हैं।

(४) **नगर तथा ग्राम पाठशाला**—(City and Country

School)—इस प्रकार के स्कूल की स्थापना कैरोलीन प्रैट (Caroline Pratt) ने सन् १९१४ में की। यहाँ पर तीन से लेकर चौदह वर्ष तक के बालक और बालिकायें पढ़ती हैं। छोटे बच्चे आधे दिन और बड़े बच्चे पूरे दिन पढ़ते हैं। सबेरे और शाम को, एक घंटा, स्कूल के बाहर मैदान या जंगल में बैठ कर पढ़ना होता है। संगीत, चित्रकला, भोजन बनाना, दूकानदारी और विज्ञान—जैसे विषय बालक सीखते हैं। एक कक्षा में एक ही आयु के बालक रहते हैं और उनकी संख्या थोड़ी होती है। यहाँ के अध्यापक विशेषज्ञ होते हैं। प्रत्येक बालक को कोई न कोई दस्तकारी का काम करना पड़ता है। जिस दल के बालक काम पूरा कर लेते हैं उन्हें पारिश्रमिक भी दिया जाता है। कुछ हेर फेर के साथ योजना विधि का प्रयोग किया जाता है।

(५) **हैरियट जानसन** (Harriet Johnson) **का नर्सरी स्कूल**—इस स्कूल की स्थापना सन् १९१४ में हुई। हैरियट ने पढ़ाई में खेलों का समावेश किया। बालकों के स्वास्थ्य का बचपन में पूरा ध्यान रखना चाहिये। खेलों द्वारा स्वास्थ्य और संतोष दोनों ही बालकों को प्राप्त होते हैं। इसलिए यहाँ पर उन्हें निराशा और दमन का तनिक भी अनुभव नहीं होने दिया जाता। यहाँ दो से पाँच वर्ष तक की आयु के बालक पढ़ते हैं। स्कूल के आस-पास छोटी-छोटी सरस्वती यात्रायें रक्खी जाती हैं। बालकों की अभिरुचि उनकी परिस्थितियों की ओर उन्मुख करके, उनका उत्साह बढ़ाया जाता है और संघर्ष करने में सहायता दी जाती है।

(६) **वाल्डेन स्कूल** (Walden School —मार्गेरेट नामवर्ग ने सन् १९१५ में इस स्कूल की स्थापना की थी। उस समय तीन वर्ष वाले बालक, बहुत थोड़ी संख्या में यहाँ पढ़ते थे अब उनकी संख्या बढ़ गई है। बालकों के व्यक्तित्व विकास और उनकी सामाजिक प्रवृत्ति की अभिवृद्धि का निरन्तर प्रयत्न यहाँ किया जाता है। यह स्कूल दिन

भर चलता है और बालकों को परस्पर मिलने का पूरा समय मिलता है। कला, दस्तकारी और खेल का प्रबन्ध है; परन्तु पुस्तकीय अध्ययन पर जोर नहीं दिया जाता। अध्यापक बालकों के स्वभाव का अध्ययन करते रहते हैं। यदि उनका बौद्धिक और शारीरिक विकास समुचित ढंग से होता रहता है, तो उन्हें सामाजिक जीवन बिताने में कोई कठिनाई नहीं अनुभव होती। ऐसे बालक योग्य नागरिक बन जाते हैं। जिस विषय में बालक को विशेष रुचि होती है, उसी से पढ़ाई आरम्भ होती है। ज्यों ज्यों रुचियाँ विकसित और परिवर्धित होती जाती हैं, त्यों-त्यों नये-नये विषय प्रारम्भ किये जाते हैं। बालकों के शिक्षण में माता-पिता, अध्यापक और स्कूल मनोवैज्ञानिक, मिलकर सहायता करते हैं। बालकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं पर विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता है और उन्हें अपने विषयों में खोज करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

(७) हीसियन का पहाड़ी स्कूल (Hessian Hills School)—न्यूयार्क नगर की चहल-पहल और शोरगुल वाले वातावरण से कुछ दूर हडसन नदी के किनारे हीसियन पर्वत पर यह स्कूल स्थित है। इसकी स्थापना सन् १९२८ में हुई। इस स्कूल के लिए कई एकड़ भूमि के बीच में भव्य भवनों का निर्माण किया गया है। स्कूल की व्यवस्था और शासन में बालक भाग लेते हैं। अभिभावक और शिक्षक इस कार्य में उनकी सहायता करते हैं। यहाँ संगीत, नृत्य तथा अन्य कलाओं की शिक्षा दी जाती है। प्रकृति के निरीक्षण और अध्ययन की ओर बालकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया जाता है। पाठ्यक्रम में विज्ञान का प्रमुख स्थान है। बालकों को कई दलों में विभाजित करके, प्रत्येक दल को कोई न महत्वपूर्ण कार्य सौंप दिया जाता है। एक दल बाग की देख रेख करता है; दूसरा पुस्तकालय की, तीसरा पशुओं की और चौथा क्रय-विक्रय की व्यवस्था करता है। स्कूल के लिए, बालक

स्वयं धन एकत्र करते हैं। वे प्रदर्शनी और भोजन आदि की व्यवस्था भी स्वयं करते हैं।

(८) **मैनुमिट का कृषि-स्कूल** (Manumita School Farm)— यह स्कूल भी न्यूयार्क नगर के समीप स्थित है। लगभग १७५ एकड़ भूमि के बीच, यह स्कूल बनाया गया है। यहाँ कृषि संबंधी सारे कार्य जैसे बीजबोना, सींचना, जोतना, फ़सल काटना, आदि सिखाये जाते हैं। यह समझना कि यहाँ कृषि का ही काम होता है भूल है। कृषि तो शिक्षण का एक साधन मात्र है। उसके द्वारा बालक सहकारिता का पाठ सीखते हैं और व्यवसाय करने योग्य बन जाते हैं। यहाँ सहकारी-समिति, पशुशाला, प्रयोगशाला, रेडियो और समाचार-पत्र आदि का आयोजन किया गया है। यहाँ का पाठ्यक्रम संतुलित है।

(९) **जान लिगथार्ट** (Jan Ligthart) **की शिक्षण विधि**— जान लिगथार्ड हालैंड के पेस्तालाज़ी के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं। आपने हालैंड की राजधानी हेग में, अपने शिक्षा-संबंधी प्रयोग किये हैं। इनकी शिक्षण विधि में बालकों की स्वच्छन्दता और विषय चुनाव की स्वतंत्रता का पूरा ध्यान रक्खा जाता है। इतिहास पढ़ाने की विधि इतनी मनोरंजक है कि आँखों के सामने एक दृश्य सा खिंच जाता है। श्रम, उद्योग, बागबानी और खेती—इसका महत्व बालकों को अच्छी तरह समझाया जाता है। पहले साल बालक को पशुपालन और वृक्ष लगाना—दो विषय सिखाये जाते हैं। दूसरे वर्ष उन्हें अन्न और आलू की खेती करना बताया जाता है। तीसरे वर्ष शाकभाजी के उत्पादन का ज्ञान कराया जाता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों बालक आगे बढ़ते जाते हैं, नये-नये और कठिन विषय पाठ्यक्रम में रक्खे जाते हैं। अंत में कपड़े तथा अन्य उद्योगों का ज्ञान कराया जाता है। प्रत्येक उद्योग में कच्चे माल के उत्पादन से लेकर तैयार वस्तु के बनाने तक जितनी भी क्रियायें हो सकती हैं, सिखाई जाती हैं।

शिक्षण में जीवन और शिक्षा इस प्रकार घुल मिल जाते हैं, जैसे पानी में शकर। पाठ्य-विषयों की अपेक्षा 'प्रकृति' 'श्रम' और 'मनुष्य'—इन तीन बातों के अध्ययन को प्रमुखता दी जाती है। प्रत्येक कक्षा के लिए पढ़ाई का मूल केन्द्र (Centre) नियत है, जैसे प्रथम कक्षा का पाठ्य-केन्द्र है—स्कूल के आस-पास का वातावरण और ग्रामीण जीवन का अध्ययन, दूसरी कक्षा का पाठ्य केन्द्र भोजन तथा घर और इनको तैयार करने का सामान, तीसरी कक्षा का केन्द्र—इमारती सामान तथा भूगर्भ से प्राप्त धातुएँ, पृथ्वी के मान चित्र आदि; चौथी कक्षा का केन्द्र—स्थानीय वनस्पति, भूमि, उद्योग, घर और बाहर के व्यापारिक संबंध; पाँचवीं कक्षा का केन्द्र—भूगोल, इतिहास और भौतिक विज्ञान; छठी कक्षा का केन्द्र—प्रारंभिक प्राणि-विज्ञान, रसायन शास्त्र तथा गणित शास्त्र है।

लिगथार्ट की विधि में 'स्थूल से सूक्ष्म की ओर' वाले सिद्धांत का समावेश है। बालकों के शारीरिक और मानसिक विकास में जल्द-बाज़ी नहीं की जाती। बालकों को पूर्ण स्वतंत्रता दी जाती है परन्तु उन्हें मनमानी करने से रोका जाता है।

(१०) **डेक्रोली योजना विधि**—ओविड डेक्रोली (Ovide Decro-ly) बेल्जियम देश के निवासी थे। आपने मेरिया माँटेसरी की भांति अल्पबुद्धि (Mentally deficient) बालकों को पढ़ाना प्रारंभ किया। उनकी सफलता ने, उन्हें साधारण बुद्धि वाले बालकों के लिए एक आदर्श शिक्षण-विधि तैयार करने के प्रेरणा दी। उन्होंने एक योजना बनाई जो उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हो गई। आज उनका नाम संसार भर में प्रसिद्ध हैं। उन्हें—इतनी अधिक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई कि वे बेल्जियम के 'ड्यूवी' कहलाते हैं। अपनी योजना को चलाने में उन्हें आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा परन्तु यह धनाभाव उनके लिए वरदान सिद्ध हुआ। शिक्षण को

आत्मनिर्भर बनाने के लिए उन्होंने बालकों से ही काम कराने की प्रथा आरंभ की और वही कार्य अन्त में उनकी शिक्षण-विधि के प्रमुख अंग बन गये। उनकी विधि में पूर्ण मौलिकता का अभाव है परन्तु उसकी उपयोगिता, प्रयोगों की कसौटी पर चढ़कर सत्य सिद्ध हो गई है।

डक्रोली विधि को सफल बनाने के लिए, बड़ा ही स्वस्थ वातावरण प्रस्तुत किया जाता है। बालकों में, सामाजिकता, सहयोग और मैत्री भाव जैसे गुण उत्पन्न करने की भरसक चेष्टा की जाती है। उनके शारीरिक और मानसिक विकास पर हर समय नजर रक्खी जाती है। अध्यापक बालकों की व्यक्तिगत भिन्नता का पूरा ध्यान रखते हैं। बालकों की आँगिक क्रियाओं (Motor activity) को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है; क्योंकि यही मानसिक विकास की पहली सीढ़ी है। स्कूल का वातावरण प्राकृतिक होता है और विद्यार्थियों की संख्या भी थोड़ी ही होती है। सह-शिक्षा (Co-education) पर ज़ोर दिया जाता है। स्कूल के कमरों की सजावट, चित्रशाला और प्रयोगशाला की भांति की जाती है। रोशनी, पानी और गर्मी का यथोचित प्रबन्ध होता है। गणित, भाषा की लिखाई और पढ़ाई की शिक्षा प्रातःकाल होती है और शिक्षा का माध्यम 'खेल' होता है। निरीक्षण और तुलना की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। संगीत और चित्रलेखन की शिक्षा प्रातःकाल होती है। कभी-कभी सरस्वती-यात्राओं (Excursions) का भी आयोजन कर दिया जाता है। मछली मारना, घुड़सवारी और और कीड़े-मकोड़ों का संग्रह—जैसे मनोरंजक कार्य बालक करते हैं। विषयों को सरल बनाकर पढ़ाया जाता है और बालकों को उन्हें समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। पाठ्य-विषय का चुनाव भी बालक ही करते हैं। अध्यापक के अतिरिक्त आयु में बड़े विद्यार्थी अपने से छोटों को पढ़ाते हैं।

डेक्रोली विधि की सबसे बड़ी विशेषता है—रुचि-केंद्र (Centre of Interest)। रुचिकेन्द्र का अर्थ यह है कि बालक की एक मुख्य रुचि होती है। ज्यों ज्यों उसका विकास होता जाता है, उसकी रुचि में परिवर्तन होता रहता है। उसकी रुचि कभी एक विषय में होती है, तो कभी दूसरे विषय में। अतः रुचि परिवर्तन को दृष्टि में रखते हुए पढ़ाई के विषय चुन लिए जाते हैं। इसमें लाभ यह होता है कि बालकों की पाठ्य-विषयों में सदैव रुचि बनी रहती है। डेक्रोली ने चार रुचिकेन्द्र निर्धारित किये हैं, जैसे :—

(१) भोजन प्राप्ति, (२) प्राकृतिक तत्व, जैसे गर्मी, शीत और जीवन पर उनका प्रभाव, (३) शत्रुओं से प्राण रक्षा, (४) कोई न कोई काम करने की इच्छा।

क्रम से इन चार रुचिकेन्द्रों के आधार पर चार वर्षों की पढ़ाई की योजना की जाती है। प्रथम रुचिकेन्द्र का पाठ्य-क्रम सरल होता है परन्तु अंतिम और चौथा काफी जटिल होता है। इन रुचि-केन्द्रों के सहारे गणित, भूगोल, भाषा और इतिहास जैसे विषय पढ़ाये जाते हैं। किसी रुचि-केन्द्र को लेकर एक योजना बना ली जाती है। अतः यह देखा गया है कि 'डेक्रोली' और 'प्रोजेक्ट' दोनों विधियों का समन्वय करके सफलता-पूर्वक पढ़ाई की जा सकती है। इस विधि में भी सानुबंध (Correlation) का पूरा ध्यान रक्खा गया है। पढ़ाई का कार्य अध्यापकों और बालकों के सहयोग से होता है। यहाँ नये नये विषय जैसे पशुपालन, सफाई, बागबानी, खेती और अंडों का व्यापार आदि पढ़ाये जाते हैं।

डेक्रोली-विधि काफी लोकप्रिय हो गई। अनेक देशों में डेक्रोली महोदय को आमंत्रित किया गया तथा उनकी विधि को अपनाया गया। इस विधि का सांगोपांग वर्णन एमिली हैमेद (Amelie Hamaide: The Decroly Method) की पुस्तक में देखा जा सकता है।

(११) **रोजर काजिनेट** (Roger Cousinent) **की स्वतंत्रता-विधि**—राजर काजिनेट फ्रांस के निवासी हैं। आपने प्रयोग के तौर पर लड़कियों के स्कूल में, एक कक्षा की सारी लड़कियों को पूरी स्वतंत्रता दे दी। इस स्वतंत्रता के दो मुख्य सूत्र थे—एक तो सबको मिलाकर एक साथ पढ़ाना और दूसरे, इच्छानुसार जब चाहे और जो चाहे पढ़ना। इस कक्षा में दस-ग्यारह वर्ष की लगभग बीस लड़कियाँ थीं। उनके बैठने के लिए मेज-कुसियाँ दे दी गईं और लिखने पढ़ने की सामग्री भी रख दी गई। अध्यापक को दर्जे से हटा दिया गया। पाठ, समय-चक्र और पुस्तक के बंधन भी हटा दिये गये। तब भी आश्चर्य की बात थी कि सभी लड़कियाँ बड़ी लगन के साथ अध्ययन में जुटी हुई देखी गईं। कोई कविता लिख रही थीं, कोई चित्र खींच रही थी, कोई श्याम-पट पर लिख रही थीं, और कोई बड़े मनोयोग से पेड़ सींच रहीं थीं। इस सफलता से प्रोत्साहित होकर रोजर महोदय ने 'पूर्ण स्वतंत्रता विधि' तैयार की। इस विधि के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है:—

"यहाँ पढ़ाई के लिए शिक्षक भाषण नहीं देते। विद्यार्थी को काम पर लगा दिया जाता है। अध्यापक केवल सहायता कर सकता है। बच्चे स्वयं निरीक्षण करते, खोजते, डिजाइन बनाते, वर्णन लिखते तथा वर्गीकरण करते हैं—वे ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से नहीं वरन् सीखने और बुद्धि प्रयोग करने से जो आनन्द उन्हें मिलता है, उसके लिए ऐसा करते हैं। वे रटते नहीं हैं—काम करके दिखाते हैं। जिस तरह स्कूल आने के पहले, वे स्वाभाविक ढंग से सारी क्रियायें करते हैं, उसी प्रकार स्कूल में सारे काम वे पूर्ण स्वतंत्रता के साथ करते हैं। ऐसा करने से, भविष्य में उन्हें प्रयोग करते रहने का अभ्यास हो जाता है क्योंकि वे 'क्रिया' द्वारा सीखते हैं।

"मेरी विधि की श्रेष्ठता इस बात में हैं कि बार-बार के दुहराने

से बालकों और अध्यापकों को जो अरुचि हो जाती है, वह यहाँ पर नहीं होने पाती। एक वर्ष में जो कुछ बालक पढ़ते हैं, उससे भिन्न बातें, दूसरे वर्ष पढ़ाई जाती हैं। इस विधि से सदैव नवीनता बनी रहती है। काम में क्रम, विभिन्नता और मनोरंजकता का ध्यान रक्खा जाता है।·········पूरी स्वतंत्रता रहते हुए भी, विचित्रता यह है कि पुराने ढंग के स्कूलों में जो भी विषय पढ़ाये जाते हैं, वही सभी यहाँ के बालक आसानी से पढ़ लेते हैं। पर्यवेक्षण के लिए बालकों को पूरी स्वतंत्रता है। यदि एक विषय की पढ़ाई, एक वर्ष में पूरी नहीं होती, तो अधिक समय दिया जाता है। असली बात ध्यान देने की यह है कि बालक ने अच्छी तरह कितना सीखा।"

काज़िनेट की विधि में शिक्षक चुपचाप आलसी बनकर नहीं बैठ जाता। पहले वर्ष में वह बालकों से पढ़ाई की सामग्री इकट्ठा कराता है और बाद में पर्यवेक्षण का अच्छी तरह अभ्यास कराता है। बालक उत्सुकता पूर्वक सारी पाठ्य-सामग्री, जैसे जीवित या मुर्दा, जीव आदि, एकत्रित कर लेते हैं। उस सामग्री का वर्गीकरण [Classification] करना भी उन्हें बताया जाता है। इसके बाद समन्वय (Synthesis) की शिक्षा दी जाती है। इसे रोजर महोदय ने "सामाजिक आत्मशिक्षा" (Social auto education) की संज्ञा दी है।

सन् १९२९ में रोजर काज़िनेट ने 'नवीन शिक्षा के अखिल विश्व सम्मेलन' में भाषण देते हुए बताया कि इस विधि द्वारा अनेक विषय जैसे, ड्राइंग, सीना, अभिनय, बागबानी, लिखना-पढ़ना, विज्ञान, इतिहास और गणित आदि पढ़ाये जा चुके हैं। उनका कहना है कि इस विधि द्वारा ९ से १२ वर्ष तक के बालकों को शिक्षा दी जा सकती है क्योंकि इसी आयु में बालकों की सामाजिक प्रवृत्ति प्रबल

होती है। इस विधि द्वारा पढ़ाने से बालक-बालिकाओं में श्रम-विभाजन, नेतृत्व, सहयोग और स्नेह जैसे गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

(१२) **बरथोल्ड ओट्टो** (Berthold Otto) **की समन्वित शिक्षण-विधि** (Integrat‹d Instruction)—सन् १९०६ में बर्लिन के निकट ओट्टो ने एक नये प्रकार का स्कूल खोला। यहाँ जिस विधि से पढ़ाई की जाती थी, उसका मुख्य उद्देश्य बालक के जीवन का संगठित (Organic) विकास है। ओट्टो महोदय, फ्रोबेल और रूसो के विचारों से प्रभावित हुए। रूसो की भाँति उन्होंने भी अध्यापक और शिष्य के बीच पिता-पुत्र के स्नेह संबंध की आवश्यकता बताई। बालकों की जिज्ञासा और उत्सुकता का हर प्रकार ध्यान रखना आवश्यक है। उन्होंने बताया कि प्रारंभ से ही लिखने-पढ़ने की शिक्षा देने लगना हानिकारक है। बालकों की दैनिक आवश्यकताओं से संबंध रखनेवाले शब्द चुन लेना चाहिए और उन्हीं के सहारे प्रश्नोत्तर कराते हुए बालकों को भाषा का ज्ञान करा देना चाहिए। एक बालक प्रश्न करता है और अन्य बालक या अध्यापक उत्तर देते हैं।

ओट्टो की विधि की सबसे बड़ी विशेषता है—समन्वित शिक्षण। इसका अर्थ है—स्कूल के बाहर अच्छे मौसम में लगभग ५० या ८० बालकों का एक सम्मेलन (जिनकी आयु ६ से १९ वर्ष तक हो)। सम्मेलन में नियम या शिष्टाचार का कोई बन्धन नहीं होता। लड़के-लड़कियाँ एक घेरा बना कर बैठ जाते हैं और अध्यापक बीच में बैठता है। ऐसा जान पड़ता है मानो सब साथी हों। सब लोग आपस में मिलकर बातें करते हैं, जिसका जी चाहे, घूमे; जिसका जी चाहे, पढ़े। लड़कियाँ बुनाई का काम करती रहती हैं। इस सम्मेलन का एक उद्देश्य पहले से निश्चित कर दिया जाता है, जैसे मछली मारना, या शिकार खेलना, या कोई खेल। जब सब लोग बैठकर

बातें करते होते हैं, स्वाभाविक तौर से पाठ्य-विषयों के संबंध में कोई चर्चा चल पड़ती है। बस, यहीं पर अध्यापक को शिक्षण का सूत्र मिल जाता है। उसी विषय से संबंधित लेख भी बालकों द्वारा पढ़े जा सकते हैं। बालक प्रश्न करते हैं और अध्यापक उत्तर देता है। कभी-कभी ऊँची कक्षा के विद्यार्थी, छोटे बालकों के प्रश्नों का उत्तर देते हैं। शिक्षण की यह विधि इतनी स्वाभाविक है कि बालकों को यह पता ही नहीं चल पाता कि पढ़ाई हो रही है। वे आदि से अंत तक सम्मेलन को साधारण खेल समझते हैं परन्तु वास्तव में वह शिक्षा का उत्तम साधन होता है। प्रति सप्ताह, दो या तीन बार ऐसे सम्मेलन किये जाते हैं। वर्ष के अंत में, हिसाब लगाने पर पता चल जाता है कि सारे विषय पढ़ाये जा चुके हैं।

इस प्रकार का सम्मेलन स्कूल भर के सारे विद्यार्थियों को मिलाकर किया जा सकता है। हर एक कक्षा अपना अलग सम्मेलन कर सकती है। ओट्टो ने स्कूल को चार श्रेणियों में विभाजित कर दिया है—जैसे प्रारंभिक, प्राथमिक, अंतरिम और उच्च। प्रत्येक श्रेणी के बालक अपना अलग सम्मेलन कर सकते हैं।

नागरिक शास्त्र, जैसे विषय को पढ़ाने के लिए ओट्टो ने अपनी शिक्षण विधि को बहुत व्यावहारिक बना दिया है। उन्होंने स्कूल में एक न्यायालय की स्थापना की, जिसके द्वारा अनुशासन भंग तथा दूसरे अपराधों का निर्णय किया जाता है। न्यायालय के प्रधान तथा उसके सहायकों का चुनाव होता है। इस विधि से बालकों को प्रजातांत्रिक शासन का पूरा ज्ञान हो जाता है।

(१३) **लुडविग गुरलिट्** (Ludwig Gurlitt) **का स्कूल**—लुडविग आस्ट्रिया के निवासी हैं। आप बचपन से अध्ययनशील थे। आपने अध्यापन कार्य आरम्भ किया और भाषा की शिक्षण-विधि पर

कई प्रयोग किये। आपके विचारों पर प्रगतिशील शिक्षा आंदोलन का व्यापक प्रभाव पड़ा। वे प्राचीन शिक्षण पद्धति के विरोधी बन गये। अन्त में आपने भी एक नये प्रकार का स्कूल खोला, जिसमें विचारात्मक विषयों के आधार पर अनुभव-प्रधान विषयों के पढ़ाने का कार्यक्रम आपने प्रस्तुत किया। इनकी विधि में शारीरिक व्यायाम पर बड़ा जोर दिया गया है।

(१४) **स्टेनलिसलास शैटस्की** (Stanlislas shaltsky) **का स्कूल**—शैटस्की एक प्रसिद्ध रूसी शिक्षा शास्त्री हैं। रूसी क्रांति ने आपको विज्ञान से शिक्षा की ओर मोड़ दिया। इनके विचारों पर टालसटाय का व्यापक प्रभाव पड़ा। शिक्षा विधि में आप ड्यूवी के अनुयायी जान पड़ते हैं। शिक्षण में आपने प्रयोगात्मक तौर पर, गृहविज्ञान और कृषि को साधन के रूप में प्रयुक्त किया। स्कूल में किंडरगार्टेन, वर्कशाप और बालक-श्रमिकों की बस्ती का प्रबन्ध है। इस स्थान पर रूसी जीवन के दर्शन होते हैं। प्रगतिशील शिक्षा के समस्त आदर्श, जैसे बालकों की स्वतन्त्रता, खेलों का प्रबन्ध और प्रोजेक्ट आदि यहाँ देखने को मिलते हैं।

(१५) **इङ्गलैंड में होनेवाले प्रयोग—(क) ऐबटशोल्म** (Abbotsholme)—सेसील रेड्डी (Cecil Raddie) ने डर्बीशायर इङ्गलैंड में यह एक नये प्रकार का स्कूल चलाया, जहाँ बालकों को व्यावहारिक अनुभव कराया जाता है। यहां साक्रेटीज की प्रश्नोतर विधि का प्रयोग किया जाता है। खेती, मजदूरी और व्यापार की समस्याओं के बारे में बालक बिचार विमर्श करके ज्ञान प्राप्त करते हैं।

(ख) **बिडेल्स** (Bedales)—यह स्कूल जाँन हेडेन बैडले द्वारा स्थापित किया गया है। यहाँ चार बर्ष से लेकर उन्नीस बर्ष तक के बालक और बालिकायें एक साथ पढ़ती हैं। बैडले महोदय सहशिक्षा

को आवश्यक और लाभप्रद समझते हैं। यह स्कूल उन्होंने पेटर्सफील्ड नामक स्थान में १५० एकड़ भूमि के बीच में स्थापित किया। यहाँ बाग, बगीचे, जङ्गल आदि के स्वाभाविक दृश्य पाये जाते हैं। बालकों के सर्वांगीण विकास पर जोर दिया जाता है। प्रतियोगिता से बालकों को बचाने के लिए, नम्बर, इनाम और मेडेल आदि की प्रथा को हटा दिया गया है। इस स्कूल के दो विभाग है—अपर और जूनियर। स्कूल के प्रबन्ध में उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी भाग ले सकते हैं। इससे उन्हें प्रजातान्त्रिक सिद्धांतों की शिक्षा मिलती है।

(१६) **एडमंड डेमोलिस का इकोले दा रोचेस** (Ecole des Roches)—यह स्कूल फ्रांस के निवासी एडमंड डेमोलिस Edmond Demolis) ने स्थापित किया है। यह बोर्डिङ्ग स्कूल है। यहाँ पर दान और दया के कार्यों (Charity) की प्रधानता है। यहाँ के विद्यार्थी आसपास के दीन-दुखियों की सहायता करते हैं। उनके लिए कपड़ों और दवा आदि का प्रबन्ध करना उनका मुख्य कर्तव्य माना जाता है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की क्रियाओं जैसे, खेल, मनोरंजन, पिकनिक, पढ़ाई, पत्रिका और दस्तकारी आदि के सिखाने का भी यहाँ प्रबंध है। हर प्रकार के कार्य का संचालन एक विद्यार्थी करता है। उसे कैप्टेन कहते हैं। कप्टेन का चुनाव बालकों द्वारा कराया जाता है।

(१७) **विन्नेटका योजना** (Winnetka Plan)—इस योजना के प्रणेता डॉ० करलेटन वाशबर्न (Dr. Carleton Washburne) हैं। उन्होंने डाल्टन विधि से मिलती-जुलती, यह नयी योजना चलाई। व्यक्तिगत शिक्षण, इस योजना की प्रमुख विशेषता है। साथ ही सामाजिक कार्यों का भी इसमें समावेश है। इस योजना की चार मुख्य मान्यताएँ हैं:—

(१) व्यक्तिगत भेदों का ध्यान रखते हुए बालकों की योग्यता-ओं तथा रुचियों के विकास का अवसर दिया जाय।

(२) पाठशाला का वातावरण इस प्रकार का हो जिसमें बालकों को आन्तरिक एवं वाह्य अनुकूलन (Adjustment) का पूर्ण अवसर मिले। तभी वे सन्तोषप्रद एवं संतुलित जीवन बिता सकेंगे।

(३) आत्माभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जाय।

(४) व्यक्ति समाज का अंग है। समाज में सफलतापूर्वक निर्वाह करने के लिए आवश्यक है कि उसे ज्ञान और कौशल प्राप्त हो। उसे लिखना, पढ़ना, तथा हिसाब आता हो और वह समाज में घुलमिल कर रह सके।

योजना का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है :—

(क) शब्दों का लिखना—इस योजना में पहला कदम शब्दों को सही लिखने का अभ्यास कराना है। एक वर्ष में जितने भी शब्दों को पढ़ाना होता है, उनकी सूची पहले से तैयार कर ली जाती है। वह सूची बालकों को दे दी जाती है और उनसे कहा जाता है कि ज्ञात शब्दों पर निशान लगा दें। प्राय: उस सूची में आधे से अधिक ऐसे शब्द होते हैं, जिन्हें बालक जानते हैं। उन्हें ठीक से लिख भी लेते हैं क्योंकि बालक अपने दैनिक जीवन में उनका व्यवहार करते हैं। कमज़ोर से कमज़ोर बालक भी दस या बारह प्रतिशत शब्दों की ज़ानकारी रखता है। इस प्रकार लगे हुए निशानों की सहायता से अध्यापक प्रत्येक बालक के शब्द-भांडार का पता लगा लेता है और जो शब्द उसे नहीं आते, उन पर निशान लगा लेता है। फिर इन्हीं शब्दों को अध्यापक उस बालक को याद कराता है। बालक को इस बात की स्वतंत्रता अवश्य दी जाती है कि वह जब चाहे, उन्हें याद करे।

(ख) पढ़ने की शिक्षा—एक कक्षा में सभी तरह के बालक होते हैं—कुछ पढ़ने में, तेज़ और कुछ कमज़ोर होते हैं। इसलिए वर्ष के प्रारम्भ में परीक्षा (Test) द्वारा प्रत्येक बालक की पढ़ने की योग्यता का अनुमान लगा लिया जाता है और उसकी योग्यता के अनुसार पाठ्य-पुस्तक निश्चित कर दी जाती है। इस प्रकार कक्षा के विद्यार्थियों के लिए एक पाठ्य-पुस्तक नहीं निश्चित रहती, वरन् अनेक पाठ्य-पुस्तकें रहती हैं। अध्यापक एक समय में केवल एक विद्यार्थी से पढ़वाता है और उसकी कठिनाई दूर करता है।

(ग) अन्य विषय—शब्दों के सीखने और पढ़ने का अभ्यास हो जाने पर गणित, इतिहास और भूगोल जैसे विषय पढ़ाये जाते हैं परन्तु उन सबमें पढ़ाते समय प्रत्येक बालक की योग्यता के अनुसार पाठों का चुनाव किया जाता है।

(घ) कार्य तथा लक्ष्य—(Tasks and Goals) डाल्टन योजना में प्रत्येक बालक को एक मास का ठेका लेना पड़ता है और जब तक वह उसे पूरा नहीं कर लेता, उसे आगे बढ़ने की आज्ञा नहीं दी जाती। विन्नेटका योजना में ठेके का बन्धन नहीं है। एक तेज विद्यार्थी अपनी कक्षा के अन्य विद्यार्थियों से एक विषय में छः महीने आगे हो सकता है दूसरे विषय में दो वर्ष आगे हो सकता है। यहाँ प्रत्येक विषय कई टुकड़ों में जिन्हें 'कार्य' (Task) कहते हैं, बँटा रहता है। अध्यापक कार्य को पूरा करने के लिए, बालक को कुछ संकेत या आदेश (Instructions) दे देता है। उस कार्य के पूरे होने या आधा समाप्त कर लेने पर, बालक स्वयं अपनी प्रगति का अनुमान कर सकता है।

(ङ) असफलता का अभाव—इस विन्नेटका योजना के अन्तर्गत बालक कभी भी असफल नहीं होते। जब तक उनका काम पूरा न

हो, आगे नहीं जाने देते। ज्योंही काम पूरा हो जाता है, बालक को आगे बढ़ने का मौका दे दिया जाता है। न तो वह कभी असफल होता है और न बिना परिश्रम के उसे आगे बढ़ने दिया जाता है।

(च) सामूहिक कार्य—इस योजना के अन्तर्गत प्रातःकाल और संध्या का आधा समय तो पढ़ने के लिये और आधा सामूहिक कार्यों के लिए सुरक्षित रख लिया जाता है। इन सामूहिक कार्यों की संख्या काफी है, जैसे खेल, सभायें, स्वशासन, पत्रिका, सरस्वती यात्रायें, शापवर्क, संगीत और कला प्रदर्शनी आदि। इनका उद्देश्य बालकों में सहयोग और मैत्रीभाव की अभिवृद्धि करना है।[1]

योजना का संचालन—

(१) पाठ्य-क्रम का प्रबन्ध—पाठ्यक्रम के आयोजन में इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि बालक अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करें। प्राचीन ढंग के स्कूलों की भाँति यह नहीं निश्चित किया जाता कि अमुक पाठ को इतने समय में याद कर ही लेना चाहिए। एक विषय को कई टुकडों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक टुकड़े पर भली भाँति अधिकार हो जाने पर ही बालक को आगे बढ़ने देते हैं।

पाठ्यक्रम का दो वर्गों में विभाजन किया जाता हैं। (क) वैयक्तिक विषय (Individualised Studies) के अन्तर्गत वे विषय आ जाते हैं, जिनके अध्ययन से बालकों की व्यक्तिगत क्षमता बढ़ती है, जैसे भाषा, गणित, इतिहास और भूगोल आदि। (ख) सामूहिक विषय (Socialised studies) जिसके अन्तर्गत ऐसे विषय आते हैं,

---

1. Adapting the Schools to Individual Differences, p. 77-82, National Society for the Study of Education, 24th Year Book.

जिन्हें सामाजिक पृष्ठभूमि में ही पढ़ा जा सकता है, जैसे कला, संगीत आदि ।

(२) पाठशाला का कार्य-विभाजन—पाठशाला का कार्य, दो भागों में विभाजित है । एक, विषयों का अध्ययन और दूसरे सामाजिक तथा रचनात्मक कार्य, जैसे भाषण, वाद-विवाद, कला, संगीत, अभिनय, खेलकूद, स्वशासन संस्थाएँ, पत्रिका प्रकाशन, विज्ञान के प्रोजेक्ट आदि । पाठशाला प्रातः से १०-११ बजे तक और अपरान्ह २ से ५ बजे तक लगती है । प्रातः पढ़ाई और सायं सामूहिक कार्य होते हैं ।

(३) परीक्षा का प्रबन्ध—विन्नेटका योजना में परीक्षा का उद्देश्य कक्षोन्नति ही नहीं है वरन् इसका उद्देश्य बालकों की योग्यताओं तथा उनकी कठिनाइयों की जाँच करना है । इसलिए यहाँ प्रश्न-पत्र विशेष प्रकार से तैयार किये जाते हैं । एक ही पाठ्य-इकाई (Unit) पर अनेक प्रश्न बड़ी संख्या में तैयार करते हैं और कभी तो उस इकाई पर पाँच-सात प्रश्न-पत्र विभिन्न दृष्टिकोणों से तैयार करके बालकों को दिये जाते हैं । फल यह होता है कि बालक के अध्ययन की त्रुटियों का सहज ही पता चल जाता है । कभी ऐसा भी होता है कि एक बालक को एक प्रकार का प्रश्न-पत्र तो दूसरे को दूसरे प्रकार का प्रश्न-पत्र दिया जाता है । साथ ही लाभ यह होता है कि बालक का अभ्यास भी बढ़ जाता है । संक्षेप में यह परीक्षा निदानात्मक होती है ।

(४) स्वाध्याय और स्वसंशोधन की सुविधा – इस योजना में बालकों को स्वाध्यायी बनाने के लिए अध्यापक हर प्रकार से निर्देश दिया करते हैं । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई अध्यापक एक साथ बैठ कर परामर्श कर लेते हैं और पुस्तकें निश्चित करते हैं । इसी दृष्टि से तैयार की हुई पुस्तकें भी प्रकाशित कराई जाती हैं । निर्देशों को छाप करके कक्षा में बाँट देते हैं और बालक उन्हीं के अनुसार कार्य करते हैं ।

(५) *अध्यापक का कार्य*—इस योजना में अध्यापक केवल निर्देश देना या परीक्षा लेना ही नहीं जानना वरन् वह अपने-अपने विद्यार्थियों का सच्चा पथ-प्रदर्शक भी होता है। वह हर समय उन्हें प्रेरणा देता रहता है। इस कार्य के लिए उसे प्रतिक्षण विद्यार्थियों से सम्पर्क बनाए रखना पड़ता है। जहाँ उन्हें कठिनाई का अनुभव होता है, वहीं वह आगे बढ़ कर उनकी सहायता करता है। इस योजना में गृहकार्य या श्यामपट कार्य नहीं होता। कापियों के जाँचने में जो समय अध्यापक प्राय: लगाते हैं, वही समय इस योजना के अध्यापक प्रश्न-पत्रों को तैयार करने में लगाते हैं।

(१८) **प्लाटून स्कूल आन्दोलन** (Platoon School Movement) **अथवा गैरी योजना**—संयुक्तराज्य अमेरिका के इंडियाना नामक प्रांत में, गैरी नामक स्थान पर सन् १९०६ के लगभग घनी बस्ती बस गयी। यहाँ लोहे के कारखानें खुलने के कारण, देश-विदेश से अनेक व्यक्ति आकर बस गये। यहाँ उन्नति होने लगी और शीघ्र ही यहाँ के निवासियों का ध्यान शिक्षा की ओर जाने लगा। सन् १९०८ में विलियम वर्ट (William A. Wirt) यहाँ के सुपरिन्टेडेन्ट नियुक्त हुए। आप प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हैं। आपका विचार है कि बालकों की शिक्षा में केवल बौद्धिक, वरन् शारीरिक, श्रम सम्बन्धी, वैज्ञानिक और कलात्मक विषयों का समावेश ही नहीं होना चाहिये। इसलिए स्कूल में खेल के मैदान, बाग, तैरने का तालाब, प्रयोगशाला, मशीन शाप और स्टूडियो आदि की व्यवस्था की जाती है! वर्ट महोदय ने पढ़ाई में चार प्रकार की क्रियाओं का होना आवश्यक बताया है; (१) खेल और व्यायाम, (२) कारखाना और प्रयोग-शाला के कार्य; (३) सामाजिक तथा रचनात्मक कार्य; (४) विद्वत्तावाले उच्च विषय। वर्ट महोदय 'क्रिया' द्वारा शिक्षा देने के पक्षपाती हैं। स्कूल के लिये भव्य भवन और स्थिर कुर्सियों को उन्होंने

अनावश्यक बताया है। उनका विचार है कि शिक्षा आयोजित (Planned) होनी चाहिए । गैरी योजना में तीन बातों का मुख्य रूप से ध्यान रक्खा गया है :—

(१) **उद्योग-कुशलता**—जिस प्रकार कल-कारखानों से अधिक से अधिक लाभ उठाने के चेष्टा की जाती है, मिलों की मशीनों को अधिक से अधिक प्रयोग करने के लिए पाली (Shift) की प्रथा चालू की गयी है, उसी प्रकार इस योजना में स्कूल भवन से अधिक से अधिक लाभ उठाने पर जोर दिया गया है ।

(२) **क्रियाशीलता**—बालकों के हृदय, मस्तिष्क एवं शरीर के विकास के लिए यहाँ अनेक प्रकार की क्रियाओं को स्थान दिया गया है । वे हैं, खेलकूद, शिकार, पर्वतारोहण आदि ।

(३) **सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास**—बालकों की व्यक्तिगत शक्तियों का सामाजिक आवश्यताओं से सामंजस्य स्थापित करने का पूरा प्रयत्न किया जाता है। इसलिए यहाँ का पाठ्य-क्रम संतुलित होआ है ।

प्लाटून स्कूल-विधि की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

(क) बहुमुखी प्रयोग (Multiple Use) *का सिद्धान्त*—इसका अथ है, एक वस्तु का अनेक बालकों द्वारा प्रयोग। यहाँ एक कुर्सी या मेज़ किसी एक बालक के लिए या एक कमरा किसी एक कक्षा के लिए सुरक्षित नहीं है । प्लाटून स्कूल में कक्षाओं के स्थान पर बालकों का विभाजन दलों (Platoons) में कर दिया जाता है । जब एक दल कमरे में पढ़ता है, तो दूसरा दल बाग़ में काम करता है, नीसरा वर्कशाप में काम सीखता है । इस प्रकार एक कमरे, या बाग या वर्कशाप का प्रयोग, तीन कक्षायें विभिन्न समयों पर कर सकती हैं। इस विधि से स्कूल में स्थानाभाव को दूर करने में बड़ी सहायता मिली

है और जो कुछ स्थान या भवन है उसका अधिक से अधिक प्रयोग इस विधि द्वारा कर सकना सम्भव है।

(ख) संतुलित भार (Balanced load) *का सिद्धान्त*—इसका अर्थ है अध्यापकों की कार्य क्षमता बढ़ाने के लिए कम से कम समय तक काम करने का आयोजन। दूसरी ओर स्कूल का समय काफी बढ़ा दिया जाता है। स्कूल में, प्रायःकाल ८।। बजे से लेकर संध्या को ५ बजे तक पढ़ाई होती है। बीच में केवल एक घंटे के लिए भोजन करने की छुट्टी होती है। स्कूल के इस दीर्घकाल में किसी अध्यापक को आदि से अन्त तक नहीं ठहरना पड़ता। कुछ अध्यापक ८।। बजे आते हैं और चार घण्टे काम करके चले जाते हैं; दूसरे अध्यापक १० बजे आते हैं और चार घण्टे के बाद चले जाते हैं। इस प्रकार सबके काम करने का समय नियत है। इस प्रबन्ध से अध्यापकों पर ज्यादा बोझ नहीं पड़ता। हाँ, बालकों को स्कूल में अवश्य ८ घण्टे रहना पड़ता है परन्तु इतने समय में उनकी पढ़ाई, खेल, मनोरंजन तथा अन्य कार्य हो जाते हैं। अधिक समय तक स्कूल में रहने के कारण, सबसे बड़ा लाभ यह होता है, कि बालक शहर के दूषित वाता-वरण के कुप्रभाव से बचे रहते हैं। उधर अध्यापकों को, अधिक परिश्रम न करने से, अध्यापन कार्य में विशेष रुचि प्राप्त होती है। वे सच्चे मन और लगन के साथ काम करते हैं। स्कूल का काम अध्यापकों की संख्या बढ़ाकर पूरा किया जाता है। यहाँ तक कि स्कूल, इतवार तथा अन्य छुट्टियों के दिन भी चालू रहता है। यद्यपि बालकों को, छुट्टियों के दिन आने के लिए मजबूर नहीं किया जाता परन्तु स्कूल का कार्यक्रम इतना रोचक और आनन्ददायक होता है कि अधि-तर बालक बहुत बड़ी संख्या में छुट्टी के दिन भी चले आते हैं। प्लाटून स्कूल इस प्रकार वर्ष भर खुला रहता है। (देखिये Wirt : A School year of Twelve Months)

(ग) सर्वांगीणता—गैरी या प्लाटून स्कूल में हर प्रकार की क्रियाओं का समावेश रहता है, इसलिए इसे 'पूर्णस्कूल' (Complete School) कहते हैं। यहाँ किंडरगार्टेन से लेकर उच्च कक्षाओं तक की शिक्षा दी जाती है। इसका उद्देश्य संघटित शिक्षा है।

(घ) सामाजिकता—प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री ड्यूवी सामाजिक शिक्षा सिद्धांतों का व्यवहार यहाँ भली भाँति किया जाता है। समस्त स्कूल को एक संघटित समाज का रूप देने की चेष्टा की जाती है। इसके लिये यहाँ 'योजना विधि' का प्रयोग समय-समय पर किया जाता है।

(ङ) शिक्षक—इस स्कूल में शिक्षकों की नियुक्ति में एक विचित्रता है। यहाँ प्रशिक्षण (Training) पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। दस्तकारी और मशीन का काम सिखाने के लिये निपुण और सिद्धहस्त कारीगर नौकर रख लिये जाते हैं। वही लोग कारखाने में काम करते हैं और बालक उनके साथ सीखते हैं। वे लोग प्रत्येक क्रिया को व्यावहारिक ढंग से करके बताते और सिखाते हैं। ज़बानी पढ़ाई का बहिष्कार कर दिया गया है। इसलिये इस योजना को 'कार्य और अध्ययन व्यवस्था' भी कहते हैं।

गैरी योजना की विशेषताएं—

(१) गैरी योजना में किंडरगार्टेन स्तर के बालकों तथा माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के पढ़ने का एक साथ आयोजन है और इसका प्रबंध एक ही प्रधानाध्यापक के आधीन होता है। (२) मंद बालकों की शिक्षा के लिए एक विशेष अध्यापक नियुक्त होता है। (३) बालक-बालिकाओं को पढ़ने में एक प्रकार की सुविधा दी जाती है। (४) शाला में छुट्टियाँ लगभग नहीं के बराबर होती हैं। (५) यहां की व्यवस्था प्रजातांत्रिक होती है। अतः यहाँ का

वातावरण उल्लासपूर्ण होता है । (६) विद्यार्थियों की संख्या अधिक होती है परन्तु व्यवस्था में कहीं भी अनुशासन का अभाव नहीं दिखाई देता। दोषों को दूर करने के लिए विशेष अध्यापक नियुक्त होते हैं ।[1]

(१९) **बटेविया विधि** (Batavia System)—

प्राचीन शिक्षण-विधि से ऊब कर, अमरीकी शिक्षाचार्यों ने इस विधि की भी रचना की है। यों तो इसे 'समूह-व्यक्ति-शिक्षण' (Class-Individual Instruction) के नाम से पुकारा जाता है परन्तु वास्तव में यह बटेविया विधि के नाम से प्रसिद्ध है । इस विधि की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें कक्षा-शिक्षण को सुरक्षित रखते हुए विद्यार्थियों की व्यक्तिगत देख रेख भी की जाती है । इस प्रकार कक्षा-शिक्षण की अच्छाइयों ओर व्यक्तिगत शिक्षण के गुणों का समन्वय करके, यह विधि तैयार की गयी है ।

बटेविया-प्रणाली के चलाने का श्रेय जॉन केनेडी (John Kennedy) को है। केनेडी महोदय, न्यूर्याक राज्य के एक छोटे-से नगर बटेविया में राजकीय स्कूलों के निरीक्षण विभाग के अध्यक्ष थे। संयोगवश यह विधि बटेविया में चालू की गयी । बात यह थी कि स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ रही थी । एक-एक कक्षा में ६०-७० विद्यार्थी थे। अतः यह आवश्यक था कि अध्यापकों की संख्या बढ़ाई जाती । यह कार्य सरल था परन्तु नये कमरे बनवाने के लिए धन संग्रह करना कठिन था । शिक्षण-क्षमता बढ़ाने के उद्देश्य से केनेडी ने यह सुझाव दिया कि प्रत्येक कक्षा के लिए दो अध्यापक नियुक्त कर दिये जाँय । एक विद्यार्थियों को सामूहिक ढंग से पढ़ाये और दूसरा उनकी व्यक्तिगत कठिनाइयों को दूर करे । इस प्रथा से बड़ा लाभ हुआ और सारे बटेविया नगर में इस

---

१. आत्मानन्द मिश्र : शिक्षणकला, अध्याय १९, पृष्ठ ३३२ ।

व्यवस्था को चालू कर दिया गया। इस विधि का विस्तृत वर्णन निम्नलिखित है:—

प्रत्येक कक्षा के लिए दो अध्यापक नियुक्त होते हैं। एक को आम अध्यापक (General Teacher) और दूसरे को खास अध्यापक (Special Teacher) कहते हैं। आम अध्यापक सब बालकों को एक साथ कक्षा में हरबार्ट की विधि द्वारा पढ़ाता है। खास अध्यापक प्रत्येक बालक से सम्पर्क स्थापित करता है और उसकी कठिनाइयों और समस्याओं की जानकारी प्राप्त करता है। साथ वह प्रत्येक बालक को सुझाव और सहायता भी देता है। खास अध्यापक का कार्य कठिन है बालक अपनी कठिनाइयाँ स्वयं नहीं बताते; अध्यापक का कर्तव्य है कि वह बालक की समस्याओं का अध्ययन करे और पता लगावे। वह हर समय बालक के स्वभाव का अध्ययन करता रहता है और आवश्यकतानुसार सहायता भी करता है। प्रत्यक्ष सहायता और सुझाव देना मना है। बालकों में जहाँ तक सम्भव हो स्वावलंबन का भाव उत्पन्न किया जाता है।[1]

अमरीका में एक अध्यापकवाली कक्षाओं (One-teacher class) में यह विधि चालू की गयी परन्तु इंगलैंड में कुछ रूपांतर के साथ इस विधि का प्रयोग किया गया है। वहाँ प्रत्येक कक्षा को दो दलों में बांट देते हैं। जिस समय एक दल आम अध्यापक से भाषण सुनता है, दूसरा दल खास अध्यापक के साथ एकांत अध्ययन (Private study) में लगा रहता है; इस दूसरे दल के बालक एक-एक करके खास अध्यापक के पास जाते हैं और उसी प्रकार पढ़ते हैं जैसे भारतीय घरों में बालक संध्या के समय 'ट्यूटर' से पढ़ते हैं। इस एकांत अध्ययन से कई लाभ होते हैं। बालक और

---

1. Bagley., W. C.: Classroom Management, its Principles and Practice, chap. XIV, pp. 216, 217.

अध्यापक के बीच घनिष्ठता उत्पन्न हो जाती है। बालकों का यह समय बड़े लाभदायक कार्य में लगता है। उनके पढ़ने की योजना इसी समय तैयार होती है; फलतः कक्षा में होने वाले पाठ से उन्हें अधिक लाभ मिलता है। एकान्त अध्ययन के लिए जिस प्रकार की पुस्तकों की आवश्यकता होती है, वे बाजार में नहीं मिल सकतीं। इसलिए खास अध्यापक साइक्लोस्टाइल से पर्चे छाप कर, जिनमें उसके आदेश लिखे होते हैं, बालकों में वितरित कर देता है। इसके बाद यह दल आम अध्यापक के पास पाठ पढ़ने चला जाता है। गणित, भाषा, भूगोल, इतिहास और विज्ञान, सभी विषय इसी विधि से पढ़ाये जाते हैं।

बटेविया विधि में समय-चक्र (Time Table) भी नये ढंग का होता है। एकांत अध्ययन के घंटे छोटे होते हैं क्योंकि इनमें बालकों को कड़ा मानसिक श्रम करना पड़ता है। यदि यह घंटे बड़े रक्खे जाँय तो उनका मन पढ़ाई से ऊब जायगा और काम में मन न लगाने की आदत पड़ जायगी। कभी-कभी एकांत अध्ययन के घंटों के बाद थोड़ा सा विश्राम का समय निकाल दिया जाता है। इससे विद्यार्थी और अध्यापक दोनों को स्फूर्ति मिलती है।

बटेविया-विधि में बालकों को ऐसी स्वतंत्रता नहीं दी जाती कि वे उच्छृंखल बन जाँय। परीक्षा-प्रणाली इतनी सख्त होती है कि कमजोर विद्यार्थी, सरलता से उत्तीर्ण नहीं हो पाते। प्रश्न-पत्र बहुत सोच-समझ कर तैयार किये जाते हैं। मुख्य विषयों के तैयार करने में, इसलिए, विद्यार्थी कठोर परिश्रम करते हैं।

बटेविया-विधि को सफल बनाने के लिए केनेडी महोदय ने कई सुझाये दिये हैं। (१) पाठ पढ़ाने से पहले विद्यार्थी को उसके बारे में व्यक्तिगत-शिक्षण न दिया जाय। (२) जहाँ तक हो विद्यार्थी

को आत्मनिर्भर रहना बताया जाय। अपनी ओर से उसे बताना, उसमें काहिलीपन उत्पन्न करना है। (३) इस विधि का उद्देश्य पर्वतों को नष्ट करके समतल बनाना नहीं है, वरन् विद्यार्थियों को पर्वतारोही बनाना है।[1]

स्मिसर महोदय[2] ने भी इस विधि को सफल बनाने के कई उपाय बताए हैं, यथा (१) विधि के सिद्धान्तों के अनुसार व्यवहार करना उचित है। (२) गृहकार्य के लिए निश्चित आदेश, काम पूरा करने की विधि आदि ठीक से बताना चाहिए। (३) विद्यार्थी को केवल सिद्धान्त बताना चाहिए, स्वयं हल नहीं देना चाहिए। (४) विद्यार्थियों को व्यक्तिगत सहायता के समय उनकी विशेषताओं, तथा अपनी सहायता के स्वरूप आदि के बारे में टिप्पणी लिखते रहना चाहिए। (५) अनुपस्थित रहनेवाले बालकों की ओर खास ध्यान देना उचित है। (६) व्यक्तिगत शिक्षण के घंटे में, आसानी से जितने बालकों की सहायता संभव हो करना चाहिए। शीघ्रता से काम लेना ठीक नहीं। (७) इस विधि का प्रयोग अपनी आवश्यकता के अनुसार अध्यापक करे।

बटेविया विधि में समूह-शिक्षण और व्यक्ति शिक्षण-दोनों के गुण पाये जाते हैं। बालकों में सामाजिक गुणों की अभिवृद्धि होती है और उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास भी हो जाता है। यदि अध्यापक कुशल है, तो इस विधि से पढ़ाई का परिणाम उत्तम होता है। यहाँ विद्यार्थी के पिछड़ने (Backwardness) की समस्या उत्पन्न नहीं होती क्योंकि ज्योंही विद्यार्थी पढ़ाई में पिछड़ने लगता है, अध्या-

---

1. Kennedy, J. : Educational work, vol II, p. 49.
2. Smyser, S. : Batavia Plan Circular, printed in Educational Work. 1906, p. 60.

पक उसकी कठिनाइयों को दूर कर देता है और व्यक्तिगत देखरेख तथा एकांत अध्ययन द्वारा कर उसे सामान्य स्तर पर ले आता है।[1] बटेवियाँ-विधि की सफलता का प्रमाण यह है कि विद्यार्थियों की उपस्थिति ठीक रहती है। वे कक्षाओं से नहीं भागते क्योंकि प्रत्येक बालक को उसकी आवश्यकतानुसार सहायता मिलती है। अध्यापक और विद्यार्थियों, दोनों को संतोष रहता है और वे चिंतामुक्त रहते हैं। (Bray) महोदय ने इस विधि की प्रशंसा करते हुए बताया है कि इसके द्वारा दो वर्षों का पाठ्यक्रम एक वर्ष में ही पूरा कर लिया जाता है।[2] बटेविया विधि की पूर्ण सफलता, दोनों प्रकार के अध्यापकों के पारस्परिक सहयोग और उनकी लगन पर निर्भर है। यदि सावधानी से काम लिया जाय, तो बड़े पैमाने पर इसका प्रयोग किया जा सकता है। यहाँ यह बात बता देना आवश्यक है कि इस विधि में कोई विशेष मौलिकता नहीं है इस प्रकार की शिक्षण-विधि का प्रयोग फ्रांस में होता था। लैंडन[3] (Landon) के वर्णन से ज्ञात होता है कि उन्नसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ऐसे अनेक प्राथमिक स्कूल फ्रांस में थे जिनमें अध्यापक अपनी कक्षाओं में सामूहिक ढंग से पढ़ाने के साथ-साथ, **विद्यार्थियों** को अलग-अलग बुलाकर उनकी कठिनायाँ दूर किंया करते थे। इस प्रकार कई विधियों को मिला देने से इसकी उत्पत्ति हुई है।

---

1. Bagley, W.C : Classroom Management, p. 218,219.
2. Bray, S. E : School Organisation, p. 164,167.
3. Landon, J : School Management p. 119.

(१४)

भारत में होने वाले प्रयोग

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विदेशियों द्वारा निरंतर अतिक्रांत होने पर भी, वह अक्षुण्ण बनी रही है। लगातार एक हज़ार वर्षों तक मुसलमानों द्वारा पददलित होने पर भी भारतीय परम्परायें अपने प्रवाह को ज्यों का त्यों कायम रक्ख रहीं। भारतीय शिक्षा परम्परा भी अपने मूलरूप में, मुसलमानी काल में, बनी रही। शिक्षा की दृष्टि से यवन शासकों ने भारतवर्ष में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया; बहुत कुछ अंशों में वे यहाँ आकर अपना विदेशीपन भूल गये। गत तीन शताब्दियों में पाश्चात्य जातियाँ भारत में आयी और अँग्रेज़ों ने तो यहाँ अपना राज्य ही जमा लिया। भारतीय संस्कृति का सामना अभी तक इतनी बलशाली संस्कृति से कभी नहीं हुआ था; पाश्चात्य संस्कृति इतनी बलशाली थी कि उसके प्रबल प्रवाह के वेग से भारतीय संस्कृति की गहरी नींव जर्जर होने लगी। एक बार तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि भारतीय परम्परायें जड़मूल से नष्ट हो जायँगी। वर्तमान भारतीय शिक्षा का सूत्रपात ब्रिटिश शासकों ने किया और उन्होंने शिक्षणविधि में भारतीय परम्पराओं का पूर्णरूप से बहिष्कार किया। भारतीय समाज ने नवीन विधि का हृदय से स्वागत किया और थोड़े ही दिनों में भारतीय शिक्षा-पद्धति पाश्चात्य रंग में इस प्रकार रँग गयी कि उसका पहचानना भी कठिन हो गया। हम कह चुके है भारतीय संस्कृति में एक बल है—और कोई भी संस्कृति उसे आत्मसात् करने में असमर्थ

है। पाश्चात्य संस्कृति का आधिपत्य अधिक दिनों तक ठहर न सका। उसके सम्पर्क से भारतीय संस्कृति को नयी चेतना प्राप्त हुई। इसी चेतना से शिक्षा के क्षेत्र में कई प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई; (१) प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति; (२) प्रगतिवादी प्रवृत्ति; (३) समन्वयवादी प्रवृत्ति; (४) प्रयोगवादी प्रवृत्ति।

(१) प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति—

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अँग्रेज़ों का साम्राज्य भारत में जमने लगा। अँग्रेज़ों ने विशेषरूप से शासन-व्यवस्था की ओर ध्यान दिया। भारतीयों की शिक्षा की ओर से वे उदासीन रहे। सन् १८३२ के बाद से उन्होंने शिक्षा की ओर साधारण ध्यान इसलिए दिया कि इंगलैंड में उदारमतवाले लोगों ने शासकों को मजबूर किया। स्वयं इंगलैंड में उस समय शिक्षा के क्षेत्र में क्रांति प्रारम्भ हो चुकी थी। उसका प्रभाव भारतीय शिक्षा पर पड़ना अनिवार्य था। इंगलैंड की भाँति यहाँ भी अँग्रेज़ों ने शिक्षा-प्रसार की दिशा में कुछ प्रयत्न किये परन्तु उन प्रयत्नों का आधार पाश्चात्य पद्धति ही थी। मैकाले ने अँग्रेज़ी के माध्यम द्वारा शिक्षा देने और पाश्चात्य आदर्शों को अपनाने पर ज़ोर दिया और उसकी विजय हुई। भारतीय शिक्षा-परम्परा परित्यक्त होकर नष्ट होने लगी। भारतीय शिक्षा-परम्परा को एक गहरा धक्का दूसरी ओर से भी लगा। हज़ारों की संख्या में पाश्चात्य देशों से ईसाई आकर भारतवर्ष में धर्म-प्रचार में जुट गये। उन्होंने शिक्षा को धर्म-प्रचार का साधन बना लिया। अपनी शिक्षण-पद्धति में, इन लोगों ने भी अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य आदर्शों को सर्वोच्च स्थान दिया। अँग्रेज शासकों की उपेक्षा-नीति और इसाइयों द्वारा भारतीय संस्कृति पर होने वाले कुठाराघात ने भारतीय शिक्षा में प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति को जन्म दिया। पढ़े-लिखे भारतीयों के हृदय में अपनी संस्कृति के

प्रति अपार मोह उमड़ पड़ा। शासकों की उपेक्षा और ईसाइयों के प्रबल आघात का प्रतिकार करने की तीव्र इच्छा जाग्रत हुई। इस प्रतिक्रिया का श्रीगणेश करनेवाले स्वामी दयानन्दजी तथा उनका आर्य-समाज है। स्वामी जी ने पाश्चात्य शिक्षा-विधि के दोषों का उल्लेख करते हुये, उसके जादू को दूर कर दिया। उन्होंने प्राचीन भारतीय गुरुकुल-प्रणाली की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए नये पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित किया। अब लोगों ने अनुभव किया कि अंग्रेजों द्वारा चलायी गयी शिक्षा-विधि भारतीय आदर्शों के प्रतिकूल है और उसके अपनाने से हमारी संस्कृति के लुप्त हो जाने का भय है। स्वामी जी ने इस बात का भी संकेत दिया कि प्राचीन शिक्षण विधि को उसके मूलरूप में अपनाना अनुचित होगा क्योंकि देश और काल में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका है। उसमें यत्र-तत्र सुधार की आवश्यकता है। उन्होंने गुरुकुल प्रणाली का निम्नलिखित रूप निर्धारित किया:—

आठ वर्ष के ऊपर आयुवाले बालकों को घरों में न रहने दिया जाय। नगर से दूर एकान्त में आश्रमों की स्थापना हो और वहीं बालकों के रहने की व्यवस्था हो। शिक्षा का उद्देश्य ब्रह्मचर्य की रक्षा तथा चरित्र-निर्माण हो। बालक और बालिकाओं के ऋषिकुल अलग-अलग हों। अध्यापक और विद्यार्थी के बीच, पिता-पुत्र का सम्बन्ध हो। यहाँ विद्याध्ययन के लिए आनेवाले समस्त विद्यार्थियों में समानता और भ्रातृभावना उत्पन्न की जाय। व्यावसायिक तथा औद्योगिक प्रगति को देखते हुए बौद्धिक विषयों की पढ़ाई के साथ-साथ शिल्पकला, दस्तकारी और यन्त्रकला की भी शिक्षा दी जाय।

स्वामी जी के इस आधार को ग्रहण करके, कई नयी संस्थायें खोली गयीं, और उनमें प्राचीन आदर्शों को सामने रखकर शिक्षण विधि को व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया जाने लगा।

(क *गुरुकुल, काँगड़ी*—सन् १९०३ के लगभग स्वामी श्रद्धानन्द के प्रयत्नों से गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना हुई। यह विद्यालय, प्राचीन भारतीय शिक्षा के आदर्शों के आधार पर स्थापित किया गया। भारतीय संस्कृति का मूलाधार वैदिक साहित्य तथा संस्कृत भाषा है। अतः इनके अध्ययन का समुचित प्रबन्ध यहाँ किया गया। साथ ही नवीन ज्ञान-विज्ञान को भी स्थान दिया गया। गुरुकुल में होने वाले इस प्रयोग का उद्देश्य एक राष्ट्रीय शिक्षण-पद्धति का नव निर्माण करना था, जिसमें प्राचीन और अर्वाचीन तत्वों का समावेश हो परन्तु प्राचीन आदर्शों की प्रधानता रहे। यहाँ के विद्यार्थियों के लिए 'ब्रह्मचर्य-धारण' और 'संयमपूर्ण जीवन' दो प्रमुख आदर्श निश्चित किये गये। निःशुल्क शिक्षा का आयोजन भी, गुरुकुल पद्धति की एक विशेषता मानी गयी परन्तु यह आदर्श स्थिर न रह सका। भाषा, साहित्य, दर्शन और विज्ञान के अध्ययन के साथ-साथ, 'भारतीय इतिहास' के पुनस्संगठन को पूर्ण महत्व दिया गया। विदेशियों द्वारा प्रस्तुत किया गया इतिहास भ्रमात्मक तथा त्रुटिपूर्ण है; इसलिए शोध और विवेचना द्वारा सच्चे इतिहास के लिखने का भी प्रयत्न किया जाने लगा। गुरुकुल काँगड़ी में 'विद्वत्ता' और 'पांडित्य' के स्थान पर 'आदर्शपूर्ण जीवन' की प्रतिष्ठा की गयी; इसलिये पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के समान, यहाँ 'परीक्षा' को स्थान नहीं दिया गया।

गुरुकुल की विशेषताओं पर एक बार दृष्टि डालने से ही चल जाता है कि यहाँ की शिक्षण विधि में, 'आदर्श जीवन बिताने की कला' द्वारा ही शिक्षा दी जाती है। विद्यार्थी, प्रातःकाल से लेकर संध्या तक एक नियमित और संयमित दिनचर्या के अनुसार जीवन बिताते हैं। पुस्तकीय अध्ययन और विचार विमर्श द्वारा शिक्षण यहाँ कम होता है। यदि होता भी है तो, अध्यापक और

शिष्य के व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा। शिक्षण-विधि में न तो कोई नवीनता है और न कोई मौलिकता। यहाँ अध्यापन कार्य के लिए किसी विशेष प्रकार के प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों की आवश्यकता नहीं है।

(ख) *ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, हरिद्वार* – गुरुकुल कांगड़ी में वैदिक वातावरण प्रस्तुत करके विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती है। श्री दुर्गादत्त पंत ने हरिद्वार में ऋषिकुल की स्थापना की, जिसमें सनातन हिन्दू धर्म के आदर्शों का समावेश किया गया। यहां श्रुति, पुराण और स्मृति आदि ग्रन्थों को पाठ्यक्रम में सर्वोच्च स्थान दिया गया। स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृति-प्रधान गुरुकुल से स्पर्धा की भावना ने, इस ऋषिकुल को जन्म दिया है। पाठ्यक्रम में साधारण अन्तर है परन्तु शिक्षणविधि में दोनों विद्यालय समान हैं।

(ग) *विश्वभारती शान्ति-निकेतन* — सन् १८६३ ई० में कवींद्र रवींद्र के पिता, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने बोलपुर के निकट शांति-निकेतन की स्थापना की थी। सन् १९०१ में, इसी स्थान पर रवींद्रनाथ ठाकुर ने विश्वभारती नाम का विद्यालय स्थापित किया। इस संस्था में बालकों को शिक्षा, पारिवारिक वातावरण प्रस्तुत करके दी जाती है। इसका उद्देश्य पौर्वात्य संस्कृतियों में निकट सम्बन्ध स्थापित करना है और पश्चिम के विज्ञान के साथ उनका समन्वय करना है। इन सबका अन्तिम लक्ष्य विश्वबन्धुत्व की भावना मानव-समाज में उत्पन्न करना है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर विश्वभारती में, सामाजिक कृत्यों को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। शांतिनिकेतन में ऋतुपर्वो पर उत्सवों, संगीत, नृत्य और अभिनय आदि का वृहद् आयोजन किया जाता है। यहाँ अनेक महापुरुष आते हैं और बालकों का उनसे पूर्ण सम्पर्क कराया जाता है। शांतिनिकेतन के आस-पास स्थित ग्रामों में जाकर, यहाँ के बालक अनेक रचनात्मक कार्य करते हैं। यहाँ

'शिक्षा' और 'जीवन' में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। मानव संस्कृति कितनी वृहत् और व्यापक है, इसका अनुमान विश्वभारती के अनेक भवनों को देखकर ही किया जा सकता है। यहाँ के पाठ-भवनों में कक्षा-शिक्षणविधि से विद्यार्थी-समुदाय को पाठ पढ़ाये जाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक विषय के लिए अलग-अलग भवन हैं, जैसे चीना-भवन, कला भवन, हिंदी-भवन, श्री निकेतन आदि। विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार, संगीत, या ग्रामोद्योग, या हस्तकौशल, या साहित्य जिस विषय का भी अध्ययन करना चाहें कर सकते हैं। एक विशाल पुस्तकालय है और साथ में विभागीय पुस्तकालय भी हैं, जिनसे बालकों को अध्ययन में बड़ी सहायता मिलती है। यहाँ, छोटे बालकों से लेकर उच्च-शिक्षा प्राप्त करनेवाले व्यस्क विद्यार्थी तक, आकर शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। महिलायें भी यहाँ अध्ययन कर सकती हैं। पुरुष और स्त्री, दोनों प्रकार के विद्यार्थियों के लिए यहाँ छात्रावास बने हुए हैं।

विश्वभारती में प्रयुक्त शिक्षण विधि का अनुमान वहाँ की दिनचर्या को देखकर ही किया जा सकता है। क्यिार्थियों के समस्त दैनिक कार्य यही होते हैं, प्रातःकाल ४।। बजे से लेकर ९ बजे रात तक का कार्यक्रम नियत है और उसी के अनुसार बालकों और विद्यार्थियों को अपना दैनिक जीवन बिताना पड़ता है। ४।। बजे से ६।। बजे तक के समय में विद्यार्थियों को नित्य कर्म, जैसे अपने कमरे की सफाई, व्यायाम, स्नान और कलेवा आदि समाप्त कर लेना पड़ता है। इसी बीच में उपासना भी वे कर लेते हैं। ६।। से १०।। तक, पूरे चार घंटे अध्ययन और अध्यापन का कार्य चालू रहता है। पाठ-भवन में समूह शिक्षण द्वारा बालकों को पढ़ाया जाता है। अध्यापक और विद्यार्थी में व्यक्तिगत संबंध होता है। विशेष रूप से अध्यापक अपने विद्यार्थिथों का हर समय पथ-प्रदर्शन करता रहता है। १०।।

बजे के बाद विद्यार्थी भोजन आदि से निवृत्त होकर विश्राम करते हैं। यह प्रथा पूर्णरूप से मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुकूल है। दोपहर में साधारण विश्राम से नवस्फूर्ति प्राप्त होती है। १। बजे से फिर अध्ययन कार्य प्रारम्भ होता है। लगभग ४५ मिनट बालक स्वाध्याय द्वारा अपना पाठ पूरा करते हैं और २ से ४ तक अध्यापकों के पास जाकर अपने-अपने पाठ पढ़ते है। इसके पश्चात् साधारण जलपान करके वे अपनी उपस्थिति देते हैं। ५ से ६ बजे तक विद्यार्थियों के लिए हर प्रकार के खेलों का प्रबन्ध कर दिया जाता है। ६।। बजे तक उपासना करके, उन्हें अध्ययन और व्याख्यान के लिए पाठ-कक्षा में फिर जाना होता है। ८ बजे तक उन्हें छुट्टी मिल जाती है और भोजन करके उन्हें विश्राम गृह में जाने की आज्ञा मिल जाती है।

विश्वभारती का शिक्षण कार्य-क्रम, प्राचीन आश्रमों की याद दिलाता है। यहाँ शिक्षा जीवन का प्रतिरूप है। बालकों को नियमित जीवन बिताने की शिक्षा दी जाती है, साथ ही पुस्तकों का अध्ययन भी कराया जाता है। पाठ्य-क्रम में सांस्कृतिक तत्वों की प्रधानता है। यहाँ पर भारतीय शिक्षा-परंपरा फलती-फूलती दिखाई देती हैं। अनेक विदेशी यहाँ आकर शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। रवीन्द्र के व्यक्तित्व ने ही इस संस्था को उच्च स्थान दिलाया है। उनकी मृत्यु के पश्चात, इसके रूप में परिवर्तन होने लगा है और यह वर्तमान विश्वविद्यालय का रूप धारण करती जा रही है।

(२) प्रगतिवादी प्रवृत्ति—

भारत में अंग्रेजी भाषा के प्रचार से शिक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य प्रभाव बड़े वेग से पड़ने लगा। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा का संगठन अंग्रेजी ढ़ंग पर किया गया। प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में पुरानी 'पाठशालाओं' और 'मकतबों' का बहिष्कार करके

नवीन स्कूल-पद्धति की नीव डाली गयी। यही दशा माध्यमिक और उच्च शिक्षा देने वाले विद्यालयों की हुई। दिवा-स्कूल (Day-Schools) खुल गये और कक्षाओं में विद्यार्थियों को कक्षा-शिक्षण विधि द्वारा शिक्षा दी जाने लगी। इस प्रकार की शिक्षा का प्रबंध सरकार द्वारा हुआ, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि पाश्चात्य शिक्षण-शैली ही अपनायी जाती। पाश्चात्य देशों में होने वाली खोजों के आधार पर यहाँ नये प्रकार के विद्यालयों का संगठन किया गया। विशेष रूप से, बड़े-बड़े नगरों में, जैसे बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली और लाहौर में पहले पहल 'मांटेसरी' और 'किंडरगार्टेन' विधि से पढ़ाई आरम्भ की गई और इन विधियों में देश-काल के अनुसार कुछ परिवर्तन भी किये गये। छोटे बच्चों को पढ़ाने में किसी शुद्ध विधि को अपनाने के स्थान पर, माँटेसरी और किंडरगार्टेन विधियों का समन्वय करके प्रयोग किया गया। पंजाब में कई स्थानों पर 'डाल्टन विधि' के चलाने का प्रयत्न किया गया परन्तु जितनी लोकप्रियता माँटेसरी और किंडरगार्टेन विधि को मिली, उतनी अन्य विधियों को नहीं प्राप्त हुई।

पाश्चात्य ढंग से, भारत में भी विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई, जिनमें कलकत्ता, लखनऊ और इलाहाबाद विश्वविद्यालय पूर्ण रूप से पाश्चात्य नमूनों के आधार पर चल रहे हैं। यहाँ सहशिक्षा का प्रचलन है और भाषण-विधि द्वारा पढ़ाई होती है। भारतीय शिक्षा में प्रगतिवाद का जोर दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। उसी के प्रभाव से स्त्री-शिक्षा का बड़े जोरों से प्रचार हो रहा है। स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा में कोई अंतर नहीं रह गया है। पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण करते हुए विशिष्टता (Specialisation) की ओर भारतीय शिक्षा बढ़ती जा रही है। बच्चों, प्रौढ़ों, विकलांगों और अल्पबुद्धि वाले बालकों को विशेष विधियों द्वारा शिक्षा देने

आयोजन किया जा रहा है। इस सम्बंध में यह याद रखना चाहिए कि इन नवीन विधियों पर हमारे देश में प्रयोग नहीं हुए हैं; हम इस संबंध में पाश्चात्य देशों के ऋणी हैं।

(क) *प्रौढ़ शिक्षण विधि*––इधर गत वर्षों में प्रौढ़-शिक्षा आँदोलन बड़ी तेजी से बढ़ रहा है। साक्षारता-प्रसार की दृष्टि से प्रौढ़ जनों की शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है। बालकों को स्कूल में पढ़ाया जा सकता है; परन्तु निरक्षर प्रौढ़-जन तो वैसे ही निरक्षर बने रहेंगे। एक बार जीवन में प्रविष्ट होने पर, दुबारा बालकों की तरह उन्हें शिक्षा देना संभव नहीं है। अतः प्रौढ़ शिक्षा एक नये प्रकार की समस्या है, जिसका सामना भारत को करना पड़ रहा है। अन्य देशों में प्रौढ़-शिक्षा की व्यवस्था कई उद्देश्यों को लेकर की गई है। प्रत्येक नागरिक को भाषा का ज्ञान कराना, नागरिकता का महत्व समझाना, स्वास्थ्य के नियम बताना, व्यावसायिक क्षमता बढ़ाना और राष्ट्र-प्रेम उत्पन्न करना प्रौढ़-शिक्षा के मुख्य उद्देश्य हैं। निरक्षर प्रौढ़जन प्रत्येक राष्ट्र और उसकी संस्कृति के लिए महान कलंक हैं। अतः भारत को भी इस ओर ध्यान देना आवश्यक हो गया है। वह भी प्रगतिवादी राष्ट्रों के साथ कदम मिला कर चलना चाहता है।

प्रौढ़ शिक्षा के उपर्युक्त उद्देश्यों को देखते हुए, प्रौढ़जनों को पढ़ाने की विधि भी मौलिक होनी चाहिए। जिस विधि से बालकों को स्कूल में पढ़ाया जाता है, वह प्रौढ़जनों के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। उन्हें पढ़ाने के लिये, जिस विधि का उपयोग किया जाय, वह पूर्ण रूप से प्रौढ़-मनोविज्ञान के अनुरूप होनी चाहिये। साथ ही प्रौढ़-शिक्षा के अध्यापक को प्रौढ़जनों की परिस्थिति का विशेष रूप से अध्ययन करना चाहिए, उसके बिना शिक्षण में उसे सफलता न मिलेगी।

प्रौढ़जन की मानसिक स्थिति, भिन्न होती है। बढ़ती हुई आयु

का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उसके संस्कार बन चुकते हैं; उसकी आदतों का आसानी से सुधार नहीं हो सकता। उसका शारीरिक, और भाव-सम्बन्धी विकास पूरा हो चुकता है; बुद्धि भी परिपक्व हो जाती है; हाँ बुद्धि के प्रयोग में अवश्य अंतर लाया जा सकता है। यौवनकाल का उत्साह उसमें नहीं रहता। क्रियाशीलता के स्थान पर एकांत-प्रेम की भावना जोर पकड़ लेती है। अनेक रुचियाँ नष्ट हो जाती हैं और कुछ पूर्णरूप से स्थायी हो जाती हैं, जैसे पुस्तक प्रेम या समाचार-पत्र-प्रेम आदि। प्रौढ़जन विवाहित होता है; उसकी रुचि पत्नी-पुत्र और संबंधियों में केंद्रित हो जाती है। वह किसी व्यवसाय में लग चुकता है और अब उससे वह अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। यदि इस अवस्था में उसे प्रेम या व्यवसाय में निराशा उठानी पड़े, तो उसका भीषण परिणाम हो सकता है। राजनैतिक मामलों में प्रौढ़ जन की दिलचस्पी बढ़ जाती है। उसमें इतनी शक्ति आ जाती है कि वह सामाजिक आदर्शों और अपनी उच्छृंखल प्रवृत्तियों के बीच में संतुलन स्थापित कर सकने में समर्थ हो जाता है। बालकों की अपेक्षा, समाज में उसे अधिक स्वतंत्रता प्राप्त रहती है और उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य की भावना भी अधिक प्रबल होती है। उसमें सहयोग और विरोध की भावना भी सबल होती है। वह नई बात को जल्दी सीख सकता है और अपने आप सीख सकता है। साथ ही सीखी हुई बात का उपयोग भी वह शीघ्रता-पूर्वक कर सकता है। प्रौढ़जन, जीवन के प्रति अपना एक दृष्टिकोण निर्धारित कर चुकता है; अतः उसका मत परिवर्तन करना सरल नहीं होता।

प्रौढ़जनों की परिस्थितियाँ भी भिन्न होती हैं। प्रौढ़जन को उतना समय नहीं मिलता, जितना बालकों को अपनी शिक्षा के लिए प्राप्त होता है। अपने कारोबार में, परिवार की देख-भाल में, और

सामाजिक कार्यों में, वह इतना व्यस्त रहता है कि शिक्षा के लिए समय निकालना उसके लिए कठिन है। किसी की आय इतनी कम होती है कि उसे बचा हुआ समय, किसी दूसरे काम के लिए देना पड़ता है। कुछ प्रौढ़जन ऐसे भी होते हैं कि समय मिलने पर भी, वे आलस्य में पड़े रहते हैं या गंदे मनोरंजनों में समय नष्ट करने के आदी हो जाते हैं। प्रेम या व्यवसाय में असफल होने के कारण बहुतों का जीवन चिंता से जर्जर हो जाता है; उन्हें पढ़ने में रुचि ही नहीं होती। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विषमतायें भी प्रौढ़ जनों के जीवन को अशांत बनाये रहती हैं। हड़तालों, आन्दोलनों और दौड़ में उनका ध्यान अधिक रहता है। सबसे बड़ी समस्या है, भुखमरी और गरीबी की। प्रौढ़-जनों पर करों तथा उत्तरदायित्व का इतना बोझ है कि अपनी शिक्षा के लिए वह खर्च कहाँ से लायें? भारत जैसे विशाल देश में अनेक धर्मों, सम्प्रदायों और जातियों का होना, प्रौढ़ शिक्षा के लिए एक बहुत बड़ी बाधा है।

इन विषम परिस्थितियों और प्रौढ़जनों की मानसिक अवस्था को देखते हुए, उनकी पढ़ाई के लिए एक विशेष शिक्षण-विधि होनी चाहिए और उसके सफल बनाने के लिए उपयुक्त प्रबंध किया जाना चाहिए। पूर्ण वयस्क जनों से मित्रवत् व्यवहार किया जाना चाहिए; मृदु और सौजन्यपूर्ण व्यवहार से शिक्षण-कार्य में अधिक सफलता मिलती है। बिना उनका सहयोग प्राप्त किये हुए शिक्षण संभव नहीं। जहाँ तक हो सीखने की पूरी जिम्मेंदारी उन्हीं पर छोड़ देना चाहिए। प्रौढ़जनों की कक्षा के लिए उपयुक्त स्थान और समय का चुनाव आवश्यक है। किसी शांतिपूर्ण वातावरण में उन्हें पढ़ाना उचित है। गाँवों में प्राय: दलबंदी चला करती है, इसलिए किसी एक व्यक्ति की चौपाल या 'घर' को कक्षा के लिए न चुनना चाहिए। कुछ लोग अवश्य ही उसका बहिष्कार कर देंगे; दूसरे वहाँ कोई न कोई मिलने-जुलने के लिये आता

रहता है; विशेष रूप से संध्या के समय गाँवों में लोग चौपाल में मनोरंजन के लिए आ बैठते हैं। कक्षा के लिये पूर्ण रूप से एकांत स्थान चुना जाय। प्रौढ़-कक्षाओं के लिए संध्या का समय ही सबसे अधिक उपयुक्त है क्योंकि ग्रामीण-जन इसी समय अवकाश पाते हैं। ग्रामीण-जनों की दुनिया संकुचित होती है—यही खेती-बारी, ब्याह-शादी, त्योहार और कथा-वार्ता तक ही उनका जीवन सीमित रहता है। अतः शिक्षा का प्रारम्भ इन्हीं अनुभवों से होना चाहिए। इन्हीं के द्वारा सूक्ष्म विचारों और नवीन विचार धाराओं का परिचय उन्हें दिया जाना चाहिए। शिक्षा और मनोरंजन का अच्छी तरह सम्मि-श्रण होना उचित है। थके-माँदे प्रौढ़ जनों का चित्त अत्यन्त गंभीर शिक्षा में नहीं रम सकता। प्रौढ़ शिक्षा में अध्यापक का सबसे अधिक महत्व है, क्योंकि सारी सफलता उसकी कार्य-क्षमता पर ही निर्भर है। उसे उत्साही और धैर्यवान होना उचित है। प्रौढ़जनों के साथ घुल-मिल कर रहने की योग्यता की नितांत आवश्यकता है। इसे समय-समय पर अपने विद्यार्थियों का उत्साह बढ़ाना चाहिए और उनमें पढ़ने की रुचि जाग्रत करने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

सयानों को पढ़ाने के लिए, अनेक प्रकार के सहायक उपकरणों (Material Aid) का प्रयोग किया जा सकता है और उनकी सहायता से शिक्षण-विधि को प्रभावशाली बनाया जा सकता है। प्रौढ़-जनों से बोलना; उनके समक्ष भाषण देना; अखबार पढ़ कर सुनाना; रेडियो और ग्रामोफून का प्रयोग करना; श्यामपट या सूचना पट्ट पर लिखना; चार्ट, ग्राफ, नक्शे, तस्वीरों, मूर्त वस्तुओं, सिनेमा-रील, लालटेन से दिखाई जाने वाली स्लाइडों आदि का प्रयोग; प्रदर्शनों, अभिनय, जुलूस आदि का आयोजन; संग्रहालय, प्रदर्शनी और पुस्तकालय—इतने साधनों का उपयोग शिक्षण-विधि में किया जा सकता है। इन

समस्त उपकरणों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(क) पाठ्य-सामग्री (ख) और श्रवण-दृष्टि-उपकरण ।

ज्यों-ज्यों मानव सभ्यता का विकास होता जा रहा है, त्यो-त्यों पाठ्य-सामग्री का महत्व भी बढ़ता जा रहा है । वाचन द्वारा ही अब मनुष्य के लिए ज्ञानर्जन करना संभव है । आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक आंदोलनों में जन साधारण की अभिरुचि बढ़ने से, पाठ्य सामग्री का मूल्य अधिक बढ़ गया है, क्योंकि उनके सम्बन्ध में पढ़ कर ही जाना जाता है । आज प्रजातांत्रिक युग में निरंतर पढ़ते रहने की आवश्यकता है । पढ़ते रहने से मनुष्य के विचारों में नवीनता बनी रहती है । पढ़ना सरल और सस्ता साधन भी है । इसलिए प्रौढ़-शिक्षण में पाठ्य सामग्री का प्रयोग करना लाभदायक है ।

यह पाठ्य-सामग्री अनेक प्रकार की हो सकती हैं, जैसे पुस्तकें, प्रचार-पुस्तकें (Pamphlets), दैनिक समाचार पत्र, मासिक, साप्ताहिक सामग्री और अर्धमासिक पत्रिकाएँ; चार्ट, ग्राफ़ और नक्शे आदि। पाठ्य सामग्री के प्रयोग में कई बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। चार्ट और ग्राफ़ ऐसे स्थानों पर लटकाना उचित है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति उन्हें देख और पढ़ सके । यदि अध्यापक कुछ पढ़कर सुनाये, तो स्वर स्पष्ट और मधुर होने चाहिए । सारी पाठ्य-सामग्री रोचक और नवीनतापूर्ण होना आवश्यक है । प्रौढ़ शिक्षा में प्रयुक्त पुस्तकों की रचना, केन्द्रीय-सलाहकार-समिति (Central Advisory Board of Education) द्वारा निर्धारित नियमों द्वारा की जानी चाहिए, जैसे पुस्तक का आकार और मुख पृष्ठ आकर्षक हो; सफ़ेद, मोटे और मजबूत कागज का प्रयोम हो; पृष्ठों की संख्या ४८ से लेकर अधिक संख्या तक कक्षानुसार बढ़ायी जा सकती है; विषय-सूची और अध्याय स्पष्ट लिखे हों; छपाई अच्छी हो और पुस्तक रंग बिरंगे चित्रों से युक्त हो; भाषा के प्रयोग में ऐसे शब्दों का चुनाव किया जाय, जो

प्रौढ़जनों के दैनिक जीवन में प्रयुक्त होते हों, पारिभाषिक शब्दों को हटा दिया जाय और अनुवादों को स्वाभाविक बनाया जाय; शैली सुबोध, सरल, वार्तालापप्रधान होनी चाहिए, जिसमें आडम्बर और आलंकारिकता का अभाव हो आदि।

श्रवण-दृष्टि-उपकरणों (Audio-Visual-Aids) की सहायता से प्रौढ़-शिक्षण-विधि को अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकता है। इन उपकरणों की वैज्ञानिकता और औचित्य के संबंध में हम अगले अध्याय में विस्तार से प्रकाश डालेंगे। इनका प्रयोग बालकों की शिक्षा में किया जाता है। मनोवैज्ञानिकों और शिक्षाचार्यों का मत है कि प्रौढ़ शिक्षा में भी यह उपकरण उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। अतः इस प्रसंग में उनका जिक्र करना आवश्यक हो गया है। प्रौढ़जनों के साथ श्रवण-दृष्टि-उपकरणों के प्रयोग में कुछ भिन्नता है। उनके लिए प्रयोग में लाये जानेवाले उपकरण भिन्न भी हो सकते हैं। इनके अन्तर्गत श्यामपट से लेकर चलचित्र तक आ जाते हैं। बड़े-बड़े पोस्टरों (Posters) का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु रेडियो और चल-चित्र मुख्य हैं। चलचित्रों द्वारा, गृहविज्ञान, यंत्रशास्त्र, व्यवसाय, खेती, शिशुकल्याण, स्वास्थ्य, भूगोल और इतिहास का ज्ञान प्रौढ़ जनों को कम समय में और प्रभावशाली ढंग से कराया जा सकता है। ग्रामों में रेडियो लगा कर 'पञ्चायत घर' तथा अन्य दूसरे कार्यक्रम, प्रौढ़ जनों को सुनाये जा सकते हैं। इससे उनका ज्ञान विकसित होता है। गाँवों में होनेवाले वार्षिकोत्सव और त्योहार शैक्षिक दृष्टि से कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। ऐसे अवसरों पर नाटकों, नकलों और मण्डली आदि के अभिनय, सांस्कृतिक चेतना जाग्रत करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। प्रौढ़जन पुराणों, रामायण और महाभारत की कथाओं के सुनने में बड़ी रुचि लेते हैं। कुशल कथाकारों की सहायता से ग्रामीण जनों के हृदयों

में कोमल भाव जाग्रत किये जा सकते हैं। इन साधनों द्वारा उनके चरित्र-निर्माण में सहायता दी जा सकती है। लोक-नृत्य, संगीत और कीर्तन भी प्रौढ़-शिक्षा के उत्तम साधन हैं।

प्रौढ़जनों को पढ़ाने में कक्षा-विधि और भाषण-विधि दोनों का प्रयोग किया जा सकता है परन्तु इनमें कुछ परिवर्तन लाकर ही, प्रयोग करने में लाभ है क्योंकि प्रौढ़ और बालक में अंतर होता है। भाषा की शिक्षा के लिए कुछ व्यावहारिक नियम हैं—(क) बालू या मिट्टी पर उँगली से अक्षरों को लिखना : (ख) दैनिक जीवन में व्यवहृत शब्दों को पढ़ना तथा लिखना सिखाना; (ग) सरल पुस्तकों जैसे रामायण या हनुमान-चालीसा से प्रारम्भ करना; (घ) भारतीय महापुरुषों की कहानियां पढ़ाना आदि।

मुनरों (Munro) ने अपने शैक्षिक शोध के विश्वकोष में प्रौढ़ जनों की शिक्षा के लिए तीन प्रकार की विधियां बताई हैं। (क) **विद्यार्थी प्रधान विधि**—जिसमें पढ़ने का मुख्य उत्तरदायित्व विद्यार्थी पर रहता है। वह अधिक से अधिक स्वयं अनुभव प्राप्त करने की चेष्टा करता है। कभी कभी वह 'भूल और प्रयत्न' वाले सिद्धान्त (Trial and Error) के अनुसार सीखता है। कभी कभी वह बार-बार अभ्यास (Practice) के द्वारा सीखता है। कभी उसे अन्तः प्रेरणा (Insight) पर निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी को पुस्तकालय, प्रश्नावली (Question-aire) यात्राओं और सर्वे (Survey) का सहारा लेना पड़ता है। (ख) **अध्यापक-प्रधान-विधि**—जिसमें शिक्षण का सूत्र अध्यापक के हाथ में रहता है। जहाँ प्रौढ़जनों की संख्या अधिक होती है, अध्यापक भाषणों द्वारा शिक्षा देता है। जहाँ प्रौढ़जनों की संख्या अधिक होती है, अध्यापक भाषणों द्वारा शिक्षा देता है। इसके द्वारा बहुत थोड़े समय में अनेक बातें बताई जा सकती हैं। कोई-कोई

अध्यापक प्रश्नोत्तर-विधि का भी प्रयोग करते हैं। अध्यापक परामर्श (Counselling) द्वारा भी शिक्षा दे सकता है। अध्यापक गाँव में बस जाता है और ग्रामवासियों से आत्मीयता उत्पन्न करता है। वे लोग उसके पास सलाह लेने आते हैं और यही अवसर शिक्षक के लिए अध्यापन का साधन बन जाता हैं। कभी-कभी शिक्षक अपनी ओर से ग्रामीण जनों के घर पर जाता है और उनकी समस्याओं का अध्ययन करता है और उनकी प्रत्यक्ष सहायता करता है। कुछ शिक्षक प्रौढ़जनों को पढ़ाने के लिए प्रदर्शनों (Demonstrations) का सहारा लेते हैं। इसका उपयोग व्यवसाय या मशीनों के व्यवहार की क्रिया आदि के समझाने में होता है। शिक्षक स्वयं इस क्रिया को करके दिखाता है। (ग) **सहयोग-पूर्ण विधि** जिसमें शिक्षक और विद्यार्थी दोनों शिक्षण-कार्य में समान भाग लेते हैं। गावों में यांत्रिक व्यवसायों, दस्तकारी और कृषि आदि का काम सिखाने के लिए कुशल अध्यापक जाते हैं और सीखने वाले ग्रामीण जन अध्यापक के साथ सहयोगी (Apprentice) के रूप में काम करते हैं और इन कामों में निपुणता प्राप्त कर लेते हैं। प्रौढ़-शिक्षा में सामूहिक वादविवादों द्वारा शिक्षा देने की विधि महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह वाद-विवाद शिक्षक और प्रौढ़-जनों के बीच बड़े ही मैत्रीपूर्ण तथा सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में प्रारम्भ होते हैं। किसी भी विषय पर कुछ व्यक्ति एक स्थान पर बैठ कर विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। इससे सबका ज्ञान बढ़ता है। इन वाद-विवादों का संक्षिप्त विवरण रख लिया जाता है। इन वाद-विवादों की पूर्व योजना प्रौढ़-शिक्षक को पहले बना लेनी पड़ती है, जिसमें सब लोग मुख्य विषय तक ही सीमित रहें। यदि कटुता उत्पन्न होने वाली हो, तो प्रसंग को रोक देना चाहिए। प्राय: सभी को वाद-विवाद में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना उचित है। अध्यापक को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अंत में कुछ न कुछ

अच्छा निष्कर्ष निकल आये अन्यथा यह विधि असफल रहेगी। यदि कहीं कोई पहलू अस्पष्ट रह जाय तो अध्यापक स्वयं प्रश्न करके उसे स्पष्ट करा दे। वाद-विवाद के मौके पर एक सभापति का होना आवश्यक है जो अनुचित तर्कों और अनावश्यक बातों को रोक सके।

भारतवर्ष में प्रौढ़-शिक्षा प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रही है। देश के विभिन्न राज्यों में प्रांतीय सरकारों और जनता की ओर से प्रौढ़-शिक्षण का कार्यक्रम जोरों से चालू हो गया है। **आसाम में**—आल आसाम लाइब्रेरीज़ असोसियेशन, और आसाम ऑयल कंपनी; **बिहार में**—बिहार सोशल इजूकेशन स्कीम (विद्यार्थियों द्वारा), जनता हितैषी-पुस्तकालय, जिला शाहाबाद; रामकृष्ण मिशन-विवेकानंद सोसाइटी जमशेदपूर, बिहार राधास्वामीं सत्संग असोसियेशन मुज़फ्फरनगर, मानभूमि आदिवासी सेवा समिति पुरुलिया; **बम्बई में**—बाँबे प्रेसीडेंसी अडल्ट इजूकेशन असोसियेशन, बाँबे प्रेसीडेंसी वीमेन्स कौंसिल, आदि आँध्र सोशल सर्विस असोसियेशन, महाराष्ट्र विद्या मंदिर नोवीवादी, उत्तर भारतीय मजदूर संघ अडल्ट इजूकेशन लीग-पूना, शिक्षण प्रकाशन मंडल-पूना, मालेगाँव समाज शिक्षण मंडल नासिक; **कनार्टक में**—आज़ाद हिंद सेवा संघ-गदग बेटगिन, लोक सेवा समिति-धारकर, मेदलेरी सोशल इजूकेशन समिति, निरक्षरता निर्मूलन समिति, मट्टीगठी, बोलेगाँव समाज सेवा समिति लोक सेवा समिति-बेलगाँव; **मध्य प्रदेश में**—नागपूर सोशल इजूकेशन अशोसियेशन, प्रतिभा मंडल-नागपूर, माडर्न इजूकेशन सोसाइटी-नागपूर, हिसोप कालेज सोशल सर्विस सोसाइटी, समाज शिक्षण प्रचार मंडल-शिरस गाँव, तिलक राष्ट्रीय समाज खाम गाँव; **मद्रास में**—गिल्ड आफ़ सर्विस, नेलोर, सोशल सर्विस लीग नेलोर, अनेक स्थानीय कालेज तथा संस्थायें, अडल्ट इजूकेशन कमेटी-साउथ इंडियन अडल्ट इजूकेशन असोसियेशन (जो अनेक प्रौढ़ शिक्षा संस्थाओं का

का वृहत् संघ है); **पंजाब में**—अखिल भारतीय विद्या परिषद-अंबाला, भारतीय कर्मोद्योग समिति कांगड़ा, एस० डी० प्रतिनिधि सभा कांगड़ा, सावित्री देवी और विद्याप्रचारिणी सभा-अमृतसर, आल इंडिया वीमेन्स कानफ्रेंस शिमला, शिमलाकुलीज़ वेलफेयर सोसाइटी; **उत्तर प्रदेश में**—आर्य समाज रुड़की, विद्यापीठ सेवक संघ-मेरठ, सेवा-दल मंसूरी, हरिजन सेवक मंडल-जालौन; **पश्चिमी बंगाल में**—वेस्ट बंगाल अडल्ट इज़ूकेशन असोसियेशन-कलकत्ता, रामकृष्ण मिशन शारदापीठ-हाबड़ा, विश्व भारती रूरल रीकांस्ट्रक्शन डिपार्टमेंट, नारी शिक्षा समिति कलकत्ता, सोसाइटी फ़ार दी इम्प्रूवमेंट आफ़ बैकवर्ड क्लासेज़ अलीपूर; **हैदराबाद में**—क्रिश्चियन मिशन-मेडक, आँध्र सारस्वत परिषद; **मध्य भारत में**—इंदोर अडल्ट इज़ूकेशन असोसियेशन, मध्यभारत प्रदेश शिक्षा समिति इंदौर; **मैसूर में**—मैसूर स्टेट अडल्ट इज़ूकेशन कौंसिल, कन्नड़साहित्य परिषद; **राजस्थान में**—नारी सेवा संघ बीकानेर, नारी जागृति परिषद और महिला मंडल बीकानेर, हिंदी साहित्य समिति भरतपुर, मरुभूमि सेवा कार्य-संग्रियाँ; **दिल्ली में**—इदारा तालीमो तरक्की जामिया मीलिया, इंडियन अडल्ट इज़ूकेशन असोसियेशन, देहली स्कूल आफ सोशल वर्क—आदि प्रौढ़ शिक्षा में महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

(ख) अल्प बुद्धि वाले बालकों को शिक्षा देने की विधि—मेरिया मांटेसरी की विधि से भली भाँति परिचित लोग जानते हैं कि मेरिया ने मानसिक दोष वाले बालकों के लिए एक शिक्षण विधि तैयार करने का काम आम्भ किया था। इसी दिशा में सेगुइन (Seguin) नामक मनोवैज्ञानिक ने उनके पहले कुछ प्रयत्न किये भी थे। तब से निरंतर ऐसे बालकों के लिये शिक्षण विधि तैयार करने का कार्यक्रम चालू रहा और अब निश्चित रूप से उनके लिये एक अलग विधि बन कर तैयार हो चुकी है। मानसिक दोष वाले बालक 'अल्प-बुद्धि' भी होते

हैं। बम्बई में ऐसे बालकों के लिए एक स्कूल है जहाँ एक विशेष विधि से पढ़ाई होती है।

अल्प बुद्धि वाले बालकों का घेरा बहुत बड़ा है। उनकी कई श्रेणियाँ है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक बिने (Binet) ने अपनी बौद्धिक परीक्षाओं के आधार पर कई प्रकार के अल्प बुद्धि वाले बालक खोज निकाले और इन्हें श्रेणीबद्ध किया जैसे जड़ (Idiot) मूढ़, (Imbecile), मूर्ख (Moron) और अनिश्चित रूप से मूर्ख (Borderline cases)। ऐसे बालकों का बौद्धिक विकास या तो रुक जाता है, या कम होता है और या होता ही नहीं। सिरील बर्ट (Cyril Burt) नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने ऐसे बालकों की शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता (Educability) का गहरा अध्ययन अपनी पुस्तक (The Backward Child) में प्रस्तुत किया। उनका विचार है कि आमतौर से स्कूलों में, जिस विधि से पढ़ाया जाता है, उससे लाभ उठाने के लिए साधारण बुद्धि (Average intelligence) बालकों में अवश्य होनी चाहिए। अल्पबुद्धि वाले (Mentally deficient) बालक साधारण कक्षा में पढ़ने में असमर्थ होते हैं। वे पिछड़ जाते हैं और अनुशासन की समस्या भी उत्पन्न करते हैं। अतः ऐसे बालकों की शिक्षा का प्रबंध अलग होना चाहिए और उनके पढ़ाने की विधि भी अलग होनी चाहिए।

लंदन में बर्ट (Burt) द्वारा किये गये सर्वे (Survey) से ज्ञात होता है कि स्कूलों में कुछ अल्पबुद्धि वाले बालक होते हैं। अध्यापकों को निजी अनुभव से ही यह बात सच मालूम होगी। छोटी कक्षाओं में फिसड्डी, ज्यादा उम्र के, और बेडौल बालक अल्पबुद्धि होते हैं। अतः बौद्धिक परीक्षाओं द्वारा ऐसे बालकों को छाँट कर स्कूल के भीतर ही एक अलग कक्षा बना देना चाहिए और उन्हें पढ़ाने के लिए विशेषज्ञ अध्यापक नियुक्त कर देना चाहिए। इस प्रकार का

वर्गीकरण अत्यंत आवश्यक है। बर्ट महोदय ने लगभग ३०,००० विद्यार्थियों का अध्ययन किया और देखा कि उनकी बुद्धि लब्धि (I. Q.) ५० से लेकर १५० तक रही। ९० से नीची बुद्धि लब्धि वाले बालक अल्पबुद्धि होते हैं। बर्ट का कथन है कि ७० से नीची बुद्धि-लब्धि वाले बालक जिनके अन्तर्गत 'जड़' और 'मूढ़' बालक आ जाते हैं, शिक्षा प्राप्त करने के अयोग्य सिद्ध होते हैं। हालिंगवर्थ (Hollingworth) का भी मत है कि ७० से कम बुद्धि लब्धि वाले बालक स्कूल या समाज के वातावरण के अनुकूल रहने में असमर्थ होते हैं। शिक्षा सम्बंधी खोजों से यही प्रकाश पड़ता है। अतः इन बालकों को पढ़ाने की अलग विधि तैयार की गई है।

इंगलैंड के अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियों के कानून में जड़ (Idiot) व्यक्ति की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ऐसे लोग अपने को जीवन पर आने वाले साधारण खतरों से बचाने में भी असमर्थ हैं और 'मूढ़' यद्यपि इन खतरों से बच सकता है परन्तु उसे सदैव किसी न किसी के संरक्षण और सहारे की आवश्यकता होती है। जड़ और मूढ़ बालक जन्म से ही निर्बल और अशक्त होते हैं। उनके अंग परिपुष्ट नहीं होते, हाथ पैरों का संचालन वे ठीक ढंग से नहीं कर सकते। हाथ से वे कोई वस्तु दृढ़तापूर्वक नहीं पकड़ सकते। वे लाठी भी मजबूती से पकड़ कर नहीं रख पाते। उनके चलने का ढंग विचित्र होता है, उनकी चाल अनियमित होती है, या वे रुक-रुक कर चलते हैं या चलने में काँपते हैं या एक स्थान पर पड़े या बैठे रहते हैं। उनकी दृष्टि किसी वस्तु पर स्थिर नहीं होती और उनकी श्रवण शक्ति भी निर्बल ही होती है। शरीर और कपड़ों की सफाई करना उनके लिए असम्भव है। उनका अपनी जबान और ओठों पर अधिकार नहीं होता; या तो वे रुक-रुक कर बोलते हैं, या स्पष्ट बोलते हैं या अर्थहीन भाषा बोलते हैं। उनमें अनुभूति शक्ति होती

है और उनके मन में भाव उठते हैं परन्तु विचार करने में सर्वथा अशक्त होते हैं। ऐसी दशा वाले बालकों को साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित और विज्ञान के विषय नहीं पढ़ाये जा सकते। उनकी शिक्षा में 'स्वास्थ्य' और 'जीवन रक्षा' यही दो मुख्य विषय हो सकते हैं।

ऐसे बालकों के लिए ऐसे स्कूल की योजना बनानी चाहिए, जो एकान्त और आकर्षक वातावरण में स्थित हों। वहाँ की दीवारें और फर्नीचर खूब रंग बिरंगे-ढंग की बनी होनी चाहिए। चमकीले रंग की वस्तुएँ, मूर्तियाँ, तस्वीरें और चार्ट आदि प्रस्तुत किये जायँ। इन वस्तुओं को देख कर वे आनन्द प्राप्त करते हैं। उन्हें इन वस्तुओं का विभेद समझाया जाता है। अध्यापक छोटे-छोटे वाक्यों में आज्ञाएँ देता है—जैसे 'वह कुत्ता उठा लाओ', 'गुड़िया ढूंढ़ लाओ' आदि। साधारण वस्तुओं की पहचान कराना पढ़ाने की मुख्य विधि हैं। इन बालकों की देखभाल के लिये परिचारिकाए (Nurses) नियुक्त होती हैं। उनको नित्य स्नान कराके स्वच्छ सफेद वस्त्र पहनाए जाते हैं और ध्यान रक्खा जाता हैं कि वे कपड़े गंदे न करने पायें। उन्हें ठीक आसन से बैठना और खड़ा होना बताया जाता है। अध्यापिकाएँ उन्हें उद्यान या मैदान में घुमाने के लिए ले जाती हैं, इससे केवल वे एक सुख की अनुभूति करते हैं। ऐसे बालक और बालिकाओं के लिए संगीत की व्यवस्था विशेष रूप से की जाती है। मधुर संगीत सुनने में उन्हें अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। ठीक समय पर उन्हें भोजन कराया जाता है और हाथ-मुँह धुला दिये जाते हैं। कुछ बालक अपने हाथ से भोजन कर सकते हैं और यदि वे नहीं कर सकते तो परिचारिकाएँ उन्हें सहायता देती हैं और भोजन कराती हैं। ठीक समय पर विश्राम कराने के लिए उन्हें बिस्तर तक पहुँचा दिया जाता है। 'पुस्तक' का यहाँ कोई स्थान

नहीं। उसके स्थान पर खिलौने (Toys) काम में लाए जाते हैं या लकड़ी के रंग-बिरंगे चौकोर टुकड़े जिनसे बालक खेलते हैं, उन्हें उठाते हैं और धरते हैं। हम कह चुके हैं कि ऐसे बालकों के भावों का विकास होता जाता है और बुद्धि का विकास रुक जाता है। वे प्रेम, घृणा, क्रोध और हिंसा के भाव पूर्णरूप से अनुभव करते हैं परन्तु साधारण बालकों की अपेक्षा, उनके भाव कहीं अधिक प्रबल होते हैं। उपर्युक्त भावों की प्रबलता के कारण, अध्यापिकाओं को बड़ा सतर्क रहना पड़ता है। अल्प बुद्धिवाले बालकों की शिक्षा का भार स्त्री-शिक्षिकाओं को ही देना चाहिए। यहाँ मातृहृदय की आवश्यकता है। यहाँ बालकों को कोई दंड देना मना है, उन्हें प्रेम से पुचकार कर समझाना चाहिए और उनकी भूलों पर कोई ध्यान न देना चाहिए क्योंकि वे दया के पात्र हैं उनसे भूलें इसलिए होती हैं कि उनमें बुद्धि है ही नहीं। इस विधि द्वारा पढ़ाने से बालक इस योग्य बन जाते हैं कि वे साफ-सुथरे ढंग से रह सकें और अपने जीवन की रक्षा कर सकें।

(ग) **विकलाँग बालकों की शिक्षण विधि**—विकलांग बालकों के अन्तर्गत अंधे, गूंगे, बहरे और लूले-लंगड़े बालक आते हैं। अंगों की खराबी के कारण उनमें यह दोष उत्पन्न हो जाते हैं और यह लोग समाज में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं कर पाते। साथ ही इनमें बुद्धि की कमी नहीं होती। उन्हें बौद्धिक विषय पढ़ाये जा सकते हैं परन्तु उनके पढ़ाने की विधि भिन्न होती है। ऐसे लोगों के लिए दिल्ली, लखनऊ, पटना, प्रयाग, काशी, कलकत्ता और बम्बई इत्यादि प्रसिद्ध नगरों में पढ़ाने के लिए स्कूल स्थापित किये गये हैं। अंधों को ब्रेल पद्धति से पढ़ाया जाता है, वे एक कलम से छिद्रों को स्पर्श करके पढ़ते हैं। उन्हें हस्तकौशल और संगीत की शिक्षा भी दी जाती है। विकलाँग लोगों की शिक्षा-विधि में दस्तकारी का मुख्य स्थान है। ऐसे

लोग डलिया, रस्सी और चटाई जैसी जीवनोपयोगी वस्तुएँ आसानी से तैयार कर सकते हैं। अतः इस प्रकार की चीजें बनाना उन्हें सिखाया जाता है। इन वस्तुओं को बनाकर वह अपने भर के लिए आवश्यक धन अर्जन करने में समर्थ हो जाते हैं।

(३) समन्वयवादी प्रवृति—

भारतीय शिक्षा का विस्तार होने से, कुछ विद्वानों का ध्यान पाश्चात्य और पौर्वात्य शिक्षा प्रणालियों के समन्वय की ओर गया। इन विद्वानों में महामना पंडित मदन मोहन मालवीय का नाम अग्र-गण्य है। आपके प्रयत्नों से १ जनवरी १९०६ को हिन्दू विश्व-विद्यालय, काशी की स्थापना हुई। यहां श्रुतियों और स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म के सिद्धांतों, आर्यभाषा संस्कृत और उसके साहित्य और भारतीय भाषाओं के अध्ययन के साथ-साथ नवीन पाश्चात्य वैज्ञानिक विषयों और शिल्पकला के सिखाने का समुचित प्रबंध किया गया। यहाँ प्राचीन और नवीन शैलियों का गंगा-जमुनी समन्वय हुआ। समन्वय की प्रवृत्ति सन् १८८० से आरंभ हुई थी। लोकमान्य तिलक, श्री आगरकर और श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के सम्मिलित प्रयत्नों से पूना में एक विद्यालय स्थापित हुआ जो **चिपलूणकर योजना** के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ के शिक्षण में आत्म-त्याग और सेवा व्रत का प्राधान्य है। यहाँ अध्यापक केवल जीवन-निर्वाह मात्र के लिए ही साधारण वेतन स्वीकार करते और अध्या-पन कार्य बड़े मनोयोग से करते हैं। लगभग ऐसा ही प्रबंध श्री गोपाल कृष्णगोखले द्वारा स्थापित **भारत-सेवक-समिति** (Servants of India Society) में है। यह संस्था सन् १९०५ में चली थी। सन् १९१९ में श्री भाव राव पटेल ने सतारा के पास **रँयत-शिक्षण-संस्था** स्थापित की। सतारा निवासियों के लिए यहाँ प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा का प्रबंध हुआ। यहाँ विद्यार्थी नगर से दूर ग्रामीण

वातावरण में रहते हैं और ग्रामोद्योगों की शिक्षाप्राप्त करते हैं। यहाँ के विद्यार्थी पारस्परिक प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता और विश्वबंधुत्व के आदर्शों का पालन करते हुए एक परिवार की भाँति रहते हैं। खेतीं, बागबानी और भवन-निर्माण आदि जैसी उपयोगी कलाएँ उन्हें सिखाई जाती हैं। इन संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ संस्थाओं का विवरण निम्नलिखित है:—

(क) *व्रताचारी समाज*—इस संस्था का जन्म बंगाल में हुआ। यहाँ की शिक्षण प्रणाली में बालकों के सर्वांग-विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता है। सर्वांग-विकास का अर्थ है—ज्ञान, श्रम, सत्य, एकता और आनंद का वास्तविक अर्थ जानना और जीवन में इन पाँच व्रतों का पालन करते हुए सतत आचरण करना। सर्वांग-विकास के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए १६ प्रणों और १७ निषेधों का पालन करना पड़ता है; जैसे (१) ज्ञान की परिधि बढ़ाना, (२) जंगल और काई से दूर रहना, (३) श्रम का आदर करना, (४) तरकारी और फल उगाना, (५) प्रकाश और वायु की गति स्वतंत्र रखना, (६) पशु-पालन, (७) जल-शुद्धि, (८) स्वच्छता, (९) शारीरिक व्यायाम और खेल, (१०) स्त्रियों का उद्धार, (११) विवाह के पूर्व आजीविका (१२) दस्तकारी या उद्योग सीखना, (१३) समय का पालन करना, (१४) दूसरों की सेवा करना, (१५) बंधुत्व और समान नागरिकता की भावना उत्पन्न करना, (१६) आनन्द की भावना बढ़ाना, इनके अतिरिक्त वस्तुएँ नष्ट न करना, परिपाटी के अनुसार रहना, नेता की आज्ञा मानना और आचार्य की आज्ञानुसार ही कार्य करना आदि १६ प्रण हैं और (१) धोती का पल्ला न लटकाना, (२) खिचड़ी भाषा न बोलना, (३) शरीर मोटा न होने देना (४) बिना भूख के न खाना, (५) आय से अधिक न व्यय करना (६) विघ्न बाधा में न घबराना, (७) विलास-

प्रिय न होना, (८) क्रोध न करना, (९) विपत्ति में भी मुस्कराना, (१०) अभिमान न करना, (११) हर प्रकार से सत्य बोलना, (१२) किसी से दुर्व्यवहार न करना, (१३) भाग्य पर भरोसा न करना, (१४) अकर्मण्य न रहना, (१५) असफलता से हार न मानना, (१६) भिक्षा न माँगना (१७) बचन भंग न करना—१७ निषेध हैं। व्रताचारी-समाज में इनका पालन विद्यार्थियों से कराया जाता है छोटे छात्रों के लिये केवल १२ प्रणों की आवश्यकता है, यथा (१) मैं दौड़ूंगा, खेलूंगा और हँसूंगा (२) मैं सब से प्रेम करूँगा, (३) बड़ों का कहना मानूंगा, (४) पढ़ूंगा, लिखूंगा और सीखूँगा, (५) जीवों पर दया करूँगा, (६) सत्य बोलूंगा, (७) सत्य का पालन करूँगा, (८) हाथ से वस्तुएँ बनाऊँगा, (९) शरीर पुष्ट करूँगा, (१०) अपने दल के लिए लड़ूंगा, (११) अंगों से श्रम करूँगा, (१२) प्रसन्न होकर नाचूंगा। इन प्रणों पर एक बार दृष्टि डालने से ही समन्वय की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। चरित्र सम्बंधी व्रतों में भारतीयता के तत्व स्पष्ट लक्षित होते हैं, विभिन्न शारीरिक और दस्तकारी की क्रियाओं में पाश्चात्य शिक्षा के मुख्य सूत्र 'क्रिया' (activity) का समावेश हुआ है। जीवन की शिक्षा ही व्रताचारी समाज के शिक्षण में प्रधान है। विद्यार्थियों को प्रारंभ से ही 'श्रम' 'आनंद' और 'उत्साह' का महत्व ज्ञात हो जाता है।

(ख) स्त्री शिक्षा—पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भारतवर्ष में सहशिक्षा (Co-education) का प्रचलन आरंभ हुआ। सहशिक्षा में बालक और बालिकाओं के लिए शिक्षण की एक ही विधि है। भारतीय समाज के संगठन और परंपराओं के देखते हुए कुछ विद्वानों ने सहशिक्षा के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरंभ कर दी और स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में भी समन्वय की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी। स्त्रियों की

शिक्षा में स्नेह, सेवा, और त्याग से युक्त गार्हस्थ्य जीवन को प्रमुख स्थान देने की चर्चा चल पड़ी। स्त्रियों के पाठ्यक्रम में परिवर्तन करने की मांग हुई। साथ ही आधुनिक ज्ञान के समावेश का समर्थन किया गया। इस विषय में सभी विद्वान एकमत हैं कि भारतीय नारी समाज में अधिक से अधिक जाग्रति उत्पन्न करने की चेष्टा की जाय। इन सबकी पूर्ति के लिए भारत में कई प्रयोग हुए। आचार्य **कर्वे ने भारतीय महिला-विश्वविद्यालय** की स्थापना की जहाँ अनेक स्त्रियों ने गार्हस्थ्य और मातृत्व की शिक्षा प्राप्त की है। जयपुर का **वनस्थली विद्यापीठ** अपने ढंग की अनोखी संस्था है। यहाँ स्त्रियों को कुशल गृहिणी और माता बनाने के साथ-साथ, कुशल नागरिक भी वनाया जाता है। चरित्र-निर्माण, बौद्धिक विकास, ललित कला का ज्ञान, गृहस्थी का पालन और स्वास्थ्य रक्षा—इन पांच सूत्रों पर वनस्थली की शिक्षा आधारित है। पुस्तकों की पढ़ाई के साथ साथ, स्त्रियाँ सीना-पिरोना, कसीदा, तैरना, घुड़-सवारी और साइकिल चलाना आदि भी सिखाया जाता है। **आर्यकन्या-पाठशाला, बड़ोदा** में स्त्रियों को सैनिक शिक्षा भी दी जाती है। पूने में महादेव गोबिंद रानडे की धर्मपत्नी श्रीमती रमाबाई द्वारा प्रौढ़ महिलाओं के लिए स्थापित **पूना-सेवा-सदन भी** आचार्य कर्वे की संस्था के समान कार्य कर रही है। **लेडी इरविन कालेज दिल्ली** में भारतीय युवतियों को गृह-विज्ञान और अध्यापन-कला की शिक्षा दी जाती है। इनके अतिरिक्त स्त्री-शिक्षा में संगीत, नृत्य और तालयुक्त व्यायाम का महत्व दिन-प्रति दिन बढ़ता जा रहा है।

(४) प्रयोगवादी प्रवृत्ति—

वर्तमान शताब्दी के प्रथम महायुद्ध के बाद, भारत में शैक्षिक क्रांति बड़े वेग से आरम्भ हुई और शिक्षण में नये प्रयोग होने लगे।

प्रथम प्रयोग का सूत्रपात महात्मा गाँधी ने किया, जिसके परिणाम स्वरूप बुनियादी शिक्षण-प्रणाली का जन्म हुआ । इस सम्बन्ध में हम अन्यत्र लिख चुके हैं । प्रसङ्गवश केवल इतना कहना है कि भारत में भी यह अनुभव किया जाने लगा कि प्राचीन शिक्षण विधियाँ पूर्ण रूप से अनुपयुक्त हैं; महात्मा जी ने इसी भाव से प्रेरित होकर यह प्रयोग किया था । वैज्ञानिक प्रगति और औद्योगिक विकास के कारण शिक्षा में यांत्रिक ज्ञान का समावेश आवश्यक समझा जाने लगा । सन् १९३६-३७ ई० इंगलैण्ड से श्री ए० एबट और एस० एच० वुड—दो प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री भारत सरकार की ओर से निमन्त्रित किये गये । इन विद्वानों ने शिक्षा का रूप बदलने के लिए कई सुझाव दिये । उनके आधार पर दिल्ली में एक प्रथम श्रेणी का बहुशिल्प विद्यालय (Polytechnique Institute) स्थापित किया गया । इसके दो विभाग हैं । यहाँ पुस्तक-ज्ञान को गौण मान कर यांत्रिक ज्ञान को प्रमुख स्थान दिया गया है । बालकों को सिद्धांत रटने नहीं पढ़ते । यहाँ कई भवनों में भिन्न-भिन्न प्रकार के यंत्र लगे हैं । उन यंत्रघरों में जाकर बालक स्वयं उनकी 'क्रिया' का अध्ययन करते हैं । वे लोग रेडियो के कार्यक्रम में भी सम्मिलित होते हैं । फोटोग्राफी, ज्योतिष, गत्ते का काम, संग्रह, भोजन बनाना, स्काउटिंग, संगीत, वादविवाद और अभिनय आदि कलाएँ बालकों को सिखाई जाती हैं । इसका उद्देश्य बालकों की व्यावसायिक सामर्थ्य बढ़ाना है ।

---

(१५)

विषय-पाठन विधियाँ

पिछले पचास वर्षों में, शिक्षण के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। प्रत्येक विषय को पढ़ाने के लिए अलग-अलग विधियों का विकास हो रहा है। जिस प्रकार बालकों के मानसिक विकास को आधार मान कर नयी प्रणालियाँ आविष्कृत हुईं, इसी प्रकार प्रत्येक विषय की विशेषता को ध्यान में रखते हुए उनके पढ़ाने की विधि निर्मित की गई है और उस पर निरंतर प्रयोग होते जा रहे हैं। यूइनेस्को नामक विश्व संस्था ने अभी हाल में ही पाठन विधियों पर कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं (यथा A Handbook of Suggestions on the Teaching of Geography; The Teaching of Hand-writing. The Teaching of Reading आदि) इस संस्था के अन्तर्गत शिक्षण-विधियों और सहायक साधनों के विकास के लिए अनवरत परिश्रम जारी है। इन होने वाली खोजों के आधार पर प्रत्येक विषय के विशिष्ट अध्यापकों के लिए, विषय-पाठन विधियों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है:—

(१) मातृभाषा की शिक्षण-विधि—

शिक्षा में मातृभाषा का विशेष स्थान है। वास्तव में इसे शिक्षा की बुनियाद कहना उचित है। प्रत्येक विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मातृभाषा की जानकारी आवश्यक है क्योंकि यही एक माध्यम

है जिसके द्वारा बालक अन्य विषय पढ़ते हैं। मातृभाषा में सारी धार्मिक और वैज्ञानिक संस्कृति धरोहर के रूप में सुरक्षित है। फिर भी खेद है कि मातृभाषा के सिखाने की ओर से, स्कूलों में अध्यापक उदासीन रहते हैं। हमारे देश में पहले अंग्रेजी का साम्राज्य था, और मातृभाषा परित्यक्त थी। अब मातृ-भाषा को प्रधान पद मिला है परन्तु उसे 'मातृभाषा' समझ कर और सरल मानकर प्रायः उसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता। वास्तव में मातृभाषा की ओर उसके अध्यापक और अन्य विषयों के अध्यापकों का मिलकर ध्यान देना आवश्यक है।

शब्द-प्रतीकों की सहायता से दूसरों के विचारों और भावों को समझना; अपने विचारों और भावों को प्रकट करना; शब्द प्रतीकों को बोलना और लिख सकना; विचारों को सम्बद्धरूप से व्यक्त करने की शक्ति उत्पन्न करना; साहित्यगत अनुभवों का आनन्द लेने की क्षमता उत्पन्न करना आदि मातृ भाषा के अध्ययन के मुख्य उद्देश्य हैं। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऐसा प्रयत्न करना है कि बालक भाषा पर अधिकार प्राप्त कर ले। सैम्पसन (Sampson) के मतानुसार, प्रारंभ में बालक को इस योग्य बना देना चाहिए कि वह अपने विचार सीधे-सादे ढंग से व्यक्त कर सके, लिख सके—दूसरों की बात स्पष्ट सुनकर समझ सके, या पढ़ कर समझ सके। इसके लिए सरल भाषा में वार्तालाप करने का अभ्यास कराना उचित है। पुस्तकों के पढ़ने में रुचि पैदा करना बड़ा आवश्यक है। स्कूलों में मातृभाषा की एक पुस्तक पढ़ाई जाती है। यह प्रथा बड़ी दोषपूर्ण है। जहाँ तक हो, अधिक से अधिक पढ़ने का अवसर बालकों को देना चाहिए। तभी पढ़ने में रुचि बढ़ती है और साहित्य का आनंद बालक ले सकता है। बोलने और पढ़ने के साथ-साथ, बालकों को अपने विचार प्रकट करने तथा लिखने का अभ्यास करना भी आवश्यक है।

इस प्रकार मातृभाषा की शिक्षा के दो अंग हैं (१) ग्रहणशीलता का अभ्यास (Receptive work) (२) अभिव्यक्ति का अभ्यास (Expressive work)।

ग्रहणशीलता के अन्तर्गत सुनकर या पढ़कर समझने की शक्ति आ जाती है। कही गई बात को सुनकर समझने के लिए बालकों को कहानियाँ सुनाते हैं। इन प्रारंभिक अभ्यासों की बड़ी प्रशंसा (Handbook of Suggestion for Teachers: Board of Education, London में) की गई है क्योंकि यह विधि बालकों की रुचि के अनुकूल सिद्ध हो चुकी है। पढ़ने में रुचि जाग्रत करने के लिए तस्वीरों का प्रयोग करते हैं। कमरे में, एक शब्द लिखी हुई तस्वीरें टाँग दी जाती हैं और बालक उनके संबंध में और अधिक जानना चाहते हैं। तस्वीरों का अधिक हाल जानने के लिए वे पुस्तकें माँगते हैं, जिनमें छोटे-छोटे वाक्यों में सब कुछ लिखा होता है। वाक्यों के बाद, शब्दों की पहचान बताई जाती है। पहले शब्दों का उच्चारण करके अध्यापक सुनाता है, फिर उसका अर्थ वस्तु की सहायता से या अन्य उपकरणों के सहारे वह समझा सकता है। प्रारंभिक कक्षाओं में जोर से पढ़ना आवश्यक है परन्तु आगे की कक्षाओं में मन में पढ़ने का अभ्यास कराना चाहिए। पाठ्य-पुस्तकों के पाठों पर प्रश्न पूछकर बालकों की ग्राह्य-शक्ति का पता लगा लेना आवश्यक है। कविता के पाठ में, जोर से पढ़ना चाहिए, और उसका एक नमूना अध्यापक को स्वयं देना चाहिए। बालकों को मनोरंजनार्थ पढ़ने के लिए अवश्य प्रोत्साहित करना चाहिए। समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ, कहानियाँ, नाटक और एकांकी आदि की व्यवस्था आवश्यक है। कुछ शिक्षाचार्यों का विचार है कि पाठ्य-पुस्तकों की अपेक्षा, इस गौण पाठ्य-सामग्री का कहीं अधिक महत्व है। ऊँची कक्षाओं में इनका महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

उनके पढ़ने की विधि जानना भी आवश्यक है। विद्यार्थियों को इस बात का अभ्यास कराना उचित है कि वे अनावश्यक भागों को पढ़ते समय छोड़ते जायँ, अन्यथा इतनी अधिक पाठ्य-सामग्री वे पढ़ न सकेंगे। कभी-कभी इनके पढ़ने के पूर्व पृष्ठ संख्या या कुछ प्रश्न आदि दे देना चाहिये जिसमें विद्यार्थियों का ध्यान सीमित हो जाय। विशेषरूप से साहित्य के अध्ययन में इस प्रकार के चुनाव की बड़ी आवश्यकता है। साहित्य का आनन्द प्राप्त कराने के लिये उच्च कक्षाओं के बालकों को आलोचना के सिद्धांतों का भी ज्ञान करा देना चाहिए।

अभिव्यक्ति के अन्तर्गत 'बोलने और लिखने' के अभ्यास आ जाते हैं। बोलने का अभ्यास प्रारंभ से ही कराना आवश्यक है। भाषा की शुद्धता, नागरिकता और व्याकरण की ओर चाहे ध्यान न दे परन्तु बालकों की बोलने की शक्ति को विकसित करने का प्रयास प्रारंभ से होना चाहिए। सरल और स्वाभाविक ढंग से बोलना, जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसके लिए कक्षा में बालकों का परस्पर वार्तालाप तथा अध्यापक से प्रश्नोत्तर के अभ्यास उपयोगी सिद्ध हुए हैं। जिस विषय में बालकों को रुचि हो, उस पर बातचीत करने के लिए कुछ समय निकाल देना ठीक है। कुमारी वेलाक को इस प्रयोग में बड़ी सफलता मिली है। बालक चाहे जैसे बोलें पर निर्भीक तथा संकोच भाव से बोलें, इसका ध्यान रक्खा जाय। नाटकीय संवादों, बच्चों की कविताओं, कहानियों और चित्रों की सहायता से भाषा बोलने का अभ्यास कराया जा सकता है। भाषा बोलने के कई खेल कैल्डवेल कुक ने बताये हैं जिनमें बच्चों के भाषण (Littleman Lectures) प्रमुख हैं। इस कार्य में वाद-विवाद, गोष्ठी और पुस्तकों का परिचय देने का अभ्यास आदि बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। यह याद रखना

चाहिये कि बालक अनुकरण द्वारा अधिक सीखते हैं। इसलिये अध्यापक को भाषा का प्रयोग ठीक से स्वयं करना चाहिए। जिन शब्दों का उच्चारण, बालक नहीं कर सकते, उसे कई बार स्वयं बोलकर बताना चाहिए। इसके लिए ओठ और जबान चलाना, श्वास-क्रिया, कानों का प्रयोग, भावों का दमन आदि, आवश्यक अभ्यास कराते रहना चाहिए।

अभिव्यक्ति के अन्तर्गत लेखन भी आ जाता है। लेखन का ज्ञान कराने में सर्वप्रथम चित्र खींचने का अभ्यास आता है। अंगुलियों से कलम पकड़ना और सधे हुए ढंग से अक्षर लिखना इन दो बातों पर लिखने की कला निर्भर है। अतः प्रारंभ में बालकों को चित्र खींचना विशेष करके सीधी और फ़ंदेदार लाइन खीचना बताना चाहिए। फिर अक्षर खींचकर, बालकों से उस पर पेंसिल फिरवाना आवश्यक है, इससे उंगलियों का संचालन होने लगता है। सुंदर लिखावट प्रस्तुत करके बालकों से अनुकरण करने के लिए कहा जाय। लेखन एक जीवित कला है, अक्षरों को खींच कर लिख देने में ही 'लेखन' की इतिश्री नहीं हो जाती। लेखन का संबंध विचारों ओर भावों से हैं। लेखन द्वारा बालकों की रचनात्मक और कल्पनात्मक शक्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं। तर्कपूर्ण ढंग से विचार प्रकट करना, यथातथ्य वर्णन प्रस्तुत करना और अपने भावों और संवेदनाओं को दूसरों तक पहुँचाना, लेखन-कला का मुख्य उद्देश्य है। इसी के लिये, वाक्य-रचना; वाक्यों में छूटे हुए शब्दों की पूर्ति, प्रश्नों का उत्तर देना; चित्रों पर दिये गये प्रश्नों का उत्तर देना; शब्दों की सूची की सहायता से कहानी लिखना; संकेतों या चित्रों की सहायता से कहानी लिखना, मुहावरों और शब्दों का प्रयोग करना आदि ऐसे अभ्यास हैं, जिनकी सहायता से मातृ-भाषा का ज्ञान कराया जा सकता है। आगे चल कर निबंध-रचना

पर जोर देना चाहिए। निबंध-रचना का अभ्यास कराने के लिए पहले पर्यवेक्षण (Observation) पर ज़ोर देना उचित है; विषय की पूरी जानकारी बालकों को इसके द्वारा प्राप्त हो जाती है। कक्षा में वार्तालापों और प्रश्नोत्तरों द्वारा उनकी विचारशक्ति को जाग्रत करना उचित है। इस कार्य में पत्रों का प्रयोग लाभदायक सिद्ध हुआ है। छोटे-छोटे वर्णनों का लिखना (जैसे यात्राओं, प्राकृतिक दृश्यों, पशुओं के वर्णन), पुस्तकों का सिंहावलोकन, स्कूल पत्रिका के जिए लेख, कहानी और एकांकी आदि का लिखाना आदि उपयोगी अभ्यास हैं। इन अभ्यासों में होने वाली भूलों का संशोधन करना बड़ा जरूरी है और उन्हें कारण सहित समझा देना चाहिए।

भाषा की शिक्षा में व्याकरण के महत्व को ठीक से निर्धारित करना सहज नहीं है। यह विवादास्पद प्रश्न है। अपने आप में व्याकरण का अध्ययन महत्वपूर्ण नहीं हैं—यह तो शुद्ध भाषा लिखने और बोलने में एक सहायक साधन मात्र है। व्याकरण के सहारे मातृभाषा की शिक्षा देना अनुचित है। मातृभाषा की शिक्षा स्वाभाविक होना चाहिए। केवल अशुद्धि होने पर व्याकरण के सहारे से काम चला सकते हैं। जब पूर्ण रूप से भाषा का ज्ञान हो जाय तो व्याकरण के सिद्धान्त बताने में कोई हानि नहीं होती। व्याकरण का ज्ञान कराने में अगमन-विधि का प्रयोग कर सकते हैं।

कविता पढ़ाने की विधि के संबंध में कुछ बातें उल्लेखनीय है। कविता का संबंध भाव-पक्ष से है। कवि और पाठक के बीच एकत्व उत्पन्न करना कविता का मुख्य उद्देश्य होता है। इसलिए बालकों को कविता पढ़ाने में विश्लेषण-प्रणाली (Analytical Method) का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उससे कविता का सम्पूर्ण प्रभाव नष्ट हो जाता है। कविता के पढ़ाने में 'कविता-पाठ' एक महत्वपूर्ण अंग है। यदि कविता पढ़ने का ढंग आकर्षक नहीं है, तो उसका सारा

प्रभाव नष्ट हो जाता है। प्रारम्भ में बालकों को ऐसी कविताएँ पढ़ानी चाहिएँ जिनका उनके जीवन से सीधा संबंध हो। लोक-गीतों में बालकों को बड़ा आनन्द मिलता है। घर में वे अपनी माता को गाते हुए सुनते हैं और उन्हें उसमें आनन्द मिलता है। विचारों की स्पष्टता, भावों की कोमलता, भाषा का प्रवाह और लय आदि गुणों से पूर्ण कविताएँ बालकों को प्रेरणा देती हैं। जहाँ कहीं कठिन विचार हों, या भाषा दुरूह हो, या अलङ्कार हो, उन प्रसङ्गों का विश्लेषण करके समझा देना चाहिए परन्तु विशेषरूप से संश्लेषण-प्रधान विधि से पढ़ाना उचित है। कविता पढ़ाने में अभिनय, भावभङ्गिमा, और मुखमुद्रा आदि का प्रदर्शन, बड़ा सहायक होता है।

(२) अँग्रेजी की शिक्षण विधि—

भारतीय स्कूलों में अंग्रेजी भाषा का महत्व कम होता जा रहा है परन्तु मातृभाषा के बाद अंग्रेजी की शिक्षा मुख्य मानी जाती है। अँग्रेजी विश्वभाषा है। अत: ज्ञान प्राप्त करने के लिये बालकों को इस भाषा की शिक्षा देना आवश्यक है। अँग्रेजी पढ़ाने का मूल उद्देश्य यह है कि बालक अँग्रेज़ी पढ़ कर या सुन कर समझने लगें, स्वयं बोल सकें और लिख सकें। मातृभाषा की भांति 'ग्रहणशीलता' और 'अभिव्यक्ति'—शक्तियों का अभिवर्धन, अँग्रेजी शिक्षण द्वारा होना उचित है। मातृभाषा के शिक्षण के संबंध में जो कुछ लिखा जा चुका है, वह अंगरेजी शिक्षण पर भी लागू होता है। कुछ अन्तर अवश्य होगा क्योंकि यह विदेशी भाषा है और उसे उतनी स्वाभाविकता से पढ़ाना कठिन है। प्रारंभिक कक्षाओं में अंगरेजी के पढ़ाने में अधिक श्रम करना पड़ता हैं और उसके लिये वैज्ञानिक अध्यापन शैली की आवश्यकता है।

भारत में अँगरेजी का ज्ञान, प्राय: व्याकरण की सहायता से कराया जाता है। यह विधि त्रुटिपूर्ण है। स्वाभाविक विधि से पढ़ाने के लिए, अब डाइरेक्ट विधि (Direct Method) का प्रयोग होता है। अंगरेजी के शब्द बालकों को रटाये नहीं जाते वरन् नये शब्दों का ज्ञान, सीधे उन वस्तुओं या क्रियाओं या गुणों का प्रत्यक्ष रूप से दिखा कर, कराया जाता है, जिनके लिये वे शब्द प्रयुक्त होते हैं। इससे यह लाभ होता है कि बालक शब्दों का अर्थ स्पष्ट रूप से समझ लेते हैं। यह विधि प्रश्नोत्तर विधि के आधार पर बनी है। बालक को एक वस्तु दिखाते हैं और बताते हैं—यह अमुक वस्तु है। फिर प्रश्न करते हैं—यह कौन सी वस्तु है ? यह प्रश्न कक्षा के प्रत्येक बालक से पूछा जाता है और बड़ी सरलता से एक शब्द बालकों को याद हो जाता है। दूसरा लाभ यह होता है कि बालकों को अंगरेजी बोलने का अभ्यास हो जाता है। इसमें बालक रुचि भी लेते हैं। साथ ही इस विधि में कई दोष हैं। इस विधि से प्रत्येक शब्द का ज्ञान कराना संभव नहीं हैं। समय भी अधिक लगता है और अनेक वस्तुओं को संग्रह करना पड़ता है। छोटी कक्षाओं में अंगरेजी पढ़ाने के लिए यह विधि सर्वोत्तम है।

अंगरेजी के अक्षरों का ज्ञान अनेक ढंगों से कराया जा सकता है। माँटेसरी और किंडरगार्टेन विधियों में इसके लिए अनेक खेल नियत हैं। शब्दों के शुद्ध उच्चारण का नमूना पहले अध्यापक स्वयं कक्षा में देता है और फिर प्रत्येक बालक से उसका उच्चारण कराता है। पाठ्य-पुस्तक के पढ़ाने में, प्रत्येक अनुच्छेद में आये हुए नये शब्दों को इसी विधि से बताते हैं; फिर पूरा अनुच्छेद अध्यापक जोर से पढ़ता है और दो चार बालकों से पढ़वाता है। कुछ प्रश्नोत्तर किये जाते हैं। यदि कोई विचार अस्पष्ट है तो अध्यापक उसे समझाता है। उच्च कक्षाओं में मन में पढ़ने का अभ्यास कराया

जाता है। शब्दों और मुहावरों का प्रयोग बालकों से अवश्य कराना चाहिए। जहाँ कहीं बालकों की समझ में अर्थ नहीं आता वहाँ मातृभाषा का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु यथासम्भव अंगरेजी में ही भाव स्पष्ट करने की चेष्टा की जाय और इस कार्य में चित्रों, चार्ट, नक्शे या वस्तुओं की सहायता ली जाय। बालकों की ग्रहण-शीलता (Comprehension) बढ़ाने के लिये उन्हें सरल भाषा में लिखी कहानियों या अपठित पुस्तकें पढ़ने में प्रोत्साहन देना आवश्यक है।

अंगरेजी लिखने का अभ्यास कराने के लिए कई उपाय हैं। श्याम पट पर अक्षर या शब्द बना-बनाकर लिख देना चाहिए। बालकों के मन पर इसकी गहरी छाप बनती है और उनके स्मृति चित्र (Images) अंकित हो जाते हैं। सुलेख की कापी का प्रयोग कर सकते हैं। इस बात का सर्वत्र ध्यान रखना चाहिए कि बालक जो भी लिखें सुंदर और हाथ साध कर लिखें। लिखने के समय बैठने का आसन जानना जरूरी है। कलम पकड़ना, घुमाना और उस पर नियंत्रण कराना आदि अच्छी तरह बता देना चाहिये। एक ही प्रकार से लिखना, जल्दी लिखना, साफ और शब्दों के बीच जगह छोड़-छोड़ कर लिखना आदि जैसी अच्छी आदतें सिखाना आवश्यक है। शब्दों की स्पेलिंग याद कराने के लिए रटाना अच्छा नहीं है। खेल-विधि द्वारा यह कार्य सरलता से किया जा सकता है। अक्षरों की सहायता से शब्द बनाने के बहुत से खेल हैं जिन्हें कक्षा में बालक बड़े चाव से खेलते हैं। विशेष रूप से वे शब्द जिनकी स्पेलिंग बालक प्रायः अशुद्ध लिखते हैं, खेलों की सहायता से बताये जाते हैं।

निबंध-लेखन और व्याकरण के शिक्षण के संबंध में, प्रायः वही कला प्रयुक्त होती है, जिसका विवरण मातृभाषा के शिक्षण के अन्त-

गंत दिया जा चुका है। अँगरेजी की शिक्षा में अनुवाद का मुख्य स्थान है, अतः इस संबंध में कुछ सुझाव दिये जाते हैं। वास्तव में अनुवाद द्वारा मातृभाषा की सहायता से अँगरेजी का ज्ञान कराया जाता है। अनुवाद की विधि डाइरेक्ट विधि के विपरीत है। अनुवाद विधि में दोष यह है कि भाषा की असली प्रकृति(Nature) बालकों की समझ में नहीं आती। अनेक बालक ज्यों का त्यों (Literal) अनुवाद करने के फेर में अँगरेजी भाषा का रूप विकृत कर देते हैं और उन्हें जीवन भर अँगरेजी में विचार प्रकट करना नहीं आता। इसलिये अनुवाद कराने में भावों को स्पष्ट रूप से व्यक्त कराने पर जोर देना चाहिये; हिंदी के शब्दों के अंगरेजी पर्यायवाची शब्द ढूँढ़कर लिख देना, पर्याप्त नहीं है। कुछ शिक्षाचार्यों का मत है कि अँगरेजी से मातृभाषा में अनुवाद कराना लाभदायक होता है।

(३) गणित की शिक्षण विधि—

पाठ्यक्रम में गणित का सदैव से प्रमुख स्थान रहा है। इस विषय में शुद्ध विचारों का प्राधान्य है। अंकों और स्थान (Space) के आधार-भूत सिद्धान्तों की शिक्षा इस विषय द्वारा दी जाती है। प्राचीन शिक्षण प्रणाली में मुख्य दोष यह है कि गणित के सिद्धांत तो बालकों को ज्ञात हो जाते हैं परन्तु उनका जीवन में क्या महत्व है, यह बालकों की समझ में तनिक भी नहीं आता। वर्तमान गणित अध्यापन में गणित को उपयोगिता की दृष्टि से बालकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। विशेष रूप से दैनिक जीवन में गणित के कुछ सिद्धान्तों का प्रयोग होता ही है परन्तु आज के वैज्ञानिक युग में इस विषय का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है।

गणित विषय के पढ़ाने में, अध्यापक को ठोस पदार्थों, वस्तुओं, चित्रों, और डाइग्रामों का प्रयोग करना चाहिए। रंगीन काग़ज,

रंगीन बत्तियों, दफ्ती, कैंची, तराजू और कुतुबनुमा आदि की सहायता से अनेक सिद्धांत बड़ी आसानी से बताये जा सकते हैं। मॉंटेसरी और किंडर गार्टेन विधियों में रेखागणित की आकृतियों का ज्ञान ठोस वस्तुओं की सहायता से सरलतापूर्वक करा दिया जाता है। बालक के जीवन से संबंधित समस्याओं को हल करने में गणित का उपयोग कराना चाहिए, जैसे बच्चे अनेक वस्तुएँ स्वयं खरीदते हैं, दूकान धरते हैं या दूसरे खेल खेलते हैं जिनमें गणित के आधारभूत सिद्धांत प्रयुक्त होते हैं; यह ऐसे अवसर हैं जिनका उपयोग गणित के सिखाने में किया जा सकता है। गणित के सिद्धांत एक दूसरे से जुड़े होते हैं। अतः अगले सिद्धांत सिखाते समय पिछले आधारभूत (Fundamental) सिद्धांतों को दुहरा लेना चाहिए और यह निश्चय कर लेना चाहिए कि बालक उन पिछले सिद्धान्तों को भली भाँति समझते हैं या नहीं। गणित का विचारों और व्यवहार की आदतों से घनिष्ठ संबंध है, जैसे सही और शुद्ध विचार, सफाई, गीत, पर्यवेक्षण, मौलिक चिंतन, सादगी और ईमानदारी। इन गुणों के विकास पर समुचित ध्यान देना आवश्यक है। अंकों की गणना आदि में मानसिक कार्य करने पर जोर देना उचित है। जहाँ तक सम्भव हो, साधारण जोड़, बाकी, गुणा और भाग के कार्य जबानी और मन में करने का अभ्यास करना लाभप्रद है। जरा से काम के लिए कागज पेंसिल ढूँढ़ने की आदत अच्छी नहीं होती। गणित के उत्तरों को जाँचने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। बालक स्वयं देखें कि उत्तर और प्रश्न हल करने का ढंग ठीक है अथवा नहीं।

गणित एक वृहद् विषय है, जिसके कई अंग हैं जैसे अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित। इन अंगों के कई भेद हैं। इन अंगो और प्रत्यगों का ज्ञान कराने के लिए विविध विधियाँ हैं। गणित पढ़ाने के लिए पहले पूर्णांकों और भिन्नांकों का ज्ञान सबसे पहले

कराया जाता है। पूर्णांकों के विषय में स्थूल वस्तुओं का सहारा ले सकते हैं और भिन्नों का प्राथमिक ज्ञान एक ऐसे वर्गाकार टुकड़े से कराते हैं, जिसके अनेक खंड हो सकते हैं, जिनके मिलाने से वर्ग फिर बन जाता है। गणित के आधारभूत सिद्धान्तों—जोड़, बाकी, गुणा और भाग का ज्ञान भी स्थूल वस्तुओं की सहायता से करा सकते हैं। इन सिद्धान्तों के लिए नियत चिन्हों (+, —, × और ÷ आदि) का भी ज्ञान कराया जाता है। चौकोर खाने वाले कागज (ग्राफ पेपर), दिशा, तराजू आदि के चित्रों से सहायता ली जा सकती है।

गत वर्षों में बीजगणित और रेखागणित की पाठन विधि में अनेक परिवर्तन हो गये हैं, उसका कारण है, इन क्षेत्रों में होनेवाली अनेक खोजें। नयी विचारधारा के अनुसार गणित एक ऐसा विज्ञान है, जिसका प्रारंभ कुछ स्वयंसिद्धमान्यताओं (Postulates or Assum ptions) से हुआ है। वे मान्यताएँ आज तक सिद्ध नही हो सकी हैं। रेखागणित की पढ़ाई पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा है। शिक्षाचार्यों का मत है कि 'बिंदु' या 'रेखा' आदि की परिभाषाएँ प्रारंभ में बालकों को नहीं बतानी चाहिए—केवल उन्हें दिखाकर बता देना ठीक होता है। दो त्रिभुजों की अनुरूपता एक को दूसरे पर रखकर नहीं सिद्ध करना चाहिए। सामानान्तर रेखाओं के संबंध में होने वाले वाद-विवाद को प्रारंभ की कक्षाओं में लाना ठीक नहीं। 'दिशा' का ज्ञान समानान्तर रेखाओं को पढ़ाने के बाद कराना चाहिए। छोटे बालक को केवल कुछ साध्य जो बहुत ही आवश्यक और मुख्य है, पढ़ाना चाहिए और उनकी सहायता से दूसरी साध्य सिद्ध कराना अच्छा है। रेखागणित की शिक्षा को तीन खंडों में बाँटना चाहिए। प्रथम खंड प्रायोगिक खंड कहलाता है। इस खंड में बालकों को प्रयुक्त होने वाले यंत्रों, जैसे पटरी, परकार, चाँदा आदि का प्रयोग सिखाते

हैं। निगमन खंड (Deductive stage) में कुछ कठिन साध्य जैसे सामानान्तर, अनुरूपता आदि बालकों को समझाकर मान लेने के लिए कहते हैं। तृतीय खंड संश्लेषण (Synthetic stage) में बालकों का ज्ञान पूर्णरूप से व्यवस्थित कराया जाता है। रेखागणित के अध्यापन की सफलता, मान्यताओं (Assumptions) को बालकों के मन में अच्छी तरह बिठलाने पर निर्भर है। इसके बाद विश्लेषण-प्रधान विधि का आश्रय लेना चाहिए। विश्लेषण द्वारा एक सिद्धान्त का सम्बन्ध दूसरे सिद्धान्त से जोड़ते चले जाते हैं और अंत में साध्य को सिद्ध कर लेते हैं। किसी साध्य की साधारण प्रतिज्ञा देने की अपेक्षा उसकी मुख्य प्रतिज्ञा किसी आकृति के संबंध को लेकर देना चाहिए। इस विधि से बालकों को साध्य के समझने में आसानी होती है। प्रत्येक समस्या पहले बालक ही हल करने की चेष्टा करें; अध्यापक तुरंत सहायता न करे। यदि कक्षा का एक बालक उसे हल कर ले, तो उससे कठिन कुछ समस्या दी जाय। जब कक्षा के सभी बालक या अधिक बालक पहली समस्या को हल कर लें तो एक या दो लड़कों से पूछना चाहिए कि उन्होंने उस प्रश्न को कैसे हल किया। यदि कोई भी उसे हल न करे, तो प्रश्नों की सहायता से अध्यापक उसकी प्रत्येक कड़ी (Link) को अलग-अलग प्रश्नों द्वारा, स्पष्ट कराये। यदा-कदा पाठ्य पुस्तक का हवाला दे सकते हैं। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक प्रत्येक पद ठीक से लिखते हैं या नहीं। उसी प्रकार के दूसरे प्रश्न देकर प्राप्त ज्ञान का उपपोग करा देना अत्यंत आवश्यक है।

(४) इतिहास की शिक्षण-विधि——

एक समय था जब इतिहास, केवल आख्यान मात्र (Chronicle) गिना जाता था और साहित्य का एक साधारण अंग था। धीरे-धीरे इतिहास एक स्वतन्त्र विषय बन गया। हरबार्ट (Herbart) और

जीलर (Ziller) जैसे शिक्षाशास्त्रियों ने इतिहास को पाठ्यक्रम की जान माना है और इसी की सहायता से अन्य विषयों के पढ़ाने की सलाह दी है। इतिहास की परिभाषा अब बदलती जा रही है। मनोरंजनपूर्ण तथा कल्पनात्मक इतिवृत्त न होकर अब इतिहास विज्ञान बन गया है। प्राचीन इतिहासकार सत्य को, नमक मिर्च लगाकर प्रस्तुत करते थे। उनका उद्देश्य राजनैतिक या धार्मिक प्रचार करके स्वार्थसिद्ध करना रहता था। उनके इतिहास में कुछ इने-गिने राजा और रानियों की जीवन-गाथा रहती थी। आज वह स्थिति बदल गई है। इतिहास एक विज्ञान माना जाता है। इतिहास का उद्देश्य अतीत का शोधात्मक चित्र प्रस्तुत करना है। यह समस्त मानव-जाति के विकास की सच्ची कथा है।

स्कूलों में इतिहास पढ़ाने के कई उद्देश्य हैं; यथा (१) बालकों की स्मृति, कल्पना तथा विचार शक्तियों को पुष्ट करना, (२) नैतिकता, राष्ट्रीयता और विश्वबंधुता का भाव जाग्रत करना, (३) नागरिकता का भाव उत्पन्न करना, (४) राष्ट्र की वर्तमान समस्याओं का कारण तथा उनकी उत्पत्ति का विश्लेषण करना आदि। इतिहास के अध्यापकों का कर्तव्य है कि इन सदुद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न करते रहें।

स्कूलों में इतिहास पढ़ाने के लिए, सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि पाठ्य सामग्री का बहुत समझ-बूझकर चयन किया जाय। 'इतिहास' एक व्यापक शब्द है। इतिहास को अखंड माननेवाले कहते हैं कि मानव जाति के विकास को ही 'इतिहास' मानना चाहिए; परंतु व्यावहारिक दृष्टि से इतिहास के अनेक उपांग हैं, जैसे राष्ट्र का इतिहास, प्रांत या नगर का इतिहास, साहित्य, राज-नीति, समाज, धर्म, विधान, संस्कृति आदि के अलग-अलग इतिहास, युग-विशेष, देश-विशेष, या जाति-विशेष के इतिहास आदि। इससे

जाना जा सकता है कि इतिहास कितना विस्तृत विषय है। अतः इतिहास की समस्त सामग्री का चुनाव पहले कर लेना उचित है। किसी भी देश के इतिहास को कई 'कालों' (Periods) में बाँट लेना चाहिए। एक काल में जो पहलू (जैसे धार्मिक, या राजनैतिक या सांस्कृतिक) प्रधान हो, उसी पर जोर देना उचित है। उससे संबंधित अन्य पहलू साधारण रूप से बताये जायँ। इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि एक काल का दूसरे काल से संबंध न टूटने पाये क्योंकि एक काल का दूसरे काल से कार्य-कारण का संबंध रहता है। गॉक (Gooch) नामक विद्वान का कथन है कि देश के प्रारंभिक इतिहास में सामाजिक रीति-रिवाजों और सभ्यताओं के बारे में ही वर्णन हो तो अच्छा है।

वर्तमान काल में होनेवाली मनोवैज्ञानिक खोजों ने इतिहास के अध्यापन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। स्टैनले हाल (Stanley Hall) के 'संस्कृति-काल विशेष' सिद्धांत (Culture-Epoch Theory) के अनुसार मानव जाति अपने विकास के जिन चरणों से होकर गुजरी है उन्हीं चरणों से होकर प्रत्येक मनुष्य का जीवन विकसित होता है। अर्थ यह कि मानव-जाति अपने बचपन में जिन विशेषताओं से पूर्ण थी, वही विशेषताएँ प्रत्येक व्यक्ति के बचपन में पाई जाती हैं। अतः इतिहास के पाठ्य-क्रम की योजना इस सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए करना चाहिये। इस दृष्टि से प्राचीन काल का इतिहास प्राथमिक कक्षाओं में, मध्ययुग का इतिहास जूनियर कक्षाओं में और वर्तमान काल का इतिहास हाईस्कूल और कालेज में पढ़ाना उचित है। इस सिद्धांत की सत्यता में संदेह है परन्तु इसके द्वारा इतिहास के पाठ्य-क्रम का आयोजन करने तथा अध्यापन में काफी सहायता मिली है।

कार्लाइल (Carlyle) नामक विद्वान के 'महान व्यक्ति' वाले

सिद्धान्त (Great Man Theory) के अनुसार बचपन में केवल महान ऐतिहासिक व्यक्तियों का जीवन-वृत्त पढ़ाना चाहिये क्योंकि बालक अल्प आयु में सूक्ष्म सिद्धान्तों को समझ नहीं सकते; दूसरे इन महान व्यक्तियों द्वारा ही इतिहास का निर्माण होता है, वही बड़े-बड़े आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों को जन्म देते हैं। यह सिद्धान्त भी इतिहास-पाठन में उपयोगी सिद्ध हुआ है, परन्तु यह सिद्धान्त प्रजातांत्रिक युग के विपरीत है। महान व्यक्ति प्रायः विद्रोही होते हैं और उनके जीवन से बालक वही भाव ग्रहण कर सकते हैं। अतः पढ़ाते समय इन महान व्यक्तियों के साथ-साथ उन असंख्यक नर-नारियों की ओर भी बालकों का ध्यान आकर्षित करना उचित है, जो उस युग के आन्दोलनों में भाग लेते हैं। याद रखना चाहिए कि महान व्यक्ति वही नहीं हैं, जो विजेता या सम्राट् बन जाते हैं वरन् शांति, धर्म, साहित्य और समाज के निर्माण करनेवाले भी महान् होते हैं और उनको इतिहास में उचित स्थान देना चाहिए। इस सिद्धांत के अनुसार पढ़ाने में लाभ यह हैं कि बालकों को इतिहास में मानव जीवन का चित्र देखने को मिलता है और उन्हें पूर्ण आनंद आता है।

इतिहास की पाठ्य-सामग्री के चयन में दो सुझाव और दिये गये हैं और वे एक दूसरे के विरोधी हैं। एक सुझाव यह है कि बालकों को पहले विश्व इतिहास पढ़ाना चाहिए ताकि उनके मन पर एक सम्पूर्ण प्रभाव पड़े। बालक देख लें कि विभिन्न देशों, जातियों और संस्कृतियों का अतीत काल में कितना और कैसा संबंध रहा है। इसके बाद अपने देश का इतिहास उन्हें पढ़ाना चाहिए। इससे विश्व-बंधुत्व की भावना उत्पन्न होगी। इस सिद्धांत के विरोधी कहते हैं कि प्रारंभ में इतना विस्तृत क्षेत्र बालकों के आगे प्रस्तुत करना हानिकर है और अमनोवैज्ञानिक है। वे कहते हैं कि प्रारंभ

में स्थानीय इतिहास (Local History) से पढ़ाई शुरू करना उचित है। बालक को उसके गाँव या नगर का इतिहास पहले पढ़ायें, फिर प्रांत का, और देश का, और अंत में विश्व का इतिहास पढ़ाना चाहिए। इससे बालकों को समझने में आसानी होगी। आजकल समन्वय पर जोर दिया जाता है अर्थात् दोनों विधियों को मिलाकर इतिहास पढ़ाया जाता है।

शिक्षा-शास्त्री हरबार्ट के मत में इतिहास को केन्द्र मान कर अन्य विषयों को उससे सानुबंधित (Correleted) करके पढ़ाना चाहिए। योजना-विधि (Project Method) के समर्थकों का भी लगभग यही विचार है। विशेष रूप से इतिहास का भूगोल, साहित्य और हस्तकौशल से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। इस दृष्टि से बुनियादी शिक्षा में इतिहास को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। विद्वानों का मत है कि देश की भौगोलिक स्थिति का वहाँ के निवासियों के रहन-सहन, स्वभाव, भोजन तथा संस्कृति पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। इतिहास और साहित्य का संबंध, वर्णन शैली के आधार पर पूर्ण रूप से स्थापित किया जा सकता है। नागरिक शास्त्र का भी इतिहास से गहरा संबंध है। वर्तमान शासन-प्रणाली, उसके विकास तथा नागरिकता का उदय, आदि ऐसे प्रश्न हैं जिन पर इतिहास के अध्ययन से ही प्रकाश पड़ता है। इतिहास तथा अन्य उपर्युक्त विषयों का संबंध तो निश्चित है। अब प्रश्न यह है कि अध्यापन में यह संबंध कैसे स्पष्ट किया जाय। इसकी दो विधियाँ हैं। एक है आकस्मिक सानुबंध विधि, जिसमें अध्यापक को पहले से कोई तैयारी करने की आवश्यकता नहीं है। कक्षा में पढ़ाते समय जब वह उचित समझे, दूसरे विषयों के बारे में या उनकी सहायता से इतिहास के बारे में संकेत कर सकता है। दूसरी त्रिधि व्यवस्थित सानुबंध की है। इसके लिये पहले से पाठ योजना के समय तैयारी कर लेनी

पड़ती है। अध्यापक सोच लेता है कि किन प्रसंगों में दूसरे विषयों का उल्लेख किया जा सकता है और कैसे किया जा सकता है। इसके लिए सभी विषयों के अध्यापकों से परामर्श करना उचित है। इतना अवश्य याद रखना चाहिये कि सानुबंध के लिए जबरदस्ती ठूँस-ठाँस न की जाय और इतिहास का बलिदान अन्य विषयों के लिए न किया जाय।

इतिहास पढ़ाने में कई विधियों से काम ले सकते हैं। (१) **सम्पूर्ण विधि** (Concentric Method) जिसमें प्रत्येक कक्षा में पूरा इतिहास पढ़ाया जाता है, प्रायः स्कूलों में प्रयुक्त होती है। बालक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते हैं, विषय विस्तृत होता जाता है। इस विधि में दोष यह है कि बार-बार वही घटनायें पढ़ते-पढ़ते बालक ऊब जाते है और एक वर्ष में इतनी अधिक सामग्री पढ़ानी पड़ती है कि अध्यापक सब प्रसङ्गों को अच्छी तरह समझा नहीं पाता। अच्छा तो यह है कि इस विधि से पढ़ाते समय पहले, प्रारम्भिक कक्षाओं में महान व्यक्तियों के बारे में पढ़ाया जाय, फिर मध्य की कक्षाओं में वर्णन तथा घटनायें बताई जायँ और ऊँची कक्षाओं में आलोचनात्मक दृष्टिकोण से अध्यापन हो। (२) **तिथिवार या काल-विभाग विधि** में एक काल का इतिहास एक कक्षा में और आगे के कालों का इतिहास आगे की कक्षाओं में पढ़ाते हैं। इस विधि में दोष यह कि इतिहास खंडों में बँट जाता है और लम्बे तथा कई युगों तक चलानेवाले आन्दोलनों को समझाने में कठिनाई होती है। बालक आगे पढ़ते जाते हैं और पीछे भूलते जाते हैं; उन्हें दुहराने का अवसर नहीं मिलता। (३) विषयवार विधि—में पहले इतिहास को कई कालों में बाँट लेते हैं और प्रत्येक काल की मुख्य-मुख्य घटनाओं को एक-एक विषय मानकर पढ़ाते हैं, जैसे हिन्दू काल में, सिकन्दर का आक्रमण, मौर्य साम्राज्य, बौद्धधर्म का

उत्थान-पतन, गुप्त-साम्राज्य का स्वर्णयुग आदि। इस विधि से पढ़ाने में अध्यापक को सरलता होती है। अतः यही विधि स्कूलों में प्रचलित है। (४) प्रत्यावर्तन विधि (Regressive Method) या पीछे लौटने की विधि में अध्यापक किसी भी वर्तमान समस्या को लेता है और बालकों को उस पर विचार-विमर्श करने के लिए प्रोत्साहित करता है। फिर वह उस समस्या को भूतकाल की घटनाओं से जोड़ता हुआ बताता है कि कैसे वह समस्या उत्पन्न हुई, उदाहरण के लिए भारतीय समाज में प्रचलित छूत-छात के भेदभाव की समस्या का क्रम से ब्रिटिश-काल, मुगल-काल, हिन्दू-काल और वर्ण व्यवस्था तक संबन्धित करते हुए पीछे लौट सकते हैं। इससे बालकों को इतिहास पढ़ने का वास्तविक लाभ मिलता है, परंतु प्रत्येक समस्या इस प्रकार अतीत की ओर मुड़कर नहीं समझायी जा सकती। इस विधि से पढ़ाने में असुविधा भी होती है और सभी प्रसंग आ भी नहीं पाते।

इतिहास की पढ़ाई प्राथमिक तथा उच्च कक्षाओं में बालकों के मानसिक विकास की दृष्टि से होनी चाहिए। प्राथमिक कक्षाओं में स्कूल और स्थानीय घटनाओं का वर्णन और व्यक्तियों का जीवनवृत्त पढ़ाना चाहिए। माध्यमिक कक्षाओं में जन-आन्दोलनों और समस्याओं पर ज़ोर देना उचित है और उच्च कक्षाओं में आलोचना, कारण और परिणाम तथा मनन की ओर बालकों का ध्यान आकर्षित करने की आवश्कता है।

इतिहास के अध्यापन को सफल बनाने के लिए कई बातों का ध्यान रखने की आवश्यकता है। कक्षा में दो श्याम पटों का होना लाभदायक है। एक पर शीघ्रता से रेखाचित्र, लड़ाइयों के चित्र या समय-रेखा आदि खींच सकते हैं और दूसरे पर पाठ का

सारांश लिख सकते हैं । इससे पाठ पढ़ाने में सुविधा होती है । ऐतिहासिक नक्शों जैसे युद्धों के नामों या साम्राज्यों के नक्शे आदि का प्रयोग वांछनीय हैं । इतिहास के शिक्षक में कुछ विशेष गुणों का होना आवश्यक है । उसे अपने विषय का पूरा ज्ञान होना चाहिए और साथ ही उसे अन्य विषयों का भी साधारण ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते रहना चाहिए । उस को तटस्थ भाव से प्रत्येक समस्या पर विचार करने के लिए निष्पक्ष रहना आवश्यक है । 'वादों' की सीमा से मुक्त रहने पर ही यह गुण आ सकता है। हर प्रकार के महापुरुषों के विषय में उसे सहानुभूति रखनी चाहिए। उसकी वर्णन-शैली अभिनयात्मक तथा प्रभावशाली हो, तभी बालको पर प्रभाव पड़ सकता है । इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में प्राचीन भवनों, किलों, मूर्तियों, सिक्कों कौर प्रसिद्ध पुरुषों के चित्र होना आवश्यक है। अच्छा है, यदि पुस्तकें ऐसी शैली में लिखी हों, जिससे बालकों को साहित्यिक आनन्द प्राप्त हो । माडेल, तस्वीरें, ऐतिहासिक 'वस्तुओं, पुरातत्व की सामग्री, सिक्के, हथियार, हस्तलिखित पुस्तकें, वस्त्र और आभूषण आदि का संग्रह करके किसी कमरे में एक संग्रहालय स्थापित कर देना चाहिए जिनका समय-समय पर पाठ पढ़ाने में प्रयोग किया जा सके । विद्यालय में इतिहास का एक अलग कमरा होना चाहिए जो सब प्रकार से सुसज्जित रहे और उसमें एक विभागीय पुस्तकालय रहे। उसमें महापुरुषों के चित्र, सेना के मार्ग, यात्रियों के मार्गों के चित्र, चारों दीवारों पर समय-रेखा आदि की पूर्ण व्यवस्था होना उचित है । इतिहास जानने के विभिन्न साधनों की सहायता से बहुत-कुछ विषय पर प्रकाश डाला जा सकता है। इतिहास के शिक्षण में अभिनय का प्रयोग सरलतापूर्वक किया जा सकता है । विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ अब चित्रपट का उपयोग भी इतिहास के शिक्षण में किया जाने लगा है ।

(५) भूगोल शिक्षण-विधि—

प्राचीन भूगोलवेत्ता, भूगोल को पृथ्वी और उसके निवासियों का विवरणमात्र मानते थे परन्तु आज यह वर्ण्य विषय नहीं माना जाता। आधुनिक विचारधारा के अनुसार भूगोल उन कारणों के अध्ययन का विज्ञान है, जिनसे पृथ्वी और उसके निवासियों की उत्पत्ति हुई। हम जो कुछ पृथ्वी तल पर देखते हैं, वे सब कुछ 'कारणों' (Cause) के परिणाम हैं। अतः भूगोल के अध्ययन में सर्वप्रथम उन 'कारणों' के पढ़ाने पर जोर दिया जाता है। यह कारण केवल थोड़े हैं, यथा प्राकृतिक दशा, भूमि की रचना, जलवायु, वनस्पति और जीव। यह कारण एक दूसरे को परस्पर प्रभावित करते रहते हैं। धीरे-धीरे भूगोल ने विज्ञान का रूप धारण कर लिया है। इसके पढ़ने से बालकों का ज्ञान विकसित होता है। बालकों को अनेक ऐसी बातों की जानकारी प्राप्त होती है, जिनका वे स्वयं अपने अल्प जीवन में नहीं अनुभव कर सकते।

भूगोल के शिक्षण में 'यथार्थ' का अधिक से अधिक समावेश करने की आवश्यकता है। कक्षा में, या आरामकुर्सी पर लेटकर इसका अध्ययन करना संभव नही है। पुस्तकें केवल सहायक मात्र हैं। उनकी सहायता पर पूर्ण रूप से निर्भर रहना अनुचित है। भूगोल के पढ़ाने में निरीक्षण का बहुत अधिक महत्व है। प्रारंभ से ही बालकों को इसका अभ्यास कराना चाहिए। छोटे बच्चों को अपने घर के आसपास, गाँव और नगर के प्राकृतिक वातावरण का भली-भाँति निरीक्षण कराना चाहिए। विदेशों का भूगोल तो बाद में ही बताना चाहिए। प्रारंभ में यदि अनुभव की नींव गहरी पड़ गई, तो संसार का भूगोल समझने में सरलता होगी।

भूगोल के अध्ययन का मूल केंद्र 'मनुष्य' है। अध्यापन के बीच

में आने वाले अवसरों पर यथा-सम्भव बालकों का ध्यान इस ओर अवश्य दिलाना चाहिए कि मनुष्य के विकास पर कैसे प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। यदि इस मुख्य पहलू पर ध्यान रक्खा जाय तो भूगोल का अन्य विषयों से स्पष्ट संबंध दिखाई देने लगेगा। इतिहास, नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र और वाणिज्य आदि भौगोलिक परिस्थितियों में उत्पन्न हुए हैं। इस महत्व-पूर्ण बात की ओर संकेत करते रहना उचित है।

भूगोल की पाठ्य-सामग्री का चयन, कक्षाओं के अनुसार होना चाहिए। प्राथमिक कक्षाओं में पारिभाषिक शब्दों, जैसे समुद्र, पर्वत, मैदान और नदी आदि का ज्ञान करा देना आवश्यक है। इस कार्य में तस्वीरों और माडेल का उपयोग करना उचित है। नक्शे का उपयोग करने की शिक्षा देना इसी समय से आरम्भ किया जाय और पहले स्कूल या गाँव का नक्शा बालकों को समझाया जाय। नगर और प्रांत का भूगोल विस्तार से बताना उचित है परन्तु भारतवर्ष और पृथ्वी के भूगोल का केवल साधारण ज्ञान कराना चाहिये। जूनियर की कक्षाओं में प्रांत, देश और संसार का भूगोल अधिक विस्तार से बताना उचित है। हाई स्कूल में इसका विस्तार और भी बढ़ जाता है। प्रारम्भ में केवल निरीक्षण और साधारण वर्णनों से काम चलाते हैं परन्तु ऊँची कक्षाओं में 'कारणों' और 'परिणामों' के अध्ययन पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

भूगोल के अध्यापन में नक्शे का कितना अधिक महत्व है, इस प्रकार प्रकाश डालना अनावश्यक है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि बिना मानचित्रों के भूगोल की पढ़ाई सम्भव नहीं। इनकी सहायता से जो बातें थोड़े समय में अधिक प्रभावोत्पादक ढंग से बताई जा सकती है, उन्हें पुस्तकों की सहायता से पढ़ाने में न जाने कितना समय और परिश्रम लगता है। भौगोलिक मानचित्र अनेक प्रकार के होते हैं। प्रारंभिक कक्षाओं के बालकों के लिए प्रयुक्त होनेवाले

मानचित्रों में चित्रों का प्रयोग होना चाहिए, जैसे प्रत्येक जिले, या नगर में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के चित्र, जैसे अनाज, कपड़े, मिलें आदि बने होने चाहिएँ। प्राकृतिक दशा के दिखाने में चमकीले रंगों का प्रयोग, नक्शों को आकर्षक बना देता है। चित्रों के देखते ही बालक समझ लेते हैं कि अमुक स्थान में वन, या पर्वत, भेंड़ या अन्य पशु पाये जाते हैं। बालकों को नक्शों का प्रयोग सिखाने के अनेक ढंग हैं। उनमें से एक उत्तम ढंग है, पहले वायुयान द्वारा लिये गये नगरों आदि के चित्र दिखाना। इससे बालकों को मानचित्रों के अध्ययन करने की विधि ज्ञात हो जाती है। फिर उन्हें गाँव या मोहल्ले की सड़कों, गलियों, मकानों और बागों आदि का नक्शा खींचने का अभ्यास कराना चाहिए। हर स्कूल में (जिस नगर में स्कूल हों) उसके नगर का बड़ा मानचित्र रहना अत्यंत आवश्यक है। दीवार पर टाँगे जाने-वाले बड़े-बड़े नक्शे अवश्य रखना चाहिये। श्याम-पट पर बने हुए रेखाचित्र (Outline map) बड़े उपयोगी होते हैं, उनमें बालकों से स्थान, नगर, पर्वत, नदी आदि भरवा सकते हैं।

नक्शों के बाद, उतना ही महत्वपूर्ण अटलस का प्रयोग है। नीची और ऊँची कक्षाओं के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की अटलसें बाज़ार से प्राप्त की जा सकती हैं। समय-समय पर होने वाले अनुसंधानों के अनुसार अटलसों को बिल्कुल शुद्ध करके छापना आवश्यक है। पुरानी अटलसों का प्रयोग अनुचित है। कुछ शिक्षाचार्यों ने अक्षांश और देशांतर रेखाओं की सहायता से बालकों को अटलस के प्रयोग का अभ्यास कराने की सलाह दी है। बालकों से भी नक्शे खिंचवाना चाहिये। समुद्र-तट की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं के सही बनाने पर ज़ोर देने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, देश की आकृति को सुडौल बनाने पर अवश्य ध्यान देना उचित है। स्थानादि दिखाने में रंगों का प्रयोग कराना चाहिए।

भूगोल पढ़ाने के लिये प्रयुक्त होने वाली पाठ्यपुस्तक अच्छी तरह सोच-समझ कर चुनना उचित है। पुरानी पुस्तकों का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि अनेक नई खोजें होती रहती हैं और देशों की राजनैतिक सीमाओं में परिवर्तन होते रहते हैं। पुस्तकें सरल भाषा में हों और चित्रों से परिपूर्ण हों, तो उनका प्रभाव अच्छा पड़ता है।

भूगोल के शिक्षण को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए एक अलग कमरा रहना चाहिए जिसमें नक्शे, ग्लोब, तस्वीरें, एक छोटा-सा पुस्तकालय, चार्ट, माडेल, बड़े श्याम पट, रंगीन बत्तियाँ, अखबारों से काट कर निकाली हुई तस्वीरें और वर्णन, मौसम की सूचना देने वाले यंत्र (Meteriological instruments) फारेनहाइट, सेंटीग्रेड, मैक्जिमम-मिनिमम थर्मामीटर, बैरोमीटर, रेनगाज आदि, सूर्य तथा अन्य ग्रहों के व्यास की लम्बाई दिखाने वाले चित्र, मौसम तथा दिन रात के चित्र; पत्थर, लकड़ी, भूगर्भ से प्राप्त खनिज पदार्थों के नमूने आदि का अच्छा संग्रह होना चाहिए। यह वस्तुएं सहायक उपकरणों का काम देती हैं। भूगोल के कमरे से लगा हुआ एक संग्रहालय होना उचित है। इसमें बालकों द्वारा संग्रह की हुई वस्तुओं को सजाकर रख देना चाहिए; इससे उनकी निरीक्षण-शक्ति बढ़ती है और भूगोल का ज्ञान भी सरलता से होता है। यहाँ ऐसे चित्र लटकाये जायँ जिनमें विभिन्न देश के निवासियों का रहन-सहन, वेष-भूषा और वहाँ के पशु आदि चित्रित हों। बोतलों में हर प्रकार के अन्न भर कर रख देना चाहिए। स्कूल के पास-पड़ोस में तैयार होने वाली वस्तुएँ जैसे मिट्टी या लकड़ी के खिलौने, ताँबे, लोहे, पीतल के बने बर्तन या मूर्तियाँ; अनेक प्रकार के खनिज पदार्थ, और सिक्कों तथा टिकटों का संग्रह भी होना चाहिए। आधुनिक ढंग के भूगोल के कमरे की एक मुख्य विशेषता है 'चित्रपट'। कमरे के बगल में एक अँधेरे कमरे में बालकों के बैठने का प्रबंध होता है और इसी में

चित्रपट पर लालटेन की सहायता से स्लाइडों द्वारा अनेक चित्र प्रदर्शित किये जाते हैं। अपनी आँखों से बालक भिन्न-भिन्न देशों के निवासियों, पशुओं, उपज, व्यवसाय और प्राकृतिक दशा आदि को देख कर जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह स्थायी तथा सुलझा हुआ होता है।

भूगोल का पाठ पढ़ाने में कई बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। प्रारंभिक कक्षाओं में 'स्थूल से सूक्ष्म की ओर' वाले सिद्धांत का प्रयोग शिक्षण में करना चाहिए। बालकों को हर प्रकार से निरीक्षण कराना चाहिए, जिसके लिये साधनों की विस्तृत सूची पिछले अनुच्छेद में दी जा चुकी है। ऊँची कक्षाओं में 'आगमन' और 'निगमन' दोनों का अलग-अलग अथवा संयुक्त प्रयोग किया जा सकता है। भौगोलिक कारणों की सहायता से परिणामों को निकालना बताया जाय। जलवायु, उपज, प्राकृतिक दशा आदि के नियमों का अध्ययन 'आगमन' द्वारा करा सकते हैं और उन नियमों की सहायता से विभिन्न देशों का भूगोल 'निगमन' विधि से पढ़ाया जा सकता है। पढ़ाने की विधि तर्क-सम्मत (Logical) होनी चाहिए। इसके लिए एक निश्चित क्रम से पढ़ाने की आवश्यकता है, जैसे एक देश का भूगोल पढ़ाने के लिये इस क्रम से चलना उचित है:—

(१) उस देश की सीमा तथा संसार में उसका स्थान संबंध।
(२) प्राकृतिक दशा—नदियाँ, पहाड़, पठार, मैदान आदि।
(३) खनिज पदार्थ, भूमि की दशा।
(४) जलवायु—तापक्रम, वर्षा आदि।
(५) वनस्पति तथा उपज—जंगल, पौधे, पेड़, अन्न आदि।
(६) पशु—जंगली तथा घरेलू और पालतू।
(७) जन संख्या—फैलाव, व्यवसाय, जातियाँ आदि।

(८) राजनैतिक स्थिति।

(९) यातायात के साधन, औद्योगिक केंद्र, मुख्य नगर आदि।

अध्यापन में सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पाठ के पूर्व एक दिन पहले का पाठ अवश्य दुहरा लिया जाय और वर्तमान पाठ के बीच में प्रश्नों द्वारा पूर्व पाठ का संबंध स्थापित किया जाय। अंत में पाठ का संक्षिप्त विवरण श्याम पट पर लिख दिया जाय।

(६) विज्ञान की शिक्षण विधि—

स्कूलों के पाठ्यक्रम में विज्ञान को शामिल करने पर शायद ही किसी को आपत्ति हो। जीवन में विज्ञान का महत्व अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है और आज यह आवश्यकता प्रतीत होने लगी है कि विज्ञान को अनिवार्य विषय बना दिया जाय। विज्ञान न केवल जीवन के लिये उपयोगी है, वरन् उसके द्वारा मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ विकसित होती हैं और उसका सांस्कृतिक महत्व भी है। विज्ञान के पढ़ने से बालक को विचार करने, व्यवस्थित विधि से कार्य करने, आदर्शमय जीवन बिताने और भला-बुरा समझने का अभ्यास हो जाता है। विज्ञान उनके मन में जिज्ञासा, उत्सुकता और ज्ञान के प्रति प्रेम जागृत करता है।

विज्ञान के अध्यापन के लिए दो मुख्य विधियों—स्वयं ज्ञान-विधि और योजना-विधि—का विस्तार से अन्यत्र वर्णन कर कर चुके हैं। कुछ विद्वानों ने विज्ञान को सानुबंध द्वारा पढ़ाने की सलाह दी है। भाषा, इतिहास, और साहित्य, विज्ञान के माध्यम से पढ़ाये जा सकते हैं। वैज्ञानिक सिद्धांतों का विश्लेषण करने में भाषा द्वारा सहायता मिलती है; वैज्ञानिकों का जीवनवृत्त एक इतिहास के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है और विज्ञान और मानव-जीवन के संबंध को लेकर साहित्य का अध्ययन कराया जा सकता है। कुछ विद्वानों ने

विज्ञान की शिक्षा का भाषण-विधि द्वारा, कुछ लोगों ने प्रदर्शन (Demonstration) द्वारा और कुछ ने प्रयोगशाला (Laboratory) विधि द्वारा, देने की सलाह दी है। कुछ विद्वानों का मत है कि उपर्युक्त विधियों से पढ़ाने में विज्ञान एक शुष्क विषय बन जाता है। उनका विचार है कि वैज्ञानिक आविष्कारों के पीछे मनुष्य का सतत परिश्रम, उसकी कोमल भावनाएँ, लोक-कल्याण और सेवा की भावनाएँ, प्रकृति से संघर्ष की प्रवृत्ति आदि मानवीय चित्तवृत्तियाँ काम करती रही हैं। केवल आविष्कारों की प्रक्रिया का समझना पर्याप्त नहीं है, उनका जो संबंध इन आधारभूत मानवीय चित्तवृत्तियों से है उसका उल्लेख अवश्य करना चाहिए। इस विधि को ऐतिहासिक विधि (Historical Method) कहते हैं। यहाँ पर एक बात कह देना आवश्यक है कि किसी विधि का प्रयोग आँख बंद करके नहीं करना चाहिए। बालकों के मानसिक विकास को दृष्टि में रखते हुए पाठन विधियों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करते रहना चाहिए।

विज्ञान को पढ़ाने में, विषय को इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए कि बालक विज्ञान को अपने जीवन के लिए आवश्यक समझने लगें। प्रारंभिक कक्षाओं में पाठन-विधि मनोवैज्ञानिक और उच्च कक्षाओं में विचारात्मक होनी चाहिए। प्रारम्भ में पर्यवेक्षण और तथ्य-संग्रह का काम सिखाया जाय और ऊँची कक्षा में विचारों और सिद्धांतों का प्रतिपादन कराया जाय। प्रारंभ में औत्सुक्य-वृद्धि, मध्य में उपयोगिता और व्यावहारिकता तथा अंत में व्यवस्था और विचारशीलता पर जोर देना चाहिए। प्रारंभ में विज्ञान की साधारण सरल रूपरेखा बालकों के आगे प्रस्तुत की जाय; बीच की कक्षाओं में बालकों को कारण, कार्य, परिणाम आदि का संबंध बताना जरूरी है और उच्च कक्षाओं में शुद्ध सिद्धांतों का प्रतिपादन करना बताया जाय। विज्ञान के पढ़ाने में 'अगमन' और 'निगमन' का उचित उपयोग होना

चाहिये, उसके लिये कक्षा में निम्नलिखित क्रम से पाठ-प्रस्थापन करना उचित है:—

(१) पर्यवेक्षण तथा तथ्य-संग्रह करना।

(२) समता-विषमता ढूँढ़ना और समता के आधार पर नियम ढूँढ़ना।

(३) उपपत्ति (Hypothesis) तैयार करना।

(४) उपपत्ति की परीक्षा (Testing) के लिये योजना बनाना और परीक्षा।

(५) परीक्षा के बाद उपपत्ति को नियम (General law) के रूप में स्वीकार करना।

(६) उस नियम का ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त करना (अर्थात् वह नियम कब और कैसे तथा किसने निकाला)।

(७) जीवन में नियम का प्रयोग सिखाना।

अध्यापन को सफल बनाने के लिए विज्ञान के अध्यापक को बड़ी तैयारी करनी पड़ती है। कक्षा में प्रदर्शन के लिये आवश्यक सामग्री और यंत्रों (Apparatus) को कायदे से सजाना एक कला है। जिस क्रम से उनका प्रयोग करना हो, उसी क्रम में बायें से दायें की ओर सामग्री को सजा कर रख देना चाहिए ताकि प्रदर्शन के समय कोई वस्तु छिपी न रह जाय। हर एक वस्तु इस ढंग से रखना उचित है कि कक्षा का प्रत्येक बालक उसे देख सके। कक्षा में प्रयोग आरंभ करने के पूर्व ही सारे यंत्रों की परीक्षा कर लेना चाहिए। प्रयोग की क्रिया सावधानी से धीरे-धीरे करनी चाहिए और यदि परिणाम निकलने में गल्ती निकल रही हो तो दुबारा फिर से प्रयोग करना उचित है; बालकों को धोखे में रखना अनुचित है। बालकों का ध्यान आकर्षित करने और उनकी उत्सुकता जाग्रत रखने के लिये यह कहते रहना चाहिये—"देखो, मैं क्या कर रहा हूँ और बताओ क्या प्रतिक्रिया हो

रही है आदि।" बालकों को निरीक्षण करने के लिए प्रोत्साहित करना आवश्यक है। यद्यपि प्रयोगों की प्रक्रिया तथा परिणाम के बारे में अध्यापक पहले से जानता है परन्तु सारा प्रयोग इस ढंग से वह करवाता है कि बालक उत्सुकतापूर्वक परिणाम निकलने की राह देखते रहते हैं। सुचारुरूप से सारा काम करने पर ही सफलता निर्भर है। प्रयोग स्पष्ट, सरल तथा संख्या में थोड़े होने चाहिए।

प्रयोग करते समय या प्रदर्शन के समय श्यामपट का प्रयोग आवश्यक है। हिसाब जोड़ने या सारांश लिखने में इससे आसानी होती है। साफ और सुन्दर अक्षरों में लिखना चाहिए ताकि बालक गलत न लिखें। कभी-कभी श्यामपट पर चित्र खींचने पड़ते हैं। यदि अध्यापक को सुंदर चित्र खींचने का अभ्यास नहीं है तो स्टैंसिल का प्रयोग करना उचित है।

विज्ञान के अध्यापन में प्रयोगशाला का महत्वपूर्ण स्थान है। वहां बालकों को निरीक्षण करने का अभ्यास कराया जाता है। प्रयोगशाला में काम करने के पूर्व उन्हें निश्चित संकेत दे देने चाहिएँ। जैसे किन यंत्रों या सामग्री की आवश्यकता है, उन्हें कैसे प्रयोग में लाना चाहिए, प्रयोग कैसे करना चाहिए आदि के बारे में निश्चित संकेत पहले दे देना उचित है। निर्देश संक्षिप्त और क्रम से लिखे होने चाहिएँ। कागज की शीट पर बाई ओर आवश्यक निर्देश लिखे हों, और उनके सामने दाहिनी ओर बालक खाना-पूरी करते जायें, जैसे, निरीक्षण की हुई बातें, गणना और परिणाम आदि। बालकों को प्रयोग के बारे में विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक हो, उन्हें अपने आप काम करने दिया जाय। प्रयोगशाला में काम करने के पूर्व बालकों को सही नाप-तोल (Accurate measurement and weight) करने का अवश्य अभ्यास कराना चाहिए और उन्हें यह भी बताना चाहिए कि निरीक्षण करने में कैसे भूलें हो जाती हैं

या कैसे अनेक कारणों से, जिनका नियंत्रण करना असंभव है, प्रयोग के परिणामों में भूलें होती हैं। प्रयोगों का विवरण लिखित रूप में रखने के लिये एक कापी होना चाहिए जिसमें चित्र खींच लिये जाते हैं और परिणाम आदि लिख लेते हैं।

विषय-पाठन विधियों की कार्य क्षमता बढ़ाने के उपाय—

ज्ञान का भंडार असीम है और वह दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। आज जो कुछ मनुष्य सीखता है कल वह अपर्याप्त और अपूर्ण सिद्ध होता है। बहुत से सिद्धांत आज सत्य हैं, परन्तु कल, शोधो के परिणाम-स्वरूप वहीं सिद्धांत असत्य सिद्ध हो सकते हैं। अत: ज्ञान की साधना करनेवालों को, विशेष रूप से अध्यापकों को, सदैव अपने ज्ञान को नवीन बनाते रहना चाहिए। जिस अध्यापक को जो विषय पढ़ांना है, उसका अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। कुछ अध्यापक प्रारभ में परीक्षाएँ पास कर लेने के बाद, अपने विषय का अध्ययन करना बंद कर देते हैं—यह अध्यापन की दृष्टि से एक बड़ा दोष है। अध्यापक का कर्तव्य है कि वह ज्ञान की प्रगति के साथ-साथ चलता रहे।

प्रशिक्षण काल (Training period) में अध्यापक को शिक्षण विधियों की जानकारी तथा उनका अभ्यास कराया जाता है। अध्यापक बन जाने के बाद प्राय: वे लोग अपने को पूर्ण ब्रह्मज्ञानी समझने लगते हैं। शिक्षण-विज्ञान का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है; अनेक नई विधियों का जन्म हो रहा है और नये साधनों का आविष्कार किया जा रहा है। अत: प्रशिक्षण का कार्य किसी न किसी रूप में चालू रहना चाहिए। अध्यापकों की सुविधा के लिए संध्याकालीन नवप्रशिक्षण केंद्रों (Refresher Courses) की योजना बननी चाहिए, जिससे अध्यापकों को कार्य-क्षमता बढ़ाने

का अवसर मिलता रहे। संध्या के समय एक या दो घंटे के लिए उन केंद्रों में जाकर वे बहुत-कुछ सीख सकते हैं। इसके लिए उन्हें प्रमाणपत्र भी मिलने चाहिएँ।

प्रशिक्षण-काल में अध्यापक शिक्षण-विधियों का साधारण अभ्यास करते हैं परन्तु शिक्षण की व्यावहारिक कठिनाइयों का पता उन्हें तभी चलता हैं जब वे स्कूलों में काम करने लगते हैं। अतः शिक्षक का दृष्टि-कोण सदैव प्रयोगात्मक रहना चाहिए। पाठन-विधि की क्षमता बढ़ाने के लिए सतत प्रयत्न करते रहना उन्हें उचित है। सभी विषय के अध्यापक मिलकर योजनायें बनाएँ और उनका प्रयोग करें। विशेष रूप से एक विषय के कई अध्यापकों को अवश्य ही मास में एक बार मिलकर बैठना चाहिए और विषय के पढ़ाने में जो कठिनाइयां हों, उन पर विचार करते हुए प्रयोग का कार्य जारी रखना चाहिये। विद्यालय के प्रधान का कर्तव्य है कि वह अध्यापकों को इस कार्य के लिए प्रेरित करे। विषय-पाठन विधियों पर नई-नई पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं। स्कूल के पुस्तकालय में उनका संग्रह रहना आवश्यक है जिसमें अध्यापक उनसे लाभ उठा सकें।

विज्ञान ने शिक्षण को सफल बनाने के लिए अनेक साधन प्रदान किये हैं (उनका विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में है)। स्कूल के प्रधान का कर्तव्य है कि वह इन साधनों को इकट्ठा करे अन्यथा नवीन खोजों से अध्यापक लाभ न उठा सकेंगे। प्रायः खेलों तथा अन्य कार्यों में पर्याप्त धनराशि खर्च की जाती है परन्तु शिक्षण-विधि को समुन्नत बनाने के साधनों को उपलब्ध करने की तनिक भी चेष्टा नहीं की जाती। यही कारण है कि नवीन खोजों के उपरांत भी शिक्षण-कार्य सफल नहीं होता।

---

(१६)

शिक्षण में श्रवण-नेत्रोपकरण

(Audio-visual Aids)

शिक्षण को अधिक सुविधाजनक बनाने का प्रयास प्राचीन काल से होता आया है। पाठ्य-पुस्तकों की रचना इसी उद्देश्य से की गई थी। कोमेनियस ने पाठ्य-पुस्तकों को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए, सत्रहवीं शताब्दी में उनको चित्रात्मक (Illustrative) बनाने की प्रथा चलाई। सूक्ष्म भावों और विचारों को स्पष्ट करने के लिए चित्र का माध्यम अधिक उपयुक्त साबित हुआ। चित्रों की सहायता से वर्णमाला का ज्ञान कराने में शिक्षार्थियों को सफलता मिली। इसी बीच में ऐंद्रिक मनोविज्ञान (Empirical Psychology) का उदय हुआ और लॉक ने बताया कि ज्ञान इन्द्रियानुभूतिजन्य है। सरल शब्दों में, आँख और कान द्वारा अनुभव करके मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। शिक्षण पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। भौतिक और स्थूल वस्तुओं की सहायता से बालकों का ज्ञान विकसित करने की चेष्टा की जाने लगी। शिक्षाचार्य पेस्तालाजी ने वस्तु-पाठ (Object lessons) का आयोजन इसी दृष्टि से किया। हरबार्ट ने भी पाठ-प्रस्थापन में सहायक सामग्री (Material Aid) का प्रसंगानुसार उपयोग करने की सलाह दी। फ्रोबेल ने अपनी किंडरगार्टेन विधि के लिए उपहारों (Gifts) का चुनाव इन्द्रियं शिक्षण के लिए ही किया। मेरिया मॉंटेसरी ने ज्ञानेन्द्रियों और

कर्मेन्द्रियों के अभ्यासों की योजना, छोटे बालकों का ज्ञान विकसित करने के लिए ही की है। अब इस बात में तनिक भी संदेह नहीं रह गया है कि सूक्ष्म विचारों को समझने के लिए आँखों और कानों का उपयोग किये बिना शिक्षण में सफलता मिलना असम्भव है। इन दिनों ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग किसी न किसी प्रकार होता ही है और उसके बिना शिक्षक का काम चल ही नहीं सकता है।

वर्तमान शताब्दी में जीवन का प्रत्येक पहलू वैज्ञानिक आविष्कारों से प्रभावित हुए बिना, नहीं रह सका है। शिक्षण के क्षेत्र में भी, विज्ञान के गर्भ से ऐसे अनेक भौतिक साधनों का जन्म हो चुका है, जिनकी सहायता से शिक्षण कई गुना अधिक प्रभावोत्पादक बनाया जा सकता है। अध्यापकों को उन साधनों की जानकारी हर प्रकार से प्राप्त करना चाहिए। अन्य प्रगतिशील देशों में इस विषय पर उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। दो अमरीकी विद्वानों, हॉस और पैकर (Kenneth B. Haas and Harry Q.Packer) ने मिलकर इस विषय पर एक बड़ी सुन्दर पुस्तक (Preparation and Use of Audio-Visual Aids) की रचना की है जिसमें इन सहायक साधनों के निर्माण तथा उपयोग की कला का विस्तृत वर्णन हैं।

जिन साधनों की सहायता से शिक्षण-कार्य में सुविधा होती है, और जिनमें कर्णों और नेत्रों का उपयोग होता है, उन्हें श्रवणनेत्रोपकरण कहते हैं। यह उपकरण तीन प्रकार के होते है; (१) वे जिनमें केवल नेत्रों का उपयोग होता है, (२) वे जिनमें केवल श्रवणों का उपयोग होता है और (३) वे जिनमें दोनों का संयुक्त उपयोग होता है। इन उपकरणों का प्रयोग करना सरल नहीं है; उसके लिए टेकनिकल ज्ञान की आवश्यकता है। अतः अध्यापक को विशेषज्ञ होना चाहिए। बहुत से श्रवण-नेत्रोपकरण स्कूलों में बनाये जाते हैं,

इसलिए अध्यापक को उनके निर्माण की विधि जानना आवश्यक है। कुछ उपकरण बने-बनाये मिल सकते हैं; इसलिए उनका प्रयोग करने की विधि तथा वे कहाँ से प्राप्त हो सकते हैं—इसकी भी जानकारी अध्यापकों के लिए आवश्यक हैं। इस अध्याय में हम इन सबके विषय में संक्षिप्त रूप से सभी आवश्यक विवरण अध्यापकों की सुगमता के लिये दे रहे हैं।

(क) **चलचित्र**—किसी विद्वान का कथन है कि दस हजार शब्दों में उतनी शक्ति नहीं है, जितनी एक चित्र में। चित्र का मन पर गहरा एवं स्थायी प्रभाव पड़ता हैं। अभी तक चल-चित्रों का उपयोग मनोरंजन और प्रचार के लिये होता रहा है। धीरे-धीरे शिक्षाचार्यों ने इसका महत्व समझा। सिरील बर्ट (Cyril Burt) ने अपनी एक पुस्तक (Young Delinquent) में बताया है कि बालकों के चारित्रिक पतन का एक प्रमुख कारण चलचित्र भी हैं। चोरी, डाके और हत्या के दृश्य बालकों के मन पर अमिट प्रभाव डालते हैं और वे बुरी आदतें सीख लेते हैं। चलचित्र का अच्छा प्रभाव भी पड़ सकता है, यदि ऐसे चित्र तैयार किये जायें।[1] अमरीका तथा यूरोप में पाठ्य-विषय को सुस्पष्ट बनाने के लिए चलचित्रों का व्यापक प्रयोग होने लगा है। उनकी सहायता से विद्यार्थियों को अनेक दृश्य जिन्हें वे अपने जीवन में न देख सकेंगे, दिखाये जाते हैं और यंत्रादि का प्रयोग भी अनेक बालकों को एक साथ दिखाते हैं। भूगोल और इतिहास के पाठों में चलचित्रों से अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। चिकित्सा-विज्ञान के पाठन में रंगीन चित्रों से लाभ उठाया जा सकता हैं।

---

1. Children's Films : A Symposium. p 4, published by Publication Division. 1955.

प्रत्येक विषय के लिये अच्छे अध्यापक नहीं मिलते। चलचित्रों की सहायता से साधारण प्रतिभावाले अध्यापक भी अपने पाठ को मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद बना सकते हैं। रजतपट पर दिखाये जाने-वाले रंग-विरंगे चित्रों द्वारा व्यक्त की जानेवाली कथाओं से बालक प्रेरणा ग्रहण करके छविगृहों के बाहर निकलते हैं। शांतिपूर्ण अंधेरे कमरे में जैसे एकाग्रभाव से बालक शिक्षा ग्रहण करते हैं, वैसा भाव कक्षाओं में कभी भी देखने को नहीं मिल सकता। साधारण अध्या-पन तथा चलचित्रों की सहायता से दिये गये शिक्षण का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। उससे चलचित्रों की उपयोगिता प्रमाणित होती है। अमरीका में किये गये इस प्रकार के अध्ययन से पता चला कि साधारण विधि से पढ़ाने पर छोटी कक्षाओं का परीक्षाफल ३०% और फिल्मों की सहायता से पढ़ाने पर ४४% रहा; हाईस्कूल की कक्षाओं में साधारण विधि से पढ़ाने पर ४४% और फिल्म की सहायता से पढ़ाने पर ६१% परीक्षाफल रहा। इससे चल-चित्रों की उपयोगिता सिद्ध होती है।

चल-चित्र मनोरंजन का उत्तम साधन होते हुए, शिक्षाप्रद भी होता है। विशेषरूप से छोटे बच्चों पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। फोटोग्राफी के क्षेत्र में नये-नये आविष्कारों के होने से लाभ यह हुआ कि बच्चों को पढ़ाते समय वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुएँ भी दिखाई जा सकती हैं, जिन्हें साधारण तौर से आँखों से देखा नहीं जा सकता। विभिन्न प्रकार के वास्तविक और कल्पनात्मक दृश्यों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करके अच्छे से अच्छे परिणाम निकाले जा सकते हैं। चल-चित्र द्वारा बालकों की जीवन संबंधी मान्यताओं का परिष्कार किया जा सकता है। श्री पी० के० अत्रे के मत में, चलचित्रों द्वारा यदि एक ओर शक्ति, धन और विलासिता के प्रेम के आदर्श बालकों के आगे प्रस्तुत करके उनका सर्वनाश किया जा सकता है, तो अवश्य

ही, इतिहास, पुराण और अन्य देशों के महानपुरुषों के जीवन से चुन कर अच्छे आदर्श भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उनके मत में विनोदपूर्ण नाटक, व्यंग्य चित्र आदि शैक्षिक दृष्टि से उत्तम सामग्री हैं, जिनके द्वारा सुखी पारिवारिक जीवन, शूरता और भलमनसाहत के दृश्य प्रस्तुत करने चाहिए। यात्रा, ग्राम्य-जीवन और पशुओं के साथ दया आदि विषयों पर बने चल-चित्र उपयोगी होंगे।[1]

शिक्षोपयोगी चल-चित्रों का निर्माण भारतवर्ष में, अभी पूरी तरह से नहीं हो रहा है। अमरीका में सरकार तथा व्यवसायी दोनों मिलकर बहुत बड़ी संख्या में ऐसे चित्र तैयार कर रहे हैं। स्कूल उन चलचित्रों को खरीद सकते हैं, किराये पर ले सकते हैं और सरकार से मुफ्त भी प्राप्त कर सकते हैं। कृषि, कला, ज्योतिष, भूगोल, व्यापार, रसायन, वनस्पति, पशुपालन, गृह-निर्माण, मछली-व्यवसाय, धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, गणित, भूगर्भशास्त्र, पत्र-कारिता, प्रशिक्षण, यातायात और वस्त्र-व्यवसाय आदि अनेक विषयों पर बढ़िया फिल्में वहाँ तैयार होती हैं। हमारे देश में, चित्र निर्माता इस ओर से अभी उदासीन हैं, यद्यपि धन कमाने का यह क्षेत्र बड़ा ही सम्पन्न है। पत्रों ने इस दिशा में सरकार का ध्यान आकृष्ट करने के लिए आन्दोलन प्रारंभ किया है। दिल्ली की कल्चरल फिल्म सोसाइटी के अकथ प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप केंद्रीय सरकार इस ओर रुचि लेने लगी है। केंद्रीय सरकार के राजस्व मंत्री श्री एम० सी० शाह ने घोषणा की है कि भारत सरकार के फिल्म-विभाग की देख-रेख में एक ऐसी शाखा खोली जायगी जो 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश' और अन्य पौराणिक गाथाओं के आधार पर व्यंग्यचित्र तैयार करेगी। सन् १९५१ में प्रकाशित फिल्म-जाँच-समिति की रिपोर्ट में

---

1. Children's Films : A Symposium, p. 6, 7.

चलचित्रों के शैक्षिक महत्व पर जोर दिया गया है और उसमें कई सुझाव दिये गये हैं, जैसे शिक्षा संस्थाओं के प्रोजेक्टर आदि यंत्र मँगाने पर आयात कर की छूट दी जाय; चलचित्रों का एक संग्रहालय बनाया जाय तथा उनके वितरण का प्रबन्ध किया जाय; शिक्षकों को इनके प्रयोग की कला सिखाई जाय; तथा चित्रों के शैक्षिक उपयोग में सलाह देने के लिए शिक्षाविशारदों की एक समिति नियुक्त हो।

सन् १९५३ के मई मास में केंद्रीय शिक्षा-मंत्रालय की ओर से एक संस्था—नेशनल बोर्ड आफ़ आडियो-विजुअल एजूकेशन, इंडिया (National Board of Audio Visual Education, India) का श्रीगणेश हुआ। पहली बैठक में इस संस्था ने कई महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये हैं। (१) केन्द्र तथा प्रान्तों में चित्र-पुस्तकालयों की स्थापना की जाय और चित्र-प्रदर्शन के यंत्रों पर से आयात कर हटा लिया जाय। (२) सरकार की ओर से प्रति वर्ष १८ शैक्षिक-चलचित्र बनाये जायँ जिनमें ८ वृत्त (Documentary) और सामाजिक, ४ बाल मनोरंजन पर, तथा ६ पाठ्य-विषयों की सहायता के लिये बनें। ये चलचित्र मूक और सवाक् दोनों प्रकार के हों। १६ मिलीमीटर फिल्म का उपयोग किया जाय और प्रत्येक की लंबाई ४०० फुट हो।

नेशनल बोर्ड फार आँडियो-विजुअल इजूकेशन की दूसरी बैठक मई, १९५५ में हुई और उसमें कई महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया। गतवर्षों में इस प्रकार के साधनों का विकास अवश्य हुआ परन्तु उनकी उत्कृष्टता की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका। अतः पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इन साधनों को बाहर से मँगाने तथा अध्यापकों के प्रशिक्षण पर अधिक जोर दिया जाय केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों में सहयोग की आवश्यकता है। साथ ही इस कार्य में राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खंडों का भी

सहयोग अपेक्षित है। इन साधनों के विकास के लिए शोधशाला स्थापित करने पर ज़ोर दिया गया। बोर्ड ने उन विषयों की एक सूची भी तैयार की है जिनको पढ़ाने के लिए श्रवणनेत्रोपकरणों का उत्पादन सरलता से किया जा सकता है।[1]

अब कुछ चलचित्रों के प्रयोग के संबंध में लिखना आवश्यक है। कुछ विद्वानों की राय है कि पाठ के वे अंश जिनको स्पष्ट करने के लिए चलचित्रों का उपयोग करना हो, पहिले मौखिक-विधि से अच्छी तरह बालकों को समझा देना चाहिए और बाद में चलचित्र का प्रदर्शन करना चाहिए। इससे विषय स्पष्ट हो जाता है। कुछ का मत है, कि पहिले चित्र का प्रदर्शन किया जाय और बाद को उसके संबंध में विस्तार से कक्षा में बताया जाय। हॉस के मत में चित्रों का प्रदर्शन और शिक्षण एक साथ चलाया जाय तो अधिक प्रभाव पड़ता है। फिल्म का प्रयोग करने के पूर्व, कक्षा, बालकों की अवस्था, स्थान, तिथि तथा समय आदि का विचार कर लेना आवश्यक है। स्कूल में चलचित्रों का संग्रहालय होता है, और उसमें से आवश्यक फिल्म प्रदर्शन के लिए चुन ली जाती है। यंत्रों, जैसे प्रोजेक्टर और रजतपट, की भली-भाँति जाँच पड़ताल कर लेनी चाहिए ताकि ठीक मौके पर वह व्यर्थ न सिद्ध हो। वह कमरा जिसमें प्रदर्शन होता है, प्रकाश से नियंत्रित, पर हवादार, होना चाहिए और बालकों के बैठने का अच्छा प्रबंध होना चाहिए। फिल्म के प्रदर्शन के लिए, प्रोजेक्टर को निश्चित् दूरी और ऊँचाई

---

1. Proceedings of the Second Meeting of the National Board for Audio-Visual Education in India, 1956, Ministry of Education, Govt. of India, Publication No. 207.

पर रखना तथा उसमें फिल्म चढ़ाना आदि कार्य बालकों के कमरे में आने के पहले पूरा कर लेना जरूरी है। फिल्म का प्रयोग, पाठ तथा कक्षा की आवश्यकता के अनुसार किया जाता है, इसलिए अध्यापक के पास एक डायरी में उसके प्रयोग के विषय में संक्षिप्त रूप से लिखा रहना आवश्यक है। फिल्म का प्रदर्शन करने के पूर्व एक संक्षिप्त भूमिका देकर बालकों की रुचि जाग्रत (Motivate) करना चाहिए। अध्यापक प्रस्तुत पाठ के संबंध में कुछ कहे और प्रदर्शन का काम आरम्भ करे। जहाँ आवश्यक समझे, बालकों को समझाता जाय। अध्यापक चाहे, तो फिल्म के केवल कुछ अंश ही दिखा सकता है। फिल्म का प्रदर्शन समाप्त होने के बाद बालकों की परीक्षा होना उचित है, जिसमें यह पता चल जाय कि उन्होंनें उससे लाभ उठाया या नहीं। उदाहरण के लिए यदि यंत्रों का प्रयोग दिखाया गया है तो बालकों को वह यंत्र प्रयोग में लाने के लिए बाध्य करना उचित है। यदि किसी बौद्धिक विषय पर फिल्म दिखाई गई हो, तो नवीन परीक्षा-प्रणाली (Objective Test) द्वारा उनके ज्ञान की जाँच कर सकते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जायगा कि चलचित्रों का सफल प्रयोग वही अध्यापक कर सकता है जिसे उनका टेकनिकल ज्ञान है। चलचित्र अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे मूक-चलचित्र, सवाक् चलचित्र, छाया चलचित्र आदि। अभी ३ D चलचित्र का आविष्कार हुआ है। इन सबके प्रदर्शन के लिए अलग-अलग ढंग के प्रोजेक्टर काम में आते हैं। अध्यापक को इन विभिन्न प्रकार के प्रोजेक्टरो से अवगत होना चाहिए। साथ ही चलचित्र तैयार करने की पूरी प्रक्रिया (Process) का ज्ञान भी एक कुशल अध्यापक को होना चाहिए। इसका एक विशेष कारण है। स्कूलों में बालकों द्वारा चलचित्रों का निर्माण कराया जा सकता है। यूरोप और

अमेरिका में विद्यार्थियों द्वारा चलचित्रों का निर्माण शिक्षण का महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हुआ है। फिल्मों को तैयार करने के लिए वैशेषिक ज्ञान की आवश्यकता है। अध्यापक को, कथानक और कहानी तैयार करने, अभिनय का निर्देशन, चित्र उतारने और काट-छाँट करने की कला का पूरा ज्ञान होना चाहिए। संक्षेप में, एक अध्यापक को कुशल लेखक, निर्देशक, फोटोग्राफर और संपादक अवश्य होना चाहिए। बालकोपयोगी विषयों का चुनाव पहले करना पड़ता है और विषय को चुनकर उसके लिए एक कहानी तथा संवाद तैयार कर लिए जाते हैं। चलचित्रों के लिये, 'नगर में पानी या रोशनी का प्रबंध', 'स्कूल के खेल', 'स्कूल की सहकारी-समिति' 'बालचर के साहसिक कार्य' आदि विषय शिक्षाप्रद हो सकते हैं। विषय का चुनाव कर लेने के बाद केमरे और फिल्म का चुनाव करना चाहिये। तत्पश्चात् ऐसे स्थान चुनने पड़ते हैं जहाँ 'शूटिंग' की जा सकती है। निश्चित समय पर बालकों को उन स्थानों में ले जाकर चित्र उतार लिए जाते हैं। अंत में अध्यापक विद्यार्थियों से परामर्श करके पूरे चित्र का संपादन करता है। बिना संपादन किये हुए चलचित्रों को रजतपट पर दिखाना अनुचित है। जो दृश्य ठीक नहीं बन पड़े हैं, उन्हें काटकर निकाल देना चाहिए।[1]

(ख) **'वाद-विवादपूर्ण' फिल्मों के फ़ीते और ध्वनियुक्त स्लाइड फिल्में**—'वाद विवाद पूर्ण फिल्म के फीतें में २५ से लेकर १०० तक अलग-अलग अचलचित्र होते हैं। परन्तु ये क्रमानुसार एक दूसरे से

---

१. चलचित्रों के उपयोग और निर्माण के संबंध में हमने काफी विस्तार से लिखा है। अन्य नेत्रोपकरणों के प्रसंग में इन्हीं सब बातों का उपयोग किया जा सकता है क्योंकि यंत्रादि तथा उनके प्रयोग की कला एक समान है। इसके अतिरिक्त अन्य नेत्रोपकरणों के विषय में आवश्यक ज्ञातव्य बातें हम अवश्य दे देंगे।

जुड़े होते हैं। प्रत्येक चित्र के साथ, उसका विवरण तथा शीर्षक दिया रहता है जिसकी सहायता से बालक चित्र का तात्पर्य समझ सकते हैं। ध्वनि युक्त स्लाइड फिल्म भी एक प्रकार का फिल्मी फीता है जिसमें क्रमानुसार अनेक चित्र होते हैं परन्तु उसमें लिखित विवरण या वार्ता (Commentary) के स्थान पर रेकार्ड बजता रहता हैं और दर्शक को चित्रों के बिषय में पूरा ज्ञान हो जाता है। इन दोनों के प्रयोग और निर्माण में लगभग वही बातें जानना आवश्यक है, जिनका विस्तृत वर्णन हम चलचित्रों के सम्बन्ध में दे चुके हैं। इनका उपयोग विशेप रूप से वर्णनात्मक तथा सूचना-प्रधान (Informative) विषयों के पढ़ाने में किया जाता है। बालकों का साधारण ज्ञान बढ़ाने के लिये यह उपकरण बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

(ग) **शिक्षण स्लाइडें** (Teaching Slides)—रजतपट पर स्लाइडों द्वारा दिखाये जाने से चित्र अचल होते हैं और प्रत्येक चित्र को अध्यापक जितनी देर चाहे रोके रह सकता है। यह स्लाइडें सादी-सफेद और काले रंग में या रंगीन बनाई जाती हैं। इनके द्वारा भौगोलिक विषयों, शरीर के अंगों, वनस्पति, भूगर्भ-शास्त्र आदि आदि विषयों का ज्ञान आसानी से कराया जा सकता है। स्लाइडें चित्ताकर्षक होती हैं और हठात् बालकों का मन अपनी ओर आकर्षित करती हैं। उनके मन में स्लाइडों के दृश्य स्थायी रूप से अंकित हो जाते हैं। इनकी सहायता से अध्यापक द्वारा पढ़ाया गया पाठ अधिक प्रभावोत्पादक बन जाता है। विषय को स्पष्ट करने में इनसे बड़ी सहायता मिलती है। पिछले पाठ से संबंधित स्लाइड को दिखाकर प्रश्न पूछे जाते हैं और बालकों को पाठ अच्छी तरह याद हो जाता है।

स्लाइड का प्रयोग करने से पूर्व अच्छी प्रकार से तैयारी कर

लेना आवश्यक है। प्रोजेक्टर, और रजतपट का प्रबंध करके, जिस क्रम से स्लाइडों को दिखाना है, रख लेना उचित है। स्लाइडों का प्रदर्शन करने के लिए अनेक प्रकार के प्रोजेक्टर काम में लाये जाते हैं (जैसे स्लाइड प्रोजेक्टर, Lantern Slide Projector, Eastman Kodaside Projector, Automatic Slide Projector, Fax-film Slide Projector, Fashmeter Slide Projector, Micro Slide Projector आदि) इन विविध प्रकार के यंत्रों का ज्ञान अध्यापक को प्राप्त कर लेना चाहिए।

स्कूलों में बालकों द्वारा यह स्लाइडें तैयार करायी जाती हैं। प्रदर्शन के लिए स्लाइडों के तैयार करने में फोटोग्राफी और हर प्रकार के स्लाइडों की जानकारी की आवश्यकता पड़ती है। विषयों का चुनाव भी करना आवश्यक है। अतः अध्यापक को बड़ा परिश्रम करना पड़ता है।

(घ) **ओपेक प्रोजेक्टर** (Opaque Projector)—इसके द्वारा चित्रों को यंत्र की सहायता से बड़ा करके चित्रपट पर दिखाया जा सकता है। इसमें कम खर्च करना पड़ता है, पर प्रभाव अधिक होता है। बालक एकाग्रचित्त से चित्र देखते हैं। इसका उपयोग, विषय की भूमिका देने में, किया जाता है। विशेष सूचनाएँ देने में इस से बड़ी सहायता मिलती है। ओपेक प्रोजेक्टर के प्रयोग के सम्बन्ध में उन्हीं बातों की जानकारी होनी चाहिए जिनका वर्णन हम चल-चित्रोंऔर स्लाइडों के बारे में कर चुके हैं।

(ङ) **मानचित्र, रेखाचित्र, ग्राफ और डाईग्राम** (Maps, Charts, Graphs and Diagrams)—नेत्रों द्वरा शिक्षण में इन उपकरणों का सबसे अधिक उपयोग होता है। इन्हें Spark plugs कहते हैं क्योंकि इन्हें सरलता से तैयार किया जा सकता है परन्तु

इनका प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है। इनके प्रयोग के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रायः सभी स्कूलों में मानचित्र, रेखाचित्र आदि का प्रयोग सभी विषयों के पढ़ाने में किया जाता है। विज्ञान, कला और वाणिज्य, सभी प्रकार के विषयों को समझाने में यह उपकरण प्रयुक्त होते हैं।

नक्शे अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ नक्शे बालकों द्वारा स्कूल में तैयार कर लिये जाते हैं और कुछ सरकारी विभागों और व्यवसायियों द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं, जैसे रेलों, डाकखाने या सूचना विभागों के नकशे बड़े ही प्रामाणिक और उपयोगी होते हैं। समाचार-पत्रों और मासिक-पत्रिकाओं में भी बहुत से नक्शे छपते हैं। अध्यापक उन्हें काटकर संग्रह कर सकते हैं। अच्छा तो यह होगा कि नक्शे बालकों द्वारा तैयार कराये जायँ। पहले पैमाने पर पेंसिल द्वारा नक्शे बनवाना चाहिये; फिर वर्गों की नाप द्वारा उन्हें बड़े पैमाने पर खींचने का अभ्यास कराना उचित है। बाद में रोशनाई का प्रयोग किया जा सकता। नक्शों को बड़े पैमाने पर खींचने के पूर्व स्लाइडों की सहायता से चित्रपट पर बालकों को एक नक्शा दिखाना चाहिए; इसमें नक्शे के प्रत्येक अंग का अनुपात बालकों की समझ में आ जाता है। नक्शा खींच लेने के बाद हाशिया (Margin) छोड़ना, सुन्दर अक्षरों में नाम लिखना और स्याही फेरना आदि का ज्ञान बालकों को कराना आवश्यक है। इसी प्रकार चार्ट और ग्राफ भी अनेक प्रकार के होते हैं। (जैसे Flow chart, Table chart, Bar graphs, Pie graphs, Line graphs, Pictorial graphs आदि) इन सबके प्रयोग से पाठ के पढ़ाने में बड़ी सहायता मिलती है।

इन उपकरणों का प्रयोग करते समय बालकों को प्रश्न करने की पूरी सुविधा देनी चाहिए और वाद-विवाद करने के लिये भी

उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वे विषय को अच्छी तरह समझ जायें। यदि वे न समझें तो दुबारा समझाना चाहिए। बाद में नक्शे या चार्ट या ग्राफ जिनका कक्षा में प्रयोग हो चुका है, सूचनापट्ट पर लगा देना चाहिए जहाँ बालक जाकर उन्हें बार-बार देख सकें। हर एक नक्शे या चार्ट पर शीर्षक और प्रसंग का विवरण दिया होना चाहिए और पाठ पढ़ाते समय ठीक अवसर पर उसे दिखाना चाहिए। उसमें प्रयुक्त सारे प्रतीक (Symbols) अवश्य समझा देना चाहिए। अध्यापक इनका प्रयोग करते समय कक्षा में बोलता जाय और छड़ी से नक्शे पर स्थान आदि दिखाता रहे।

(च) **फ्लैश कार्ड** (Flash Cards)—कहते हैं, जिस स्थान पर एक बार बिजली चमकती है, वहाँ वह दुबारा नहीं चमकती, परन्तु फ्लैश कार्ड की सहायता से अध्यापक एक बार दिये गये अपने पाठ के कुछ अंशों को ज्यों का त्यों स्पर्श कर सकता है। यह कार्ड (१०" १२") कक्षा में इस प्रकार दिखाये जाते हैं कि विद्यार्थियों के मन में नवीन विचार उत्पन्न हो जाते हैं। जिस प्रकार बारूद की डोर में आग छुआते ही, आतिशबाज़ी में आग लग जाती है, उसी तरह इन कार्डों को दिखाते ही विद्यार्थियों के मानसिक जगत में एक प्रकाश-सा फैल जाता है। इन कार्डों पर बहुत ही संक्षिप्त, सरल और स्पष्ट वाक्यों में कुछ आदेश अंकित होते हैं, जो एक पाठ का सार या मुख्य सूत्र होते हैं। कार्ड देखते ही, विद्यार्थियों के मन में एक लहर-सी दौड़ जाती है। उदाहरण के लिए व्यापार-प्रबंध पर एक पाठ पढ़ाने के बाद, एक कार्ड पर 'व्यापार प्रबंध के तीन सूत्र'—यह शीर्षक लिखकर उसके अन्तर्गत तीन बातें लिखी जा सकती हैं—(१) प्रबंध करना, (२) देख-भाल रखना, (३) और कर्मचारियों को आवश्यक आदेश देना। कक्षा में ज्योंही यह कार्ड दिखाया जायगा,

पूरा पाठ बालकों के मस्तिष्क में घूम जायगा। पाठ के दुहराने और अभ्यास कराने के लिए विशेष रूप से इनका प्रयोग होता है।

इन कार्डों के प्रयोग के पूर्व विद्यार्थियों को तैयार करना, फिर कार्डों को दिखाना, प्राप्त ज्ञान का उपयोग कराना और दुहराना आवश्यक है। इनका आकार छोटा होने और इनकी पाठ्य-सामग्री आकर्षक होने के कारण इनका बड़ा ही उत्तम प्रभाव पाठन-विधि पर पड़ता हैं। इन्हें किसी भी पाठ-परिस्थिति और प्रसंग में प्रयुक्त किया जा सकता है। यदि अध्यापक चाहे, तो अन्य उपकरणों के साथ इनका प्रयोग कर सकता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कार्ड इस तरह दिखाये जायँ कि कक्षा के सभी बालक शीघ्रता से, परन्तु स्पष्ट रूप से, उन्हें देख सकें। इस प्रकार के कार्ड कक्षा के विद्यार्थियों से तैयार कराने में भी लाभ है। उन्हें अपना पाठ सरलता से याद हो जाता है। उपयुक्त विषयों पर चुने हुए वाक्य बालकों द्वारा कागज पर लिखवाकर, कार्डों की तरह उसका प्रयोग किया जा सकता है। रंगीन कार्डों पर आकर्षक अक्षरों में यदि यह वाक्य लिखवाये जायँ तो वे अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध होंगे। अँगरेजी या हिंदी तथा प्रारंभिक गणित पढ़ाने में यह कार्ड काम में लाये जा सकते हैं। अशुद्ध शब्दों और वाक्य-रचना का ज्ञान कराने में उनसे पूरा लाभ उठाया जा सकता है। जबानी जोड़-बाकी और गुणा-भाग का अभ्यास बड़े मनोरंजक ढंग से कराया जा सकता है।

(छ) **पोस्टर और पुस्तिका** (Posters and Manuals)—आज के विज्ञापन के युग में पोस्टरों से प्रायः सभी परिचित होंगे। सिनेमा को जनप्रिय बनाने और व्यवसाय के बढ़ाने में आकर्षक पोस्टरों से बड़ी सहायता मिली है। इसीलिये इनके बनाने के लिए लाखों

रुपया खर्च किया जाता है। पोस्टर में चार्ट, ग्राफ, नक्शे, तस्वीर और व्यंग्यचित्र, कोई भी विवरण आदि दिया होता है। राह-चलते लोग एक झलक में उसे देखकर विज्ञापनदाता का उद्देश्य समझ लेते हैं। शिक्षण में पोस्टर का प्रयोग, पाठ की भूमिका, विषय-उपस्थिति तथा दुहराने में किया जाता है। कक्षा में ऐसे स्थान पर जहाँ से पोस्टर अच्छी तरह दिखाई दे सकें, उसे लटका देना चाहिए ताकि ज्योंही बालक कमरे में आयें, उनकी दृष्टि तुरंत ही पोस्टर पर पड़ जाय। अध्यापक उन्हें, उसके विषय में बताये और पाठ से संबंधित अंशो पर अच्छी तरह प्रकाश डाले। अध्यापक अपनी इच्छानुसार पोस्टरो के साथ अन्य सहायक उप-करणों का प्रयोग कर सकता है। बालको द्वारा अनेक रंगीन पोस्टर तैयार कराये जा सकते हैं।

पाठ याद करने के लिए बालको को एक छोटी डायरी रखने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। इन्हें हस्तलिखित पुस्तिका कह सकते हैं। किसी भी वस्तु का निरीक्षण करने के बाद, उसका पूर्ण विवरण बालक इसमें लिख लेते हैं। पहले से पाठ्य-विषय और शीर्षक, जिनके आधार पर यह पुस्तिका तैयार करनी है, निश्चित कर लिए जाते हैं, जैसे 'क्रय-विक्रय की वस्तुएँ', 'उनके निर्माण करने के लिए आवश्यक सामग्री', 'उनके बनाने की विधि', 'क्रय-विक्रय का प्रबंध', 'सरकारी नियम' आदि। प्रत्येक शीर्षक के आधार पर एक अध्याय लिख लिया जाता है। पुस्तिका को आकर्षक बनाने के लिए, बढ़िया जिल्द बाँध दी जाती है, अध्यापक भूमिका लिख देता है और विषय-सूची भी बनाकर लगा दी जाती है। प्रत्येक अध्याय के अंत में कुछ प्रश्न तथा पुस्तक के अंत में सहायक ग्रंथों की सूची (Bibliography) दे देते हैं। सारी पुस्तिका साफ और चमकीली स्याही से हाथों द्वारा लिखायी जानी चाहिए और पृष्ठ के एक ओर

ही लिखवाना उचित है। पुस्तिका को चित्रों से सजाने से और भी अधिक प्रभाव पड़ता है ।

(ज) **चित्र और फोटोग्राफ**–चित्रों और फोटोग्राफ की सहायता से विचार स्पष्ट करने में बड़ी सरलता होती है । बालक इन्हें देखते ही आकर्षित हो जातें हैं । नये पाठ के प्रवेश और पाठ उपस्थिति के बीच में उदाहरण देने के लिये चित्रादि का प्रयोग किया जाता है । अच्छे-अच्छे चित्रों संग्रह स्वयं अध्यापक कर सकता है और बालको से करवा सकता है । मासिक पत्रिकाओं से चित्र काट कर मढ़वा लिए जाते हैं । अच्छा तो यह है कि चित्रों की एक फाइल रख ली जाय और उसमें गोंद से चित्रों को चिपका दिया जाय । प्रत्येक चित्र के ऊपर शीर्षक अवश्य लिखा होना चाहिए । पाठ से संबंधित सम्पूर्ण चित्रावली संग्रहालय से निकलवा कर पहले से रख लेना उचित है और पढ़ातें समय जब आवश्यकता पड़े, बालकों को उसे दिखाना चाहिए । पाठ समाप्त होने पर बालक स्वयं भी संग्रहालय में जाकर पूरी फाइल उलट कर देख सकें, इसकी पूर्ण सुविधा और छूट देना उचित है।

चित्र-लेखन का अभ्यास विद्यार्थियों की शिक्षा का आवश्यक अंग होना चाहिए । चित्र, भावाभिव्यक्ति का उत्तम साधन है और चित्र बनाने से बालकों की रचनात्मक शक्ति विकसित होती है । भवन के नक्शे, डिजाइन और इंजीनियरिंग के विषय पढ़ाने में इससे मूल्यवान सहायता मिल सकती है। चल-चित्रों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अनेक चित्रों को जोड़ देने से चल-चित्र बनते हैं; चल-चित्र के मूल में चित्र-कला ही दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त चित्र-लेखन का प्रयोग खेलों की योजना बनाने में भी किया जा सकता है । इसी कला से अनेक नेत्रोपकरणों का जन्म हुआ है। साथ ही इसकी सहायता से पाठचक्रम के समस्त विषयों में सानुबंध स्थापित किया जा सकता है; जैसे एक चित्र के बनाने या उसकी

सहायता से पढ़ने में कई विषयों का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। यंत्रादि के बनाने और पुर्जों को ठीक बैठालने में चित्रों से पूर्ण सहायता मिलती है। चित्र-लेखन के अभ्यास से बालक कलात्मक सौन्दर्य का आनन्द प्राप्त करने लगते हैं।

चित्र-लेखन की अपेक्षा फोटोग्राफी अधिक सरल है। छोटे और सस्ते केमरों की सहायता से स्कूल में बालकों को फोटोग्राफी की कला का ज्ञान अवश्य करा देना चाहिए। सरस्वती यात्राओं में ऐतिहासिक और धार्मिक स्थानों के दर्शन करते समय बालकों को फोटो लेने का अभ्यास कराना उचित है। इससे बालकों का ज्ञान विकसित होता है। फोटोग्राफ उनके पास आजीवन बने रहते हैं और उन्हें देखकर गत अनुभवों का वे दुबारा आनंद ले सकते हैं। शिक्षण में फोटोग्राफी का उपयोग करने के लिए डा० गिब्सन (Dr. E. Dana Gibson) ने निम्नलिखिन सुझाव दिये हैं:—

(१) एक ऐसा क्षेत्र चुन लेना चाहिए जहाँ पाठ से संबंधित कई फोटो एक साथ लिये जा सकते हो। (२) उन दृश्यों और वस्तुओं की एक सूची पहले से वहाँ जाकर, तैयार कर लेना चाहिए, जिनका फोटो पाठ के लिए लेना आवश्यक हो। (३) इस सूची को स्कूल के अध्यापकों को दिखाना उचित है। संभव है कोई आवश्यक वस्तु या दृश्य छूट गया हो और दूसरे अध्यापक उसमें कुछ और दृश्य या चित्र जोड़ना आवश्यक समझें। (४) केवल वही दृश्य और वस्तुएँ चुननी चाहिए जो पाठ पढ़ाने के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। (५) फोटो लेने के बाद, फिल्म धोकर और उनके प्रिंट लेकर प्रत्येक फोटोग्राफ की पीठ पर उसके संबंध में सभी आवश्यक विवरण लिख लेना चाहिए ताकि उसे देखते समय प्रत्येक विचार स्पष्ट किया जा सके। (६) सारे फोटो-चित्रों को एक क्रम से लगा कर रखना चाहिए और कक्षा में पाठ पढ़ाते समय उसी क्रम से उनका

उपयोग करना चाहिए। (७) जहाँ तक संभव हो जितने भी चित्र एक फिल्म पर लिए जाँय, वे सभी सिलसिलेवार हों, जिसमें उस फिल्म का प्रयोग, फिल्म के फीते की तरह किया जा सके। (८) फोटो चित्रों को आकर्षक बनाने के लिए, उन्हें ८" × १०" के आकार में बढ़ा लेना (Enlarge) चाहिए। उनको ठीक ढंग से 'कम्पोज' करने की कला का जानना आवश्यक है। ठीक ढंग से कम्पोज करने में फोटो का सौंदर्य कई गुना अधिक बढ़ जाता है। (९) पाठ योजना में जहाँ पर फोटो चित्र दिखाना हो, उस स्थान पर पहले से चिन्ह बनाना आवश्यक है। (१०) फोटो-चित्रों को सुरक्षित रखने का पूरा प्रबंध रखना चाहिए क्योंकि एक चित्रावली अनेक बार और अनेक कक्षाओं में प्रयुक्त हो सकती है। इसके लिए फायल रखना आवश्यक है।

अभी हाल में ३ D फोटो चित्रों का जन्म हुआ है। यह चित्र बड़े सजीव होते हैं क्योंकि इनमें लम्बाई चौड़ाई और गहराई तीनों का अनुभव दर्शक करता है। उन्हें दिखाने के लिए स्टीरियोस्कोप (Stereoscope) नामक यंत्र बनाया गया है। उसकी सहायता से दो चित्र एक साथ दिखाये जाने पर एक ही चित्र दिखाई पड़ता है और उसमें लम्बाई, चौड़ाई और गहराई तीनों दिखाई देने लगती हैं।

फोटोग्राफ बनाने के विषयों का चुनाव आवश्यक है। बालकों के लिए कुछ विषय ऐसे चुनने चाहिए, जिनका उनके दैनिक जीवन से संबंध हो, जैसे सरस्वती यात्राएँ, स्कूल में पूरे वर्ष की महत्वपूर्ण घटनाएँ, कक्षा में पाठ्यक्रम से संबंध रखने वाली योजनाएँ, उत्पादन की क्रियाएँ (खेती, वस्त्र व्यवसाय, मिट्टी के बर्तन बनाने का काम, लकड़ी से खिलौने बनाना आदि।)

(झ) श्यामपट और सूचनापट (Black Board and Bulletin-Board)—श्यामपट ही ऐसा सहायक उपकरण है, जिसका

उपयोग सदियों से और सर्वत्र होता चला आया है। इसकी उपयोगिता के संबंध में लिखना अनावश्यक है। श्यामपट लकड़ी के चौखटे में जड़ा होता है और कक्षा के एक कोने में रक्खा रहता है। अब दीवारों पर स्थिर श्यामपट बनाने की प्रथा चल पड़ी है। पाठ पढ़ाते समय प्रत्येक अध्यापक महत्वपूर्ण बातें सफेद खड़िया या रंगीन बत्तियों से लिखता जाता है और श्याम पट के भर जाने पर कपड़े से पोंछता जाता है। श्यामपट पर नक्शे, ग्राफ, स्केच, डाइग्राम, आदि शीघ्रता खींचकर पाठ को सुगम बना सकते हैं। पारिभाषिक शब्द, परिभाषायें, सारांश, शीर्षक, दैनिक समस्याएँ, नियम, आदेश, गृहकार्य और उदाहरण श्यामपट पर लिखे जाते हैं। प्रोजेक्टर की सहायता से वस्तुओं के चित्र श्यामपट पर दिखाते हैं और उस चित्र के चारों ओर रेखायें खींचते हुए पूरा चित्र उतार लेतें हैं।

श्यामपट पर प्रत्येक बात स्पष्ट, संक्षिप्त, और आकर्षक अक्षरों में लिखनी चाहिए जिसमें विद्यार्थी प्रत्येक को अच्छी तरह पढ़लें। कुछ विद्वानों का मत है कि पाठ पढ़ाने के पूर्व श्यामपट-कार्य की योजना बना लेना आवश्यक है। लिखने की बत्ती और पोछने का कपड़ा, श्यामपट के पास हर समय मौजूद रहना चाहिए। आवश्यक अंश, जिसे बालक पढ़ या लिख चुकें, तुरंत साफ कर डालना उचित है। श्यामपट ऐसे स्थान पर रखना चाहिए जहाँ प्रकाश की चमक न पड़े, अन्यथा बालक कुछ भी न देख सकेंगे। जिन स्थानों पर विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट करना हो, उनके नीचे रेखा खींच देना आवश्यक है। अध्यापक श्याम पट के एक ओर खड़ा हो और उचित समझे तो छड़ी का प्रयोग करे। श्यामपट की ओर मुँह करके बोलना अनुचित है; ऐसा करने से बालकों को स्पष्ट सुनाई नहीं देता। लिखते समय बत्ती की रगड़ से आवाज न पैदा हो, इसका ध्यान रखना चाहिए।

सूचना-पट्ट का प्रयोग, व्यक्तिगत समाचार, स्कूल और स्कूल के बाहर के दैनिक समाचार, विज्ञप्ति, पुस्तिकाओं, व्यंग्य-चित्रों, चार्टों, पोस्टरों, चित्रों और सूचनाओं आदि के प्रदर्शन के लिए होता है। अनेक नेत्रोपकरण इसकी सहायता से प्रदर्शित किये जा सकते हैं। अतः स्कूल में शिक्षण-कार्य का यह प्रमुख साधन माना है। शिक्षा-विभाग की ओर से यह सुझाव आगया है कि स्कूलों में किसी प्रमुख स्थान पर एक सूचना-पट्ट अवश्य होना चाहिए।

शिक्षण के लिए जितनी भी सामग्री मिल सके, एकत्र करते रहना चाहिए और प्रतिदिन सूचना-पट्ट पर उसे लगाने के लिए एक योजना पहले से बना लेनी चाहिए। अच्छा तो यह है कि जो भी सामग्री अध्यापक स्वयं उपलब्ध कर सके या बालकों से करा सके, उसका विषयवार वर्गीकरण कर लिया जाय और जिस दिन उस सामग्री से संबंधित विषय पढ़ाया जाय, उसी दिन सूचना-पट्ट पर वह सामग्री प्रदर्शित कर दी जाय। कक्षा में पढ़ाते समय अध्यापक उस सामग्री का हवाला देता जाय जिसमें पाठ समाप्त होने पर बालक बाहर जाकर उसे पढ़ सकें। सूचना-पट्ट पर प्रदर्शित सामग्री को आकर्षक और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए, उसे भली भाँति सजाना आवश्यक है। प्रत्येक सामग्री के लिए शीर्षक तथा संक्षिप्त विवरण भी रहना चाहिए। उसे पढ़कर विद्यार्थी अपने आप समझ सकेंगे और पाठ को दुहराने में सहायता मिलेगी। रंगीन चित्रों को सूचना पट्ट पर लगाने के लिए संतुलन और अनुपात का ध्यान रखता उचित है। कभी-कभी आज की सामग्री कल भी सूचना-पट्ट पर लगी रह जाती है। ऐसी भूल न होने देनी चाहिए। नित्य उसमें परिवर्तन करते रहना चाहिए।

(ग) **वस्तुएँ, खिलौने, नमूने, प्रतिकृति आदि** (Objects, Specimens and Models)—इन उपकरणों के अन्तर्गत छोटे-छोटे

खिलौनों से लेकर वास्तविक वस्तुएँ, जैसे वायुयान, जलयान, पर्वत या उत्पादित वस्तुओं के नमूने जैसे अनेक प्रकार के अन्न, कपड़े, तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ, या वस्तुओं की प्रतिकृतियाँ, जैसे पशुओं या अन्य बड़ी वस्तुओं के माडेल आदि आ जाते हैं। जो वास्तविक वस्तुएँ कक्षा में सरलतापूर्वक लायी जा सकती हैं, उन्हें अध्यापक लाकर बालकों को दिखाता है,परंतु बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें लाना सम्भव नहीं है, उनके नमूने लाकर दिखाये जा सकते हैं। इन उपयोगी उपकरणों का स्कूल में अच्छा संग्रह होना चाहिए। अध्यापक बाज़ार में या कहीं भी जाते समय इस बात का ध्यान रक्खे कि यदि बालकों के लिए कोई अच्छी वस्तु दिखाई दे तो तुरंत खरीद ले। ऐसी वस्तुओं को टूटने, सड़ने और नष्ट होने से बचाने का पूरा प्रबंध होना चाहिए। अनेक वस्तुओं के नमूने मिलों और कारखानों से पत्र-व्यवहार द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। माडेलों का प्राप्त करना कठिन है। संग्रहालयों में बालकों को ले जाकर उन्हें दिखाना उचित है। अच्छे नमूनों को चौखटे या दफ्ती पर जड़कर सुरक्षित रखना चाहिए। जो टूटनेवाली वस्तुएं हैं, उन्हें बक्स में रखकर उपर से चिट लगा देना अच्छा है ताकि समय पड़ने पर फौरन उन्हें निकाला जा सके।

उपर्युक्त उपकरण स्कूलों में बालकों द्वारा तैयार कराये जा सकते हैं। उनके बनाने में अनेक प्रकार का सामान प्रयुक्त होता है, जैसे मिट्टी, लकड़ी, प्लाईवुड, नापने और काटने के यंत्र आदि। इनकी सहायता से अनेक छोटे-छोटे खिलौने और माडेल तैयार कराये जा सकते हैं जैसे मकान, रेल, मोटर, पेड़,पौदे आदि। न्यूयार्क विश्वविद्यालय के साइफर (Dr. Irene F. Cypher) नामक शिक्षाचार्य ने एक ऐसे उपकरण का आविष्कार किया है। जिसे डायोरमा (Diorama) कहते हैं। इसके द्वारा संसार, या ऐतिहासिक घटना, या पौराणिक कथा, या किसी दृश्य का एक

अंश (Section) बालकों के सामने प्रस्तुत किया जाता है। यह डायोरमा स्कूल के संग्रहालय में इकट्ठे रहते हैं और बालक उनकी सहायता से पाठ पढ़ते हैं।

इन उपकरणों का प्रयोग करने के पहले एक निश्चित योजना बना लेना उचित है। इनका उपयोग अन्य उपकरणों के साथ भी कर सकते हैं परन्तु पाठ-योजना में इनका प्रयोग कहाँ करना है, इसे लिख लेना चाहिए। बालक को इनकी उपयोगिता, इनसे प्राप्त ज्ञान की आवश्यकता, और उनका निरीक्षण करना आदि अच्छी तरह बताना आवश्यक है। वह कहाँ तक पाठ को समझ सके हैं, इसकी परीक्षा भी कर लेना उचित है।

(ट) **सरस्वती यात्राएँ** (Field Trips)—निरीक्षण, व्यवस्था, नवीन जानकारी, वास्तविक जीवन का सच्चा अनुभव—इन सबकी दृष्टि से सरस्वती यात्राएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। भूगोल, यंत्रों और वैज्ञानिक विषयों के पढ़ाने में इनसे बड़ी सहायता मिलती है। अन्य व्यावहारिक विषयों (Practical Subjects) के शिक्षण में इनका प्रयोग किया जा सकता है। भूगोल पढ़ाने के लिए बालकों के एक दल को पर्वत, नदी, जंगल और समुद्र आदि के निकट ले जाकर इनका निरीक्षण कराते हैं। कल-कारखानों में ले जाकर उत्पादन की विधि प्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थियों को दिखाते हैं। मंडियों में ले जाकर उन्हें व्यापार का अनुभव कराया जाता है। कार्यालय और बड़ी-बड़ी दूकानों में विद्यार्थी स्वयं जाकर वहाँ की कार्य-प्रणाली का अध्ययन करते हैं। सरस्वती यात्राओं के अन्तर्गत यह सभी कार्य आ जाते हैं।

सरस्वती यात्राओं से पूरा लाभ उठाने के लिए कई बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। प्रत्येक यात्रा का उद्देश्य पहले से ही

निश्चित होना चाहिए। यात्राएँ ऐसे स्थानों पर रखनी चाहिए जहाँ निरीक्षण की पूरी सुविधाएँ प्राप्त हो सकें। अध्यापक का कर्तव्य है कि वह कारखानों, मिलों, कार्यालयों, और विभागों के व्यवस्थापकों और प्रबंधकों से अनुमति प्राप्त कर ले और दिन, स्थान, समय और विद्यार्थियों की संख्या आदि निश्चित कर ले। गन्तव्य स्थान की दर्शनीय वस्तुओं के संबंध में पूरी जानकारी रखनेवाले व्यक्ति का चुनाव भी कर लेना आवश्यक है क्योंकि प्रायः अध्यापक को उन बातों का पूरा ज्ञान नहीं होता। अच्छा तो यह है कि अध्यापक यात्रा के पूर्व ही उस स्थान पर हो आये और वहाँ की पूरी जानकारी प्राप्त कर ले। उस स्थान तक आने-जाने के साधनों पर विचार कर लेना आवश्यक है और विद्यार्थियों को क्या सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं, इस संबंध में उन्हें बता देना चाहिए। यदि स्कूल से एक साथ विद्यार्थी जा सकते हैं, तो ठीक ही है, यदि ऐसा संभव नहीं, तो एक स्थान पर इन्हें एकत्र होने का निश्चय पहले से कर लेना जरूरी है। एक बार में दस से अधिक विद्यार्थियों को नहीं ले जाना चाहिए। अधिक विद्यार्थियों पर नियंत्रण और अनुशासन रखना कठिन हो जाता है। निश्चित समय पर और निर्दिष्ट स्थान पर अवश्य पहुंच जाना चाहिए क्योंकि मिल या कार्यालय के व्यवस्थापक राह देखते रहते हैं। देर होने पर उन्हें असुविधा होती है। वहाँ जाने के पूर्व टाइप की हुई 'गाइड शीट'—एक ऐसा पत्र जिस पर दर्शनीय वस्तुओं की सूची, स्थान तिथि, समय और पता आदि लिखी होती है—विद्यार्थियों को बाँट दी जाती है वहाँ पहुँचकर बालकों को सूक्ष्म निरीक्षण करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। वे जो भी देखें अपनी डायरी में लिख लें। यदि चित्र और नमूने आदि संग्रह किये जा सकते हैं, तो उन्हें अवश्य ले लेना चाहिए। निरीक्षण करते समय अध्यापक उन्हें समझाता जाय, तो ज्यादा लाभ हो सकता है। यात्रा से लौटने पर अध्यापक

और विद्यार्थी कक्षा में वादविवाद कर सकते हैं। यदि उस विषय पर अध्यापक भाषण देना चाहता है, तो दे और साथ में पाठ दुहराने के लिए यात्रा में लिए गए चित्रों का उपयोग करे या स्लाइड आदि दिखाये। यदि बालकों ने यंत्रों का प्रयोग वहाँ देखा है तो स्कूल में उनसे उन्हीं यंत्रों का प्रयोग कराना चाहिए।

(ठ) रेडियो, रेकार्ड और प्लेबैक यंत्रादि (Radio, Recording, and Playback Equipment) रेडियो का आविष्कार वर्तमान काल की अभूतपूर्व घटना है। यह मनोरंजन और प्रचार का साधन माना जाता है। इधर यह अनुभव किया जाने लगा है कि रेडियो शिक्षा के माध्यम के रूप में अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है और इसकी सहायता से अध्यापन कार्य कई गुना प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है। इसका विकास करके शिक्षा को समर्थ बनाने की बहुत बड़ी संभावनाएँ हैं। स्कूलों में महान व्यक्तियों, अनेक विषयों के विशेषज्ञों तथा कलाकारों का बुलाना संभव नहीं है, परन्तु रेडियो एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा उनकी वाणी विद्यार्थियों को सुनवाई जा सकती है। इसकी सहायता से अनेक विषयों, जैसे प्रयोग, यात्रा, पुरातत्व, पत्रकारिता, साहित्य, संगीत और विज्ञान आदि विषयों का साधारण ज्ञान, बालकों को कराना सरल तथा संभव है। विश्व भर में घटित होने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं का ज्ञान उन्हें प्राप्त हो सकता है और साथ में उन्हें ऐसी बहुत सी बातें ज्ञात हो सकती हैं, जिनके विषय में पाठ्य - पुस्तकों से जानना कठिन है।

नगरों के स्कूलों में रेडियो का प्रबंध सरलता से हो सकता है परन्तु आर्थिक कठिनाई से अड़चन पड़ सकती है। ग्राम पाठशालाओं में, बिजली के अभाव के कारण रेडियो से लाभ नहीं उठाया जा सकता। बैटरी से चलनेवाले रेडियो महँगे पड़ते हैं। मामूली रेडियो इतने

शक्तिशाली नहीं होते कि दूर के ब्राडकास्ट को पकड़ सकें। धीरे-धीरे अब इस दिशा में प्रगति हो रही है। स्थानीय स्टेशनों की संख्या बढ़ती जा रही है और प्रत्येक स्टेशन से बालकोपयोगी कार्यक्रम प्रसारित किया जाने लगा है।

शिक्षण में रेडियो का प्रयोग करने के लिए कुछ बातों की जानकारी आवश्यक है। जो लोग, केवल यह समझते हैं कि कक्षा में रेडियो सेट रख देने से और बालकों को वहाँ बैठा देने से, शिक्षण का कार्य पूरा हो सकता है, वे बड़े भ्रम में हैं। बिना अध्यापकों के सहयोग के, रेडियो से लाभ उठाना संभव नहीं है। केवल बालकों के कानों तक रेडियो की आवाज पहुँचाना काफी नहीं है। वास्तव में इस कार्य के लिए पूर्वयोजना आवश्यक है। स्कूल में एक अच्छे किस्म का रेडियो सेट होना चाहिए। अध्यापक का कर्तव्य है कि वह भिन्न स्टेशनों के भावी कार्यक्रमों का विवरण संग्रह कर ले और उसमें से बालकोपयोगी अंशों को छाँट ले। कक्षा में बालकों के बैठने, रोशनी और हवा का यथोचित प्रबंध होना चाहिए। एक ऐसी जगह पर, मेज के ऊपर रेडियो रख देना चाहिए जहाँ से बालकों तक ध्वनि समान रूप से किसी बाधा के बिना पहुँचती रहे। अब जिस कार्यक्रम को सुनवाना है, उसके संबंध में और जो भी जानकारी अध्यापक प्राप्त कर सकता है, इकट्ठा कर ले और कार्यक्रम आरम्भ होने के पूर्व, उसके बारे में बालकों को बता दे। पाठ योजना भी पहले से बना रखनी चाहिए। बालकों को ब्राडकास्ट से लाभ उठाने के लिए प्रेरित करना आवश्यक है। कार्यक्रम सुन लेने के बाद विचार-विमर्श और प्रश्नोत्तर द्वारा बालकों के ज्ञान को सुदृढ़ कर देना उचित है।

रेडियो की सहायता से शिक्षण को सक्षम बनाने के लिए, रेडियो स्टेशनों के निर्देशकों और प्रबंधकों को शिक्षा में पूरी दिलचस्पी

लेनी चाहिए क्योंकि बालकोपयोगी कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये शिक्षा-विशारदों को आमंत्रित करना, उनका ही उत्तरदायित्व है। स्कूलों के लिये प्रसारित किए जानेवाले कार्यक्रम का समय १० से ५ बजे के बीच में ही होना चादिए। इसी समय में बालक स्कूलों में रहते हैं। बालकों की आयु, बौद्धिक-विकास और आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए कार्यक्रम बनाना उचित हैं। प्रत्येक कार्यक्रम सोद्देश्य होना चाहिए। इन विचारणीय बातों को ध्यान में रखते हुए, इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि रेडियो के संचालकों, शिक्षा-विशारदों और अध्यापकों की एक समिति बने, और वही बालकोपयोगी कार्यक्रम की योजना बनाये।

रेडियो के कार्यक्रम कई प्रकार के हो सकते हैं। रेडियो वार्ता में लेख, कहानी, और एकांकी आदि पढ़कर सुनाये जा सकते हैं। कविता पाठ भी रेडियो पर किया जा सकता है। दो व्यक्तियों के संवाद भी प्रसारित होते हैं। नाटक का अभिनय रेडियो द्वारा प्रसारित किया जाता है। नाटकों के प्रसारण में रोचक कथानक, प्रवाहपूर्ण कथोपकथन, सरल भाषा और उत्सुकता आदि का ध्यान रखना आवश्यक है। रेडियो कार्यक्रम ऐसा हो कि सुनते ही आँखों के आगे एक चित्र-सा खिच जाय। कार्यक्रम में भाग लेनेवालों को कई बातों का ध्यान रखना चाहिए। जो भी वार्ता या कहानी उन्हें पढ़नी हो उसे पहले से लिख लेना चाहिए और घड़ी से देखकर उसे नाप-तोल लेना चाहिए। एक बार पढ़कर परीक्षा कर लेना आवश्यक है। यदि संवाद प्रसारित करना है, तो दोनों व्यक्तियों का स्वर इतना स्पष्ट होना चाहिए कि श्रोताओं को सुनने में और पहचानने में भ्रम न हो। जिन प्रसंगों पर बालकों को सीखना है, उन पर जानबूझ कर जोर देना उचित है। नाटक और कहानियों के कथानक सरल और सीधे होने चाहिए और दृश्यों को बार-

बार बदलना अनुचित है। भावावेश के प्रदर्शन से बचना चाहिए। माइक के आगे पढ़ने पर घबराना न चाहिए। इसके लिये पहले अभ्यास करना पड़ता है। माइक और अपने मुंह के बीच में लिखित कागज कभी न आने पाये अन्यथा ध्वनि के फैलाव में बाधा पड़ेगी।

शिक्षण के माध्यम के रूप में रेडियो पूर्णतया दोष मुक्त नहीं है। आजकल की शिक्षा में 'क्रियाशीलता' (Activity) को प्रमुख स्थान दिया गया है परन्तु रेडियो द्वारा शिक्षा प्राप्त करने में विद्यार्थी केवल निष्क्रिय श्रोता बने रहते हैं। पाठ को दुहराने और स्मरण कराने की सुविधा भी रेडियो में नहीं मिलती। सबसे बड़ा दोष यह है कि रेडियो द्वारा वार्ता आदि प्रसारित करनेवाले व्यक्ति और विद्यार्थियों में कोई संबंध नहीं रहता। अध्यापन वास्तव में दोहरी (Bi-polar) क्रिया है। उसमें अध्यापक और विद्यार्थी दोनों का समान योग रहता है और दोनों में एक आध्यात्मिक संबंध स्थापित हो जाता है। रेडियो द्वारा शिक्षण में यह संबंध नहीं स्थापित हो पाता। प्रश्नोत्तर और शंका समाधान आदि की सुविधा भी नहीं रहती। इसके लिए तो कक्षा का अध्यापक ही काम आ सकता है, रेडियो नहीं। रेडियो द्वारा प्राप्त शिक्षण सीमित होता है। 'यूनेस्को' (Unesco—संयुक्तराष्ट्र शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति संगठन) ने 'स्कूलों के लिए ब्राड कास्ट' नामक एक महत्वपूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित की है। उसमें बताया गया है कि शिक्षण के तीन अंग हैं—प्रस्तावना, ब्राड-कास्ट और निष्कर्ष। रेडियो केवल ब्राडकास्ट के लिए ही उपयोगी है। प्रस्तावना और निष्कर्ष में रेडियो की सहायता अपर्याप्त है, यह दोनों कार्य, कक्षा अध्यापक ही कुशलता पूर्वक पूरा कर सकता है। अध्यापन कार्य की पूरी सफलता, इन तीनो अंगों को पूरा करने पर ही निर्भर है परन्तु रेडियो द्वारा केवल एक अंग की पूर्ति होती है।

अतः रेडियो द्वारा शिक्षण, कक्षा शिक्षण-कार्य का पूरक मात्र है। प्रायः सभी देशों की रिपोर्टों में यही बात दुहराई गई है।

रेडियो द्वारा शिक्षण को सफल बनाने के लिए कक्षा-अध्यापक का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है। जिस प्रकार बालक अपने आप पाठ्य-पुस्तकों का उपयोग नहीं कर सकता, उसी प्रकार रेडियो के कार्यक्रम से भी वह लाभ नहीं उठा सकता। अतः रेडियो द्वारा शिक्षा प्राप्त करने में कक्षा-अध्यापक हर समय बालकों की सहायता करता है। कार्यक्रम के जो प्रसंग बालकों की समझ में नहीं आते वह उन्हें स्पष्ट करता है। मंदबुद्धि बालकों के लिए वह विषय की बार-बार व्याख्या करता है। अध्यापक बालकों को रेडियो से शिक्षा प्राप्त करने की ट्रेनिंग भी देता है। अगर बच्चे रेडियो से लाभ उठाने योग्य बन जायँ तो अगली पीढ़ी का रेडियो सुनने का प्रतिमान और और स्तर ऊँचा उठेगा। इससे कला, साहित्य और संस्कृति की उन्नति होगी।

रेडियो के बाद श्रवणोपकरणों में रेकार्ड और प्लेबैक के यंत्रों का प्रमुख स्थान है। रेकार्ड कई प्रकार के होते हैं। ग्रामोफोन से तो जन साधारण परिचित ही हैं। मसाले के बने तवे पर ध्वनि, रेखाओं के रूप में भर ली जाती है। गीत, कहानी, एकांकी, और संवाद आदि ग्रामोफोन की सहायता से सुनाये जा सकते हैं। रेकार्ड के कुछ नये साधन भी निकल आये हैं, जैसे तार (Wire) और फीता (Tape), जिन पर ध्वनि भर ली जाती है। ग्रामोफोन के रेकार्ड स्थायी होते हैं, उनमें जो भी विषय भर लिया गया, वह स्थायी हो जाता है। तार वाले रेकार्ड अस्थायी होते हैं। यह विद्युत की सहायता से, भाषण, वार्ता, या संगीत को तुरंत अंकित कर लेते हैं। बाद में इन्हें प्लेट पर भी उतारा जा सकता है। रेकार्ड के यह यंत्र, रेडियो की अपेक्षा, शिक्षण में अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं क्योंकि इनकी

सहायता से प्रसिद्ध वक्ताओं या महान पुरुषों के स्वर को बार-बार सुना जा सकता है। पाठ के दुहराने और स्मरण कराने में रेकार्ड अचूक साधन है। बने बनाये रेकार्ड बाजार से प्राप्त हो सकते हैं। अध्यापक का कर्तव्य है कि वह अच्छे और उपयोगी रेकार्ड संग्रह कर ले और कक्षा में उनका उपयोग करे। पाठ में रेकार्डों का प्रयोग करने की योजना पहले से बना लेनी चाहिए।

भाषा की शिक्षा में रेकार्ड का प्रयोग होता है। शब्दों के उच्चारण कराने का अभ्यास, इसकी सहायता से करा सकते हैं। विशेष रूप से विदेशी भाषा का स्वाभाविक उच्चारण रेकार्डों की सहायता से सीखा जा सकता है क्योंकि भारतीय अध्यापक के मुँह से स्वाभाविक उच्चारण नहीं निकलता। रेकार्ड के द्वारा प्रसिद्ध व्यक्तियों की वाणी यथावत् कक्षा में उत्पन्न की जा सकती है। संवाद, अभिनय, कविता-पाठ और संगीत आदि को कक्षा में रेकार्ड द्वारा उपस्थित करके बालकों को तदनुसार अभ्यास कराने में पूरी सहायता दी जा सकती है। शास्त्रीय संगीत का ज्ञान कराने में रेकार्ड का सबसे अधिक महत्व है। ध्वनि का विश्लेषण तथा संश्लेषण बालकों की समझ में आसानी से आ जाता है।

रेडियो तथा अन्य श्रवणोपकरणों का शिक्षण में प्रयोग करने लिए स्कूल में **केन्द्रीय ध्वनि-व्यवस्था** (Central Sound System) का आयोजन होना चाहिए। विद्युत की सहायता से इसकी व्यवस्था करना सरल है। तारों का जाल बिछाने और यंत्रों को लगाने के लिए नगरों में विशेषज्ञ मिल जाते हैं। स्कूल भवन के बीच में एक कमरा इस व्यवस्था के लिए नियत किया जाता है। इसके लिए एक माइक्रोफ़ोन, ध्वनि विस्तार के यंत्र (Amplifier), सेन्ट्रल कन्ट्रोल बोर्ड, प्रत्येक कक्षा में तारों का फैलाव आदि की आवश्यकता पड़ती है। बीच के कमरे में माइक पर जो कुछ बोला या कहा जाता है,

वह प्रत्येक कमरे में सुनाई देता है। बालकों को अपनी कक्षा छोड़ कर अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। केन्द्रीय स्थान से रेकार्ड, वार्ता, भाषण और संगीत आदि सभी कक्षाओं में सुनाए जा सकते हैं। प्रधानाध्यापक आवश्यक आदेश या विज्ञप्ति वहीं से सारे स्कूल को सुना सकता है। विद्यालय में आनेवाले अतिथि प्रसिद्ध पुरुष यहीं से सारे बालकों को अपना संदेश दे सकते हैं। इस व्यवस्था से बड़ा लाभ यह है कि भीड़-भाड़, और कोलाहल से बचा जा सकता है और स्कूल में एक बड़े हाल (कमरे) की कमी को भी पूरा किया जा सकता है।

ध्वनि के आदान-प्रदान की व्यवस्था कई प्रकार से की जा सकती है। एकमार्गी प्रेषण-व्यवस्था (One-way Communication) में केंद्रीय स्थान का संबंध प्रयेक कक्षा से तार द्वारा कर दिया जाता है। स्कूल के घंटे, आम सूचनाएँ, प्रधानाध्यापक के आदेश, भाषण और वार्ता आदि केंद्र से प्रत्येक कक्षा को सुनाये जा सकते हैं। द्विमार्गी प्रेषण-व्यवस्था (Two-way Communication) में केंद्रीय स्थान से उपर्युक्त विधि से संदेश भेजे जा सकते हैं, साथ ही एक कक्षा में होने वाले पाठ, या भाषण, या वार्ता या संवाद को, केंद्र की ओर भेजकर, वहाँ से अन्य कक्षाओं को भी सुनाया जा सकता है। ऐच्छिक प्रेषण-व्यवस्था (Selective Communication) में एक कक्षा का दूसरी कक्षा से, या केंद्र का किसी एक कक्षा से या कई कक्षाओं से संबंध जोड़ा जा सकता है। यदि केंद्र से, दो कमरों में ही संवाद आदि भेजना है, तो ऐसी व्यवस्था हो जाती है कि उन दोनों में ही संबंध स्थापित कर दिया जाता है। अन्य कक्षाएँ अपनी पढ़ाई में व्यस्त रहती हैं और इन्हें कोई भी अड़चन या बाधा उनके कार्य में नहीं पड़ती। इस व्यवस्था से रेडियो भी प्रत्येक कक्षा में सुनाया जा सकता है। खेलों के मैदान, व्यायाम शाला, संगीत की कक्षा तथा

रंगमंच पर होनेवाले कार्यक्रमों का विवरण कक्षा में बैठे हुए बालकों को बड़ी सरलता से सुनाया जा सकता है। इस सारी व्यवस्था के लिए तारों के फैलाने में कभी असुविधा भी हो सकती है। इसलिए प्रयत्न किया जा रहा है कि निकट भविष्य में रेडियो की भाँति बेतार (Wireless) की व्यवस्था करके, इस कठिनाई को दूर कर दिया जाय।

(ड) **टेलीविज़न** (Television)—इसमें श्रवण और नेत्र, दोनों इन्द्रियों का संयुक्त प्रयोग हो सकता है। इस आविष्कार से श्रवण-नेत्रोपकरणों की प्रभावशीलता सैकड़ों गुना अधिक बढ़ गई है। रेडियोसेट के साथ एक रजतपट भी लगा होता है और सैकड़ों हजारों मील की दूरी से भाषण देनेवाले व्यक्ति का स्वर ही नहीं, सुना जा सकता, वरन् उसे सशरीर देखा भी जा सकता है। शिक्षण में इसका प्रयोग करने के लिये, उन सभी बातों का ध्यान रखना पड़ता है, जिनका वर्णन हम चल-चित्रों और रेडियो के प्रसंग में कर चुके हैं। टेलीविज़न के प्रयोग के संबंध में अभी खोजें जारी हैं और भविष्य में उनका फल ज्ञात होने की सम्भावना है।

\+ \+ \+

श्रवण नेत्रोपकरणों का विवरण हम ऊपर दे चुके हैं। अध्यापकों को इससे पर्याप्त सहायता मिलेगी। इन उपकरणों की व्यवस्था के संबंध में भी कुछ लिख देना आवश्यक है। स्कूल में, दो प्रकार के संघठनों का आयोजन होना चाहिए—(१) संग्रहालय (Museum) और (२) श्रवण-नेत्र-प्रयोगशाला। इनकी रूप रेखा निम्नांकित है:—

(१) **संग्रहालय** (Museum)—उपर्युक्त उपकरणों के विषय में लिखते हुए संग्रहालय का अनेक बार ज़िक्र आ चुका है। स्कूल में, इसके लिए चार पाँच कमरों का भवन अलग बना लिया जाय

तो बड़ा अच्छा हो। इस भवन में बालकों तथा अध्यापकों द्वारा संगृहीत अनेक शिक्षोपयोगी वस्तुएँ सुरक्षित रहती हैं। पाठ पढ़ाने के पूर्व, अध्यापक को जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, वह यहाँ से ले जाता है और पाठ समाप्त हो जाने पर यथास्थान लौटाकर रखवा देता है। जों वस्तुएँ कक्षा में नहीं लायी जा सकतीं, उनके विषय में अध्यापक कक्षा में बालकों को बता देता है और उन्हें संग्रहालय में जाने के लिए प्रोत्साहित करता है। संग्रहालय में एक गाइड नियुक्त रहता है, जिसका कार्य यह है कि वहाँ आनेवाले दर्शनार्थी बालकों को प्रत्येक वस्तु के बारे में पूर्ण सूचना दे। कुछ बालकों को स्कूल में अतिरिक्त घंटे मिल जाते हैं, और इस समय वे संग्रहालय में जा सकते हैं; परन्तु अच्छा तो यह है कि संग्रहालय प्रातः और सायंकाल भी खुला रहे ताकि सभी विद्यार्थी सुविधानुसार वहाँ जा सकें। छुट्टियों में भी कुछ समय तक संग्रहालय खुला रहना चाहिए। संग्रहालय का संगठन करने के लिए कुछ नियम नीचे दिये जाते हैं।

(१) संग्रहालय में विविध प्रकार की सभी विषयों से संबंध रखने वाली वस्तुएँ एकत्र की जा सकती हैं। ऐतिहासिक सिक्के, मूर्तियाँ, पत्र, हस्तलिखित ग्रंथ, शस्त्रास्त्र, बर्तन, भूगोल से संबंधित वस्तुएँ जैसे अन्न, धातुएँ अनेक प्रकार के पत्थर, उत्पादित वस्तुएँ, विज्ञान से संबंधित वस्तुएँ, जैसें अनेक प्रकार के आविष्कारों के माडेल दवाइयाँ, पशु, पक्षी, पत्तियाँ......आदि। वस्तुओं की सूची बहुत बड़ी हो सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि इन वस्तुओं को अच्छी तरह सुरक्षित रक्खा जाय। सभी वस्तुओं का वर्गीकरण (Classification) होना चाहिए ताकि जिस विषय की वस्तुएँ विद्यार्थी देखना चाहें, एक स्थान पर वे देख सकें।

(२) संग्रहालय प्रतिक्षण विकसित होनेवाली संस्था है। सर-

स्वती यात्राओं, पत्र-पत्रिकाओं, बाजार और विदेशों आदि अनेक उपायों (Sources) से वस्तुएँ प्राप्त होती रहती हैं। अध्यापक तथा स्कूल के अधिकारी तो इनका सँग्रह करते ही हैं; बालकों को भी संग्रह का कार्य और उसकी कला सिखाना चाहिये। वे ज़ो भी वस्तुएँ (जैसे टिकट, चित्र आदि) इकट्ठा करें, उन्हें संग्रहालय के व्यवस्थापक के पास भेज देना चाहिए और यदि वे वस्तुएँ उपयोगी हों, तो रख लेना चाहिए। संग्रह-कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए बालकों को प्रमाण-पत्र और पारितोषिक देने की व्यवस्था करना उचित है।

(३) संग्रहालय का प्रबंध रखने के लिए अलग कर्मचारी होना चाहिए। यहाँ के व्यवस्थापक (School Curator) का काम है कि नई प्राप्त वस्तुओं के विषय में संक्षिप्त विवरण टाइप करा के सूचना पट्ट पर लगवा दे जिसमें बालकों को संग्रहालय में जाकर नवीन वस्तुओं के देखने का चाव हो। व्यवस्थापक को चाहिए कि सरकारी प्रांतीय और केंद्रीय संग्रहालयों से अनेक अप्राप्य वस्तुओं को उधार (Loan) मँगवा ले और कुछ समय तक अपने स्कूल के संग्रहालय में उन्हें प्रदर्शित करे। ऐसी वस्तुओं के आने की सूचना बालकों को अवश्य मिलनी चाहिए।

(४) प्रत्येक वस्तु के साथ उसका नाम तथा संक्षिप्त विवरण एक दफ्ती की पट्टी पर लिखा हुआ रहना उचित है। गाइड साथ रहे, परन्तु बालक उसी को पढ़कर यथासम्भव जानकारी प्राप्त कर लें।

(५) वस्तुओं को संग्रहालय में आकर्षक ढंग से सजा कर रखना भी एक कला है। इस कार्य के विशेषज्ञ, ट्रेनिंग प्राप्त करके, व्यवसाय करते हैं। स्कूल में, उन्हें बुलाकर संग्रहालय की सजावट दिखाना चाहिए और उनके परामर्श से लाभ उठाना चाहिए।

कोमल और नष्ट होनेवाली वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक मसालों का प्रबंध होना उचित है। कुछ लोगों का विचार है कि संग्रहालय की सजावट में यदा-कदा परिवर्तन करते रहना आवश्यक है। इससे संग्रहालय के आकर्षण और नवीनता में वृद्धि होती है। वस्तुओं पर विभिन्न दिशाओं से प्रकाश डालने से भी नवीनता उत्पन्न होती है। अतः प्रकाश की व्यवस्था में कभी-कभी परिवर्तन करना आवश्यक है।

(६) संग्रहालय से लाभ उठाने और वहाँ जाकर निरीक्षण करने का अभ्यास बालकों को अवश्य ही कराना चाहिए। इसके बिना बालक उससे लाभ न उठा सकेंगे। संग्रहालय में यत्र-तत्र तत्संबंधी आवश्यक आदेश लिख कर टाँग देना चाहिए, जैसे 'वस्तुओं को स्पर्श मत करो', 'किसी वस्तु के पास देर तक मत खड़े हो' और 'थूको मत' या सिगरेट मत पियो' आदि। बालकों की तनिक भी असावधानी से संग्रहालय की मूल्यवान वस्तुएँ नष्ट हो सकती हैं।

(२) **श्रवणनेत्र प्रयोगशाला** (Audio-Visual Laboratory)—उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट हो जायगा कि विज्ञान द्वारा उपलब्ध नवीन साधनों का प्रयोग करने के लिए स्कूल की व्यवस्था में बहुत हेर-फेर करना आवश्यक है। पुराने ढंग के कमरों में, इन का प्रयोग हो ही नहीं सकता। अतः स्कूल-भवन का निर्माण वैज्ञानिक प्रयोगशाला के नमूने के आधार पर होना चाहिए और हर प्रकार के यंत्रों और साधनों से स्कूल सुसज्जित होना चाहिए। उदाहरण के लिए, स्कूल में अनेक प्रकार के छोटे बड़े टेबुल, झूलने वाली तथा स्थिर कुर्सियाँ, घड़ियाँ, टेलीफोन, श्यामपट, सूचनापट, प्रोजेक्टर, अँधेरे कमरे, चित्रपट, बड़ा हाल, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ, अनेक प्रकार के कोष, उपकरणों के तैयार करने का सामान

(Material) आदि की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। इस नवीन प्रकार के भवन को बनाते समय कई बातों का ध्यान रखना आवश्यक है, जैसे एकांत स्थान और शांतिपूर्ण वातावरण, उचित तापक्रम, रोशनी तथा साफ हवा, और प्रत्येक बालक के लिए ६ वर्ग फीट स्थान। कमरों के बनाने तथा उनमें बालकों के बैठने और काम करने के लिए टेबुल रखने आदि के लिए पहले से नक्शे तैयार कराने के बाद निर्माण का काम शुरू करना उचित है। यह काम उन विशेषज्ञों का है जिन्हें शिक्षा और निर्माण-कला दोनों का ज्ञान होता है।

स्कूल का प्रत्येक कमरा प्रयोगशाला का रूप धारण कर लेता है। बालक यहाँ आकर काम करते हैं। अध्यापक पहले उन्हें प्रत्येक प्रक्रिया स्वयं करके दिखाता है; तब बालक उसका अनुकरण करते हैं। अध्यापक उन्हें समझाता जाता है। बालकों द्वारा किये गये कार्य का पूरा विवरण रक्खा जाता है। उन की सुविधा के लिए एक निर्देश-पत्र (Operational Sheet) छपा रहता है जिसे पढ़कर वे सरलता से काम पूरा कर सकते हैं। इस निर्देश-पत्र में किसी काम को करने का ढंग, प्रश्न तथा पढ़ने के लिए संकेत आदि दिये होते हैं।

इन प्रयोगशालाओं से कई लाभ हो सकते हैं। यहाँ आकर बालक अपने ज्ञान (Theory) का व्यवहार कह सकते हैं। उन्हें अध्यापक से पूर्ण पथ-प्रदर्शन प्राप्त होता है और वे अनुभव करते हैं कि उन्हें जीवन में इसी उत्तरदायित्व का पालन करना होगा। उन्हें स्वयं अपनी रुचि, योग्यता और क्षमता का अनुमान हो जाता है। बालकों को यहाँ मिलकर एक साथ काम करना पड़ता है। इसलिए उनमें सामाजिक भावना उत्पन्न होती है। अतः विद्वानों का मत है कि

यह प्रयोगशालाएँ स्कूल और जीवन के बीच की गहरी खाई पाटने में सफल हुई हैं।

श्रवण-नेत्रोपकरणों के प्रयोग की व्यवस्था—उपकरणों के प्रयोग में, यदि कड़े नियमों की पाबंदी लगा दी जाय, तो अध्यापन-कार्य की स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी। महान शिक्षक सदैव मौलिक ढंग से अध्यापन-कार्य करते हैं। सा्क्रेटीज अपने शिष्यों के साथ सड़क पर वार्तालाप करते हुए पढ़ाता था; प्लेटो निकुंज में बैठकर शिक्षा देता था; इपीक्यूरस उद्यान को ही अध्यापन के लिए उपयुक्त समझता था। कहने का तात्पर्य यह है कि उपकरण तो साधन मात्र हैं। अध्यापक को इस बात की पूरी छूट होनी चाहिए कि वह जहाँ चाहे, उनका प्रयोग करे; तथापि आधुनिक नेत्रोपकरणों का प्रयोग मनचाही स्वतन्त्रता के साथ नहीं किया जा सकता। कुछ ऐसे नियम हैं, जिनका पालन करने से, इनका प्रयोग सुगम और प्रभावपूर्ण बन जाता है।

यदि स्कल में आधुनिक सहायक उपकरणों का प्रयोग करने का निश्चय किया जाय तो प्रारम्भ से ही, उनकी व्यवस्था सुचारु रूप से की जानी चाहिए। ३ या ५ सदस्यों की एक समिति बना देना—पहला कदम है। इस समिति में अध्यापक, अभिभावकों का एक प्रतिनिधि तथा श्रवणनेत्रोपकरणों के विशेषज्ञ रहने चाहिए। समिति का प्रधान वही व्यक्ति बने जो बड़ा उत्साही और रुचि लेनेवाला हो। समिति का कार्य है—इन उपकरणों पर व्यय होनेवाले धन का अनुमान लगाना, उन्हें प्राप्त करने के उपाय सोचना, तत्संबंधी साहित्य तथा सूचना का संग्रह करना, विशेषज्ञों को स्कूल में आमंत्रित करना तथा उनके भाषण करवाना; यंत्रों को स्कूल में फिट कराना आदि। इसके पाश्चात् इन उपकरणों के विधिवत् प्रयोग की स्वस्थ योजना तैयार करना उचित है। योजना सीधी-सादी, व्यावहारिक और मनोरंजक होनी चाहिए। इनके प्रयोग का उद्देश्य हर दशा में, शैक्षिक

(Educational) होना उचित है। स्कूल में होनेवाले समस्त शैक्षिक कार्यों के अनुरूप ही इस योजना को बनाना आवश्यक है। इसे कार्यान्वित करते समय अभिभावकों और समाज का पूर्ण समर्थन प्राप्त कर लेना चाहिए। स्कूल में चलचित्रों और रेडियों का प्रयोग धार्मिक या राजनैतिक प्रचार के लिये, करना नितांत अनुचित है। श्रवण-नेत्रोपकरणों के विस्तृत विवरण को पढ़ने के पश्चात् ज्ञात हो जायगा कि उन सबको एक साथ, एक ही वर्ष में एकत्र करना असम्भव है। इसके लिये लाखों रुपये खर्च करने पड़ते हैं। अतः जो भी उपकरण आसानी से उपलब्ध हो सकें, उनसे ही कार्य आरंभ करना चाहिए। नक्शे, चार्ट, और चित्र ऐसे उपकरण हैं, जिनके बनाने में केवल परिश्रम की आवश्यकता है और वे स्कूल में ही तैयार किये जा सकते हैं। एकाएक और एक साथ सबका प्रयोग करना भी हानिकारक है। ज्यों-ज्यों सफलता मिलती जाय, नये उपकरण मँगाते रहना चाहिए। स्कूल के वार्षिक बजट में इन उपकरणों को खरीदने के लिए धन अलग कर लेना उचित है; प्रधानाध्यापक को इस बात का ध्यान रखना होगा। इनका चुनाव उपर्युक्त समिति करे, परन्तु इनके खरीदने का कार्य स्कूल की प्रबंध-समिति को सौंप देना चाहिए। श्रवण-नेत्रोपकरणों के प्रयोग के लिए यांत्रिक ज्ञान की आवश्यकता है। या तो स्कूल में इनके प्रयोग में प्रशिक्षित अध्यापकों की नियुक्ति करनी चाहिए, या स्कूल के अध्यापकों को यांत्रिक ज्ञान प्राप्त करने की सुविधा देनी चाहिए। शिक्षा विभाग की ओर से एक ऐसी प्रशिक्षण संस्था खोलने की व्यवस्था हो जहाँ इन वैज्ञानिक उपकरणों और यंत्रों का प्रयोग अध्यापकों को सिखाया जाय।

अध्यापकों से—

श्रवण-नेत्रोपकरणों की सहायता से अपनी शिक्षण-विधि को

अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए, अध्यापकों को तत्संबंधी साहित्य पढ़ते रहना चाहिए। उनकी जानकारी के लिए कुछ नियम नीचे दिये जा रहे हैं, जिनकी सहायता से वे अपनी पाठ-योजना तैयार करते समय और कक्षा में पढ़ाते समय इन उपकरणों से भली-भाँति लाभ उठा सकते हैः—

(क) पाठ की तैयारी—(१) पहले निश्चय कर लो कि उपकरण का प्रयोग किस उद्देश्य से कर रहे हो। (२) पाठ्य-विषय से संबंधित उपकरण का चुनाव करो। (३) पूरी पाठ-योजना बना लो। (४) प्रत्येक वस्तु को विधिवत् कक्षा में रख लो। (५) एक बार पढ़ाने से पहले अभ्यास कर लो। (६) अपनी वेश भूषा तथा व्यवहार पर भी विचार कर लो। (७) साथ में पाठ-योजना-पत्र (Planning Sheet) रक्खो जिसमें तिथि, समय, विषय, उपकरणों के नाम तथा प्रयोग का प्रसंग आदि अंकित हो। (८) कमरे में चित्र चार्ट, नक्शे, प्रोजेक्टर या अन्य आवश्यक यंत्रों का प्रबंध कर लो। (९) केवल वही उपकरण चुनो जों पाठ के लिए सबसे अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध हों।

(ख) विषय उपस्थिति—इसके दो अंग हैं। (अ) **भूमिका**—इस अंग में (१) कक्षा में पहले से उपस्थित रहो और विद्यार्थियों के आने पर उल्लास सहित उनका स्वागत करो। (२) हास्य, विनोद, घटना-वर्णन या अन्य किसी विधि से उनकी रुचि जाग्रत करो और उनका ध्यान आकर्षित करो। इसके लिए प्रभावशाली शब्दों और अभिनयात्मक व्यवहार का प्रयोग आवश्यक है। (३) उपकरण के प्रयोग का उद्देश्य समझाओ। (४) पूर्व पाठ से संबंध जोड़ो। **(ब) विषय स्पष्ट करने तथा प्रदर्शन में**— (१) प्रत्येक उपकरण को क्रम से कक्षा में उपस्थित करो। (२) महत्वपूर्ण स्थलों पर ज़ोर डालो (३) केवल उतना ही बताओ जिसे विद्यार्थी भली भाँति

हृदयंगम कर सकें। (४) उदाहरण, तुलना और भेद आदि का उल्लेख करो। (५) उपकरणों का प्रयोग करते समय विषय समझाते जाओ। (६) उनका प्रयोग स्वाभाविक, संक्षिप्त तथा सरल ढंग से करो। (७) प्रत्येक क्रिया कुशलतापूर्वक करके दिखाओ जिसका अनुकरण बालक करें। (८) बोलने का स्वर, भाषा, व्यवहार, मुस्कान, उत्साह, अभिनय, आँखों का चुम्बकत्व, भ्रूक्षेप, तर्क, स्पष्टता हृदय से कहना, छड़ी का प्रयोग, और सहानुभूति ऐसे मुख्य गुण हैं जिनसे अध्यापन का प्रभाव कई गुना बढ़ जाता है। (९) उपकरणों का प्रयोग करते समय बालकों को पूछने का अवसर दो। (१०) बालकों में से दो चार को चुनकर बुलाओ और प्रदर्शन कराओ।

(ग) **विद्यार्थियों से ज्ञान का व्यवहार कराना तथा उन्हें कुशल बनाना**—(१) यंत्रादि का प्रयोग बालकों से कराओ। (२) जब वे प्रयोग करें, देखते जाओ और उनकी भूलों को शुद्ध करो। (३) जब आवश्यक समझो, उनकी भूलों को दूर करने के उपाय बताओ। (४) प्रश्न पूछो (५) उनसे वाद-विवाद करो। (६) बालकों से प्रयोग आदि का प्रदर्शन कराओ।

(घ) **परीक्षा**—बालकों के ज्ञान की परीक्षा लेने में—(१) उन्हें स्वयं प्रत्येक क्रिया करने दो। (२) उनकी स्मृति तथा समझने की शक्ति की परीक्षा करो। (३) विभिन्न परिस्थितियों में उनके ज्ञान की परीक्षा करो।

(ङ) **निष्कर्ष**—उपकरणों और पाठ की समाप्ति के बाद (१) समस्त पाठ का सिंहावलोकन करो। (२) दोषों और गुणों की विवेचना करो। (३) पूर्व तथा वर्तमान पाठों में संबंध स्थापित करो। (४) बालकों को गृह-कार्य दो। (५) बालकों के सहयोग की प्रशंसा करो।

किन स्थलों पर श्रवणनेत्रोपकरणों का प्रयोग किया जा सकता है ?—योकम और सिम्पसन[1] के अनुसार श्रवणनेत्रोपकरणोंका प्रयोग कुछ बातों की शिक्षा में बड़े ही लाभदायक ढंग से किया जा सकता है। यथा—(क) **ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों की शिक्षा** में इनसे लाभ उठा सकते हैं। वस्तुओं को कैसे उठाना-धरना या पकड़ना चाहिए, यह बालक चित्र के सहारे आसानी से सीख लेते हैं। लिखने में उँगलियों को चलाने तथा अक्षरों का रूप समझने में बड़ी सहायता मिलती है। (ख) **विषयज्ञान कराने में** इनसे मदद ली जा सकती है। महापुरुषों की जीवनी, इतिहास की घटनाएँ, और भूगोल की बातें इनके सहारे स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत की जा सकती हैं। (ग) **भाव प्रकटन में** बालकों को समुचित शिक्षा इन्हीं साधनों की सहायता से दी जा सकती है। शिष्टतापूर्ण ढंग से हर्ष, हास्य, शोक तथा क्रोध आदि भावों को व्यक्त करने की विधि चल-चित्रों द्वारा सिखा सकते हैं। (घ) **विषयों में रुचि जागृत करने में** यह उपकरण बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। कक्षाओं में पढ़ते समय जिन विषयों को बालक पसंद नहीं करते, यदि उनके पढ़ाने में अध्यापक श्रवणनेत्रोपकरणों का प्रयोग करें तो बालक बड़े मनोयोग से पढ़ने लगते हैं। विनोद, मनोरंजन तथा शिक्षा का समन्वय हो जाने से विषय रुचिकर प्रतीत होते हैं। (ङ) **नैतिक शिक्षा में** इनका प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है। चलचित्र इसका प्रमाण हैं।

आलोचनात्मक टिप्पणी

मनुष्य ने अपने ज्ञान की वृद्धि करने के लिए अनेक साधन एकत्र कर लिए हैं। पढ़कर, लिखकर, अनुकरण द्वारा, क्रिया द्वारा, योजना

---

1. Yoakam & Simpson : Modern Methods and Techniques of Teaching, pp. 416—424.

वनाकर, प्रश्न पूछकर, देखकर और सुनकर—अनेक प्रकार से वह आजीवन सीखता ही रहता है। अंतिम दो—देखना और सुनना—क्रियाओं के आधार पर श्रवण-नेत्रोपकरणों की रचना हुई है। शिक्षा प्राप्त करने में श्रवण और नेत्र इन दोनों ज्ञानेंद्रियों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग है। वह दोनों मनुष्य के अनुभव करने के प्रमुख साधन हैं। अनुभव से ही मनुष्य सीखता है और अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान स्थायी तथा व्यावहारिक होता है। श्रवणनेत्रोपकरण अनुभव की कुंजी है। यही कारण है कि इनका महत्व शिक्षण में दिन प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है।

मौखिक विधि से जो बात घंटों या दिनों में समझाई जा सकती है, उसे केवल कुछ उपकरणों की सहायता से तुरंत बालकों को दिखाकर स्पष्ट किया जा सकता है। इन उपकरणों का तात्कालिक प्रभाव तो होता ही है, साथ ही वे बालकों की मनोवैज्ञानिक दशा के अनुकूल सिद्ध हुए हैं। उनकी सहायता से बालक अधिक सीखते हैं, अधिक समय तक उन्हें पाठ याद रहता है, शीघ्रता से सीखते हैं, बड़े मनोयोग से सीखते हैं और उनके सीखने की गति अबाध रहती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि बालकों का जी कभी नहीं ऊबता। श्रवण-नेत्रोपकरणों की सहायता से जो दृश्य बालकों के स्मृति-पटल पर अंकित हो जाते हैं, वे स्थायी और स्पष्ट होते हैं। चल-चित्र और रेडियो द्वारा शिक्षण में मनोरंजन और शिक्षा दोनों का ऐसा समन्वय हो जाता है और शिक्षण में इस द्रुतगति से नवीनता आती रहती है कि जब तक पाठ चालू रहता है, बालकों को न तो थकावट का अनुभव होता है, और न नीरसता का। 'एकाग्रता' और 'मनोयोग' ही पाठ को सफल बनाते हैं और श्रवण-नेत्रोपकरणों से इन दोनों शक्तियों की अभिवृद्धि होती है। समस्त शिक्षण स्वाभाविक, सजीव और यथार्थ बन जाता है। श्रवण-नेत्रोप-

करणों के प्रयोग में बालकों की क्रियाशीलता को विकसित होने पूरा अवसर मिलता है। वे चित्रों, माडेलों, चार्टों और यंत्रों को बड़े ध्यान से देखते हैं या छूते हैं। वे अनेक प्रकार के कार्य, जैसे सामान इकट्ठा करना, डिजाइन बनाना, उन्हें सजाना, प्रदर्शन करना, पोस्टर रंगना आदि सैकड़ों क्रियाओं को करने में अपूर्व आनन्द प्राप्त करते हैं। बहुत सी ऐसी चीजे हैं जिन्हें बालक अपने जीवन में देख ही नही सकते परन्तु उन्हें इन उपकरणों की सहायता से सजीव और प्रत्यक्ष रूप से दिखाया जा सकता है। बालकों की परीक्षा में भी इनका प्रयोग किया जाता है, जैसे छोटी कक्षाओं में मूक चित्र दिखाकर वस्तुओं के नाम पूछना या कहानी दुहराना आदि। इस प्रकार की परीक्षा कहीं अधिक सच्ची और कम खर्च वाली सिद्ध हुई है।

श्रवण-नेत्रोपकरणों में गुण हैं परन्तु उनके प्रयोग में कुछ दोष भी हैं, जिनसे अवगत होना आवश्यक है। श्रवण-नेत्रोपकरणों द्वारा पाठ प्रस्तुत करने में, किसी यंत्र का प्रयोग कराने में, कोई भूल हो जाने में—जो कुछ त्रुटि रह गई है उसकी रोकथाम नही की जा सकती। उदाहरण के लिए चल-चित्र में शूटिंग के समय जो भूलें हो गई हैं उनका सुधार बाद में नहीं हो सकता। अध्यापक द्वारा दिये गये शिक्षण में भूल-सुधार की सदैव गुंजाइश रहती है परन्तु उपकरणों की कमी दूर नहीं की जा सकती। दुर्भाग्य से शिक्षोपकरणों ने अध्यापक के स्थान को गौण बना दिया है और वे साधन के स्थान पर साध्य बन गये हैं। अध्यापक के व्यक्तित्व का शिक्षण में विशेष स्थान है। असली सूत्रधार तो वही है। अतः यह समझना कि श्रवण-नेत्रोपकरणों का पूर्ण विकास हो जाने पर अध्यापक की कोई आवश्यकता ही न रह जायगी, एक बहुत बड़ी भूल है। इन उपकरणों में वस्तुतः कोई जादू नहीं है—उनमें जादू तो उस

समय उत्पन्न होता है जब अध्यापक कुशलतापूर्वक उनका प्रयोग करता है।

श्रवणनेत्रोपकरणों के प्रयोग में सावधानियाँ—

अध्यापन के पूर्व किसी उपकरण का चुनाव करने के लिए कई बातों का निश्चय कर लेना चाहिए। (१) पाठ की विशेषता के अनुसार उपकरण का चुनाव होना उचित है। यदि स्थूल वस्तुओं के संबंध में पढ़ाना है, तो माडेल या वस्तु का प्रयोग अधिक प्रभावशाली होगा, रेडियो या ग्रामोफोन नहीं। (२) अध्यापक की निपुणता की दृष्टि से उपकरण का चुनाव होना चाहिए, तथा अध्यापक प्रोजेक्टर आदि यंत्रों से अवगत नहीं है, तो उसे साधारण उपकरणों जैसे चार्ट, चित्र आदि से ही संतोष करना पड़ेगा। (३) स्कूल की आर्थिक दशा का भी ध्यान रखना आवश्यक है। यदि स्कूल के पास इतना धन नहीं है कि रेडियो सेट और प्रोजेक्टर खरीदे जा सकें, तो साधारण वस्तुओं और हाथ के बने चित्रादि से काम चलाना चाहिए। (४) बालकों की संख्या का भी सहायक उपकरणों के चुनाव पर प्रभाव पड़ता है। यदि एक साथ सौ विद्यार्थियों को पाठ पढ़ाना है तो रेडियो या चलचित्र अधिक उपयोगी होगा। एक साथ सौ विद्यार्थियों के लिए सरस्वती यात्रा असफल रहेगी। (५) बालकों की आयु का विचार रखना परमावश्यक है। छोटी आयु के बालकों के लिए मूर्त वस्तुओं का प्रयोग अधिक प्रभावशाली होगा; ग्राफ़ और चार्ट का प्रयोग काम न देगा। (६) समय का ध्यान रखना आवश्यक है। यदि दिन भर का समय दिया जा सकता है, तभी सरस्वती-यात्रा सफल होगी। इसके विपरीत रेडियो के कार्यक्रम में ३० मिनट का उपयोग हो न सकता है। (७) श्रवणनेत्रोकरणों के प्रयोग में इतना अधिक उत्साह न बढ़जाना चाहिए कि शिक्षा और पाठका मूल उद्देश्य ही लुप्त

हो जाय । यह याद रखना चाहिए कि यह साधन-मात्र हैं, साध्य नहीं । (८) यह उपकरण बालकों के सीखने की प्रक्रिया (Learing) को सक्षम बनाते हैं । अतः उन्हें बालकों की उत्सुकता और आश्चर्य वृत्ति को सन्तुष्ट करने में नहीं प्रयुक्त करना चाहिए ।[१]

श्रवण-नेत्रोपकरणों के प्रयोग से अध्यापन में कहाँ तक सफलता मिली है, इसकी जाँच करते रहना आवश्यक है । इनकी सफलता कई बातों से प्रकट हो सकती है । यदि विद्यार्थियों को सीखने में सुविधा हो, वे पाठ में अधिक रुचि और उत्साह से भाग लें तो उसे उपकरणों की सफलता समझना चाहिए । स्कूल के सभी अध्यापक बालकों के व्यवहार से अनुमान कर सकते हैं कि श्रवण-नेत्रोपकरणों की सहायता से दिये गये पाठ से वे लोग कहाँ तक संतुष्ट हैं । यदि बालक बतायें कि उनकी कठिनाइयाँ दूर हो गईं हैं, तो इसे सफलता का चिह्न मानना उचित होगा । बालकों की परीक्षाओं और उनकी कार्यक्षमता से भी इनकी सफलता का आभास प्राप्त हो सकता है । अभिभावकों का संतोष और उनका सहयोग भी उपकरणों की सफलता का परिचायक है । गवेषणात्मक विधि (Research Method) से सफलता की नाप हो सकती है । स्कूल की एक कक्षा में पुराने ढंग से पढ़ाया जाय और दूसरी कक्षा में श्रवण-नेत्रोपकरणों का प्रयोग किया जाय । एक निश्चित समय के बाद दोनों कक्षाओं की परीक्षा ली जाय और उनके परिणामों की तुलना की जाय । इससे उपकरणों की सफलता ज्ञात हो जायगी । इन उपकरणों की सहायता से पढ़ाने के बाद बालकों के कार्य की तुलना, उस विषय में निपुण व्यक्तियों के कार्य से की जाय, तब भी इनकी सफलता का अनुमान लगाया जा सकता है ।

---

1. Yoakam & Simpson : Modern Methods and Techniques of Teaching, p. 418.

श्रवण-नेत्रोपकरणों का भारत में विकास

सर्वप्रथम १९४२ में सेंट्रल ऐडवाइजरी बोर्ड के पुस्तकालय के अन्तर्गत एक श्रवणनेत्रोपकरण-विभाग खोला गया। उस समय इसमें ४४ मूक चल-चित्र और ४ प्रोजेक्टर थे, जिनका प्रयोग दिल्ली और शिमला में किया गया था। सरकारी युद्धोत्तर-विकास-योजना के फल स्वरूप प्रथम पंचवर्षीय योजना बनी और १९४७-४८ के वर्ष में १ लाख रुपया इन उपकरणों और यंत्रों की खरीद के लिए मिला। २४१ चलचित्र और फिल्मी फीते खरीदे गये। सन् १९४८ के जनवरी मास में प्रान्तों और राज्यों के शिक्षा-संचालकों की एक सभा हुई तथा उसमें इन वैज्ञानिक उपकरणों के विकास के लिए कई प्रस्ताव पास हुए। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा के लिए अलग-अलग उपकरण तैयार करने तथा उनके विषय में खोज करने के लिए एक समिति बनी और उसकी बैठक जुलाई १९४८ में हुई। बैठक में उनके उत्पादन और वितरण तथा शिक्षण में प्रयोग आदि के संबंध में योजनाएँ बनाई गईं। शिक्षा-मंत्रालय (केंद्रीय) की ओर से सलाह देनेवाले विशेषज्ञ नियुक्त हुए और देशी उपकरण व्यवसायियों द्वारा तैयार कराये गये। जनता ने भी इस विषय में रुचि ली, परन्तु उत्पादकों को हानि का भय था। अतः काम तेजी से आरंभ न हो सका।

सन् १९५० में फिल्म यूनिट ने, जो केंद्रीय शिक्षा-विभाग की ओर से इस दिशा में प्रयत्न कर रहा था, बड़े व्यवस्थित ढंग से फिल्मी-फीतों, चार्टों, पोस्टरों और नक्शों का संग्रह करना आरंभ किया। सन् १९५१ के अक्तूबर मास में श्रवण नेत्रोकरणों के विकास पर विचार करने तथा सुझाव देने लिए, सरकार की ओर से एक प्रसिद्ध विशेषज्ञ प्रो० टी० एल० ग्रीन (Prof. T. L. Green) को आमंत्रित किया गया। इसी अवसर पर श्रवणनेत्रोपकरणों

द्वारां शिक्षा पर एक अखिल भारतीय कान्फ्रेंस का आयोजन किया गया । वहाँ पर इनके उत्पादन, वितरण, यंत्रों का आयात, अध्यापकों का प्रशिक्षण और विशेषज्ञों का परामर्श आदि समस्याओं पर विचार किया गया । उस बैठक में कई बातें निश्चित की गयीं, यथा—(१) बोर्ड आफ विजुअल एजूकेशन की स्थापना हो, जिसमें शिक्षा-शास्त्री, अध्यापक और विशेषज्ञ शामिल रहें। (२) प्रत्येक राज्य और प्रांत में एक सरकारी अफसर, शिक्षा विभाग में इन उपकरणों के प्रचार आदि के लिए नियुक्त हो (३) प्रचारार्थ इन उपकरणों की प्रदर्शनी की व्यवस्था समय-समय पर की जाय। (४) अध्यापकों को इनके प्रयोग की ट्रेनिंग देने का प्रबंध किया जाय। (५) इनके उत्पादन के लिए अध्यापकों, शिक्षाचार्यों और उत्पादकों में सहयोग की भावना उत्पन्न की जाय। (६) स्कूलों में यह उपकरण तैयार कराये जायँ। (७) इनका प्रतिमान, गुण. तथा तथा अनेकरूपता आदि बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय। जिसमें देशी और विदेशी, शिक्षोपकरण एकत्र किये जायँ ।(९) अन्तर्प्रान्तीय सहयोग द्वारा शोध-कार्य को प्रोत्साहन दिया जाय। (१०) रेडियो के शैक्षिक कार्यक्रम का आयोजन हो। (१०) श्रवणनेत्रोपकरणों और उनके यंत्रों पर से आयात-कर हटा दिया जाय।

उपर्युक्त सम्मेलन से श्रवनेत्रोपकरणों द्वारा शिक्षण को बड़ा प्रोत्सासन मिला। उसके परिणामस्वप, मई १९५३ में केंद्रीय शिक्षा-मंत्रालय के तत्वावधान में 'नेशनल बोर्ड आफ आडियो-विजुअल एजुकेशन, इंडिया' की स्थापना हुई। इस बोर्ड की प्रथम बैठक में अनेक सम्मानित शिक्षाशास्त्री, सदस्यों के रूप में एकत्र हुए; यथा श्री सय्यदेन (सभापति), श्री ए० के० चंदा, श्रीमती जेड० करीम-भाई, श्री अबुलकलाम, श्री एम० एन० कपूर, श्रीमती राजेन नेहरू,

श्री० बी० एस० सक्सेना, श्री० एन० के० सिद्धांत आदि। डा० एस० एस० भटनागर ने इसका उद्घाटन किया। उस बैठक में कई महत्व-पूर्ण बातें निश्चित हुई :—

(१) श्रवणनेत्रोपकरणों द्वारा शिक्षा को जनप्रिय बनाने के लिए प्रांतों और राज्यों में एक ऐसा ही बोर्ड बनाया जाय और उसमें अध्यापकों का प्रतिनिधित्व रहे। जनता में तत्संबंधी सूचनाएँ वितरित की जायँ और केन्द्रीय बोर्ड की ओर से एक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया जाय।

(२) केंदीय श्रवणनेत्रोपकरण सेक्शन के लिए एक बड़े भवन की व्यवस्था की जाय और चलचित्र-पुस्तकालय का पुनस्संगठन हो। केंद्रीय सेक्शन पर दबाव कम करने के लिए प्रांतों में भी ऐसे पुस्तका-लय स्थापित किये जायँ। स्कूलों को उनका सदस्य बनाया जाय तथा ऐसे उपकरणों का संग्रह पूरे ज़ोरों से किया जाय।

(३) सन् १९५१ की कान्फ्रेंस में उपस्थित किये गये प्रस्तावों पर फिर विचार किया गया। विशेष रूप से संग्रहालयों के प्रयोग पर अधिक जोर दिया गया। बालकों द्वारा इन वैज्ञानिक उपकरणों के तैयार कराने का सुझाव दिया गया। श्री भावनानी ने सुझाव दिया कि अम्बरनाथ फैक्ट्री को इनके उत्पादन का भार सौंप दिया जाय। आल इंडिया रेडियो दिल्ली, के प्रतिनिधि श्री सेन ने भी इस बैठक में भाग लिया तथा उनके परामर्श से निश्चित हुआ कि रेडियो में एक एजूकेशन आफिसर की नियुक्ति हो जो बालकों के लिये प्रसारित कार्यक्रम पर नियंत्रण रक्खे। रेडियो के लिए एक परामर्शदात्री समिति नियुक्त हो जो इन कार्यक्रमों का स्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न करे। इस समिति में स्कूलों के प्रधान और अध्यापक शामिल हों।

(४) श्रवण-नेत्रोपकरणों का उत्पादन बढ़ाने के लिए केन्द्र तथा प्रांतों का सहयोग आवश्यक है। विदेशों से फिल्में मँगाकर भाषा परिवर्तन करके भारत में उनका प्रयोग किया जाय। सूचना तथा ब्राडकास्ट विभाग के फिल्म डिवीज़न की ओर से प्रतिवर्ष १८ फिल्में तैयार की जाँय जिनमें ८ सामाजिक शिक्षा तथा वृत (Documentary) पर ४ बालकों के मनोरंजन के लिए और ६ शैक्षिक हों। इनकी लंबाई लगभग ४०० फीट हो। चित्र मूक और सवाक् दोनों बने। इनकी भाषा हिन्दी हो; अहिंदी प्रांतों में भाषा-परिवर्तन किया जा सकता है। प्रत्येक फिल्म के साथ शिक्षण-संबंधी आदेश हों ताकि अध्यापक उनकी सहायता से पढ़ा सकें। फिल्म-डिवीजन ऐसी शैक्षिक फिल्में भी तैयार करे जो अन्य छविगृहों में प्रदर्शित की जायें ताकि सर्वसाधारण की रुचि, शिक्षा में, परिष्कृत होती जाय।

(५) फिल्मों के लिए कुछ विषय भी निश्चित किये गये, जैसे, (१) घरों और उद्यानों के फूल, (२) नवयुवकों के कार्य, (३) घरेलू जीवन में विज्ञान, (४) भोजन, (५) बच्चों का मानसिक स्वास्थ्य, (६) बच्चों की सामाजिक शिक्षा, (७) संसार की मनुष्य जातियाँ, (८) भारत की प्राकृतिक दशा और जलवायु, (९) भारतीय नगर (बम्बई), (१०) भारतीय नदियाँ—गोदावरी के निकट जीवन (११) इतिहास का प्रारंभ; (१२) भारतीय महान पुरुष—सुभाष बोस, टैगोर आदि।

(६) बालकों के लिये रंगमंच तथा नाटकों का विकास किया जाय। प्रतिभाशाली लेखकों को प्रोत्साहन दिया जाय। बिना यंत्र वाले शैक्षिक उपकरणों को पहले जनप्रिय बनाया जाय। सूचना तथा ब्राडकास्ट विभाग की ओर से ऐसे ग्रामोफोन रेकार्ड तैयार कराये जायँ जिनमें राष्ट्रीय गान और वार्ताएँ अँकित हों और प्रसिद्ध व्यक्तियों और महापुरुषों के भाषण रिकार्ड द्वारा प्रस्तुत किये जायँ।

बोर्ड के सभापति सय्यदेन ने बताया कि श्रवण-नेत्रोपकरण न केवल स्कूलों के लिए उपयोगी हैं वरन् उनसे साक्षरता-प्रसार तथा प्रौढ़ शिक्षा में भारी सहायता मिल सकती है। इन उपकरणों के अन्तर्गत चलचित्र और रेडियो से लेकर साधारण वस्तुएँ जो आँख और कान द्वारा प्रभाव डाल सकती हैं, सभी आ जाती हैं। इन उपकरणों का उत्पादन अधिक संख्या और मात्रा में होना चाहिए जिसमें सभी स्कूल लाभ उठा सकें। यूनेस्को द्वारा आयोजित सेमिनार (Seminar) से लाभ उठाया जा सकता है। चित्रात्मक पुस्तकों का प्रकाशन तो तुरंत आरंभ हो जाना चाहिए। ट्रेनिंग कालेजों में प्रशिक्षण प्राप्त करनेवाले अध्यापकों को इन श्रवणनेत्रोप-करणों के बनाने का अभ्यास कराना आवश्यक है, तभी बड़े पैमाने पर इनका उत्पादन हो सकता है। भजन, मंडली, कव्वाली, नाटक और कथा आदि का उपयोग भी श्रवणनेत्र-शिक्षा का मुख्य अंग है और इनसे लाभ उठाना सरल भी है।

सन् १९५२-५३ की एक प्रमुख घटना है भारत में, यूनेस्को (Unesco) की ओर से चार विशेषज्ञों का आगमन। उन्होंने एक भाषण-माला (Seminar) का आयोजन किया। दिल्ली के सेंट्रल इन्स्टीट्यूट आफ एजुकेशन में जो भाषण-माला प्रस्तुत की गई, उसमें उत्तर भारत के अनेक प्रशिक्षार्थी आये। मैसूर में भी वैसी ही भाषण माला का आयोजन हुआ और उसमें अनेक प्रशिक्षार्थी जाकर उपस्थित हुए।

केन्द्रीय-श्रवणनेत्रोपकरण विभाग—इन उपकरणों के विकास के लिए यह विभाग निम्नलिखित प्रयत्न कर रहा है:—

(१) देश और विदेश में, श्रवण-नेत्रोपकरणों और यंत्रों के उत्पादन की पूरी सूचना एकत्र की जाती है। इसके लिए अन्य देशों

से पत्र-पत्रिकायें जैसे Sight and Sound, Audio-Visual Guide, Film User) आदि मँगाये जाते हैं।

(२) १६ मिलीमीटर की शैक्षिक फिल्मों, ३५ मिलीमीटर के फिल्मी फीते और चार्ट देखकर खरीद लिए जाते हैं।

(३) खरीदे हुए उपकरणों को यथोचित विधि से श्रेणीबद्ध करके उनकी सूची तैयार कर ली जाती है।

(४) प्राप्त फिल्मों और फीतों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना प्रकाशित करके भिन्न-भिन्न संस्थाओं, स्कूलों तथा पुस्तकालयों में भेज दी जाती है।

(५) भारत के विभिन्न शिक्षालयों तथा संगठनों को यह उपकरण प्रयोग के लिए वितरित किये जाते हैं। यह किराये पर और कभी-कभी मुफ्त दिये जाते हैं।

(६) 'सिनेमा वान' या सुगमता से ले जा सकनेवाले यंत्रों की सहायता से अनेक फिल्में स्थानीय (दिल्ली) स्कूलों और निकट के गाँवों में प्रदर्शित की जाती हैं।

(७) सरकार और व्यवसायियों द्वारा बनाई गई ऐसी योजनायें जो इन उपकरणों के निर्माण के लिए तैयार की गई हैं, इस विभाग में विचारार्थ आती हैं और यहाँ से आवश्यक सहायता दी जाती है।

(८) श्रवणनेत्रोपकरणों तथा यंत्रों के आयात के संबंध में सरकारी नीति की आलोचना की जाती है तथा सरकार से अधिकाधिक सुविधाएँ दिलाने का प्रयत्न किया जाता है।

(९) यहाँ से श्रवणनेत्रोपकरणों के प्रयोग, उनके मँगाने, विषयों के पढ़ाने, ट्रेनिंग की व्यवस्था और प्रादेशिक फिल्म-संग्रहालय आदि

के बारे में सुझाव तथा परामर्श प्राप्त किया जा सकता है और जाँच-पड़ताल की जा सकती है ।

अखिल भारतीय रेडियो के कई केन्द्र पिछले १५ वर्षों से स्कूलों के लिए विशेष कार्यक्रम प्रसारित कर रहे हैं । हेडमास्टरों, इन्सपेक्टरों ट्रेनिंग कालेज के प्राध्यापकों की एक परामर्शदात्री समिति की सलाह से यह कार्यक्रम निर्धारित किये जाते हैं । रेडियो द्वारा पाठ्यक्रम के सभी विषयों जैसे भाषा, साहित्य, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, कला और संगीत आदि पर वार्तामालाओं का आयोजन किया जाता है । यह वार्तायें क्रमबद्ध होती हैं; अतः प्रतिदिन लगातार इन्हें प्रसारित किया जाता है । रेडियो की वार्ताएँ दो प्रकार की होती हैं । एक तो पाठ्य-विषय से संबंध रखने वाली और दूसरी साधारण ज्ञान से संबंधित । कुछ रेडियो-केन्द्रों से नक्शे, चार्ट और पुस्तिकाएँ प्रकाशित होती हैं । उनकी सहायता से स्कूलों को कार्यक्रम ज्ञात हो जाता है और वे विद्यार्थियों के लिए रेडियो सुनने का समय नियत कर देते हैं । शैक्षिक कार्यक्रमों के संबंध में यूनेस्को की ओर से अनेक शोधात्मक कार्य जारी हैं और काफी साहित्य वहाँ से प्रकाशित हो चुका है । अखिल भारतीय रेडियो में बालकों के लिए नये-नये कार्यक्रम अब प्रस्तुत किये जाने लगे हैं और निकट भविष्य में रेडियो की शैक्षिक क्षमता बढ़ जाने की पूरी-पूरी सम्भावना है ।

केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय ने बम्बई के वृत्त-चित्र-उत्पादन केन्द्र (Documentary Film Production Centre) में तीन यूनिट स्थापित किये हैं जिनमें शैक्षिक चल-चित्र बनेंगे । केन्द्रीय चित्र पुस्तकालय में सन् १९५३ तक १५०० चलचित्र, १५०० फिल्मी फीते, ३५० चार्ट और पोस्टर थे । उसके ४५० स्कूल-सदस्य हैं जो इनसे लाभ उठाते हैं ।

अन्य प्रांतों में भी श्रवण-नेत्रोपकरणों का विकास तथा प्रयोग जारी है। अजमेर राज्य में आस्ट्रेलिया द्वारा प्रदत्त एक सिनेमावान हैं जो गाँवों में जाकर शैक्षिक चित्र प्रदर्शित करती है। बम्बई में १४ चित्र प्रदर्शन के केंन्द्र हैं और संग्रहालय में लगभग १७०० फिल्में हैं। नासिक, धारवार और अहमदनगर में इनकी प्रदर्शनी भी हुई। मद्रास प्रांत में अध्यापकों की ट्रेनिंग तथा फिल्म-प्रदर्शन का प्रबंध किया गया है। उत्तर प्रदेश में शिक्षा-प्रसार-विभाग के फिल्म-सेक्शन ने कई फिल्में बनाई हैं और उनका प्रदर्शन भी किया। अन्य प्रांतों और राज्यों में भी लगभग ऐसा ही कार्य जारी है।

---

(१७)

उपसंहार

वैज्ञानिक शिक्षण (Scientific Teaching)

कोई भी प्रक्रिया (Process) वैज्ञानिक कहला सकती है यदि वह 'कारण और परिणाम' (Cause and effect) के सिद्धांत पर आधारित हो। यदि एक घटना के संबंध में हम यह जान लें कि 'अमुक' कारणों से वह घटित हुई और यदि 'वही' कारण फिर उपस्थित हो जाय, तो उसके 'परिणामस्वरूप' 'वही' घटना फिर घटित होगी, तो हमारा यह अध्ययन वैज्ञानिक कहलायेगा। शिक्षण की प्रक्रिया भी क्या 'वैज्ञानिक' है? क्या शिक्षण द्वारा हम यह नहीं चाहते कि हम 'इस' तरह से पढ़ायें और 'यह' आयोजन करें तथा उसके परिणामस्वरूप बालकों का चरित्र विकसित हो या व्यक्तित्व विकसित हो, या वे योग्य नागरिक बनें या उनमें व्यावसायिक क्षमता उत्पन्न हो? वास्तव में हम चाहते हैं कि शिक्षण द्वारा ऐसे 'कारण' उपस्थित किये जायँ कि उनसे निश्चित परिणाम निकलें। तब शिक्षण की प्रक्रिया को हम वैज्ञानिक कह सकते हैं। समस्त शिक्षण-विधियों के विवरण को आद्योपांत पढ़ जाने पर पाठकों को इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि प्रत्येक विधि के प्रणेता शिक्षण को पूर्णरूप से वैज्ञानिक बनाना चाहते थे। प्रत्येक ने अपनी विधि द्वारा एक निश्चित परिणाम निकालना

चाहा। आज भी शिक्षण को अधिकाधिक साधन-सम्पन्न बनाकर, उसे पूर्णरूप से वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न जारी है।

रसायन-विज्ञान द्वारा मनुष्य को ऐसे सिद्धांत ज्ञात हो गये हैं जिनकी सहायता से एक निश्चित प्रक्रिया को उत्पन्न किया जा सकता है। कुछ तत्वों को निश्चित मात्रा में मिलाकर एक निश्चित प्रतिक्रिया (Re-action) उत्पन्न की जा सकती है। इसी प्रकार चिकित्सा-विज्ञान के सिद्धांतों की सहायता से एक औषधि द्वारा निश्चित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। शिक्षण-विज्ञान अभी इतना सच्चा और शुद्ध (Accurate and exact) नहीं बन सका है। प्रशिक्षित अध्यापकों, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों, पाठ्यपुस्तकों और अनेक वैज्ञानिक शिक्षोपकरणों की सहायता से आदर्श परिस्थिति (Ideal Condition) में बालकों की शिक्षा का प्रबंध करने पर भी, जो 'निश्चित परिणाम' हम चाहते हैं, उत्पन्न नहीं कर सकते। अतः शिक्षण-विज्ञान अभी अपने शैशवकाल में है और उसकी वैज्ञानिकता अभी अपूर्ण है। निकट भविष्य में सौ प्रतिशत पूर्णता प्राप्त कर सकना संभव भी नहीं है। इसका कारण क्या है? शिक्षण-विज्ञान का संबंध 'मनुष्य' से है, जो 'जीवित पदार्थ' (Living Substance) से बना है। वायु, प्रकाश, जल और मिट्टी जैसे भौतिक पदार्थों पर पूर्ण नियंत्रण संभव है। उनमें कोई स्वतंत्र इच्छा-शक्ति (Will) नहीं है; उन्हें हम जैसे चाहें तोड़-मोड़ सकते हैं, परन्तु बालक तो इच्छा-सम्पन्न है। हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी, वह अपने को परिवर्तित नहीं करना चाहता, तो उसके विचारों में कोई परिवर्तन नहीं होगा। अँग्रेजी में एक कहावत है—तुम घोड़े को पानी के पास ले जा सकते हो, परन्तु इसे पानी नहीं पिला सकते। दूसरे शब्दों में आप बालक के लिए बढ़िया से बढ़िया पुस्तकों और उपकरणों का आयोजन कर

सकते हैं; कुशल से कुशल अध्यापक लगा सकते हैं, परन्तु शुभ परिणाम बालक की इच्छा पर ही निर्भर है। यदि वह पढ़ना नहीं चाहता, तो ब्रह्मा भी उसे नहीं पढ़ा सकता।

एक कठिनाई और है। शिक्षण का संबंध 'अध्यापक' से भी है। अध्यापक भी मनुष्य है और जीवित पदार्थ से बना है। यदि वह इच्छा नहीं करता, तो शिक्षण सफल नहीं हो सकता। शिक्षण वास्तव में दोहरी प्रक्रिया (Bi-polar activity) है। जिस प्रकार विद्युत के बल्ब में, निगेटिव और पाजिटिव स्तंभों के बीच लगे तार में प्रकाश उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अध्यापक और विद्यार्थी के बीच आध्यात्मिक सबंध स्थापित होने पर ही शिक्षण का कार्य पूरा होता है। एक भी यदि निष्क्रिय रहे तो शिक्षण का कार्य पूरा नहीं हो सकता। अध्यापक और विद्यार्थी दोनों स्वतंत्र सत्तावाले प्राणी हैं और उन पर कोई भी नियंत्रण संभव नहीं है। यही कारण है कि शिक्षण को पूर्ण 'वैज्ञानिकता' तक ले जाना बड़ा कठिन है।

फिर भी शिक्षण के क्षेत्र में अब तक ऐसे सिद्धांत ज्ञात हो चुके हैं, जिनकी सहायता से निश्चित परिणाम तक पहुँचना बहुत-कुछ संभव है। प्रत्येक विधि ने कोई न कोई सूत्र अध्यापक को दिया ही है। आज के जागरुक अध्यापक को किसी विधि का कट्टरता से (Dogmatically) उपयोग नहीं करना चाहिए। जिस परिस्थिति में उसे पढ़ाना हो, उसी के अनुसार उसे विचारपूर्वक शैक्षिक सूत्रों का उपयोग करना चाहिए, तभी उसे वैज्ञानिक शिक्षण कहा जायगा। इस पुस्तक में वर्णित समस्त शिक्षण-विधियों का विश्लेषण करने के उपरान्त कुछ सार्वभौमिक तथा आधारभूत शैक्षिक सूत्रों को एकत्र करके, उनकी सूची हम नीचे दे रहे हैं। अध्यापक परिस्थिति के अनुकूल उनका प्रयोग कर सकते हैं। उन सूत्रों का विश्लेषण करने की

आवश्यकता इसलिये नही है कि विधियों का विवरण देते ससय उनका अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है।

(१) **अनुभव और निरीक्षण**—अध्यापन के समय बालकों को अधिक से अधिक अपनी ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग करने तथा अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करने पर, जहाँ तक संभव हो, ज़ोर देना चाहिए।

(२) **क्रियाशीलता**—पाठन केवल अध्यापक द्वारा ही न सीमित रहे। बालकों का उसमें योग होना चाहिए। वे स्वयं सोचें-समझें और ज्ञान प्राप्ति के लिये स्वयं प्रयत्न करें। हाथ-पैरों से काम करने का अवसर उन्हें देना चाहिए।

(३) **'ज्ञात से अज्ञात की ओर'**—बालकों की समझ में नई बात एकाएक नहीं आ सकती। उसने पहले जो कुछ सीखा है, उसके सहारे उसे नवीन ज्ञान सिखाने में सुविधा होती है।

(४) **'स्थूल से सूक्ष्म की ओर'**—छोटे बालकों की बुद्धि पहले स्थूल वस्तुओं को ही ग्रहण करती है। ज्यों-ज्यों उनकी आयु बढ़ती जाती हैं उनकी सामान्य बुद्धि का विकास होता है और वे 'विचारों' को ग्रहण करने लगते हैं। अतः प्रारंभ में सूक्ष्म सिद्धान्तों की शिक्षा नही देनी चाहिए।

(५) **'अगमन' और 'निगमन' के सिद्धांत**—निरीक्षण के उपरांत, बालकों को तुलनात्मक अध्ययन करने का अभ्यास कराना चाहिए और तत्पश्चात् नियम निकालने की विधि बतानी चाहिए। विज्ञान और अन्य विषयों में इसका प्रयोग 'अगमन' कहलाता है। कभी-कभी 'नियम' की व्याख्या पहले करते हैं और बाद में उसका प्रयोग सिखाते हैं। इसे 'निगमन' कहते हैं। जहाँ तक संभव हो 'अगमन' का प्रयोग किया जाय और यदि ऐसा संभव न हो, तब निगमन का प्रयोग करे।

(६) **सानुबंध**—पाठ्यक्रम में विषय अलग-अलग पढ़ाये जाते हैं। ज्ञान की अखंडता बनाये रखने के लिए पाठ इस प्रकार पढ़ाना चाहिए कि एक विषय का दूसरे विषय से संबंध प्रकट हो।

(७) **ज्ञान का उपयोग**—बालक जो कुछ सीखते हैं, उसका वे अपने जीवन में व्यवहार करना अवश्य सीखें। पढ़ाते समय जहाँ तक हो ऐसी स्थिति उत्पन्न करना चाहिए जिसमें विद्यार्थियों को अपनी समस्याओं के हल करने में प्राप्त ज्ञान का उपयोग करने का पूरा अवसर मिले।

(८) **सामाजिकता**—'शिक्षण' में सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञान-प्राप्ति में विद्यार्थी पारस्परिक सहयोग द्वारा लाभ उठा सकें। मानवीय संबंधों को उचित स्थान मिलना चाहिए। बालक समझें कि वे मानव-समाज के कल्याण के लिए ज्ञानार्जन कर रहे हैं।

(९) **मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का प्रयोग**—मनोविज्ञान की सहायता से शिक्षण को अधिक सक्षम बनाया जा सकता है। बालकों के शारीरिक, मानसिक और भावों के विकास के नियमों का पालन शिक्षण में करना चाहिए। इसी प्रकार व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धांत के अनुरूप बालकों की क्षमता, रुचि और सहज गुणों का ध्यान रखते हुए उनकी शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। बालकों के परिवार, उनकी आर्थिक दशा और सामाजिक स्तर का विचार रखना आवश्यक है। शिक्षा-काल में बालक केवल सीखता ही रहता है। इसलिए सीखने के मनोविज्ञान में जो अभूतपूर्व खोजें हुई हैं, उनसे लाभ उठाना आवश्यक है। अतः इस संबंध में हम विस्तार से लिख रहे हैं—

(क) शिक्षण का सर्वप्रथम उद्देश्य है, बालकों को व्यवस्थित ढंग

से सीखने देना । यदि मनुष्य 'प्रयत्न और भूल' के सिद्धांत के अनुसार सीखता रहे और उसका समय तथा परिश्रम व्यर्थ जाता रहे, तो शिक्षण-विज्ञान की आवश्यकता ही क्या रहे ? अत: शिक्षण व्यवस्थित और नियोजित होना चाहिए ।

(ख) अध्यापक का कर्तव्य है कि वह, बालक को सीखने की सर्वोत्तम विधि बताये; भूलें करने पर बालक को प्रात्साहित करे और उनका पथ-प्रदर्शन करे ।

(ग) सीखने में आनेवाली **बाधाओं** को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए जैसे थकावट, अरुचि, जी का उचटना, असफलता से हतोत्साहता, अनवधानता, एकाग्रता का अभाव, दुश्चिंता, आदि जिनके कारण सीखने में प्रगति नहीं हो पाती ।

(घ) सीखने की अनेक विधियाँ हैं । उनकी जानकारी बालकों को भली-भाँति करानी चाहिए (१) **सम्पूर्ण और आंशिक विधि**—किसी भी पाठ को 'सम्पूर्ण' या 'आंशिक' रूप से याद किया जा सकता है । पूरा पाठ लगातार पढ़ते-पढ़ते याद हो जाता है । यदि पाठ छोटा है, बालक मेधावी है और समय पर्याप्त है तो सम्पूर्ण विधि उपयोगी है । यदि पाठ लम्बा है और समय थोड़ा है, तो आंशिक विधि का प्रयोग कराना चाहिए । थोड़ा-थोड़ा पाठ कई दिनों में याद कराना लाभप्रद है । (२) **अभ्यास की विधि**—किसी क्रिया का बार-बार अभ्यास करने से वह याद हो जाती है परन्तु अभ्यास रुक-रुक कर करना लाभप्रद है । थोड़े समय तक अभ्यास करने के बाद विश्राम करना और फिर अभ्यास करने से शीघ्र सफलता मिलती है । (३) **पाठ्य-विषय की अर्थपूर्णता** (Meaningfulness)—जो बात बालकों की समझ में अच्छी तरह आ जाती है, वह उन्हें तुरंत याद हो जाती है । अत: रटाने की अपेक्षा, समझाने पर अधिक

जोर देना चाहिए। बिना भाव या अर्थ समझे रटी हुई बात भूल जाती है। (४) **प्रयोग और अप्रयोग** (Use and Disuse)—कोई भी बात कितनी ही याद हो, अगर वह दुहराई नहीं जाती, या उसका प्रयोग नहीं किया जाता, तो वह अवश्य भूल जाती है। अतः बालक जो कुछ सीखें, उसका निरंतर प्रयोग, उनसे कराते रहना चाहिए। (५) **प्रत्याह्वान** (Recall)—एक बात याद कर लेने पर उसी क्रम से उसे मन ही मन दुहराते रहना चाहिए। इस मानसिक प्रयत्न से शीघ्रता से याद होता है और जो कुछ याद किया जाता है, वह स्थायी हो जाता है। अतः बालकों से प्रत्याह्वान का अभ्यास कराना आवश्यक है। (६) **'आवश्यकता' का नियम**—बालक उन बातों को बड़ी शीघ्रता से याद कर लेते हैं, जो उनके दैनिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। अतः उन्हें वहीं कार्य, क्रियाएँ और आदतें सिखानी चाहिए, जो उनके लिए अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हों।

हम पहले से कह चुके हैं कि शिक्षण को सफल बनाने में अध्यापक का महत्वपूर्ण योग होता है। आधुनिक शिक्षा में दुर्भाग्यवश अभ्यास का स्थान गौण हो गया और शिक्षा-विशारदों का ध्यान 'बालक' की ओर केन्द्रित हो गया। अध्यापक का स्थान, पाठ्य-पुस्तकों और वैज्ञानिक शिक्षोपकरणों ने ले किया है परन्तु अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि अध्यापक के अभाव में शिक्षण की कोई भी विधि सफल नहीं हो सकती। अध्यापक के संबंध में प्रायः यह सोचा जाता है कि यदि उसे प्रशिक्षित (Trained) कर दिया जाय, तो सारी समस्या हल हो जायगी और वह शिक्षण कार्य को बड़ी कुशलता से पूरा कर सकेगा। वास्तव में अध्यापक की समस्या का यह एक साधारण पहलू है। अभी तक अध्यापक के 'मन' की ओर किसी का ध्यान नहीं गया है। अध्यापक कितना ही कुशल हो, उसके पास शिक्षा की

कितनी ही बड़ी उपाधि हो, परंतु यदि उसकी मानसिक स्थिति ठीक नहीं है, तो वह शिक्षण-कार्य को अच्छी तरह पूरा करने में असमर्थ रहेगा। अतः समाज का कर्तव्य है कि वह अध्यापक की समस्याओं पर उदार दृष्टि से विचार करे।

सबसे पहले अध्यापक की सामाजिक और आर्थिक समस्या आती है। समाज में अध्यापक का मान घटता जा रहा है और उसकी आय भी बहुत कम है। समाज में फैली हुई समानता और विषमता का वह शिकार है। जो लोग अध्यापक से त्याग की माँग करते हैं और आदर्शवाद का राग अलापते हैं, उन्हें यह न भूल जाना चाहिए कि अध्यापक भी मनुष्य है और मानव-समाज का सबसे अधिक चिंतनशील प्राणी वही है। उसके मन में भी इच्छाएँ होती हैं। अतः वह अपनी वर्तमान दुरवस्था से चिंतित और पीड़ित है। यदि शिक्षण को पूर्णरूप से सक्रिय और सक्षम बनाना है तो अध्यापक के सामाजिक और आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाना होगा। 'शिक्षण विधियों की रूपरेखा' को पढ़ने के पश्चात् ज्ञात हो जायगा कि आज की शिक्षण-कला ऐसी है, जिसे सफल बनाने के लिए अध्यापक को पूरा समय देना चाहिए। स्कूल में ५ घंटे जाकर पढ़ाना पर्याप्त नहीं है। उसे घर पर पाठ-योजना बनाने और शिक्षोपकरणों के संग्रह आदि में कई घंटे देने पड़ेंगे। उसे प्रतिक्षण सोचते रहना होगा कि वह अपने अध्यापन-कार्य को कैसे समुन्नत बनाये। अतः अध्यापक की आर्थिक अवस्था सुधारने का तुरंत प्रयत्न होना चाहिए जिसमें वह अपना अधिक से अधिक समय शिक्षण लिए दे सके।

स्कूल के प्रधानाध्यापक और व्यवस्थापकों के चुनाव में बहुत ही जागरूक रहना चाहिए। अध्यापन एक सम्मानित व्यवसाय है। इसमें आनेवाले व्यक्तियों की पूरी जाँच कर लेना चाहिए। स्कूल के लिए

'सस्ते' व्यक्ति ढूँढ़ना अनुचित है। ऐसे लोग अपना मतलब गाँठने के लिए इस क्षेत्र में आ जाते हैं। 'शिक्षण' की ओर उनका ध्यान नहीं रहता। इस कार्य के लिए वही व्यक्ति उपयुक्त हैं जो अध्यापक बनने में गौरव का अनुभव करते हैं। उच्चकोटि के विचारकों और चिंतकों को ही इस क्षेत्र में आना चाहिए। उनमें स्नेह, सहानुभूति, त्याग, उदारता और विद्वत्ता आदि गुण होने चाहिएँ। ऐसे गुणवाले व्यक्ति ही कुशल अध्यापक हो सकते हैं और शिक्षण को सफल बना सकते हैं।

सहायक ग्रन्थों की सूची

शिक्षण-विधियों का इतिहास—

1. Paul Monroe : A Brief Course in the History of Education.
2. S. K. Das : The Educational Systems of Ancient Hindus.
3. Radha Kamal Mukerji : Ancient Indian Education.
4. Dr. A. S. Altaker : Education in Ancient India.
5. Rusk : The Doctrines of the Great Educators.
6. B. Boyd : The History of Western Education.

हरबार्ट की कक्षा-शिक्षण विधि—

7. Adams : Herbartian Psychology.
8. Findlay : Principles of Class Teaching.
9. N. L. Garrison : The Technique and Administration of Teaching.
10. F. M. Gatto : Pupil's Questions : Their Nature and Their Relationship to the Study Process.
11. Stevens : The Question as a Measure of Efficiency in Instruction.
12. Bailey, Carolyn : The Story Telling Hour.

13. Woutrina A. Bone : Children's Stories and How to Tell Them.
14. Lange (Translation) : Outlines of Educational Doctrine.
15. W. J. Eckoff (Translation) : Herbart's A. B. C. of Sense-Perception and Minor Pedagogical works.
16. M. Henry & E. Felkin (Translation) : Science of Education.

बालोद्यान तथा माँटेसरी विधियाँ—

17. W. H. Kilpatrick : Froebel's Kindergarten Principles critically Examined.
18. Seguin : Idiocy, Causes and its Treatment by Physiological Methods.
19. Dr. Montessori : Handbook of Dr. Montessori.
20. W. N. Hailman (Translation) : Education of Man (Froebel).
21. J. Jarvis : Pedagogics of the Kindergarten.
22. Holmes : The Montessori System of Education.

डाल्टन-विधि और योजना विधि—

23. Miss Bassett : Dalton Plan Assignment.
24. E. Dewey : The Dalton Laboratory plan.
25. Lynch : Rise and progress of Dalton Plan.
26. H. Parkhurst : Education on the Dalton Plan.
27. J. Adams : Modern Developments in Educational Practice.

28. J. A. Stevenson : The Project Method of Teaching.
29. E. Dewey : Schools of Tomorrow.
30. Armstrong : Projeets and Their Place in Education.
31. W. H. Kilpatrick : Introduction to an Experiment with a Project Curriculum.
32. Hosic and Chase : A Brief Guide to the Project Method.
33. W. H. Kilpatrick : Foundation of Method.

खेल तथा स्वयंज्ञान विधियाँ—

34. H. Caldwell cook : The Play way.
35. William Plate : The Joy of Education.
36. Mac Munn : The child's Path to Freedom.
37. Miss Beale : Work and Play in Girls, Schools.

बुनियादी शिक्षण-विधि—

38. M. S. Patel : The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi.
39. Acharya Kriplani : The Latest Fad—Basic Education.
40. Pattabhi Sitarammaya : Basic Education, the need of the Day.
41. Wilfred Wellock : Nai Talim and the Social Order.
42. मिलापचंद्र दुबे : बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त ।
43. Educational Reconstruction.
44. Shanta Narulkar : Plan and practice.
45. गुरुशरण भाई : बुनियादी शिक्षा—एक अध्ययन ।

46. श्री द्वारिका सिंह : बुनियादी शिक्षा में विभिन्न विषयों की शिक्षण-विधि।
47. श्री द्वारिका सिंह : बुनियादी शिक्षा में समवाय।
48. Ministry of Education, India : Handbook for Teachers of Basic Schools.
49. Ministry of Education, India : Basic and social Education.
50. मिलाप चंद्र दुबे : समवायी शिक्षण।
51. C. J. Varkey : The Wardha Scheme of Education.
52. Bhatia : What Basic Education Means.

आधुनिक प्रयोग—

53. R. O. Billett : Fundamentals of Secondary School Teaching : With Emphasis on the Unit Plan.
54. Washburne, Carleton : The Individual System in Winnetka.
55. Edgar Dale : Audio-Visual Methods in Teaching.
56. MC. Kown & Roberts : Audio-visual Aids & Instruction.

विषय-पाठन विधियाँ—

57. P. Wren : Thc Direct Teaching of English in Indian Schools.
58. H. Wyatt : The Teaching of English.
59. P. B. Ballard : Teaching the Essentials of Arithmetic.
60. T. P. Nunn : The Tcaching of Algebra.
61. Y. W. A. Young : The Teaching of Mathematies.

69. V. D. Ghate : Suggestions for the Teaching of History in India.
63. L. D. Stamp etc : How to Teach Geography.
64. G.D. Tamaskar : The Principles and Methods of Teaching of Geography.
65. F. W. Westaway : Science Teaching.
66. आचार्य सीताराम चतुर्वेदी : भाषा की शिक्षा।
67. लक्ष्मी लाल के ओड़ : भाषा-शिक्षण की नवीन विधियाँ।
68. विजयनारायण चौबे : संस्कृत-शिक्षण-विधि।

शिक्षण-सिद्धान्त तथा आलोचना—

69. John Dewey : Democracy and Education.
70. W. H. Kilpatrick : The Changing Education.
71. Charles D. Hardie : Truth and Fallacy in Educational Theory.
72. सीताराम चतुर्वेदी : शिक्षा प्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक।
73. A. N. Whitead : Aims of Education.
74. W. C. Bagley : Classroom Management.
75. Bray : School Organisation.
76. John Adams : Modern Developments in Educational Practice.
77. Herbert Spencer : Education, Intellectual, Moral and Physical.
78. John Dewey : The School and Society.
79. John Adams : Evolution of Educational Theory.
80. M. C. Elmer : The Sociology of Family.
81. आत्मानन्द मिश्र : शिक्षण-कला।

82. Bertrand Russel : On Education.
83. हुमायूँ कबीर : स्वतंत्र भारत में शिक्षा।
84. विश्वनाथ सहाय और शची माथुर : शिक्षण-प्रविधि।
85. J. S. Ross : Groundwork of Educational Theory.
36. सत्यदेव सिंह : शिक्षा सिद्धान्त एवं दर्शन।
87. H. E. Meyer : The Development of Education in Twentieth Century.
88. T. P. Nunn : Education : Its Data and First Principles.
89. Pestatozzi : How Gertrude Teaches her Children.
90. „ : Letters on Early Education.
91. J. J. Roussean : Emile.
92. „ Education of Man.
93. Yoakam and Simpson : Modern Methods and Techniques of Teaching.
94. Mursell : Successful Teaching.
95. B. H. Bode : Modern Educational Theories.
96. S. C. Parker : Methods of Teaching in High Schools.
97. G. W. Reagan : Fundamentals of Teaching.
98. Kendall and Mirick : How to Teach the Fundamental Subjects.
99. Locke : Essay on Human Understanding.
100. „ : Conduct of Understanding.

नोट—उपरोक्त पुस्तकें आवश्यकता पड़ने पर इस पुस्तक के प्रकाशक (हिंदी साहित्य भंडार) से मँगायी जा सकती हैं। —लेखक